भूमिका

पूज्यपाद जैनाचार्य श्रीमद् विजयलक्ष्मणसूरीश्वरजीमहाराज के 'आत्मतत्त्व-विचार' ग्रंथ के संबंध में कुछ निवेदन करते हुए मैं सौभाग्य और गौरव का बोध कर रहा हूँ। ऐसे ही अवसरों पर हम बद्धजीव धर्मवारि में मार्जन कर कुछ पापक्षय कर पाते हैं, ऐसा मेरा विश्वास है।

आज हमारे जीवन और समाज की क्या विडंबना है कि, हम 'अर्थ' और 'काम' के पीछे बेहोश दौड़ रहे हैं और हमें धर्म तथा मोक्ष की कथाएँ सुनने की सुध ही नहीं है। हम भूल गए हैं कि, मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और धर्म ही उसकी प्राप्ति का परम साधन! 'अर्थ' और 'काम' पुरुपार्थ हैं अवश्य, किन्तु ये मात्र पार्थिव हैं। इनकी प्रवृत्ति होनी चाहिए, धर्म के साधन में, जो धर्म ही परम पुरुषार्थ मोक्ष तक, हमारी पापबद्धता की छिन्नता तक, हमें पहुँचाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि, धर्म हमारे पुरुषार्थों में प्रधान साधन है—मोक्ष प्राप्ति का। अधर्म से प्राप्त अर्थ क्या हमारे काम का है? अधर्मपूर्वक पूरी की गई इच्छा (काम) क्या हमें सद्गति देगी? नहीं! तात्पर्य यह कि, धर्म से कमाया गया धन और धर्म मार्ग का पालन कर पूरी की गई कामना ही हमें सद्गति की ओर—मोक्ष मुक्ति की ओर ले जायगी। किन्तु, आज हमारा जीवन और समाज ऐसा हो गया है कि, इस रूप में चिन्ता करनेवाले कम दिखाई पड़ते हैं। वर्तमान काल में सारे जगत् में अशांति, वैमनस्य, रक्तपात, विद्रोह, आदि क्यों दिखाई पड़ रहे हैं?

कोई धर्म के मार्ग से न अर्थ (द्रव्य) प्राप्त करना चाहता है और न इस मार्ग से अपनी कामनाएँ पूरी करना चाहता है। अधिकतर देश अधर्मावलंबन की नोच-खसोट में लगे हैं। मुझे लगता है कि 'महाभारत' काल में भी कुछ आज की-सी ही स्थिति थी। यदि ऐसी हालत न होती तो वेदव्यास क्यों कहते कि धर्म मार्ग से ही प्राप्त द्रव्य और तृप्त इच्छाएँ वास्तविक हैं। ऐसे धर्म का पालन लोग क्यों नहीं करते ? मैं यह बात हाथ उठा-उठाकर कह रहा हूँ, मगर कोई सुन नहीं रहा है -

> ऊर्ध्वं बाहुर्विरोम्येष नैव कश्चिच्छृणोति मे।
> धर्मादर्थश्च कामाश्च स धर्मं किं न सेव्यते ॥

श्रीमत् विजय लक्ष्मण सूरीश्वर जी महाराज ने 'आत्मतत्त्व-विचार, में इसी पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—को खूब स्पष्ट करके हमें समझाया है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए किस प्रकार कर्म कर धर्म का अर्जन किया जा सकता है। इस धर्म का अर्जन कर मोक्ष की भागी होनेवाली आत्मा (जीव, हम सब मानव) के संबंध में भी नानाप्रकार का विवेचन कर उन्होंने गूढ रहस्य को सरल कर हमारे सामने रखा है।

धर्म बड़ा ही व्यापक तत्त्व है। धर्म ही व्यष्टित मानव की आत्मा को, उसके जीवन को, मानव से बने समष्टि-समाज को, देश को, समग्र देशों-संसार को धारण किए हुए है। कहना तो यह चाहिए कि यह विश्वब्रह्मांड ही एक धर्म, एक नियम के आधार पर चल रहा है। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश सभी एक धर्म का पालन कर चल रहे हैं। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि सभी एक नियम से बद्ध हो चलायमान हैं। इसी

लिए व्यक्ति में, मानव-समाज में, इस विश्वब्रह्माड में जहाँ और जब धर्म का व्यभिचार होता है, अधर्म-अनियम का पालन होता है, वहाँ और तब अशांति की सृष्टि होती है। आज विश्व में अशाति का मूल कारण धर्म का सर्वांग रूप से पालन न होना ही है। यह व्यापक धर्म क्या है? यह है धैर्य, क्षमा, संयम, अचौर-कर्म, शुचिता, इंद्रियनिग्रह, नीर-क्षीर-विवेकिनी बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध। मनु महाराज कहते हैं

धृतिर्क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिंद्रिय निग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम् ॥

सभ्यता तथा सस्कृति सपन्न मानव जाति की विभिन्न शाखाएँ ऐसे धर्म का ही आश्रय लेकर अपने मत, पथ, मार्ग के अनुसार मानव-कल्याण में युगों से निरत हैं। 'आत्म-तत्त्व-विचार' में श्रीमत् विजय लक्ष्मण सूरीश्वर जी महाराज भी मानव-कल्याण के लिए ही प्रवृत्त दिखाई पड़ते हैं।

संसार के सभी मत या पन्थ इसी व्यापक धर्म को स्पष्ट कर लोक मानस में इसकी प्रतिष्ठा करते चले आ रहे हैं। नाना दृष्टियों से, नाना चेष्टाओं से, नाना मतों या पन्थों को इस व्यापक धर्म को स्पष्ट इसलिए करना पड़ता है कि अपनी व्यापकता के कारण यह एक ही मत या पन्थ द्वारा समग्रत उद्घाटित नहीं किया जा सकता। इस धर्म में इतने सत्य हैं कि जो जिस दृष्टिकोण (पैंगिल) से इसे देखता है उसे उस दृष्टिकोण में ही सत्य की उपलब्धि होती है। यही कारण है कि इस व्यापक धर्म के सत्य युगों से मनीषियों द्वारा उद्घाटित और उपलब्ध होने पर भी अभी ये समग्रत मानव-जाति के समुख नहीं आ पाए हैं। और, कोई मनीषी यह दावा भी नहीं

कर सकता कि धर्म के समस्त तत्त्व मैंने पा लिए हैं। ऐसा दावा करना भी नहीं चाहिए। सूर्य की समग्र किरणों को मैंने अपनी बाँहों में भर लिया है, यह कौन कह सकता है? वेद-व्यास ने कहा है

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।

धर्म का तत्त्व अंधकारमय गुहा में छिपा है। इस धर्म के छिपे तत्त्व को नाना पन्थ के मनीषी अपने ज्ञानप्रदीप के प्रकाश की सहायता से युगों से ढूँढते आ रहे हैं। पूज्यपाद विजय लक्ष्मण सूरीश्वर महाराज ने भी जैन-धर्म के अनुसार अपने मनीषा प्रदीप द्वारा 'आत्मतत्त्व-विचार' में धर्म के कुछ तत्त्वों को ढूँढ उन्हें स्पष्ट कर लोगों के सामने रखा है।

धर्म-साधन का अंतिम लक्ष्य चौथे पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति है और मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्म-क्षय आवश्यक है, क्योंकि इसी कर्म-बंधन के फलस्वरूप आत्मा बार बार जन्म लेकर उनका भोग भोगा करती है। कर्म-क्षय के लिए कर्म का रूप समझना आवश्यक है। इसीलिए 'आत्मतत्त्व-विचार' में धर्म के साथ ही कर्म की भी विवेचना है।

इस धर्म और कर्म का साधक कौन है? आत्मा, शरीर जिसका पात्र अथवा आधार है। इसे सरल कर कहा जाय, तो कहेंगे कि मानव, मनुष्य, आदमी से आत्मा का संबंध है। आदमी ही धर्म तथा कर्म का साधक है। अतः 'आत्म-तत्त्व-विचार' में इस आत्मा की मीमांसा भी प्राप्त है।

'आत्मतत्त्व विचार' में आत्मा, कर्म, धर्म का अन्योन्या-श्रयत्व ४८ व्याख्यानों द्वारा प्रतिपादित है। एक ही विषय को एकाधिक व्याख्यानों द्वारा भी स्पष्ट किया गया है। उक्त

तीनों विषय बड़े ही निगूढ़ हैं, किंतु उन्हें सरल से सरल बना कर श्रोता तथा पाठक के लिये बोधगम्य किया गया है। यह बोधगम्यता लाई गई है नाना धार्मिक, ऐतिहासिक, लोक प्रचलित कथाओं के उदाहरण द्वारा। ऐसा करने से निगूढ विषय सरल तो हुआ ही है, रोचक भी बना है। ग्रथ रोचक तथा सरल होने के साथ ही प्रामाणिक भी है। प्रत्येक विषय को जैन-धर्म ग्रथों से उद्धरण दे-देकर प्रमाणित किया गया है। जैन ज्ञान-विज्ञान के साथ ही विषय को स्पष्ट करने तथा सभी प्रकार के श्रोता तथा पाठक को संतुष्ट करने के लिए भारतीय अन्य धर्म-ग्रथों से भी प्रामाणिक उद्धरण उपस्थित किए गए हैं। इतना ही नहीं यथाप्रसग विदेशी ज्ञान-विज्ञान की विवेचना भी ग्रन्थ में प्राप्त है। इस प्रकार ग्रंथ जैन-मत के ज्ञान-विज्ञान से तो समृद्ध है ही, भारतीय अन्य धर्मों तथा विदेशी धर्मों के ज्ञान विज्ञान से भी यह समृद्ध हुआ है। किंतु, समस्त ज्ञान-विज्ञान रोचक तथा सरल रीति से संमुख रखा गया है।

इस ग्रंथ द्वारा श्रीमत् विजय लक्ष्मण सूरीश्वर महाराज के दो गुणों की ओर दृष्टि आकृष्ट होती है। एक तो यह कि उनम सतर्ई-साधुता और पाडित्य का मणिकाचन संमिश्रण है। साधु होने के साथ ही वे उच्चकोटि के पण्डित, विद्वान भी हैं। ऐसा सयोग विरलत ही मिलता है। दूसरा गुण है उनकी उदारता। जैन-साधु तथा जैन-धर्म-साहित्य के गण्य-मान्य पण्डित होते हुए भी स्वदेशी-विदेशी अन्य मतों, पन्थों के प्रति उन्होंने उपेक्षा का भाव अवलबन नहीं किया है। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने सभी धर्मों के ग्रंथों का उपयोग किया है। यह उदारता ही साधु का भूषण है। इस प्रकार सच्ची साधुता

सबको अपना कर चलने वाली उदारता और पारदर्शी विद्वत्ता इन त्रिरत्नों से पूज्यपाद विजयलक्ष्मणसूरीश्वरमहाराज भूषित हैं। ऐसे कितने साधु हैं ?' सति संत· कियंत·'। ऐसे संत की वाणी 'आत्मतत्त्व-विचार'-जैसे ग्रंथों के माध्यम से स्वदेश-विदेश में प्रचारित-प्रसारित हो, यही भगवान् से प्रार्थना है।

विश्वभारती विश्वविद्यालय,
हिन्दी-भवन,
शातिनिकेतन,
पश्चिमी बगाल।
१८ १ ६३

शिवनाथ
(एम्०ए०, डी० फिल्०, साहित्यरत्न,
वैदिक-धर्म-विशारद)

दो शब्द

जैन-दर्शन ९ तत्त्व मानता है। 'षड्दर्शन-समुच्चय' (श्लो० ४७) में आचार्य हरिभद्र सूरि ने उनकी गणना इस प्रकार करायी है—

जीवाजीवौ १-२ तथा पुण्यं ३, पापाश्रव ४-५ संवरो ६।
बंधो ७ विनिर्जरा ८ मोक्षो ९ नवतत्त्वानि तन्मते॥

—१ जीव, २ अजीव, ३ पुण्य, ४ पाप, ५ आश्रव, ६ सवर, ७ वध, ८ निर्जरा और ९ मोक्ष ये ९ तत्त्व है।

उत्तराध्ययन (अ० २८, गा० १४) में उन्हें 'तथ्य' कहा गया है और ठाणागसूत्र (सूत्र ६६५) में इनकी सज्ञा 'सद्भाव' दी गयी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ इन ९ में मुख्यत जीव से सम्वद्ध है और उत्तराध्ययन (अ० ३६, गा० २५८) में वर्णित अल्प ससारी जीव के विषय को लेकर आत्मा, कर्म और धर्म-सम्बन्धी ४६ व्याख्यान इसमें सगृहीत हैं।

भगवान् महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति और तृतीय गणधर वायुभूति को शासन में आने से पूर्व 'जीव' के सम्बन्ध में और 'जो जीव है वही शरीर' के सम्बन्ध मे शका थी। अपने पाडित्य और अपनी ख्याति को ध्यान में रखकर वे किसी के सम्मुख अपने अन्तस् की शका व्यक्त नहीं करते थे। अत उनकी शकाओं का समाधान भी नहीं होता था। पर, जव वे भगवान् के सम्मुख समवसरण मे गये तो भगवान् ने उनके नाम और

गोत्र से उन्हें सम्बोधित करके, पहले उनकी शका बतायी और फिर उसका समाधान किया। इसका बडा विस्तृत वर्णन विशेपावश्यक भाष्य सटीक (गाथा १५४९-१६०५, १६४५-१६८६) में उपलब्ध है। 'जीव है और वह शरीर से सर्वथा भिन्न है', इस सम्बन्ध मे जैन-मान्यता का विवेचन जिज्ञासु पाठक वहाँ देख सकते हैं। प्रज्ञापनासूत्र मे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय तथा वायुकाय, तेउकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय आदि अनेक रूपो से जीव का विवेचन परिचय उपलब्ध है, जो प्राणिशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अभी तक आधुनिक विद्वानो की दृष्टि से अछूता छूटा है।

अब प्रश्न है कि, यदि जीव है और वह शरीर से भिन्न है, तो उसका लक्षण क्या है। उत्तराध्ययनसूत्र (अ० २८, गा० ११) मे इस प्रश्न का उत्तर एक ही गाथा मे दिया गया है—

नाणं च दंसण चेव, चरित्त च तवो तहा।
वीरिय उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं॥

—अर्थात् १ ज्ञान, २ दर्शन, ३ चारित्र, ४ तप, ५ वीर्य, ६ उपयोग ये ६ जीव के लक्षण हैं।

जीव के सम्बन्ध मे हरिभद्राचार्य ने 'षड्दर्शन-समुच्चय' (श्लो० ४८) मे कहा है—

तत्र ज्ञानादि धर्मेभ्यो,
भिन्नाभिन्न विवृत्तिमान्।
कर्त्ता शुभाशुभं कर्म,
भोक्ता कर्म फलं तथा॥

—वह जीव ज्ञानादि धर्मोंवाला है, भिन्न-अभिन्न का

विवेचक है, शुभ-अशुभ कर्मों का कर्त्ता और (अपने किये) कर्मों के फल का भोक्ता है। वह जीव चैतन्य लक्षणवाला है।

एक बार गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा—"जीवे णं भंते किं अत्तकडे दुःखे, परकडे दुःखे, तदुभय कडे दुःखे?" इस पर भगवान् ने उत्तर दिया—"गोयमा! अत्तकडे दुःखे, नो परकडे दुःखे, नो तदुभय कडे दुःखे।" (हे गौतम! दुःख स्वयं-कृत है, वह परकृत नहीं है और स्व-पर-उभय कृत नहीं है।)

सभी आस्तिक दर्शन जीव के स्वकर्म फल भोगने की बात किसी-न-किसी रूप में स्वीकार करते हैं, पर कर्म-दर्शन का जैसा विशद् विस्तृत और शृंखलाबद्ध विवेचन जैन-शास्त्रों में है, वैसा किसी भी अन्य तीर्थिक-शास्त्र में नहीं है।

जैन-शास्त्र कर्म ८ मानते हैं। प्रथम कर्मग्रन्थ में जैनाचार्य देवेन्द्रसूरि ने उनकी गणना इस प्रकार करायी है—

इह नाण दंसणावरण, वेय मोहा उ नाम गोयाणि।

विग्घ

(१) ज्ञानावरणीय (२) दर्शनावरणीय (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र और (८) अन्तराय ये आठ कर्म हैं। इन आठ कर्मों की १५८ उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

इन कर्मों का बन्धन जीव किन परिस्थितियों में करता है, बाँधे हुए कर्म कितने काल में उदय में आते हैं, उनका फल क्या होता है, कैसे खप सकते हैं अथवा कैसे ढीले बँधते हैं, आदि अनेक ऐसे प्रश्न हैं, जिनका उत्तर जैन-शास्त्रों-सरीखा विस्तार से कहीं अन्यत्र नहीं मिलनेवाला है।

कर्म-सम्बन्धी यह विवेचन जैन-साहित्य में कुछ नया नहीं है। इस सम्बन्ध में कितने ही सन्दर्भ ठाणांगसूत्र, समवायांग

सूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्ति तथा उत्तराध्ययनसूत्र मे उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त १२-वें अग दृष्टिवाद के अन्तर्गत कर्मप्रवाद नाम का एक बडा विस्तृतशास्त्र था, जो अब लुप्त हो गया। बाद के आचार्यों ने भी इस शास्त्र पर वडे विस्तार से विचार किया है और उन कृतियों पर विस्तृत भाष्य तथा टीकाएँ उपलब्ध है।

कर्म-दर्शन-सम्बन्धी जैन-शास्त्रो में इतने पारिभाषिक शब्द हैं तथा पूरे शास्त्र का इतना विस्तार है कि, उन सब को पढकर आत्मसात् कर पाना वड़े अध्यवसाय का कार्य है और विना गुरु-मुख से समझे समझ पाना वडा कठिन है।

जैन-दर्शन पुरुषार्थ का समर्थक है और उसकी मान्यता है कि, व्यक्ति यदि उचित प्रयास करे तो कर्म ढीले वॅध सकते हैं और उनके भोगो से वहुत-कुछ व्यक्ति मुक्त रह सकता है।

गोशालक के आजीवक-सम्प्रदाय के सद्दालपुत्र-नामक एक श्रावक को भगवान् ने स्वय पुरुषार्थ के महत्त्व का ज्ञान कराया था। जैनशास्त्र की मान्यता है कि, पॉच गतियों—(१) नारकी (२) तिर्यंच (३) मनुष्य (४) देव (५) मोक्ष—मे से व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से चाहे जो प्राप्त कर सकता है।

कर्म को ढीला वॉधने अथवा उनसे सर्वथा मुक्ति का उपाय धर्म है। जैन-धर्म धर्म को दो रूपो मे स्वीकार करता है—(१) गृहस्थ-धर्म (२) साधु-धर्म।

इस प्रकार कर्म-दर्शन के तत्त्व को समझने के लिए (१) आत्मा (२) कर्म और (३) धर्म इन तीनों का समझना आवश्यक है।

प्रखर विद्वान जैनाचार्य विजयलक्ष्मण सूरि-रचित प्रस्तुत ग्रन्थ मे इन्हीं तीनो विषयो पर ४६ व्याख्यान सगृहीत हैं। ये

व्याख्यान सार्वजनिक होने के कारण इतने सरल, सुबोध और बुद्धिगम्य हैं कि, इन्हें पढ़कर कोई भी पाठक कर्म-दर्शन के उस रहस्य को समझ सकता है, जिसे सम्भवत वह वर्षों के परिश्रम के उपरान्त भी न समझ पाता। गुरु-वाणी मे होने से इसमें एक लाभ यह भी है कि, इसमे कहीं भ्रम की गुजाइश नहीं रह जाती, जिसका भय कि, कोरे स्वकीय ज्ञान में पग-पग पर है।

जैनाचार्य श्री विजयलक्ष्मण सूरीश्वर जी महाराज का यह प्रयास उनके पूर्व के आचार्यों द्वारा प्रस्तुत परम्परा के सर्वथा अनुकूल है। आत्माराम जी के नाम से विख्यात् प्रातःस्मरणीय जैनाचार्य विजयानन्द सूरि जी महाराज लिखित "जैन तत्त्वादर्श" को यदि जैन-धर्म की गीता कहा जाये तो किसी प्रकार अत्युक्ति न होगी। अपनी उपयोगिता के कारण उनके अन्य ग्रन्थ 'अज्ञानतिमिर-भास्कर' की लोकप्रियता अब तक उसी रूप में बनी है। इस युग के जैनाचार्यों में वह प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने जैन-धर्म के प्रचार-प्रसार की आवश्यकता का अनुभव किया और शिकागो के सर्व-धर्म-सम्मेलन में श्री वीरचन्द जी को प्रतिनिधि रूप में भेजकर पाश्चात्य-जगत को जिन-वाणी से परिचय कराया।

आपके गुरु महाराज शान्तमूर्ति जैनाचार्य विजयलब्धि सूरीश्वर जी महाराज का 'भगवती-सूत्र'-सम्बन्धी व्याख्यान उनकी अप्रतिम रचना है। न्यायशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ 'द्वादशार-नयचक्र' का सम्पादन जैन-'लाजिक' के अध्ययन के इतिहास की ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना है कि, डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् (वर्तमान राष्ट्रपति) ने उक्त पुस्तक का प्रकाशन घोषित करना स्वीकार किया और स्वय बम्बई आकर आचार्यश्री का समादर किया।

सूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्ति तथा उत्तराध्ययनसूत्र मे उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त १२-वें अग दृष्टिवाद के अन्तर्गत कर्मप्रवाद नाम का एक वडा विस्तृतशास्त्र था, जो अब लुप्त हो गया। वाद के आचार्यों ने भी इस शास्त्र पर वडे विस्तार से विचार किया है और उन कृतियो पर विस्तृत भाष्य तथा टीकाएँ उपलब्ध हैं।

कर्म-दर्शन-सम्वन्धी जैन-शास्त्रो में इतने पारिभाषिक शब्द हैं तथा पूरे शास्त्र का इतना विस्तार है कि, उन सब को पढकर आत्मसात् कर पाना वडे अध्यवसाय का कार्य है और विना गुरु-मुख से समझे समझ पाना वडा कठिन है।

जैन-दर्शन पुरुषार्थ का समर्थक है और उसकी मान्यता है कि, व्यक्ति यदि उचित प्रयास करे तो कर्म ढीले वॅध सकते हैं और उनके भोगो से वहुत-कुछ व्यक्ति मुक्त रह सकता है।

गोशालक के आजीवक-सम्प्रदाय के सद्दालपुत्र नामक एक श्रावक को भगवान् ने स्वय पुरुषार्थ के महत्त्व का ज्ञान कराया था। जैनशास्त्र की मान्यता है कि, पाँच गतियों—(१) नारकी (२) तिर्यंच (३) मनुष्य (४) देव (५) मोक्ष—मे से व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से चाहे जो प्राप्त कर सकता है।

कर्म को ढीला वाँधने अथवा उनसे सर्वथा मुक्ति का उपाय धर्म है। जैन-धर्म धर्म को दो रूपो में स्वीकार करता है—(१) गृहस्थ-धर्म (२) साधु-धर्म।

इस प्रकार कर्म-दर्शन के तत्त्व को समझने के लिए (१) आत्मा (२) कर्म और (३) धर्म इन तीनो का समझना आवश्यक है।

प्रखर विद्वान जैनाचार्य विजयलक्ष्मण सूरि-रचित प्रस्तुत ग्रन्थ मे इन्हीं तीनो विपयो पर ४६ व्याख्यान सगृहीत हैं। ये

व्याख्यान सार्वजनिक होने के कारण इतने सरल, सुबोध और बुद्धिगम्य हैं कि, इन्हें पढकर कोई भी पाठक कर्म-दर्शन के उस रहस्य को समझ सकता है, जिसे सम्भवत वह वर्षों के परिश्रम के उपरान्त भी न समझ पाता। गुरु-वाणी मे होने से इसमें एक लाभ यह भी है कि, इसमें कहीं भ्रम की गुजाइश नहीं रह जाती, जिसका भय कि, कोरे स्तकीय ज्ञान में पग-पग पर है।

जैनाचार्य श्री विजयलक्ष्मण सूरीश्वर जी महाराज का यह प्रयास उनके पूर्व के आचार्यों द्वारा प्रस्तुत परम्परा के सर्वथा अनुकूल है। आत्माराम जी के नाम से विख्यात् प्रात स्मरणीय जैनाचार्य विजयानन्द सूरि जी महाराज लिखित "जैन तत्त्वादर्श" को यदि जैन-धर्म की गीता कहा जाये तो किसी प्रकार अत्युक्ति न होगी। अपनी उपयोगिता के कारण उनके अन्य ग्रन्थ 'अज्ञानतिमिर-भास्कर' की लोकप्रियता अब तक उसी रूप में बनी है। इस युग के जैनाचार्यों में वह प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने जैन-धर्म के प्रचार-प्रसार की आवश्यकता का अनुभव किया और शिकागो के सर्व-धर्म-सम्मेलन में श्री वीरचन्द जी को प्रतिनिधि रूप में भेजकर पाश्चात्य-जगत को जिन-वाणी से परिचय कराया।

आपके गुरु महाराज शान्तमूर्ति जैनाचार्य विजयलब्धि सूरीश्वर जी महाराज का 'भगवती-सूत्र'-सम्बन्धी व्याख्यान उनकी अप्रतिम रचना है। न्यायशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ 'द्वादशार-नयचक्र' का सम्पादन जैन-'लाजिक' के अध्ययन के इतिहास की ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना है कि, डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् (वर्तमान राष्ट्रपति) ने उक्त पुस्तक का प्रकाशन घोषित करना स्वीकार किया और स्वय बम्बई आकर आचार्यश्री का समादर किया।

विषयानुक्रम

पहला खण्ड : आत्मा

निवेदन

प्रात.स्मरणीय जैनाचार्य श्री १००८ विजयलक्ष्मणसूरीश्वर श्री महाराज के 'आत्मतत्त्व-विचार' का हिन्दी सस्करण आपके हाथों में देते हमें अतीव हर्ष हो रहा है। हिन्दी मे जैन-साहित्य वस्तुत वहुत ही कम है। अत निश्चय ही प्रस्तुत ग्रन्थ उस कमी के निवारण में एक ठोस कदम के रूप में सिद्ध होगा।

आत्मतत्त्व-विचार के गुजराती-सस्करण का पाठक-वृन्द ने कैसा स्वागत किया, यह इसी वात से स्पष्ट है कि, अत्यल्पकाल में हमें उसके दो सस्करण निकालने पड़े।

गुजराती-सस्करण के प्रकाशन के वाद विद्वत्-समाज ने उसका अग्रेजी-सस्करण प्ररतुत करने का प्रस्ताव रखा ताकि भारतीय मस्कृति में रुचि रखनेवाले विदेशी तथा देशी विद्वान परम गूढ कर्म-दर्शन से परिचय प्राप्त कर सकें। पुस्तक प्रेस में जा चुकी है और यथाशीघ्र ही हम उसे भी पाठकों को प्रस्तुत कर सकेंगे।

आत्मतत्त्व-विचार के संग्राहक पूज्य पन्यास जी कीर्तिविजय गणिजी महाराज ने आचार्यश्री की वाणी को इस रूप मे सग्रह करके न केवल वाणी को अमरता प्रदान की है, वरन् जिज्ञासु पाठकों को उसे उपलब्ध कराकर जैन-जगत का वड़ा हित किया है। आपकी साहित्य-सेवा इसी वात से स्पष्ट है कि, अव तक आपकी पुस्तकों की लगभग २ लाख प्रतियाँ पाठकवृन्द के हाथों में पहुँच चुकी हैं और गुणी जन ने उसे वड़े आदर तथा स्नेह से स्वीकार करके पूज्य पन्यास जी के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाया है।

दूर छपाई-व्यवस्था के कारण यदि मुद्रण-दोष रह गये हों तो आशा है सुज्ञ पाठक क्षमा करेंगे।

—प्रकाशक

जैनाचार्य श्री विजयलक्ष्मण सूरीश्वरजी की यह कृति वस्तुत कर्म-ग्रन्थों की कुञ्जी है और समस्त प्राचीन-अर्वाचीन कर्म-दर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थों का सार है। यह ग्रन्थ न केवल जिज्ञासु वर्ग को कर्म-दर्शन का परिचय प्राप्त कराने में समर्थ है बल्कि विद्वत्-वर्ग की शकाओं का समाधान करने तथा शास्त्रीय और परम्परा-गत मान्यताओं को स्पष्ट करने में भी समर्थ है।

जैनाचार्य जितने बड़े विद्वान हैं, उतने ही योगी भी। आपने सूरिमंत्र के पाँचो पीठ सिद्ध किये हैं। प्रथम और द्वितीय पीठ आपने रोहिडा (राजस्थान) मे सिद्ध किया, तीसरा और चौथा पीठ अँधेरी (बम्बई) मे सिद्ध किया और पाँचवाँ पीठ महाराष्ट्र के निपाणी के चातुर्मास में आपने सिद्ध किया। इसके अतिरिक्त भी आपने कई साधना की है।

आचार्यश्री की व्याख्यान-शैली के सम्बन्ध मे तो कुछ कहना ही नहीं है। प्रस्तुत ग्रन्थ ही इस बात का प्रमाण है कि, वे क्लिष्ट-से-क्लिष्ट विषय को कितने रोचक ढग से प्रस्तुत करने मे समर्थ हैं।

मकरसक्रान्ति, २०१९ वि०
दफ्तरी वाड़ी,
चिंचोली, मलाड, बम्बई ६४

ज्ञानचन्द्र
(विद्याविनोद)

निवेदन

प्रात'स्मरणीय जैनाचार्य श्री १००८ विजयलक्ष्मणसूरीश्वर श्री महाराज के 'आत्मतत्त्व-विचार' का हिन्दी सस्करण आपके हाथों में देते हमें अतीव हर्ष हो रहा है। हिन्दी मे जैन-साहित्य वस्तुत बहुत ही कम है। अत निश्चय ही प्रस्तुत ग्रन्थ उस कमी के निवारण में एक ठोस कदम के रूप मे सिद्ध होगा।

आत्मतत्त्व-विचार के गुजराती-सस्करण का पाठक-वृन्द ने कैसा स्वागत किया, यह इसी बात से स्पष्ट है कि, अत्यल्पकाल में हमें उसके दो सस्करण निकालने पड़े।

गुजराती-सस्करण के प्रकाशन के बाद विद्वत्-समाज ने उसका अंग्रेजी-सस्करण प्रस्तुत करने का प्रस्ताव रखा ताकि भारतीय सस्कृति में रुचि रखनेवाले विदेशी तथा देशी विद्वान परम गूढ कर्म-दर्शन से परिचय प्राप्त कर सकें। पुस्तक प्रेस में जा चुकी है और यथाशीघ्र ही हम उसे भी पाठकों को प्रस्तुत कर सकेंगे।

आत्मतत्त्व-विचार के सग्राहक पूज्य पन्यास जी कीर्तिविजय गणिजी महाराज ने आचार्यश्री की वाणी को इस रूप में सग्रह करके न केवल वाणी को अमरता प्रदान की है, वरन् जिज्ञासु पाठकों को उसे उपलब्ध कराकर जैन-जगत का बड़ा हित किया है। आपकी साहित्य-सेवा इसी बात से स्पष्ट है कि, अब तक आपकी पुस्तकों की लगभग २ लाख प्रतियाँ पाठकवृन्द के हाथों में पहुँच चुकी हैं और गुणी जन ने उसे बड़े आदर तथा स्नेह से स्वीकार करके पूज्य पन्यास जी के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाया है।

दूर छपाई-व्यवस्था के कारण यदि मुद्रण-दोष रह गये हों तो आशा है सुज्ञ पाठक क्षमा करेंगे।

—प्रकाशक

विषयानुक्रम

पहला खण्ड : आत्मा

२ ५०

सत्रह

दूसरा खण्ड : कर्म

तीसरा खण्ड धर्म

आत्मा

खण्ड १

॥ ॐ ह्रीं अर्हं नमः ॥

पहला व्याख्यान

आत्मा का अस्तित्व

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयण जे करेंति भावेणं।
अमला असंकिलिट्ठा, ते हुंति परित्त संसारी॥

शास्त्रकार स्थविर भगवंत श्री उत्तराध्ययन सूत्रके[1] जीवाजीव विभक्ति-नामक छत्तीसवें अध्ययन की इस गाथा में अल्प-संसारी आत्मा का स्वरूप बताते हैं, 'जो आत्माएँ जिन-वचन में अनुरक्त हैं—श्रद्धावान हैं, जिन-वचन में कथित और प्ररूपित अनुष्ठानों को सोल्लास करती हैं, जो मल-

---

१ जैन धर्म के प्रमाणभूत मूल ग्रंथों को 'आगम' कहते हैं, इस समय ४५ आगम प्रकाश में हैं, उनमें ११ अंग हैं, १२ उपांग हैं, १० पयन्ना हैं, ६ छेदसूत्र हैं, और २ सूत्र हैं, चार मूल सूत्रों में एक उत्तराध्ययन सूत्र है, उसमें साधु जीवन को लक्ष्य में रख कर सुन्दर हृदय-स्पर्शी उपदेश दिया गया है तथा अन्य आनुषंगिक विषयों का भी वर्णन है। यह सूत्र छत्तीस अध्ययन में विभाजित है, उसमें अन्तिम अध्ययन जीव और अजीव के विषय में है, इसलिए उसका नाम 'जीवाजीव विभक्ति' है।

रहित[1] तथा संक्लेश रहित[2] परिणामवाले हैं, वे परिमित संसारी[3] बनते हैं।

ये वचन गंभीर हैं। इनका यथार्थ भाव समझने के लिए, पहले आत्मा का स्वरूप समझना होगा, आत्मस्वरूप में भी पहले आत्मा के अस्तित्व का विचार करना होगा, क्योंकि आत्मा के अभाव में आत्मस्वरूप संभव ही नहीं है। 'मूलं नास्ति कुतः शाखा?' अगर मूल ही न हो तो डाली-पत्ते कैसे सम्भव हैं?

शास्त्रकार भगवंत ने सम्यक्त्व के ६७ बोल[4] कहे हैं, उनमें से ६ बोल सम्यक्त्व के स्थान से सम्बन्धित हैं, वे इस प्रकार हैं :

अत्थि जिओ तह निच्चो, कत्ता भोत्ता य पुन्नपावाणं।
अत्थि धुवं निव्वाणं, तदुवाओ अत्थि छट्ठाणे॥

—१ जीव है, २ वह नित्य है, ३ वह कर्म का कर्ता है, ४ वह कर्मफल का भोक्ता है। ५ मोक्ष है और ६ उसका उपाय भी है।

जो यह मानते हैं कि 'जीव है', यानी जो जीवका अस्तित्व मानते हैं, उन्हें ही सम्यक्त्व स्पर्श कर सकता है, दूसरों को नहीं।

अगर जीव या आत्मा-जैसी किसी स्वतंत्र वस्तु को न माना जाये, तो पुण्य-पाप का विचार निरर्थक हो जाये, स्वर्ग-नरक की बातें भी निरर्थक हो जायें और पुनर्जन्म या परलोक की बातें भी अर्थहीन हो जायें, इसलिए

---

१ मल अर्थात् मिथ्यात्व आदि दोष

२ संक्लेष अर्थात् रागद्वेषजन्य जीव का परिणाम

३ जिन्हें संसार में मर्यादित समय तक ही परिभ्रमण करना है, वे परिमित संसारी या अल्प-संसारी कहलाते हैं—परिमित-संसारी होना आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत बड़ी प्रगति है।

४ ४ श्रद्धा, ३ लिंग, १० विनय, ३ शुद्धि, ५ दूषण, ८ प्रभावना, ५ भूषण, ५ लक्षण, ६ यतना, ६ आगार, ६ भावना और ६ स्थान—ये शुद्ध सम्यक्त्वके ६७ भेद हैं।

आत्मा के अस्तित्व का स्वीकार आत्मवाद या मोक्षवाद की नींव की पहली ईंट है। अतः पहले उसी की विचारणा की जाती है।

कितने ही समझदार और पढ़े लिखे लोग आत्माके अस्तित्व को नहीं मानते।[1] वे कहते हैं—"आत्मा दिखता नहीं है, उसे मानें कैसे? दिखाइये तो मानने को तैयार हैं', परन्तु आत्मा कोई लोहे या लकड़ी-जैसी चीज नहीं है कि उसे हाथ में पकड़कर दिखाया जा सके। जो चीज अरूपी है, आँखों से देखी ही नहीं जा सकती, उसे देखने के लिए मेहनत करनी पड़ती है, भेजा कसना पड़ता है और उसके जाननेवालों का सत्संग भी करना पड़ता है। अगर इसके लिए तैयार हों तो आत्मा को दिखलाना, आत्मा की प्रतीति कराने का काम, किंचित मात्र कठिन नहीं है।

इस जगत में जो चीज़ आँखों से दिखे उसे ही हम मानते हों, ऐसा नहीं है। जो चीज दिखती नहीं है, पर जिसका कार्य दिखता है, उसे भी हम मानते हैं।

'५००० वर्ष पहले मोहन जो दाड़ो शहर था, उसके रास्ते विशाल थे, घर सुन्दर थे और उसमें बाग-बगीचे थे', इसका प्रतिपादन किस आधार पर हुआ? उसके खंडहरों, उसके अवशेषों और उसकी कारीगरी के नमूनों से ही तो! उसे आँखों से देखनेवाला तो आज कोई मौजूद नहीं है।

हवा को आँखों से कौन देख सकता है? लेकिन, वृक्ष की डालियाँ हिलने लगें या मंदिर की ध्वजा फहराने लगे तो हम कहने लगते हैं कि 'हवा चल रही है' मतलब यह कि हवा आँखों से नहीं दिखती, मगर उसके कार्य द्वारा ही हम उसे जान सकते हैं।

---

[1] पहले वैज्ञानिक लोग आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानते थे, परन्तु अब आइन्स्टाइन आदि अनेक वैज्ञानिक आत्मा को, स्वतन्त्र चैतन्य को स्वीकार करते हैं। संभव है कि विशेष शोध-खोज होने पर शेष वैज्ञानिक भी उसके अस्तित्व को मान लें। उससे विज्ञान की वर्तमान प्रवृत्ति में भी बड़ा परिवर्तन होगा।

बिजली द्वारा अनेक प्रकार के कार्य होते हैं। बटन दबाया कि पंखा चलने लगा या रोशनी हो गयी, लेकिन क्या पंखा चलानेवाली या रोशनी कर देनेवाली बिजली को किसी ने आँखों से देखा भी है? कैसी भी तेज नजर वाला हो पर उसे आँखों से नहीं देख सकता। किसी चीज को सौ गुना अथवा हजार गुना बड़ा दिखानेवाला यंत्र भी आँख से लगाया जाये पर फिर भी वह नहीं देखी जा सकती। उसके कार्यों मात्र से हम कहते हैं कि, इस जगत् में बिजली नाम की भी कोई चीज है।

आज घर-घर में रेडियो बजता है और यह कहा जाता है कि 'यह गीत अमेरिका से आया,' 'यह गीत कोलम्बो से आया', 'यह गीत कलकत्ता से आया,' तो वह गीत अमेरिका, कोलम्बो या कलकत्ता से यहाँ बम्बई में किस तरह आया? किसी ने आता हुआ देखा भी था? जो यह कहा जाये कि, वह तो 'ईथर' की लहरों में गतिमान होता हुआ यहाँ आया, तो उस 'ईथर' को या उसकी लहरों को गतिमान होते हुए किसने देखा है? मात्र कार्य से उसकी प्रतीति होती है।

'जो चीज नजर से दिखायी नहीं देती, उसका अस्तित्व नहीं होता,' ऐसा कहनेवालों से अगर पूछा जाये कि, तुम्हारे पितामह थे या नहीं? उनके पितामह थे या नहीं? और, उनके भी पितामह थे या नहीं?" तो वे क्या जवाब देंगे? वे यही कहेंगे कि, 'हाँ, थे।' फिर, उनसे पूछा जाये कि 'तुम्हारी सौवीं पीढ़ी थी या नहीं? हज़ारवीं पीढ़ी थी या नहीं? अरे! लाखवीं पीढ़ी थी या नहीं?" तो उसका जवाब भी यही आयेगा कि 'हाँ, थी।'

ऐसा कहने का कारण क्या है? जहाँ पाँचवीं पीढ़ी देखना भी मुश्किल है, वहाँ सौवीं, हजारवीं या लाखवीं पीढ़ी कौन देख सकता है? नदियों में, चौपड़ों में, इतिहास के पोथों में या पुराने लेखों में भी उनका निर्देश नहीं मिल सकता। फिर भी कहते हैं कि 'हाँ, थी।' इसका कारण नहीं है कि वे पीढ़ियाँ नज़र में नहीं दिखायी देतीं, लेकिन उनका कार्य

नजर से दिखायी देता है। तुम स्वयं ही उनके कार्य हो, उसके जीते जागते सबूत हो, जो तुम्हारी सौवीं हजारवीं-लाखवीं पीढ़ी न होती तो तुम होते ही कहाँ से ?"

इससे यह निश्चित हुआ कि, जो चीज नज़र से न दिखती हो, पर उसका कार्य दिखलायी देता हो, वह अस्तित्व में है, ऐसा हम मानते हैं और ऐसा ही मानना चाहिये।

अब, 'आत्मा का कार्य दिखायी देता है या नहीं ?' इसका हम विचार करें। एक आदमी मर जाता है, तब शरीर तो ज्यों-का-त्यों रहता है—वही आकृति, वही नाक, वही कान, वही मुँह, सब ज्यों-का-त्यों ? फिर भी, मर जाने के बाद वह कुछ कर नहीं सकता। इसका कारण क्या है ? मरने से पहले भूख लगती तो वह खाना माँगता था, प्यास लगती तो पानी माँगता था, पर अब वह क्यों कुछ नहीं माँगता ? शायद माँगे बगैर भी अगर उसके मुँह में अन्न का ग्रास रख दिया जाये तो क्या वह खायेगा ? या पानी डाला जाये तो पीयेगा ? जब जीता था तो कहता था कि 'यह मेरी पत्नी है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी पुत्री है, ये मेरे सगे स्नेही हैं।' पर, अब वह क्यों नहीं बोलता ? घड़ी भर पहले वह यह कहता था कि, 'अब मेरे कुटुम्ब का क्या होगा ? मेरी सम्पत्ति का क्या होगा ? जिन पशुओं को मैंने इतने प्रेम से पाला है, उनका क्या होगा ?' और, वह निःश्वास छोड़ता था, अफसोस करता था, आँखों से आँसू बहाता था, वह सब एकाएक बंद क्यों हो गया ? क्या कुटुम्ब के प्रति उसका आकर्षण कम हो गया ? धन सम्पत्ति की ममता कम हो गयी ? या पशुओं के प्रति प्रेम लुप्त हो गया ? अगर ऐसा होता तो बेड़ा पार हो जाता, पर ऐसा कुछ न होकर उसका सब काम बंद हो गया—यह तथ्य है !

मरे हुए को कोई गाली दे तो क्या वह बोलेगा ? या लात मारें तो कराहेगा ? पहले कोई सुलगती दियासलाई लगाता तो गर्म हो जाता और उसके साथ लड़ पड़ता, पर अब लकड़ियों की चिता पर वह सारे का-सारा

जला दिये जाते समय भी गर्म नहीं होता, न चूँ-चाँ करता है। इसका कारण क्या है? कारण यही है कि उसमें जो जाननेवाला था, देखनेवाला था, सुननेवाला था, सूँघनेवाला था, चखनेवाला था, छूनेवाला था, बोलनेवाला था, विचारनेवाला था और इच्छानुसार क्रिया करनेवाला था, वह चला गया।

अगर जानना-देखना आदि कार्य शरीर मे होते, तो शरीर तो मुर्दे का भी मौजूद है और उससे भी वे सब कार्य होने चाहिए थे। पर, वे कोई होते नहीं हैं। इसलिए, यह निश्चित है कि, वे कार्य शरीर के नहीं, बल्कि आत्मा के थे। तात्पर्य यह कि, चैतन्यपूर्ण जीवन-व्यवहार आत्मा के अस्तित्व का बड़े से बड़ा प्रमाण है। कोई भी समझदार इससे इनकार कैसे कर सकता है?'

कीड़ी-मकोडी वगैरह मे चैतन्यमय जीवन-व्यवहार है, अर्थात् उसमे आत्मा है। कागज, पेंसिल, छुरी, चाकू, आदि में चैतन्यमय व्यवहार नहीं है—अर्थात् उनमें आत्मा नहीं है। गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा, मछली, साँप, मनुष्य आदि में चैतन्यमय जीवन-व्यवहार है, अर्थात् उनमे आत्मा है।

जैसे धुएँ से अग्नि का अनुमान किया जाता है, वैसे ही चैतन्य से आत्मा का अनुमान किया जा सकता है। शास्त्रकार भगवतों ने 'चैतन्य लक्षणोजीव' यह सूत्र कहा है। उसका अर्थ यह है कि 'जहाँ चैतन्य दिखायी दे, वहाँ जीव या आत्मा का अस्तित्व है।

आत्मा के अस्तित्व के अन्तर्गत प्रदेशी राजा का प्रबन्ध जानने योग्य है। उसे आप एकाग्र चित्त होकर सुनेंगे तो आत्मा के अस्तित्व सम्बन्धी आपके मन के सब संशय दूर हो जायेंगे।

प्रदेशी राजा का प्रबन्ध

तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ की परम्परा में केशीकुमार नामक श्रमण हुए। वे शान्त, दान्त, महातपस्वी तथा अवधि और मनःपर्यव

ज्ञान से युक्त थे।[1] भव्य जनों को प्रतिबोध करते हुए वे एक बार श्रावस्ती नगरी में पधारे। राष्ट्रभर में विचरते रहना और लोगों को कल्याण का सच्चा मार्ग बताना त्यागी सन्तों का कर्तव्य है।

केशीकुमार श्रमण की ख्याति उस प्रदेश में खूब फैली हुई थी, इसलिए बहुत से लोग उनका उपदेश सुनने आये। उनमें कार्यवशात् श्रावस्ती आये हुए, श्वेतम्बिका नगरी के राजा का परम विश्वास-पात्र चित्र नामक सारथी भी सम्मिलित था।

---

१ श्री उत्तराध्ययन का २३-वाँ अध्ययन केशी गौतमी नाम का है। उसमें केशीकुमार और गौतमस्वामी का एक सुन्दर संवाद है। उस अध्ययन के प्रारंभ में बताया है कि—

जिणे पासित्ति नामेणं, अरहा लोगपूइये।
संबुद्धप्पा य सव्वन्नू, धम्मतित्थयरे जिणे ॥१॥
तस्स लोगपईवस्स, आसि सीसे महायसे।
केसी कुमार समणे, विज्जाचरण पारगे ॥२॥
ओहिनाणसुए बुद्धे, सीससंघसमाउले।
गामाणुगाम रीयंते, सेऽवि सावत्थिमागए ॥३॥

श्री पार्श्वनाथ नाम के जिन हुए। वे अर्हंत लोकपूज्य, संबुद्धात्मा, सर्वज्ञ, धर्म-तीर्थ के संस्थापक और सर्व भयों को जीतनेवाले थे।१।

इन लोकप्रदीप के केशीकुमार नामक श्रवण शिष्य थे। वे महायशस्वी और विद्या-चरित्र में पारंगत थे।२।

अवधिज्ञान और श्रुतज्ञान से युक्त वे महापुरुष शिष्यमंडल से परिवृत्त होकर ग्रामानुग्राम विचरते हुए एक बार श्रावस्ती नगरी में पधारे।३।

उत्तर प्रदेश के अयोध्या जिले में बलरामपुर स्टेशन से बारह मील की दूरी पर स्थित सहेट महेट प्राचीन श्रावस्ती है। श्रावस्ती पच्चीस आर्यदेशों में स्थान प्राप्त कुणालक देश की राजधानी थी।

आचार्य महाराज का—गुरु महाराज का—व्याख्यान श्रवण करने के लिए भी पर्याप्त योग्यता चाहिए। एक कवि ने कहा है—

प्रथम श्रोता गुण एह, नेह धरी नयणे नीरखे,
हसित वदन हुंकार, सार पंडित गुण परखे।
श्रवण दिये गुण वयण, सयणता राखे सरखे,
भाव भेद रस प्रीछ, रीज मनमाँही राखे।
वेधक मनमाँहि विचार, सार चतुराई गुण आगला,
कहे कृपा एवी सभा, तव कवियण भाखे कला।

'श्रोता में पहला गुण यह होना चाहिए कि, वह वक्ता के सामने स्नेह-भरी दृष्टि रखे और मुख को किञ्चित मुस्काता रखकर हुँकारा देता जाये। फिर वह वक्ता के पाण्डित्य की परीक्षा करे अर्थात् गुड़-खल को समान न मानकर अपने मन में निर्णय करे कि वक्ता उत्तम, मध्यम या सामान्य है। वह कान देकर वक्ता के गुणकारी वचनों को भली भाँति सुने। वह आस-पास के श्रोताओं के साथ सज्जनता रखे—अर्थात् 'दबकर बैठो', 'दिखायी नहीं देता ?', 'पैर क्यों लगाया ?' वगैरह वचन बोल कर तकरार न करे, क्या विषय चल रहा है और उसका कौन-सा अधिकार कहा जा रहा है यह ध्यान में रखे और उसमें जिस रस का निरूपण हो रहा हो, उसे बराबर ग्रहण करे तथा उससे उत्पन्न होनेवाले आनन्द को अमुक अंग में व्यक्त करता रहे। फिर मन में विचार करे, अर्थात् हेय-ज्ञेय-उपादेय का विवेक करे और उत्तम प्रकार की चतुराई दर्शाये। 'कृपा' कवि कहता है कि जहाँ ऐसे श्रेष्ठ गुण हों, वहाँ वक्ता को अपनी कला प्रदर्शित करने का उत्साह होता है।'

श्री केशीकुमार आचार्य का व्याख्यान एकचित्त सुनकर बहुत से लोगों को प्रतिबोध हुआ और चित्र सारथी ने भी सम्यक्त्वमूल श्रावक के बारह

व्रत[1] ग्रहण करने के बाद विदा के समय आचार्यश्री से विनती की "हे भगवन्! श्वेतम्बिका नगरी प्रासादिक है, दर्शनीय है और रमणीय है, इसलिए वहाँ पधारने की कृपा करें।"

चित्र सारथी ने इस प्रकार दो-तीन बार विनती की। तब आचार्यश्री ने कहा—"हे चित्र! जिस वन में बहुत से दुष्ट श्वापद रहते हों, उस वन में रहना सुरक्षित नहीं है। उसी प्रकार जिस नगर में क्रूर राजा का शासन चलता हो, वहाँ जाना श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता।"

चित्र ने कहा—"हे स्वामी! आप देवानुप्रिय को प्रदेशी राजा से क्या काम है? राजधानी में दूसरे बहुत से सेठ-श्रीमन्त रहते हैं। वे आपका आदर करेंगे और खानपान आदि की विपुल सामग्री से आपकी सेवा करेंगे। आप वहाँ पधारेंगे तो महा उपकार होगा। इसलिए अवश्य पधारियेगा।"

चित्र के आग्रहपूर्ण व्यवस्थित आमंत्रण को सुनकर आचार्यश्री ने कहा—"जैसी क्षेत्रस्पर्शना।" साधु-मुनिराज ऐसे प्रसंगों पर निश्चयकारी भाषा का प्रयोग नहीं करते, कारण कि संयोगों का बल उन्हें कब कहाँ खींच ले जायेगा, यह कहना मुश्किल होता है। वे 'हाँ' कह दें और जा न सकें, तो असत्य भाषण का दोष लगे और लोगों में प्रवाद फैले कि 'महापुरुष भी ऐसा झूठ बोलते हैं,' जो कि किसी प्रकार वाञ्छनीय नहीं है।

---

[1] सब व्रतनियम सम्यक्त्व पूर्वक सफल होते हैं, इसलिए व्रत धारण करने से पहले सम्यक्त्व बोला जाता है और इसीलिए श्रावक के व्रत सम्यक्त्वमूल कहलाते हैं। उन व्रतों के नाम निम्न प्रकार हैं (१) स्थूल प्राणातिपातविरमणव्रत। (२) स्थूलमृषावाद विरमणव्रत। (३) स्थूल अदत्तादान विरमणव्रत। (४) परदाराविरमण—स्वदारासन्तोषव्रत। (५) परिग्रहपरिमाणव्रत। (६) दिक् परिमाणव्रत। (७) भोगोपभोग परिमाणव्रत। (८) अनर्थदंड परिमाणव्रत। (९) सामायिकव्रत। (१०) देशावकाशिक व्रत। (११) पोषधव्रत और (१२) अतिथि संविभागव्रत। इनमें से पहले पाँच अणुव्रत, बाद के तीन गुणव्रत और अन्तिम चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं।

चित्र आचार्यश्री के इंगिति से यह समझ गया था कि वे एक बार श्वेतम्बिका जरूर पधारेंगे। इसलिए उसने श्वेतम्बिका पहुँचकर नगर के उद्यानपालकों को बुलाया और कहा कि "हे देवानुप्रियो! पार्श्व-पत्य केशीकुमार श्रमण विहार करते हुए यहाँ आनेवाले हैं। वे जब यहाँ आयें, तब आप उनको नमन-वंदन करना, रहने की अनुज्ञा देना और पीठ-फलक वगैरह ले जाने का निमंत्रण देना। तब उनके आगमन की मुझे सूचना देना।"

कुछ समय बाद उद्यानपालक ने आकर चित्र को सूचना दी,—"हे बुद्धिनिधान! वीर, वीर, अनुपम, उदार, निर्ग्रन्थ और निरारंभी तथा चार ज्ञान के धनी श्री केशी गणधर अपने शिष्य परिवार सहित आज प्रातःकाल उद्यान में पधार गये हैं।"

यह सूचना सुनते ही मन्त्रीश्वर का हृदय आनन्द से भर गया। उसने उद्यानपालक को जीवन भर के लिए पर्याप्त प्रीतिदान देकर विदा किया। उसके बाद वह नहा-धोकर, शुद्ध वस्त्र पहन कर तथा शृंगार करके आचार्य-श्री के दर्शन के लिए गया और उनके दर्शन के बाद कहने लगा कि, 'हे भगवन्! हमारा राजा प्रदेशी अधार्मिक है और देश का कारबार अच्छी तरह नहीं चलाता। वह किसी श्रमण, ब्राह्मण या भिक्षु का भी आदर नहीं करता और हर किसी को परेशान करता है। इसलिए आप उसे धर्मोपदेश करें, तो बहुत अच्छा हो। साथ ही श्रमणों, ब्राह्मणों, भिक्षुओं, मनुष्यों, पशुओं और पक्षियों की भी बहुत भलाई हो।"

आचार्यश्री ने कहा—"हे चित्र! तेरे राजा प्रदेशी को हम धर्म कैसे सुनायें? वह हमारे पास आवे तब न?"

चित्र ने कहा—"मैं उसे किसी प्रकार आपके पास ले आऊँगा। आप उसे बिना संकोच के धर्मोपदेश कीजियेगा। किंचित् मात्र संकोच नहीं रखियेगा।"

फिर एक दिन चित्र सारथी प्रभात के पहर में राजा के पास गया और अभिवादन करके कहने लगा—"हे स्वामी! मैंने आपके लिए सजे हुए चार घोड़ों की भेंट भेजी है। आज आप उनकी परीक्षा कर लें। आज का दिन बड़ा रमणीय है, इसलिए इस कार्य के लिए योग्य है।"

राजा ने कहा—"तू उन चारों घोड़ों को रथ में जोत कर यहाँ ले आ। इतने में मैं तैयार होता हूँ।"

चित्र रथ ले आया। प्रदेशी राजा उसमें बैठकर श्वेताम्बिका नगरी के बीच में होकर निकला। चित्र सारथी उस रथ को बहुत दूर ले गया। तब गर्मी, प्यास और उड़ती धूल से घबड़ा कर राजा ने कहा—"चित्र, अब रथ को वापस ले चलो।" चित्र ने रथ को पीछे मोड़ा और उसे उस मृगवन उद्यान के सामने लाकर खड़ा कर दिया, जहाँ कि केशीकुमार श्रमण अपने शिष्य परिवार के साथ ठहरे हुए थे।

चित्र ने कहा—"महाराज! यह मृगवन-उद्यान है। यहाँ घोड़ों को जरा थकान उतारने दें और हम भी अपना श्रम दूर कर लें।" राजा की सहमति पाकर वह रथ को अन्दर ले गया और केशीकुमार के स्थान के पास जाकर घोड़ों को खोलकर उनकी सार-सँभाल करने लगा। राजा भी रथ से नीचे उतरा और घोड़ों के शरीर पर हाथ फेरने लगा। यह सब करते हुए उसने श्री केशीकुमार श्रमण को सभा में उपदेश देते हुए सुना।

उनको देखते ही प्रदेशी विचारने लगा—"यह कौन जड़मुंडी बैठा है? यह क्या खाता होगा? क्या पीता होगा? कि शरीर से ऐसा अलमस्त और दर्शनीय लगता है और लोगों को यह ऐसा क्या देता है कि जिसके कारण इतनी बड़ी भीड़ यहाँ इकट्ठी हुई है?"

उसने कहा—"चित्र! देख तो सही कि यह सब क्या चल रहा है, वह जड़ गला फाड़-फाड़ कर जड़ लोगों को क्या समझा रहा है? ऐसे बेफिकरे लोगों के कारण हम ऐसे उद्यान में भी अच्छी तरह घूम-फिर नहीं

चित्र आचार्यश्री के इंगिति से यह समझ गया था कि वे एक बार श्वेताम्बिका जरूर पधारेंगे। इसलिए उसने श्वेताम्बिका पहुँचकर नगर के उद्यानपालकों को बुलाया और कहा कि "हे देवानुप्रियो! पार्श्व-पत्य केशीकुमार श्रमण विहार करते हुए यहाँ आनेवाले हैं। वे जब यहाँ आयें, तब आप उनको नमन वदन करना, रहने की अनुज्ञा देना और पीठ-फलक वगैरह ले जाने का निमत्रण देना। तब उनके आगमन की मुझे सूचना देना।"

कुछ समय बाद उद्यानपालक ने आकर चित्र को सूचना दी,—"हे बुद्धिनिधान! धीर, वीर, अनुपम, उदार, निर्ग्रन्थ और निरारभी तथा चार ज्ञान के धनी श्री केशी गणधर अपने शिष्य परिवार सहित आज प्रातःकाल उद्यान में पधार गये हैं।"

यह सूचना सुनते ही मन्त्रीश्वर का हृदय आनन्द से भर गया। उसने उद्यानपालक को जीवन भर के लिए पर्याप्त प्रीतिदान देकर विदा किया। उसके बाद वह नहा-धोकर, शुद्ध वस्त्र पहन कर तथा शृगार करके आचार्य-श्री के दर्शन के लिए गया और उनके दर्शन के बाद कहने लगा कि, 'हे भगवन्! हमारा राजा प्रदेशी अधार्मिक है और देश का कारबार अच्छी तरह नहीं चलाता। वह किसी श्रमण, ब्राह्मण या भिक्षु का भी आदर नहीं करता और हर किसी को परेशान करता है। इसलिए आप उसे धर्मोपदेश करें, तो बहुत अच्छा हो। साथ ही श्रमणों, ब्राह्मणों, भिक्षुओं, मनुष्यों, पशुओं और पक्षियों की भी बहुत भलाई हो।"

आचार्यश्री ने कहा—"हे चित्र! तेरे राजा प्रदेशी को हम धर्म कैसे सुनायें? वह हमारे पास आवे तब न?"

चित्र ने कहा—"मैं उसे किसी प्रकार आपके पास ले आऊँगा। आप उसे बिना सकोच के धर्मोपदेश कीजियेगा। किञ्चित् मात्र सकोच नहीं रखियेगा।"

फिर एक दिन चित्र सारथी प्रभात के पहर में राजा के पास गया और अभिवादन करके कहने लगा—"हे स्वामी! मैंने आपके लिए सधे हुए चार घोड़ों की भेंट भेजी है। आज आप उनकी परीक्षा कर लें। आज का दिन बड़ा रमणीय है, इसलिए इस कार्य के लिए योग्य है।"

राजा ने कहा—"तू उन चारों घोड़ों को रथ में जोत कर यहाँ ले आ। इतने में मैं तैयार होता हूँ।"

चित्र रथ ले आया। प्रदेशी राजा उसमें बैठकर श्वेतम्बिका नगरी के बीच में होकर निकला। चित्र सारथी उस रथ को बहुत दूर ले गया। तब गर्मी, प्यास और उड़ती धूल से घबड़ा कर राजा ने कहा—"चित्र, अब रथ को वापस ले चलो।" चित्र ने रथ को पीछे मोड़ा और उसे उस मृगवन उद्यान के सामने लाकर खड़ा कर दिया, जहाँ कि केशीकुमार श्रमण अपने शिष्य परिवार के साथ ठहरे हुए थे।

चित्र ने कहा—"महाराज! यह मृगवन-उद्यान है। यहाँ घोड़ों को जरा थकान उतारने दें और हम भी अपना श्रम दूर कर लें।" राजा की सहमति पाकर वह रथ को अन्दर ले गया और केशीकुमार के स्थान के पास जाकर घोड़ों को खोल्कर उनकी सार-सँभाल करने लगा। राजा भी रथ से नीचे उतरा और घोड़ों के शरीर पर हाथ फेरने लगा। यह सब करते हुए उसने श्री केशीकुमार श्रमण को सभा में उपदेश देते हुए सुना।

उनको देखते ही प्रदेशी विचारने लगा—"यह कौन जड़मुंडी बैठा है? यह क्या खाता होगा? क्या पीता होगा? कि शरीर से ऐसा अलमस्त और दर्शनीय लगता है और लोगों को यह ऐसा क्या देता है कि जिसके कारण इतनी बड़ी भीड़ यहाँ इकट्ठी हुई है?"

उसने कहा—"चित्र! देख तो सही कि यह सब क्या चल रहा है, यह जड़ गला फाड़-फाड़ कर जड़ लोगों को क्या समझा रहा है? ऐसे बेफिकरे लोगों के कारण हम ऐसे उद्यान में भी अच्छी तरह घूम फिर नहीं

सकते ! जरा आराम और शान्ति पाने के लिए यहाँ आये, तो यह शोर मचाकर हमारा सिर फिरा रहा है !"

चित्र ने कहा—"हे स्वामी ! ये केशीकुमार श्रमण पार्श्वपत्य है, जातिवन्त है, चार ज्ञान के धारक हैं, इन्हें परम अवधिज्ञान प्राप्त है और ये अन्नभोजी है।"

राजा बोला—"चित्र ! तू क्या कहता है ? क्या इस पुरुष को परम अवधिज्ञान हुआ है ? क्या यह अन्नजीवी है ?"

चित्र ने कहा—"हाँ, स्वामी ! ऐसा ही है।"

राजा ने पूछा—"तो क्या इस पुरुष के पास चलना चाहिये ?"

तब राजा और चित्र केशीकुमार के सामने जाकर खड़े हो गये। राजा ने पूछा—'हे भन्ते ! क्या आप परम अवधिज्ञानधारी है ? क्या आप अन्नजीवी हैं ?"

आचार्य ने कहा—"रिश्वतखोर रिश्वत से छूटने के लिए किसी से सच्चा रास्ता तो पूछते नहीं, बल्कि टेढे रास्ते चलते रहते हैं। उसी प्रकार हे राजन् ! विनयमार्ग मे भटका हुआ होने के कारण तुझे प्रश्न पूछना भी नहीं आता। मुझे देखकर तुझे ऐसा विचार तो आया कि, यह ठूँठ गला फाड़-फाड़कर जड़ लोगों को क्या समझा रहा है ? और, मेरे उद्यान म शोर मचाकर मुझे शान्ति नहीं लेने देता !"

राजा ने कहा—"यह बात सच है, लेकिन आपने यह कैसे जान लिया ? आपको ऐसा कौन-सा ज्ञान है कि, जिससे आपने मेरे मन का विचार जान लिया ?"

आचार्य ने कहा—"हे राजन् ! हम श्रमण-निर्ग्रन्थों के शास्त्र म पाँच प्रकार का ज्ञान बताया है—१ मति, २ श्रुति, ३ अवधि, ४ मन पर्यव और ५ केवल। उनम प्रथम चार ज्ञान मुझे हो गये हैं, इसी से मैं तेरे मन का सकल्प जान सकता हूँ।"

राजा ने पूछा—"हे भगवन्त ! क्या मैं यहाँ बैठ सकता हूँ ?"

आचार्य ने कहा—"यह उद्यानभूमि स्वय तेरी है। इसलिए, यहाँ बैठना या न बैठना तेरी इच्छा पर है।"

तब राजा और चित्र सारथी उनके पास बैठे। राजा ने आचार्य से पूछा—"हे भन्ते! आप श्रमण-निर्ग्रन्थों म ऐसी मान्यता है कि 'जीव' भिन्न है और 'शरीर' भिन्न है, क्या यह सच है?"

केशीकुमार ने कहा—"हाँ! हम यही मानते हैं।"

राजा ने कहा—"जीव और शरीर अलग नहीं है, वरन् एक ही है। इस निर्णय पर मैं कैसे पहुँचा सो सुनिए। मेरा दादा इस नगरी का ही राजा था। वह बड़ा अधार्मिक था और प्रजा की भी सार-सम्भाल अच्छी तरह नहीं करता था। वह आपके मतानुसार तो मरकर किसी नरक में ही गया होगा। अपने दादा का मैं प्रिय पौत्र हूँ। उसे मुझ पर बड़ा स्नेह था। अब आपके कथनानुसार 'जीव' और 'शरीर' भिन्न हों और वह मरकर नरक गया हो, तो यहाँ आकर मुझे इतना तो बताये कि, 'तू किसी भी प्रकार का अधर्म मत करना, क्योंकि उसके फलस्वरूप नरक में जाना पड़ता है और भयकर दु ख भोगने पड़ते हैं, पर, वह अभी तक मुझसे कभी कहने नहीं आया, इसलिए जीव और शरीर एक ही हैं और परलोक नहीं है मेरी यह मान्यता ठीक है।"

आचार्य ने कहा—"हे प्रदेशी! तेरी सूर्यकान्ता नामक रानी है। उस सुन्दर-रूपवती रानी के साथ कोई सुन्दर-रूपवान पुरुष मानवीय काम-सुख का अनुभव करता हो, तो उस कामुक पुरुष को तू क्या दण्ड दे?"

राजा ने कहा—"हे भन्ते! मैं उस पुरुष का हाथ काट दूँ, पैर छेद डालूँ और उसे सूली भी चढा दूँ, या एक ही प्रहार में उसकी जान ले लूँ।"

आचार्य—"हे राजन्! वह कामुक पुरुष तुझसे यह कहे कि, 'हे स्वामी! घड़ी भर ठहर जाओ। मैं अपने कुटुम्बियों और मित्रों से यह कह आऊँ कि कामवृत्ति के वशीभूत होकर मैं सूर्यकान्ता के सग में पड़ा,

इसलिए मुझे मौत की सजा मिली है। अत तुम भूलकर भी पापाचरण म न पडना। तो, उस पुरुष के ऐसे अनुनय विनयपूर्ण वचन सुनकर क्या तू उसे सजा देने म कुछ देर रुक जायगा ?"

राजा—"हे भन्ते! ऐसा न हो सकेगा। वह कामुक मेरा अपराधी है। इसलिए जरा भी ढील किये बिना मैं उसे सूली पर चढा दूँगा।"

आचार्य—"हे राजन्! तेरे दादा की भी हालत ऐसी ही है? वह परतन्त्र होकर नरक के दुःख भोग रहा है, इसलिए तुझसे कहने के लिए कैसे आ सकता है? नरक म पहुँचा हुआ नया अपराधी मनुष्य-लोक म आना तो चाहता है, पर वह चार कारणो से आ नहीं पाता। प्रथम तो नरक की भयकर वेदना उसे विह्वल कर डालती है, जिससे कि वह किंकर्तव्य-विमूढ बन जाता है। दूसरे, नरक के कठोर रक्षक उसे घड़ी भर के लिए भी बन्धनमुक्त नहीं करते। तीसरे, उसके वेदनीय कर्म का भोग पूरा भोगा हुआ नहीं होता और चौथे, उसका आयुष्य पूरा किया हुआ नहीं होता। इसलिए, वह मनुष्य-लोक म आ नहीं सकता। मरकर नरक म पड़ा हुआ प्राणी यहाँ नहीं आ सकता, इसका कारण उसकी परतन्त्रता है, यह नहीं कि नरक नाम की कोई गति ही नहीं है।"

राजा—'जीव कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, मेरी इस मान्यता को दृढीभूत करने वाला दूसरा उदाहरण सुनिये। इसी नगर म मेरी एक दादी थी, और वह जीव-अजीव आदि तत्त्वोंकी जानकार थी और सयम तथा तप द्वारा अपनी आत्मा को भावित करती थी। मेरी उस दादी की मृत्यु हो गयी और वह आपके कथनानुसार स्वर्ग म गयी होगी, उस दादी का मै बड़ा प्रिय पौत्र था, वह मुझे देखकर गद्‌गद् हो जाती थी। उन्हे स्वर्ग से आकर मुझ से कहना चाहिए था कि, 'हे पौत्र! तू भी मुझ-जैसा धार्मिक बनना, ताकि तुझे स्वर्गसुख प्राप्त हो'। पर, वह अभी तक मुझसे ऐसा कहने नहीं आयी, इसलिए नरक की तरह स्वर्ग की बात भी मुझे

मानने में नहीं आती। इसलिए 'जीव' और 'शरीर' अलग नहीं बल्कि एक ही हैं, ऐसी मान्यता मुझमें दृढ हो गयी है।'

आचार्य—'हे राजन्! मानले कि तू देव मंदिर में जाने के लिए स्नान किये हुए है, गीले कपड़े पहने हुए है, और हाथ में कलश-धूपदान है, और तू देवमंदिर में पहुँचने के लिए पैर बढ़ा रहा है। उस समय पाखाने में बैठा हुआ कोई पुरुष तुझसे यह कहे कि, आप यहाँ पाखाने में आइये, बैठिये, खड़े रहिये और घड़ी भर शरीर लम्बा कीजिये,' तो हे राजन्! क्या तू उसकी बात मानेगा ?"

राजा—"हे भंते! मैं उसकी बात बिल्कुल नहीं मानूँगा, पाखाना बड़ा गंदा होता है, ऐसी गंदी जगह में कैसे जा सकता हूँ ?"

आचार्य श्री—"हे राजन्! उसी प्रकार देवगति को प्राप्त हुई तेरी दादी यहाँ आकर तुझसे अपने सुखों को कहना चाहे तो भी नहीं आ सकती। स्वर्ग में नया उत्पन्न हुआ देव मनुष्यलोक में आना तो चाहता है, पर चार कारणों से वह यहाँ आ नहीं सकता। एक तो, वह देवस्वर्ग के दिव्य काम-सुखों में अत्यन्त लिप्त हो जाता है और मानवी सुखों में उसकी रुचि नहीं रहती। दूसरे, उस देव का मनुष्य-सम्बन्ध टूटा हुआ होता है और वह देव देवियों के साथ जुड़े हुए नये प्रेम-सम्बन्ध में लगा रहता है। तीसरे, दिव्य सुखों में पड़ा हुआ वह देव 'अब जाता हूँ, अब जाता हूँ' सोचता रहता है, इस तरह बहुत काल बीत जाता है और मनुष्य लोक के अल्पायुषी सम्बन्धी मर चुके होते हैं, कारण कि देव-सुख के कारण उनको काल व्यतीत होने का भास नहीं होता और हमारे हजारों वर्ष देवों को पल मात्र में बीत जाते हैं। चौथे, मनुष्य लोक की दुर्गंध बहुत होती है, वह ऊपर चार-सौ पाँच सौ योजन तक फैली होती है। उसे देव सह नहीं सकता। इसलिए स्वर्ग में गया हुआ प्राणी यहाँ नहीं आ सकता। इससे तू समझ गया होगा कि तेरी दादी जो यहाँ आ नहीं सकी, उसका कारण स्वर्ग के आनन्द की अभिरुचि है, न कि यह कि स्वर्ग नाम की गति नहीं है"।

राजा—"'जीव' और 'शरीर' भिन्न नहीं हैं, इसके लिए एक और प्रमाण भी सुनिये। मैं राजसभा में सिंहासन पर बैठा हुआ था। मंत्री आदि परिवार बगल में बैठे हुए थे। उस वक्त कोतवाल एक चोर को पकड़ कर लाया। मैंने उस चोर को लोहे की कुम्भी में बन्द करवा दिया और उस पर लोहे का मजबूत ढक्कन लगवा दिया। उसे लोहे और सीसे से एक दम बन्द कर दिया और उसपर अपने विश्वास पात्र सैनिक रखकर उसपर बराबर देख-रेख रखी। थोड़े दिन बाद उस कुंभी को खुलवाकर देखा तो उस आदमी को मरा हुआ पाया। अगर 'जीव' और 'शरीर' अलग होते, तो उस पुरुष का जीव कुंभी में से किस तरह बाहर निकल जाता? कुंभी में कहीं भी तिल बराबर भी छिद्र नहीं था। अगर ऐसा छिद्र होता, तो यह मानते कि उस रास्ते जीव बाहर निकल गया। लेकिन, उसमें कहीं भी छिद्र था ही नहीं, इसलिए 'जीव' और 'शरीर' दोनों एक ही हैं और शरीर के अक्रिय हो जाने पर 'जीव' भी अक्रिय हो जाता है, मेरी यह मान्यता ठीक है।"

आचार्य—"हे राजन्? यूँ समझ कि शिखर के घाट की गुम्मटवाली एक बड़ी कोठरी हो, जो चारों तरफ से लिपी हुई हो, जिसके दरवाजे पूर्णतः बैठते हों और ऐसी हो कि जिसमें जरा-सी भी हवा न जा सके। उसमें कोई आदमी नगाड़ा और चोब लेकर बैठे, बैठकर उसके दरवाजे बन्द कर दे, तब उस नगाड़े को जोर से बजावे तो उस नगाड़े की आवाज बाहर निकलेगी या नहीं?"

राजा—"हाँ भंते! निकलेगी तो सही।'

आचार्य—"उस कोठरी में कोई छेद है?"

राजा—"नहीं, भंते! उस कोठरी में कहीं छेद नहीं है।"

आचार्य—"हे राजन्! जिस तरह उस छिद्र रहित कोठरी में से आवाज बाहर निकल सकती है, वैसे ही छिद्र रहित कुम्भी में से 'जीव' भी बाहर निकल सकता है। अर्थात् धातु, पत्थर, भींत, पहाड़ आदि को भेद

कर चले जाने का सामर्थ्य जीव म है, इसलिए उसे कहीं भी बन्द कर दिया जाये, तब भी वह बाहर निकल सकता है।'

राजा—"हे भते! 'जीव' और 'शरीर' अलग नहीं है। मेरी इस धारणा का समर्थन करने वाला दूसरा प्रमाण भी सुनिये। मेरा कोतवाल एक चोर को पकड़ लाया। मैंने उसे मारकर लोहे की कुम्भी म बन्द कर दिया। उसके ऊपर मजबूत ढक्कन लगा दिया, उसे पूरी तरह बद कराकर उस पर पक्की चौकी बिठा दी। फिर, कुछ दिनों बाद उस कुम्भीको खोल कर देखा तो उसमें कीड़े किलबिला रहे थे। उस कुम्भी में कहीं भी घुसने की जगह नहीं थी, फिर भी उसमें इतने कीड़े कहाँ से आ गये? इसलिए म तो यहा समझता हूँ कि जीव और शरीर एक ही हैं और वे सब शरीर म से ही पैदा होने चाहिएँ।

आचार्य—"तूने कभी गर्म किया हुआ लोहा देखा है? या तूने कभी लोहा गर्म किया है?'

राजा—"हाँ भते! मैंने गर्म लोहा देखा है और स्वय भी गर्म किया है।'

आचार्य—"गर्म होकर लोहा लाल हो जाता है न?"

राजा—"हाँ भते! हो जाता है।"

आचार्य—"हे राजन्! उस ठोस लोहे में अग्नि किस तरह घुस गयी? उसमें जरा-सा भी छिद्र न होने पर भी जैसे उसमें अग्नि प्रविष्ट हो गयी, उसी प्रकार 'जीव' भी अत्यन्त तीव्र गतिशील होने की वजह से सर्वत्र प्रविष्ट हो सकता है। इसलिए, तूने कुम्भी में जो जीव देखे, वे बाहर से घुसे थे।'

राजा—"हे भते! एक बार मैंने एक चोर को जिन्दा तुलवाया, फिर उसे मरवा कर तुलवाया, तो उसके वजन में जरा भी फर्क न पड़ा। अगर 'जीव' और 'शरीर' अलग हों, तो जीव के निकल जाने पर उसके शरीर का

कुछ तो वजन कम होना चाहिए न ? पर ऐसा नहीं देखा गया, इसलिए 'जीव' और 'शरीर' एक ही है, मैं ऐसा मानता हूँ।'

आचार्य—"हे राजन् ! तूने पहले कभी चमड़े की मशक में हवा भरी है ? या भरवाई है ? चमड़े की खाली मशक के वजन में और हवा भरी हुई मशक के वजन में कुछ फर्क पड़ता है ?"

राजा—"नहीं भंते ! कुछ फर्क नहीं पड़ता।"

आचार्य—"हे राजन् ! वजन या गुरुत्व पुद्गल का, जड़ का धर्म है और उसके व्यक्तीकरण के लिए स्पर्श अपेक्षित है, यानी किसी वस्तु का जब तक स्पर्श न हो या उसे किसी तरह पकड़ न सकें, तब तक उसका वजन नहीं हो सकता। तो फिर जो पदार्थ पुद्गल से सर्वथा भिन्न है और जिसका स्पर्श ही नहीं हो सकता, जिसे किसी प्रकार पकड़ ही नहीं सकते, उसका वजन किस तरह हो सकता है ?"

राजा—"हे भंते ! एक बार मैंने देहान्तदंड-प्राप्त चोर के शरीर के छोटे-छोटे टुकड़े कराकर देखना चाहा कि उसमें आत्मा कहाँ है ? पर, मुझे उसके किसी टुकड़े में आत्मा नहीं दिखी। इसलिए, 'जीव' और 'शरीर' अलग नहीं हैं, मेरी यह धारणा पुष्ट हुई।"

आचार्य—"हे राजन् ! अरणी की लकड़ी में अग्नि मौजूद है, यह बात जगप्रसिद्ध है। पर, उसे देखने के लिए उसके छोटे-छोटे टुकड़े किये जायें और फिर देखा जाये कि अग्नि कहाँ है, तो क्या वह दिखायी देगी ? उस समय अग्नि न दीखे तो क्या यह कहा जा सकता है कि, उसमें अग्नि नहीं है ? जो ऐसा कहे तो अविश्वसनीय ही गिना जायेगा। उसी तरह शरीर के टुकड़ों में आत्मा न दिखी, इसलिए वह नहीं है, ऐसा मानना भी गलत कहा जायेगा।'

राजा—"हे भंते ! 'जीव' और 'शरीर' एक ही है, यह मैं अकेला ही नहीं मानता, बल्कि मेरे दादा और मेरे पिता भी ऐसा ही समझते आये

थे, यानी मेरी यह मान्यता कुल-परम्परागत है, इसलिए मैं उसे कैसे छोड़ सकता हूँ ?'

आचार्य—"हे राजन् ! अगर तू अपनी इस मान्यता को नहीं छोड़ेगा तो उस लोहे के बोझ को न छोड़ने वाले कदाग्रही पुरुष की तरह तुझे पछताना पड़ेगा।'

राजा—"यह लोहे का बोझ न छोड़नेवाला कदाग्रही पुरुष कौन था ? और उसे क्यों पछताना पड़ा ?"

आचार्य—"हे राजन् ! अर्थ के कामी कुछ लोग अपने साथ बहुत-सा पाथेय लेकर चलते-चलते एक बड़ी अटवी में जा पहुँचे। वहाँ एक जगह उन्होंने बहुत से लोहे से भरी हुई खान देखी। वे परस्पर कहने लगे कि, यह लोहा हमारे लिए बड़ा उपयोगी है, इसलिए उसका बोझ बाँधकर साथ ले चलना अच्छा है। फिर वे उसका बोझ बाँधकर अटवी में आगे बढ़े। वहाँ एक सीसे की खान दिखायी दी। सीसा लोहे से ज्यादा कीमती होता है, इसलिए सबने लोहे का बोझ छोड़कर सीसा बाँध लिया। लेकिन, एक ने अपने लोहे का बोझ न छोड़ा। साथियों ने उसे बहुत समझाया, तो वह बोला,—'यह बोझ मैं बड़ी दूर से उठाकर लाया हूँ और उसे खूब मज़बूती से बाँधा है, इसलिए इसे रख कर मैं सीसा का बोझ नहीं बाँधना चाहता।'

अब वह मंडली अटवी में आगे बढी। वहाँ क्रम से ताँबे की, चाँदी की, सोने की, रत्न की और हीरे की खानें दिखायी दीं। इसलिए, वे कम कीमत की चीजों के बोझ छोड़ते गये और ज्यादा कीमत की चीज़ों के बोझ बाँधते गये। ऐसा करके वे अपने नगर में पहुँचे। वहाँ उन्होंने वह बहुमूल्य हीरे बेचे। इससे वे बड़े धनवान हो गये और सुख से रहने लगे। उस कदाग्रही आदमी ने अपना लोहे का बोझ बेचा, तो बहुत-थोड़े पैसे मिले। इससे वह खिन्न होकर सोचने लगा, 'अगर मैंने भी अपने साथियों की तरह लोहे का बोझ छोड़कर ज्यादा कीमती चीजें ली होतीं, तो मैं भी

कुछ तो वजन कम होना चाहिए न ? पर ऐसा नहीं देखा गया, इसलिए 'जीव' और 'शरीर' एक ही है, मैं ऐसा मानता हूँ।'

आचार्य—"हे राजन् ! तूने पहले कभी चमड़े की मशक में हवा भरी है ? या भरवाई है ? चमड़े की खाली मशक के वजन में और हवा भरी हुई मशक के वजन में कुछ फर्क पड़ता है ?"

राजा—"नहीं भंते ! कुछ फर्क नहीं पड़ता।"

आचार्य—"हे राजन् ! वजन या गुरुत्व पुद्गल का, जड़ का धर्म है और उसके व्यक्तीकरण के लिए स्पर्श अपेक्षित है, यानी किसी वस्तु का जब तक स्पर्श न हो या उसे किसी तरह पकड़ न सकें, तब तक उसका वजन नहीं हो सकता। तो फिर जो पदार्थ पुद्गल से सर्वथा भिन्न है और जिसका स्पर्श ही नहीं हो सकता, जिसे किसी प्रकार पकड़ ही नहीं सकते, उसका वजन किस तरह हो सकता है ?"

राजा—"हे भंते ! एक बार मैंने देहान्तदंड-प्राप्त चोर के शरीर के छोटे-छोटे टुकड़े कराकर देखना चाहा कि उसमें आत्मा कहाँ है ? पर, मुझे उसके किसी टुकड़े में आत्मा नहीं दिखी। इसलिए, 'जीव' और 'शरीर' अलग नहीं हैं, मेरी यह धारणा पुष्ट हुई।"

आचार्य—"हे राजन् ! अरणी की लकड़ी में अग्नि मौजूद है, यह बात जगप्रसिद्ध है। पर, उसे देखने के लिए उसके छोटे-छोटे टुकड़े किये जायें और फिर देखा जाये कि अग्नि कहाँ है, तो क्या वह दिखायी देगी ? उस समय अग्नि न दीखे तो क्या यह कहा जा सकता है कि, उसमें अग्नि नहीं है ? जो ऐसा कहें तो अविश्वसनीय ही गिना जायेगा। उसी तरह शरीर के टुकड़ों में आत्मा न दिखी, इसलिए वह नहीं है, ऐसा मानना ही गलत कहा जायेगा।"

राजा—"हे भंते ! 'जीव' और 'शरीर' एक ही हैं, यह मैं अकेला ही नहीं मानता, बल्कि मेरे दादा और मेरे पिता भी ऐसा ही समझते आये

थे, यानी मेरी यह मान्यता कुल-परम्परागत है, इसलिए मैं उसे कैसे छोड सकता हूँ ?'

आचार्य—"हे राजन्! अगर तू अपनी इस मान्यता को नहीं छोड़ेगा तो उस लोहे के बोझ को न छोड़ने वाले कदाग्रही पुरुष की तरह तुझे पछताना पड़ेगा।'

राजा—"यह लोहे का बोझ न छोड़नेवाला कदाग्रही पुरुष कौन था ? और उसे क्यों पछताना पड़ा ?"

आचार्य—"हे राजन्! अर्थ के कामी कुछ लोग अपने साथ बहुत-सा पाथेय लेकर चलते-चलते एक बड़ी अटवी में जा पहुँचे। वहाँ एक जगह उन्होंने बहुत से लोहे से भरी हुई खान देखी। वे परस्पर कहने लगे कि, यह लोहा हमारे लिए बड़ा उपयोगी है, इसलिए उसका बोझ बाँधकर साथ ले चलना अच्छा है। फिर वे उसका बोझ बाँधकर अटवी में आगे बढ़े। वहाँ एक सीसे की खान दिखायी दी। सीसा लोहे से ज्यादा कीमती होता है, इसलिए सबने लोहे का बोझ छोड़कर सीसा बाँध लिया। लेकिन, एक ने अपने लोहे का बोझ न छोड़ा। साथियों ने उसे बहुत समझाया, तो वह बोला,—'यह बोझ मैं बड़ी दूर से उठाकर लाया हूँ और उसे खूब मजबूती से बाँधा है, इसलिए इसे रख कर मैं सीसा का बोझ नहीं बाँधना चाहता।'

अब वह मडली अटवी में आगे बढी। वहाँ क्रम से ताँबे की, चाँदी की, सोने की, रत्न की और हीरे की खानें दिखायी दीं। इसलिए, वे कम कीमत की चीजों के बोझ छोडते गये और ज्यादा कीमत की चीजों के बोझ बाँधते गये। ऐसा करके वे अपने नगर में पहुँचे। वहाँ उन्होंने वह बहुमूल्य हीरे बेचे। इससे वे बड़े धनवान हो गये और सुख से रहने लगे। उस कदाग्रही आदमी ने अपना लोहे का बोझ बेचा, तो बहुत-थोड़े पैसे मिले। इससे वह खिन्न होकर सोचने लगा, 'अगर मैंने भी अपने साथियों की तरह लोहे का बोझ छोड़कर ज्यादा कीमती चीजें ली होतीं, तो मैं भी

उन-जैसा वैभव प्राप्त कर सकता।' इस तरह हे राजन्! अगर तू अपना कदाग्रह नहीं छोड़ेगा तो उस लोहे के बोझ को उठाकर लानेवाले की तरह बड़ा पछतायेगा।"

श्री केशीकुमार श्रमण के इस उपदेश से प्रदेशी राजा की शंका निवारण हो गयी और विश्वास हो गया कि आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है और वह अपने किये हुए पुण्य पाप का बदला अवश्य भोगता है। इसलिए, उसने आचार्यश्री से धर्म श्रवण करके सम्यक्त्वमूल श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये, और उनका विधिपूर्वक आराधन करने लगा। अब उसका झुकाव पूरी तरह आध्यात्मिक हो जाने के कारण, वह भोग से विमुख हो गया। यह बात उसकी रानी सूर्यकांता को अच्छी नहीं लगी, इसलिए रानी ने उसे जहर दे दिया। फिर भी, उसने मन की समाधि अन्त तक बराबर कायम रखी और मरने के बाद सूर्याभ-नामक देव हुआ, जिसका कि वर्णन रायपसेणइय-सूत्र में आता है।

'आत्मा है' यह भारतीय तत्त्वज्ञान की अमर घोषणा है और वह सच्ची है। उसे मानने में ही सबका कल्याण है।

दूसरा व्याख्यान

आत्मा देह आदि से भिन्न है

महानुभावो !

श्रुतस्थविर भगवन्त ने श्री उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवें अध्ययन की २५८-वीं गाथा में अल्प-संसारी आत्मा का जो वर्णन किया है, उस प्रसंग से 'आत्मा' का विषय चल रहा है।

किसी भी वस्तु का अस्तित्व दो तरह से जाना जा सकता है—एक उसे दृष्टि से देखकर और दूसरे उसके कार्यों को देखकर। इनमें 'आत्मा' का अस्तित्व उसके कार्य देखने से जाना जा सकता है। यह बात पिछले व्याख्यान में अनेक उदाहरणों और तर्कों द्वारा समझायी गयी है और मैं मानता हूँ कि वह आपके समझ में आ गयी होगी।

'आत्मा है', यह तो आप पहले भी मानते रहे होंगे, लेकिन किसी के पूछने पर समाधान नहीं कर सकते थे, परन्तु आशा है अब तो आप औरों का समाधान भी कर सकेंगे ?

इस श्रोतावर्ग में से बहुतों के लड़के-लड़कियाँ स्कूल और कालेज में पढ़ते होंगे। उन्हें वहाँ जो शिक्षण दिया जाता है, उसमें 'धर्म' का विषय नहीं पढ़ाया जाता। कितनी ही शिक्षा-संस्थाओं में पढ़ाया जाता था, मगर सरकार ने बन्द कर दिया। ऐसी परिस्थिति में वे 'आत्मा', 'कर्म' या 'धर्म-सम्बन्धी' बातें कैसे जान सकते हैं ? उन्हें दो घड़ी अपने पास बिठाकर आत्मा-सम्बन्धी बात करना और यहाँ जो कुछ कहा गया है, उसे उन्हें समझाने का प्रयास करना। 'फुरसत नहीं है, क्या करें ?' ऐसा कहकर न छूट जाना। स्वजनों को 'धर्म' का उपदेश करना श्रावक का कर्तव्य है,

यह जानते हैं न ? जो गृहस्थ अपने पोष्य-वर्ग को 'धर्म' का उपदेश नहीं देता, वह अपना सच्चा फर्ज नहीं बजाता।

'आत्मा है', यह मानने से ही आपका काम पूरा नहीं हो जाता। यह तो पाव में पहली पौनी है। कोई आदमी बम्बई आया, पर यदि उसके किसी विभाग से परिचित न हो तो आजादी से हिरफिर नहीं सकता, न उसका आनन्द ले सकता है। उसी तरह जो सिर्फ यह जानें कि 'आत्मा है', पर उसके स्वरूप को न जानें, या उसके गुणों से परिचित न हों, वे आत्मा के गुणों का विकास किस तरह कर सकते हैं ? आत्मसुख का सच्चा आस्वादन किस प्रकार कर सकते हैं ? इसलिए आत्मा का स्वरूप विशेष प्रकार से समझने की आवश्यकता है।

आप 'मैं' यानी 'मेरी देह' ऐसा समझकर व्यवहार चलाते हैं और उसके सिंचन-रंजन में लगे रहते हैं। इस वजह से आपको न तो किसी तत्त्व-विचारणा का स्फुरण होता है और न धर्माराधन की फुरसत मिलती है; लेकिन, इस तरह जीवनयापन करनेवाले का क्या हाल होता है, यह देखिये।

महेश्वरदत्त की कथा

विजयपुर-नामक एक बड़ा नगर था। उसमें महेश्वरदत्त नाम का एक क्षत्रिय रहता था। उसकी पत्नी का नाम गांगिला था। इस महेश्वर-दत्त के माता-पिता वृद्ध हो गये थे और ऐसी परिस्थिति में थे कि अगर चाहते तो सारा समय ईश्वर-भक्ति में, धर्म-ध्यान में गुजार सकते थे लेकिन उसमें उनका चित्त जरा भी नहीं लगता था। जिन्होंने सारी जिन्दगी संसार के व्यवहारों में ही गुजारी हो, उनको ईश्वर-भक्ति या धर्म-ध्यान कहाँ से सूझे ? किसी दिन साधु-सन्त के पास जाते हों, व्याख्यान-वाणी सुनते हों और कुछ व्रत नियम पालन करते हों, तो बड़ी उम्र में उनमें विशेष रस उत्पन्न हो और अपना जीवन सुधार सकें, लेकिन वे किसी दिन साधु-सन्तों का संग नहीं करते थे—वे भले और उनका व्यवहार भला।

महेश्वरदत्त की स्थिति भी लगभग ऐसी ही थी, वह सुबह से शाम तक धन्धा-रोजगार में लगा रहता और कुटुम्ब का पालन करता। उसके कुटुम्ब में माँस-भक्षण भी होता था और मदिरा भी पी जाती थी। जहाँ धर्म के संस्कार न हों, वहाँ भक्ष्याभक्ष्य का विवेक कहाँ से हो ! आज भक्ष्याभक्ष्य का विवेक घट गया है, इसका कारण यह है कि 'धर्म' के संस्कार नहीं हैं। सुज्ञ तो समझते ही हैं कि मासभक्षण करनेवाले और मदिरापान करनेवाले की नरकगति होती है और उसे असह्य यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

एक बार महेश्वरदत्त का पिता बीमार पड़ा। बहुत कुछ कोशिश की जाने पर भी अच्छा नहीं हुआ। औषध भी आयुष्य हो तभी लगती है। अपना अन्त समय निकट देखकर वह चिन्ता करने लगा कि, "मेरी पत्नी का क्या होगा ?" पिता को चैन नहीं पड़ रहा है, बड़ा आकुल व्याकुल हो रहा है, यह देखकर महेश्वरदत्त ने कहा—"पिताजी ! आपकी कोई इच्छा हो तो बताइये, मैं उसे पूरी कर दूँ। आप किसी तरह की चिन्ता न करें।" तब पिता ने कहा—"बेटा ! तू होशियार है और कार्यकुशल है, इसलिए कुटुम्ब का पालन पोषण अच्छी तरह करेगा ही, लेकिन अब जमाना नाजुक आ गया है, इसलिए खर्च करने में सावधानी रखना और अपनी भैंसों की सार-सँभाल बराबर रखना। मैंने उन्हें बड़ी ममता से पाला है। दूसरी एक बात यह है कि अपने कुल में श्राद्ध के दिन एक पाड़े का बलिदान दिया जाता है, यह न भूलना।"

इतना कहकर पिता मर गया। अन्त समय प्राणी की जैसी मति होती है वैसी गति होती है, इसलिए मरने के बाद वह अपनी ही एक भैंस के पेट से पाड़े के रूप में पैदा हुआ।

कुछ दिनों बाद महेश्वर दत्त की माता भी बीमार पड़ी और वह भी 'मेरा घर', 'मेरा कुटुम्ब', 'मेरी लाज', 'मेरा व्यवहार', इस तरह 'मेरा-मेरा' करती हुई मर गयी। उसने कुतिया का जन्म लिया और महेश्वरदत्त के घर के आसपास रहने लगी।

यह जानते है न ? जो गृहस्थ अपने पोष्य वर्ग को 'धर्म' का उपदेश नहीं करता, वह अपना सच्चा धर्म नहीं बजाता।

'आत्मा है, यह मानने से ही आपका काम पूरा नहीं हो जाता। यह तो पाव में पहली पानी है। कोई आदमी बम्बई आया, पर यदि उसके किसी विभाग से परिचित न हो तो आजादी से हिरफिर नहीं सकता, न उसका आनन्द ले सकता है। उसी तरह जो सिर्फ यह जाने कि 'आत्मा है', पर उसके स्वरूप को न जाने, या उसके गुणों से परिचित न हो, वे आत्मा के गुणों का विकास किस तरह कर सकते है ? आत्मसुख का सच्चा आस्वादन किस प्रकार कर सकते हैं ? इसलिए आत्मा का स्वरूप विशेष प्रकार से समझने की आवश्यकता है।

आप 'मै' यानी 'मेरी देह' ऐसा समझकर व्यवहार चलाते हैं और उसके सिंचन-रंजन में लगे रहते है। इस वजह से आपको न तो किसी तत्त्व-विचारणा का स्फुरण होता है और न धर्माराधन की फुरसत मिलती है; लेकिन, इस तरह जीवनयापन करनेवाले का क्या हाल होता है, वह देखिये।

महेश्वरदत्त की कथा

विजयपुर-नामक एक बड़ा नगर था। उसमें महेश्वरदत्त नाम का एक क्षत्रिय रहता था। उसकी पत्नी का नाम गागिला था। इस महेश्वर-दत्त के माता-पिता वृद्ध हो गये थे और ऐसी परिस्थिति में थे कि अगर चाहते तो सारा समय ईश्वर-भक्ति में, धर्म-ध्यान में गुजार सकते थे, लेकिन उसमें उनका चित्त जरा भी नहीं लगता था। जिन्होंने सारी जिन्दगी संसार के व्यवहारों में ही गुजारी हो, उनको ईश्वर-भक्ति या धर्म-ध्यान कहाँ से सूझे ? किसी दिन साधु-सन्त के पास जाते हों, व्याख्यान-वाणी सुनते हों और कुछ व्रत नियम पालन करते हों, तो बड़ी उम्र में उनमें विशेष रस उत्पन्न हो और अपना जीवन सुधार सकें, लेकिन वे किसी दिन साधु-सन्तों का संग नहीं करते थे—वे भले और उनका व्यवहार भला!

महेश्वरदत्त की स्थिति भी लगभग ऐसी ही थी, वह सुबह से शाम तक धन्धा-रोजगार में लगा रहता और कुटुम्ब का पालन करता। उसके कुटुम्ब में माँस-भक्षण भी होता था और मदिरा भी पी जाती थी। जहाँ धर्म के संस्कार न हों, वहाँ भक्ष्याभक्ष्य का विवेक कहाँ से हो! आज भक्ष्याभक्ष्य का विवेक घट गया है, इसका कारण यह है कि 'धर्म' के संस्कार नहीं हैं। तुम तो समझते ही हैं कि मांसभक्षण करनेवाले और मदिरापान करनेवाले की नरकगति होती है और उसे असह्य यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

एक बार महेश्वरदत्त का पिता बीमार पड़ा। बहुत कुछ कोशिश की जाने पर भी अच्छा नहीं हुआ। औषध भी आयुष्य हो तभी लगती है। अपना अन्त समय निकट देखकर वह चिन्ता करने लगा कि, "मेरी पत्नी का क्या होगा?" पिता को चैन नहीं पड़ रहा है, बड़ा आकुल व्याकुल हो रहा है, यह देखकर महेश्वरदत्त ने कहा—"पिताजी! आपको कोई इच्छा हो तो बताइये, मैं उसे पूरी कर दूँ। आप किसी तरह की चिन्ता न करें।" तब पिता ने कहा—"बेटा! तू होशियार है और कार्यकुशल है, इसलिए कुटुम्ब का पालन पोषण अच्छी तरह करेगा ही, लेकिन अब जमाना नाजुक आ गया है, इसलिए खर्च करने में सावधानी रखना और अपनी भैंसों की सार-सँभाल बराबर रखना। मैंने उन्हें बड़ी ममता से पाला है। दूसरी एक बात यह है कि अपने कुल में श्राद्ध के दिन एक पाड़े का बलिदान दिया जाता है, यह न भूलना।"

इतना कहकर पिता मर गया। अन्त समय प्राणी की जैसी मति होती है वैसी गति होती है, इसलिए मरने के बाद वह अपनी ही एक भैंस के पेट से पाड़े के रूप में पैदा हुआ।

कुछ दिनों बाद महेश्वर दत्त की माता भी बीमार पड़ी और वह भी 'मेरा घर', 'मेरा कुटुम्ब', 'मेरी लाज', 'मेरा व्यवहार', इस तरह 'मेरा-मेरा' करती हुई मर गयी। उसने कुतिया का जन्म लिया और महेश्वरदत्त के घर के आसपास रहने लगी।

पिता और माता का उत्तर कार्य हुआ, जाति के लोग जीमे, महेश्वरदत्त की आमद घटी और समार व्यवहार की नाव आगे नहीं।

महेश्वरदत्त की पत्नी गांगिला रूपवती थी, घरके काम काज में बड़ी कुशल थी, पर विषयलम्पट थी—यह दुर्गुण इतना बड़ा है कि सब सद्गुणों को आवृत्त कर देता है। सौ मन दूध का तावड़ा भरा हो, उसमे जरा-सा मद डाल दिया जाये तो उस दूध को आप कहेंगे क्या? सास ससुर जब तक छाती पर थे तब तक गांगिला की विषयलम्पटता को अवकाश नहीं मिलता था। पर, अब तो वे रहे नहीं थे और महेश्वरदत्त को धधे रोजगार के लिए अधिकाश समय बाहर रहना पड़ता था, इसलिए उससे विषय-लम्पटता के लिए पूरा अवकाश मिल गया। वह पर पुरुष के साथ प्रेम म पड़ गयी।

पर, पाप का घड़ा फूटे बिना नहीं रहता। एक दिन किसी कार्यवश महेश्वरदत्त को यकायक घर आना पड़ा, तो अन्दर का दरवाजा बन्द देखा। इससे उसे शक हुआ। दरवाजे की दरार मे से देखा तो अन्दर कोई पुरुष दीखा। जब एक जानवर भी अपनी मादा के साथ दूसरे जानवर को नहीं देख सकता, तो मनुष्य कैसे देख सकता है? उसने आवाज दी "गांगिला! दरवाजा खोल!"

आवाज सुनते ही गांगिला के होश उड़ गये। उसने अपने प्रेमी को, छिपा देने का विचार किया, पर वहाँ छिपाने योग्य कोई जगह थी नहीं, इसलिए लाचार होकर दरवाजा खोल दिया और भय से थर-थर काँपती हुई एक तरफ खड़ी रही, जैसे हवा मे काँपता पीपल का पत्ता!

महेश्वरदत्त ने कमरे में प्रविष्ट होते ही गांगिला के यार की गरदन पकड़ी और उसे डडे मे पीटने लगा। पेड़ू पर एक प्रहार ऐसा पड़ा कि उसका राम रम गया! लेकिन, उस वक्त मरने वाले को इतनी सन्मति आयी कि 'मेरे कर्म का फल मुझे मिला है। इसमें दूसरे पर क्रोध क्यों किया जाये?' मरण समय की इस सन्मति के कारण उसे मनुष्य का भव मिला

और वह गागिला की कोख से अपने ही वीर्य से उत्पन्न हुआ। देखो संसार की घटना! एक समय जो पिता हो वह पुत्र होता है और जो पुत्र हो वह पिता होता है! एक समय जो माता हो वह पत्नी होती है और जो पत्नी हो वह माता होती है!

महेश्वरदत्त ने यार को मार डाला, पर गागिला को अधिक ताड़ना नहीं दी। कारण कि वैसा करने से अपनी ही फजीहत होती। नीतिकारों ने कहा कि 'आयुष्य, धन, घर का छिद्र, मंत्र, दवा, कामक्रीड़ा, दिया हुआ दान, मिला हुआ सन्मान और घटित अपमान गुप्त रखना चाहिए।'

दिन गुजरने पर गागिला ने एक सुन्दर मुखवाले पुत्र को जन्म दिया और सारा घर आनन्द से उमड़ पड़ा। पुत्र-जन्म किस माता-पिता को आनन्द नहीं देता?

अब श्राद्ध के दिन आने पर महेश्वरदत्त को पिता की बात याद आयी और उसने बाजार में जाकर पाड़े की तलाश की पर, उचित मूल्य में अच्छा पाड़ा मिला नहीं, इसलिए उसने घर के पाड़े का बलिदान देने का निर्णय किया। इस प्रकार पाड़े का बलिदान दे दिया गया और उसका मांस पकाकर सगे सम्बन्धियों को खिलाने की तैयारी की। वहाँ वह कुतिया घर में आ गयी और पड़े हुए जूठे बरतनों को चाटने लगी। इससे महेश्वरदत्त को क्रोध आ गया और उसने पास पड़ी हुई लकड़ी फेंक कर मारी। उससे कुतिया की कमर टूट गयी और वह चीखती-चिल्लाती बाहर चली गयी।

सगे-सम्बन्धियों के आने में कुछ देर थी, इसलिए महेश्वरदत्त अपने बालपुत्र को लेकर खिड़की के पास खड़ा था और उसे बारबार प्यार से चूम रहा था। इतने में उधर से कोई ज्ञानी महात्मा निकले। यह दृश्य देखकर वह सिर हिलाने लगे। यह महेश्वरदत्त ने देख लिया, इसलिए उसने वन्दन करके पूछा—"हे महाराज! यहाँ ऐसी क्या बात हो गयी कि जिससे आपको सिर हिलाना पड़ा।"

महात्मा ने कहा—"भाई ! यह बात कहने लायक नहीं है, फिर भी तेरी इच्छा हो तो मुझे कह देने में कोई आपत्ति नहीं है।"

महेश्वरदत्त ने कहा—"मुझे जरूर बताइये।"

महात्मा ने कहा—"हे भाई ! आज तू अपने पिता का श्राद्ध कर रहा है और उसके लिए तूने एक पाडे का वध किया है। वह पाड़ा स्वयं तेरा पिता है। मरते वक्त ढोर में वासना रह जाने से वह तेरे ही यहाँ पैदा हुआ था।"

ये शब्द सुनते ही महेश्वरदत्त को कँपकँपी छूटने लगी और उसके दुःख का पार न रहा उसने कहा—हे प्रभो ! क्या यह बात सच्ची है?" महात्मा ने कहा—"हाँ, यह बात बिल्कुल सच्ची है, पर वह यहीं नहीं खत्म हो जाती। तूने थोडी देर पहले लकड़ी के प्रहार से जिस कुतिया की कमर तोड़ दी, वह तेरी माता है। वह भी मरते वक्त मेरा घर, मेरे लड़के, मेरा व्यवहार, यूँ मेरा मेरा करती हुई मरी, इसलिए इस हालत को पहुँची है।

महेश्वरदत्त ने यह सुनकर कान पर हाथ रख लिए आगे उस महात्मा ने कहा—'हे भद्र ! जब तूने बात सुनी ही है, तो उसे पूरी ही सुन ले। तू जिस पुत्र को इतनी ममता से खिला रहा है, वह और कोई नहीं, तेरे डंडे से मरण पाया हुआ तेरी स्त्री का यार है। अंत समय चूंकि उसे सन्मति आ गयी, इसलिए उसने मनुष्य गति प्राप्त की और अपने ही वीर्य में उत्पन्न हुआ।"

ये शब्द सुनते ही महेश्वरदत्त को संसार पर धिक्कार छूटा और उसने उसी क्षण उन महात्मा के चरणों पर अपना सिर रख कर विनती की—"हे प्रभो ! मेरा इस असार संसार से उद्धार कीजिये।' महात्मा ने उसे कल्याण का मार्ग बताया और उस मार्ग पर चलकर उसने अपनी आत्मा का कल्याण किया।

मैं देह नहीं हूँ, आत्मा हूँ

महानुभावो ! 'म' का मतलब मगनलाल, छगनलाल, पानाचन्द या पोपटभाई के नाम से पुकारी जानेवाली 'देह' नहीं है, बल्कि उसमें विराजमान चैतन्य लक्षणवाला 'आत्मा' है। जैसे महल में रहनेवाला और महल एक नहीं है, उसी तरह देह म रहनेवाला और देह एक नहीं है। तलवार को म्यान में रखी हुई देखकर कोई तलवार और म्यान को एक ही समझ ले, तो हम उसे क्या कहेंगे ? तलवार और म्यान दो भिन्न वस्तुएँ हैं, यह तो एक छोटा बालक भी जानता है।

देहात्मवादियों के तर्क

यह होते हुए भी बहुत-से लोग देह को ही आत्मा मानना चाहते हैं और उसके लिए अनेक तर्क पेश करते हैं। यहाँ उनकी समीक्षा की जायेगी।

वे कहते हैं कि, 'पृथ्वी', 'जल', 'वायु', 'अग्नि' और 'आकाश' इन पाँच भूतों[1] के सयोग से ही चैतन्यशक्ति उत्पन्न होती है और उसके द्वारा इस शरीर का काम चलता है। अर्थात् चैतन्य की उत्पत्ति का स्थान देह है, और चैतन्यवाली वस्तु को ही 'आत्मा' कहते हैं, तो वह देह से भिन्न नहीं है।

वैज्ञानिक लोग पचभूतों की जगह दूसरे पदार्थों का नाम लेते हैं, पर उनके कहने का मतलब तो यही है कि, 'जड़' पदार्थों के सयोग से 'चैतन्य' की उत्पत्ति होती है और उसी से शरीर की सब क्रियाएँ चलती हैं।

'इस शरीर का काम बन्द क्यों हो जाता है ?' यह पूछने पर वे कहते हैं कि, 'जब इन पाँच भूतों में से किसी का सयोग सर्वथा टूट जाता है,

---

१ कुछ लोग भूतों की सख्या चार मानते हैं। उनके मतानुसार आकाश भूत नहीं है।

तब चैतन्य अदृश्य हो जाता है और शरीर का काम बन्द हो जाता है। तात्पर्य यह है कि, चैतन्यशक्ति अथवा आत्मा देह के साथ ही उत्पन्न होती है और मृत्यु के बाद उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता।'

'इस परिस्थिति में मनुष्य का वर्तन कैसा होना चाहिए?' इसका जवाब देते हुए वे कहते हैं—

यावज्जीवं सुखं जीवेद्दृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

—जब तक जीओ सुख से जीओ, ऐश आराम में रहो और हो जितना हो सके उतनी मौज करलो। अगर मजे उड़ाने के लिए तुम्हारे पास पैसे काफी न हों, तो किसी स्नेही सम्बन्धी के पास से उधार ले लो, मगर घी पीना यानी माल-मलीदा उड़ाना चालू रक्खो। जलकर भस्मीभूत हो जाने के बाद यह देह फिर नहीं आनेवाली, फिर नहीं मिलनेवाली है।'

एक नास्तिक अपनी प्रियतमा से कैसे शब्द कहता है वह भी सुन लो

पिब खाद च चारुलोचने,
यदतीतं वरगात्रि तन्न ते।
न हि भीरु गतं निवर्तते,
समुदयमात्रमिदं कलेवरम्॥

—हे सुन्दर नेत्र वाली स्त्री! तू खा, पी, मौजकर। हे श्रेष्ठ अंगवाली! जो गया वह तेरा नहीं है, यानी यौवन चला गया तो फिर नहीं मिलनेवाला। हे भीरु! (पाप से डरने वाली) शरीर गया कि फिर नहीं आता। यह शरीर तो पञ्चभूतों का समुदाय मात्र है—अर्थात् उससे अतिरिक्त आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं है कि जिसका विचार करना पड़े और पाप या परलोक से डरना पड़े।

नास्तिक लोग 'यह भव मीठा, परभव किसने देखा'? ऐसा मानकर भोग विलास में लीन रहते हैं, लेकिन जब वे विविध प्रकार के रोगों से घिर जाते हैं, तब उनके शोक-संताप का पार नहीं रहता। मृत्यु उनको

भयानक लगती है और उससे बचने के लिए वे अनेक प्रकार के प्रयत्न करते हैं, लेकिन वे सब व्यर्थ जाते हैं। मौत उन्हें छोड़ती नहीं है। सिंह जैसे बकरियों के झुंड पर टूटता है, वैसे काल उन पर टूटता है और छटपटाते हुए वे उसके पंजे में आ जाते हैं। दश दृष्टान्त दुर्लभ * मानवभव की यह कैसी दुर्दशा है ? जिस भव से सकल दुःखों का अन्त लाने वाली मुक्ति, मोक्ष या परमपद की साधना हो सकती है, उससे कुछ नहीं सधता। उलटा दुर्गति का ताँता बाँधा जाता है और भवभ्रमण अनेक गुना बढ़ा दिया जाता है।

"पाँच जड़ वस्तुओं के संयोग से चैतन्यशक्ति कैसे पैदा हो गयी ?"—यह पूछे जाने पर भूतवादी कहते हैं कि, 'जैसे शराब के किसी अंग—जैसे कि धावड़ी का फूल, गुड़, पानी—में मद्यशक्ति नहीं है, फिर भी जब उनका समुदाय बन जाता है, तब उसमें मद्यशक्ति पैदा हो जाती है और वह अमुक काल तक स्थिर रहकर, विनाश की सामग्री मिलने पर, नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि भूतों में चैतन्यशक्ति दिखायी नहीं देती, लेकिन जब उनका समुदाय हो जाता है, तब वह प्रत्यक्ष हो जाती है और अमुक काल स्थिर रहकर विनाश की सामग्री मिलने पर नष्ट हो जाती है।

परन्तु, यह उदाहरण ठीक नहीं है। धावड़ी के फूल, गुड़, आदि में मद्य की थोड़ी-बहुत मात्रा मौजूद है, इसी कारण उनका संयोजन होने पर मद्य की शक्ति उत्पन्न होती है। पर, भूतों में चैतन्य का कोई अंश

---

* मनुष्यभव की प्राप्ति कितनी दुर्लभ है, यह समझाने के लिए शास्त्रकारों ने चक्रवर्ती के चूल्हे का, पासे का, धान्य के ढेर का, जूए का, रत्न का, स्वप्न का, राधावेध का, चर्म का (सेवाल का), समोल का तथा परमाणु का—ऐसे दश दृष्टान्त दिये हैं। एक आदमी को पहले चक्रवर्ती के चूल्हे में भोजन कराया हो और फिर उसके राज्य के हर चूल्हे भोजन कराया जाये तो पुनः चक्रवर्ती के चूल्हे भोजन करने की बारी आना जितना दुर्लभ है, उतना ही मनुष्यभव पाना मुश्किल है। इसी प्रकार दशों दृष्टान्तों की योजना समझ लेनी चाहिए।

नहीं होता, इसलिए उनके संयोजन से चैतन्य की उत्पत्ति किसी प्रकार संभव नहीं है। रेती में किंचित् मात्र तेल का अंश नहीं है, तो रेती के समुदाय में वह कैसे संभव हो? आज तक किसी ने रेती से तेल निकलते देखा है? —सुना है? बिल्कुल नहीं!

अगर पंचभूतों के विशिष्ट संयोजन से चैतन्यशक्ति पैदा होती हो, वह सब प्राणियों में—सब जीवों में समान रूप से व्यक्त होनी चाहिए, लेकिन उसमें तरतमता दिखायी देती है। पंचेन्द्रिय[1] प्राणियों में यह शक्ति जितने प्रमाण में व्यक्त होती है, उतनी चार-इन्द्रिय[2] प्राणियों में व्यक्त नहीं होती, चार इन्द्रिय प्राणियों में जितनी व्यक्त होती है, उतनी तीन-इन्द्रिय प्राणियों में व्यक्त नहीं होती, जितनी तीन-इन्द्रिय[3] प्राणियों में व्यक्त होती है, उतनी दो इन्द्रिय[4] प्राणियों में व्यक्त नहीं होती और जितनी दो-इन्द्रिय प्राणियों में व्यक्त होती है, उतनी एक-इन्द्रिय[5] प्राणियों में व्यक्त नहीं होती।

---

१ जिनमें स्पर्शनेन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय और श्रोत्र-इन्द्रिय ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं वे पंचेन्द्रिय कहलाते हैं। मनुष्य पंचेन्द्रिय प्राणी है। गाय, भैंस, घोड़ा, हाथी आदि भूचर, मछली, कछुआ, मगर आदि जलचर, और कौआ, कबूतर, तोता, मोर आदि खेचर भी पंचेन्द्रिय प्राणी हैं।

२ जिनमें शुरू की चार इंद्रियाँ होती हैं, वे चार-इंद्रिय प्राणी कहलाते हैं, बिच्छू, भौंरा भ्रमरी, टिड्डी, मच्छर, डांस, मसक, कसारी, खडमाकडी आदि चार-इन्द्रिय प्राणी हैं।

३ जिनमें शुरू की तीन इन्द्रियाँ होती हैं, वे तीन इन्द्रिय प्राणी कहलाते हैं कानखजुरा, खटमल, जूँ, कीड़ी, उधेई, मकोड़ा, ईयल, धीमेल, गाय आदि प्राणियों पर होने वाले गिंगोड़ा, चोरकीड़ा, गोबर के कीड़े, ईयल, गोकुलगाय, आदि तीन इन्द्रिय प्राणी हैं।

४ जिनमें शुरू की दो इन्द्रियाँ होती हैं वे दो इन्द्रिय प्राणी कहलाते हैं, शंख, कोडा, गडोल, (पेट के बड़े कृमि), जलौ, चन्दनक अलसिया, लालिया, काठ का कीड़ा, पानी का पोरा, चूडेल तथा सीप, आदि दो इन्द्रिय प्राणी हैं।

और, फिर मनुष्य मनुष्य में भी शक्ति की तरतमता देखने में आती है। एक प्रखर बुद्धिशाली होता है, तो दूसरा अक्ल में कच्चा होता है। एक की स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र होती है, तो दूसरे को पच्चीस बार रटने पर भी याद नहीं रहता। एक खूब होशियार-चालाक होता है, तो दूसरा बिल्कुल बुद्धू होता है।

अगर भूतों के प्रमाण म चैतन्य का आविर्भाव माना जाये, तो मोटे आदमी में ज्यादा चैतन्य होना चाहिए और पतले आदमी में कम। लेकिन, बात इससे उल्टी ही दिखायी देती है। मोटे आदमियों में स्फूर्ति कम होती है—जहाँ बैठ गये वहाँ से उठने का उनका मन नहीं करता—जब कि पतले आदमियों में स्फूर्ति ज्यादा होती है—वे फिरकनी की तरह फिरते रहते हैं।

अगर चैतन्य का कारण पचभूतों का विशिष्ट सयोजन है, तो जीवन का कारण क्या है? यह प्रश्न भी खड़ा होता है।

अगर पचभूतों का विशिष्ट सयोजन जीवन का एक कारण हो, तो सबका जीवन समान आयुष्य वाला होना चाहिए, लेकिन उसमें बड़ी तरतमता दिखायी देती है। इसलिए, पचभूतों का सयोजन कारण घटित नहीं होता। तथ्य यह है कि चैतन्य का कारण आत्मा है और जीवन का कारण कर्म है। कर्म के कारण जितना आयुष्य मिलता है, उतने समय तक प्राणी जीता है। अगर आयुष्य पूरा न हुआ हो तो हाथ-पैर टूट जाने पर भी प्राणी जीता है।

पचभूतों के सयोजन से चैतन्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त दूसरे प्रकार से भी खोखला ठहरता है। अगर हम ऐसा विधान करें कि, अमुक वस्तु के

---

५ जिनमें शुरू की एक इन्द्रिय यानी कि मात्र स्पर्शन-इन्द्रिय होती है, वे एकइन्द्रिय प्राणी कहलाते हैं वे पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति का शरीर धारण करते हैं। उनके विशेष वर्णन के लिए जीवाजीवभिगम तथा पन्नवणा-सूत्र देखना जरूरी है। सामान्य जानकारी के लिए जीव विचार तथा नवतत्त्व प्रकरण भी उपयोगी हैं।

संयोजन से अमुक वस्तु बनती है, तो उन वस्तुओं के संयोजन से वह वस्तु अवश्य बननी चाहिए। हरड, बहेड़ा और आँवला के संयोजन से त्रिफला-चूर्ण बनता है, ऐसा कहनेवाले हरड़, बहेड़ा और आँवले को मिलाकर त्रिफला चूर्ण बनाकर दिखा देते हैं। तथा हम भी हरड़, बहेड़ा और आँवला समभाग में एकत्र करें तो त्रिफला चूर्ण बन जाता है। इस प्रकार से पंचभूतों से या अन्य पदार्थों से चैतन्यशक्ति की उत्पत्ति मानने वालों को चाहिए कि, पंचभूतों के संयोजन से या अन्य पदार्थों के मिश्रण से चैतन्यशक्ति की उत्पत्ति करके बताएँ, लेकिन अब तक कोई ऐसा भूतवादी या वैज्ञानिक नहीं जन्मा, जिसने इस तरह से 'चैतन्य' की उत्पत्ति करके दिखा दी हो।

आज का विज्ञान बहुत उन्नत कहा जाता है, फिर भी वह आँख जैसी आँख, कान-जैसा कान या नाक-जैसी नाक बना नहीं सकता। सच्ची आँख और नकली आँख में कितना फर्क होता है, आपने देखा है। एक में अनुपम चमक होती है, तो दूसरी साफ कौड़ी-जैसी लगती है। बनावटी कान नाक का हाल भी ऐसा ही होता है। जब कि जीवित शरीर के एक भाग की भी नकल नहीं हो सकती, तो समग्र चैतन्य की उत्पत्ति तो हो ही कैसे सकती है ?

कुछ दिन हुए अखबारों में यह खबर आयी थी कि, रूसी डाक्टर मुर्दे को अमुक प्रकार का इंजेक्शन देकर जीवित कर देने में सफल हुए हैं। पर, यह बात मानने योग्य नहीं है। ज्यादा स्पष्ट इसे इस रूप में कह सकते हैं कि, लोगों को एक प्रकार के भ्रमजाल में डालनेवाली है। आदमी में प्राण बाकी रह गये हों और इंजेक्शन से उनका पुनः संचार होने लगे तो इसे मुर्दे को जिन्दा कर देना नहीं कह सकते। अगर वे मुर्दे को जिन्दा कर देते हों, तो फिर वे अपने देश के किसी भी आदमी को मरने ही क्यों देते हैं ? कम-से-कम नेताओं को तो मृत्यु से मुक्ति मिल ही जाये, पर उस देश में भी हर रोज हजारों आदमी मरते हैं और उनमें नेता भी होते हैं।

पचभूतों या अमुक पदार्थों के सयोजन से चैतन्य की उत्पत्ति होती है, यह बात प्रमाण की कसौटी पर जरा भी ठीक नहीं उतरती और इसलिए मानने योग्य नहीं है।

अब ये भूतवादी या वैज्ञानिक लोग मृत्यु के लिए जो सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं, उसका खोखलापन भी देख ले। वे कहते है—"पॉच म मे किसी भी भूत का सयोग सर्वथा टूट जाये तो चैतन्य शक्ति अदृश्य हो जाती है, अर्थात् मृत्यु हो जाती है।"

'मृत देह में से कौन-सा भूत सर्वथा अलग हो गया?' यह पूछा जाये, तो वे वायु या अग्नि का नाम देते हैं। परन्तु, स्थिति ऐसी ही हो तो मृत शरीर में नली द्वारा वायु दाखिल करने से उसमें शक्ति का सचार होना चाहिए। वह बिल्कुल होता नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि जिनको 'सिलेंडर' में से नली द्वारा 'ऑक्सीजन गैस' दी जाती है, वे भी मरते देखे जाते हैं। इसलिए वायु की बात कोई समझदार आदमी स्वीकार नहीं कर सकता। अग्नि की बात भी इतनी ही निरर्थक है। मुर्दे को तपाया जाये या गरम दवा के इजेक्शन दिये जायें, तो भी उसमें शक्ति का सचार नहीं होता।

इस तरह देहात्मवादियों की तमाम दलीलों का दलन हो जाता है। इसलिए, देह और आत्मा को पृथक ही मानना चाहिए। देह और आत्मा की भिन्नता को स्पष्टतया स्वीकार करना चाहिये।

आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है

कुछ लोग कहते है कि देह में रहनेवाली इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं, कारण कि उनके द्वारा ज्ञान होता है और ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, परन्तु यह मान्यता भी ऊपर की मान्यता की तरह ही भूल भरी है।

इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होता है, इसका अर्थ तो यह हुआ कि इन्द्रिय

और ज्ञान ये दोनो पृथक् वस्तुएँ है। उदाहरण के रूप में यह कहें कि 'हथौड़े से कारीगरी की चीजें निर्मित होती हैं', तो हथौड़ा और वह वस्तु ये दो वस्तुएँ एक नहीं ठहरतीं, बल्कि दो वस्तुएँ ठहरती हैं। ज्ञान इन्द्रियों का असाधारण धर्म (गुण) नहीं है, कारण कि जो जिसका असाधारण धर्म होता है वह उसके बगैर नहीं रह सकता। उष्मा बिना अग्नि या आर्द्रता बिना जल की कल्पना कौन कर सकता है? जब इन्द्रियों का असाधारण धर्म ज्ञान नहीं है, तब उन्हें 'आत्मा' कैसे मान सकते है?

ज्ञान 'आत्मा' का असाधारण धर्म है, इसी से आत्मा 'यह वस्तु ऐसी है', 'यह वस्तु वैसी है', ऐसा जान सकती है। जब कि इन्द्रियाँ स्वय न तो कोई वस्तु जान सकती हैं न उनका अनुभव याद रख सकती हैं। वह अनुभव तो चैतन्य के भडार में ही पड़ा रहता है और निमित्तानुसार व्यक्त होता है।

अगर इन्द्रियाँ स्वय ही जान सकतीं, तो निद्रा में भी उनका जानना जारी रहता और मृतावस्था में भी उनकी इस प्रवृत्ति में कोई अन्तराय न आया होता। लेकिन, ऐसा होता नहीं है यह बात सिद्ध है।

इन्द्रियों द्वारा ज्ञान किस तरह होता है, यह ठीक तरह जान लिया जाये, तो इन्द्रियों को आत्मा मान लेने की भूल कोई न करे, इसलिए इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ विवेचन किया जाता है।

हर इन्द्रिय के द्रव्य और भाव दो प्रकार हैं—अर्थात् द्रव्य-स्पर्श-नेन्द्रिय और भाव-स्पर्शनेन्द्रिय, द्रव्य-रसनेन्द्रिय और भाव-रसनेन्द्रिय। इसी प्रकार सब इन्द्रियों के विषय म समझ लेना चाहिए। द्रव्येन्द्रिय में दो विभाग होते है। उनमे से एक भाग को निर्वृत्ति कहा जाता है और दूसरे को उपकरण कहा जाता है। इस निर्वृति और

उपकरण के भी वाह्य और अभ्यतर दो-दो विभाग है—अर्थात् वाह्य निर्वृत्ति, अभ्यतर निर्वृत्ति, वाह्य उपकरण और अभ्यतर उपकरण—इस प्रकार हर के कुल चार विभाग होते हैं। केवल स्पर्शनेन्द्रिय को वाह्य निर्वृत्ति नहीं होती।

इन्द्रिय की दृश्य आकृति निर्वृति कहलाती है। इस प्रकार जीभ रसनेन्द्रिय की वाह्य निर्वृति है, नाक घ्राणेन्द्रिय की वाह्य निर्वृति है, आँख चक्षुरेन्द्रिय की वाह्य निर्वृति है और कान श्रोत्रेन्द्रिय की वाह्य निर्वृति है। यह भिन्न-भिन्न प्राणियों में प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार की होती है।

चमड़ी, जीभ, नाक, आँख, कान, आदि के ठीक सस्थानों में रहने वाले पुद्गलों के आकार विशेष को अभ्यन्तर-निर्वृति कहते हैं। उनम स्पर्शनेन्द्रिय की अभ्यतर निर्वृति जुदे-जुदे प्राणियों में शरीर के अनुसार होती है। रसनेन्द्रिय की अभ्यतर-निर्वृति उस्तरे के आकार की होती है, घ्राणेन्द्रिय की अभ्यतर-निर्वृति अतिमुक्तक फूल या नड़े ढोल के आकार की होती है, चक्षुरेन्द्रिय की अभ्यतर निर्वृति मसूर की दाल के आकार की होती है, और श्रोतेन्द्रिय की अभ्यतर निर्वृति कदम्ब के फूल-सरीखी गोल होती है।

अभ्यतर निर्वृति के अन्दर विषय को ग्रहण करने में समर्थ पुद्गलों की जो विशिष्ट रचना होती है, उसे वाह्य उपकरण (इस्ट्रूमेंट) कहते हैं और उसके अन्दर रहनेवाली सूक्ष्म रचना को अभ्यतर उपकरण कहते हैं। उसमें आघात-उपघात द्वारा अगर कोई त्रुटि आ जाये तो इन्द्रिय अपना विषय बराबर ग्रहण नहीं कर सकती। इन्द्रियों का रक्षण करना वाह्य निर्वृति का प्रयोजन है।

भावेन्द्रिय के भी दो प्रकार है—एक लब्धि और दूसरा उपयोग। इनमें मतिज्ञानावरणी वगैरह कार्यों का क्षयोपशम लब्धि कहलाता है और

उसके परिणाम-स्वरूप विषय सम्बन्धी आत्मा का जो चेतना व्यापार होता है, उसे उपयोग कहते है।

इस प्रकार इन्द्रियाँ एक प्रकार के यन्त्र हैं और आत्मा उनके चलानेवाला कारीगर है। इसलिए इन्द्रियाँ ही आत्मा नहीं है, आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है।

प्राण और आत्मा भिन्न हैं

कुछ लोग 'प्राण' को ही 'आत्मा' मानते है। लेकिन, 'प्राण' क्या वस्तु है, इसका वे स्पष्टीकरण नहीं कर पाते। कभी उसे एक प्रकार की वायु मानते है, तो कभी उसे सूक्ष्म प्रवाही पदार्थ मानते है, तो कभी उसे सूर्य की गर्मी मानते है। परन्तु, ये सब भौतिक पदार्थ हैं, इसलिए आत्मा का स्थान नहीं ले सकते। जैन-शास्त्रों मे प्राणों की संख्या दस मानी है पाँच इन्द्रियाँ, तीन प्रकार के बल यानी मनोबल, वचनबल और कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य। इन दसो प्राणों को धारण करनेवाला, उनसे भिन्न, आत्मा है और इसी कारण वह प्राणिन्—प्राणोंको धारण करनेवाला—कहलाता है।

परन्तु, वैज्ञानिकों का यह आन्तरमन जैन-शास्त्रकारों का बताया हुआ भाव-मन है, उसके अतिरिक्त और दूसरी कोई चीज नहीं है।

इस तरह आत्मा देह, इन्द्रियाँ, प्राण तथा मन से भिन्न वस्तु है, वेदान्त आदि अन्य दर्शनों ने भी उसको इसी रूप में स्वीकार किया है।

जब तक देह, इन्द्रियाँ, आदि को आत्मा मानने का अध्यास हटेगा नहीं, तब तक आध्यात्मिक प्रगति सम्भव नहीं है।

उसके परिणाम-स्वरूप विषय सम्बन्धी आत्मा का जो चेतना व्यापार होता है, उसे उपयोग कहते है।

इस प्रकार इन्द्रियाँ एक प्रकार के यन्त्र है और आत्मा उनके चलाने-वाला कारीगर है। इसलिए इन्द्रियाँ ही आत्मा नहीं हैं, आत्मा इन्द्रियो से भिन्न है।

प्राण और आत्मा भिन्न हैं

कुछ लोग 'प्राण' को ही 'आत्मा' मानते है। लेकिन, 'प्राण' क्या वस्तु है, इसका वे स्पष्टीकरण नहीं कर पाते। कभी उसे एक प्रकार की वायु मानते है, तो कभी उसे सूक्ष्म प्रवाही पदार्थ मानते है, तो कभी उसे सूर्य की गर्मी मानते है। परन्तु, ये सब भौतिक पदार्थ है, इसलिए आत्मा का स्थान नहीं ले सकते। जैन शास्त्रो में प्राणो की सख्या दस मानी है पाँच इन्द्रियाँ, तीन प्रकार के बल यानी मनोबल, वचनबल और कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य। इन दसों प्राणों को धारण करने वाला, उनसे भिन्न, आत्मा है और इसी कारण वह प्राणिन्—प्राणोंको धारण करनेवाला—कहलाता है।

आत्मा मनसे भिन्न है

कुछ लोग 'मन' कोई ही 'आत्मा' मानते है, वह भी उचित नहीं है। मन के द्वारा विचार कर सकते है और इच्छायें व्यक्त कर सकते है। परन्तु, विचार करने वाला और लगन तथा इच्छा प्रदर्शित करने वाला उनसे अलग होता है और वही आत्मा है। आज के मनोविज्ञान ने मन का गहन अध्ययन करने के बाद प्रकट किया है कि, हम जिसके द्वारा विचार व्यक्त करते है वह बाह्य मन है। उसके अन्दर भी एक दूसरा मन रहता है, जिसे आतरमन (सबकाशस माइंड) कहा जाता है। विचारो, लगनो और इच्छाओ का मूल स्रोत उसी म मे रहता ह।

परन्तु, वैज्ञानिकों का यह आन्तरमन जैन-शास्त्रकारों का बताया हुआ भाव-मन है, उसके अतिरिक्त और दूसरी कोई चीज नहीं है।

इस तरह आत्मा देह, इंद्रियाँ, प्राण तथा मन से भिन्न वस्तु है, वेदान्त आदि अन्य दर्शनों ने भी उसको इसी रूप में स्वीकार किया है।

जब तक देह, इन्द्रियों, आदि को आत्मा मानने का अभ्यास हटेगा नहीं, तब तक आध्यात्मिक प्रगति सम्भव नहीं है।

तीसरा व्याख्यान

आत्मा एक महान प्रवासी

महानुभावो !

श्री उत्तराध्ययन-सूत्र के अल्पससारी 'आत्मा के वर्णन' म 'आत्मा' का विषय चल रहा है। उसमें 'आत्मा है' यह बात निश्चित हो गयी और वह देह, इद्रियों, प्राण और मन से भिन्न है, यह भी देख लिया गया। अब आपको यह सत्य दर्शाया जाता है कि 'आत्मा एक महान प्रवासी है'।

प्रवासी प्रवास करता हुआ किसी जगह जाता है। वहाँ किसी धर्मशाला या सराय में कुछ समय ठहरता है और फिर वहाँ से दूसरी जगह चला जाता है। वहाँ भी उसी तरह कुछ समय रहता है और तब वहाँ से तीसरी जगह चला जाता है। इस तरह वह प्रवासी अपना गतव्य स्थान आने तक प्रवास ही करता रहता है। उसी प्रकार कर्मावृत्त आत्मा एक देह धारण करता है, उसमें अमुक समय तक निवास करता है और फिर उसे छोड़कर दूसरी जगह चला जाता है। वहाँ दूसरी देह धारण करता है और उसमें भी कुछ समय रहकर तीसरी जगह चला जाता है। इस तरह उसका प्रवास—उसका परिभ्रमण—मुक्ति प्राप्त होने तक चलता रहता है। इसलिए हम उसे महान प्रवासी कहते हे।

कोई आदमी पैदल चले तो एक दिन में करीब बीस मील का सफर करगा और एक महीने में ६०० मील चलेगा। बारह महीने म ७,२०० मील पूरी करेगा। ५० वर्ष तक चलता रहे, तो ३,६०,००० मील की यात्रा होगी।

दूसरा आदमी रेल द्वारा सफर करे तो ३० मील फी घंटे जाये। चौबीस घंटे में ७२० मील जाये और एक महीने तक लगातार सफर करे तो २१६०० मील की दूरी तय कर लेगा। पचास वर्ष में १,२९,६०,००० मील की यात्रा हो जायेगी।

विमान में सफर करने वाला घंटे में ३०० से ४०० मील जाता है। अब नये 'जेट' विमान निकले है, वे ६०० मील प्रति घंटे जाते हैं—अर्थात् उनमें सफर करने वाला रेल से बीस गुना सफर करे और पचास वर्ष में २५,९२,००,००० (पच्चीस करोड़ बानवे लाख) मील का सफर करे। अगर वह सौ वर्ष तक प्रवास करे तो उससे दूना यानी ५१,८४,००,००० (इक्यावन करोड़ चौरासी लाख) मील का प्रवास हो। परन्तु, आत्मा के प्रवास के सामने यह प्रवास किसी बिसात में नहीं है। मनुष्य का शरीर छोड़कर, देवलोक में जानेवाली आत्मा या देवलोक से चलकर मनुष्य-लोक में आने वाली आत्मा इससे असंख्य गुना अधिक प्रवास करती है।

मनुष्य-लोक और अनुत्तर विमान के बीच कुछ कम सात 'रज्जु'* का अन्तर है। इस एक 'रज्जु' का माप कितना है जानते हैं? निमिष मात्र में एक लाख योजन जाने वाला देव ६ महीने में जितना फासला तय करे उसे एक रज्जु कहते हैं। अथवा, ३८१२७९७० मन का एक भार होता है,

* इस विश्व की ऊंचाई चौदह राज की है, इसलिए वह चौदह राजलोक कहलाता है। उसमें एक राज का माप एक रज्जु प्रमाण है। विश्व में सबसे ऊपर सिद्धशिला है। उसके नीचे पाँच अनुत्तर विमान हैं, उनके नीचे नव ग्रैवेयक हैं, उनके नीचे बारह देवलोक हैं, उनके नीचे चन्द्र-सूर्यादि हैं, और उनके नीचे मनुष्यलोक है इतना भाग सात राजलोक में आता है—यानी अनुत्तर विमान और मनुष्य-लोक के बीच की दूरी कुछ कम सात रज्जु की है।

मनुष्य लोक के नीचे व्यन्तर और भवनपति के आवास हैं और सात नरक के स्थान हैं। शेष कुछ अधिक सात रज्जु में यह सब समा जाता है।

तीसरा व्याख्यान

आत्मा एक महान प्रवासी

महानुभावो !

श्री उत्तराध्ययन-सूत्र के अल्पससारी 'आत्मा के वर्णन' म 'आत्मा' का विषय चल रहा है। उसमें 'आत्मा है' यह बात निश्चित हो गयी और वह देह, इन्द्रियों, प्राण और मन से भिन्न है, यह भी देख लिया गया। अब आपको यह सत्य दर्शाया जाता है कि 'आत्मा एक महान प्रवासी है'।

प्रवासी प्रवास करता हुआ किसी जगह जाता है। वहाँ किसी धर्मशाला या सराय में कुछ समय ठहरता है और फिर वहाँ से दूसरी जगह चला जाता है। वहाँ भी उसी तरह कुछ समय रहता है और तब वहाँ से तीसरी जगह चला जाता है। इस तरह वह प्रवासी अपना गतव्य स्थान आने तक प्रवास ही करता रहता है। उसी प्रकार कर्मावृत्त आत्मा एक देह धारण करता है, उसमें अमुक समय तक निवास करता है और फिर उसे छोड़कर दूसरी जगह चला जाता है। वहाँ दूसरी देह धारण करता है और उसमें भी कुछ समय रहकर तीसरी जगह चला जाता है। इस तरह उसका प्रवास—उसका परिभ्रमण—मुक्ति प्राप्त होने तक चलता रहता है। इसलिए हम उसे महान प्रवासी कहते हैं।

कोई आदमी पैदल चले तो एक दिन मे करीब बीस मील का सफर करगा और एक महीने में ६०० मील चलेगा। बारह महीने में ७,२०० मील पूरी करेगा। ५० वर्ष तक चलता रहे, तो ३,६०,००० मील की यात्रा होगी।

दूसरा आदमी रेल द्वारा सफर करे तो ३० मील फी घंटे जाये। चौबीस घंटे में ७२० मील जाये और एक महीने तक लगातार सफर करे तो २१६०० मील की दूरी तय कर लेगा। पचास वर्ष में १,२९,६०,००० मील की यात्रा हो जायेगी।

विमान में सफर करने वाला घंटे में ३०० से ४०० मील जाता है। अब नये 'जेट' विमान निकले है, वे ६०० मील प्रति घंटे जाते हैं— अर्थात् उनमें सफर करने वाला रेल से बीस गुना सफर करे और पचास वर्ष में २५,९२,००,००० (पच्चीस करोड़ बानवे लाख) मील का सफर करे। अगर वह सौ वर्ष तक प्रवास करे तो उससे दूना यानी ५१,८४,००,००० (इक्यावन करोड़ चौरासी लाख) मील का प्रवास हो। परन्तु, आत्मा के प्रवास के सामने यह प्रवास किसी बिसात में नहीं है। मनुष्य का शरीर छोड़कर, देवलोक में जानेवाली आत्मा या देवलोक से चलकर मनुष्य-लोक में आने वाली आत्मा इससे असख्य गुना अधिक प्रवास करती है।

मनुष्य-लोक और अनुत्तर विमान के बीच कुछ कम सात 'रज्जु'* का अन्तर है। इस एक 'रज्जु' का माप कितना है जानते हैं? निमिष मात्र में एक लाख योजन जाने वाला देव ६ महीने में जितना फासला तय करे उसे एक रज्जु कहते हैं। अथवा, ३८१२७९७० मन का एक भार होता है,

---

* इस विश्व की ऊंचाई चौदह राज की है, इसलिए वह चौदह राजलोक कहलाता है। उसमें एक राज का माप एक रज्जु प्रमाण है। विश्व में सबसे ऊपर सिद्धशिला है। उसके नीचे पाँच अनुत्तर विमान हैं, उनके नीचे नव ग्रैवेयक हैं, उनके नीचे बारह देवलोक हैं, उनके नीचे चन्द्र-सूर्यादि हैं, और उनके नीचे मनुष्यलोक है इतना भाग सात राजलोक में आता है—यानी अनुत्तर-विमान और मनुष्य-लोक के बीच की दूरी कुछ कम सात रज्जु की है।

मनुष्य लोक के नीचे व्यंतर और भवनपति के आवास हैं और सात नरक के स्थान हैं। शेष कुछ अधिक सात रज्जु में यह सब समा जाता है।

एक हजार भारके लोहे के गोले को ऊपर से जोर से फेंका जाये और वह नीचे गिरता हुआ ६ महीने, ६ दिन, ६ पहर, ६ घडी और ६ समय में जितनी दूरी पार करे उसे एक 'रज्जु' कहते हैं।

इस मापको सुनकर भडक न जाइये। आज के खगोल शास्त्र ने भी आकाशीय अन्तर बताने के लिए ऐसी ही उपमानों का प्रयोग किया है या इससे भी बड़े उपमानों का आश्रय लिया है।

पर, यह बात तो आत्मा के एक ही प्रवास की हुई। ऐसे प्रवास तो उसने आज तक अनन्त बार किये हैं। शास्त्रकार भगवंत कहते हैं—

न सा जाई न सा जोणी, न तं ठाण न तं कुलं।
न जाया न मुआ जत्थ, सव्वे जीवा अणंतसो॥

इस लोक में—चौदह राजप्रमाण विश्व में ऐसी कोई जाति नहीं है, ऐसी कोई योनि नहीं है, ऐसा कोई स्थान नहीं है और ऐसा कोई कुल नहीं है कि जहाँ सब जीव अनन्त बार जन्मे और मरे न हों।

इस प्रवास के आँकड़े कौन बता सकता है? एक लाख मील कागज की पट्टी हो तो भी वह छोटी ही पड़े। तात्पर्य यह है कि आत्मा एक अकल्प नीय महान प्रवासी है और उसके प्रवास का कोई माप नहीं है।

लखचौरासी का फेरा

जन्म धारण करने के क्षेत्र को, स्थान को, 'योनि' कहते हैं। उनकी संख्या चौरासी लाख होने के कारण यह संसार 'लखचौरासी का फेरा' कहलाता है। मतलब यह कि आत्मा अपने किये हुए कर्मों के कारण इन चौरासी लाख योनियों में बारबार जन्म लेता रहता है। बहुत से लोग इन चौरासी लाख योनियों के नाम न जानते होंगे, क्योंकि यह विषय दो प्रतिक्रमण में आता है और दो प्रतिक्रमण तक पहुँचने वाले बहुत कम हैं।

हाल ही में बम्बई की एक जाति के आँकड़े लिये थे। उसके कार्यकर्ता चतुर थे, इसलिए उसमें धार्मिक शिक्षण का भी एक खाना रखा

था। उससे मालूम हुआ कि ८६५७ की वस्ती में मात्र ४८०१ स्त्री-पुरुष धर्म शिक्षण प्राप्त हैं, और उनमें भी ६६४ पुरुष और ४०७ स्त्रियाँ दो प्रतिक्रमण तक नहीं पहुँचे! बाकी ने मात्र नमस्कार मंत्र सीख कर ही संतोष मान लिया है। जैन कुल में जन्मे हुये की यह दशा! जैन-कुल में जन्मे हुये की अपने धर्म पर कैसी श्रद्धा होनी चाहिए, सो सुनें।

धर्मश्रद्धा पर मंत्री का दृष्टान्त

एक राजा का मंत्री जैन कुल में जन्मा था। और, जिनेश्वर-देव का पक्का भक्त था। वह न्यायनीति से चलता, सदाचार का पालन करता और हर एक की भलाई करने में तत्पर रहता।

राजा की स्थिति इससे भिन्न थी। उसे धर्म पर प्रीति नहीं थी, बल्कि कुछ द्वेष था और इसलिए मंत्री का धर्मनिष्ठ जीवन उसे पसन्द नहीं था। पर, मंत्री अपने कामकाज में बड़ा कुशल था। वह अपराधी न ठहरे तब तक राजा उसे क्या कह सकता था?

एक बार चौदस का दिन आया, तो मन्त्री ने गुरु से 'पोषह' लिया और वह अपना समय धर्मध्यान में गुजारने लगा। इधर दरबार में मंत्री की जरूरत पड़ी, पर मंत्री गैरहाजिर! राजा ने मंत्री को बुला लाने के लिए सिपाही भेजे। सिपाही मंत्री के घर आये। मालूम हुआ कि, मंत्री तो गुरुदेव के पास पोषह में हैं, इसलिए सिपाही वहाँ पहुँचे और सन्देश दिया—"राजा आपको बुलाता है।"

सामान्य लोग राजा के बुलावे को टालें नहीं और पोषह छोड़ कर राज दरबार में दौड़े जायें, मन को समझा लें कि 'पोषह' आज की बजाय कल कर लेंगे, अगली पर्व-तिथि को कर लेंगे, राजा के हुक्म का अनादर कैसे कर सकते हैं? अनादर करेंगे तो भूखे मरेंगे अथवा जान से जायेंगे। पर, मंत्री ऐसे विचार का नहीं था। उसका हृदय धर्म के रंग में पूरी तरह रँगा हुआ था, इसलिए वह मानता था कि, पहले धर्म, फिर राज सेवा!

एक हजार भार के लोहे के गोले को ऊपर से जोर से फेंका जाये और वह नीचे गिरता हुआ ६ महीने, ६ दिन, ६ पहर, ६ घड़ी और ६ समय में जितनी दूरी पार करे उसे एक 'रज्जु' कहते हैं।

इस मापको सुनकर भड़क न जाइये। आज के खगोल शास्त्र ने भी आकाशीय अन्तर बताने के लिए ऐसी ही उपमानों का प्रयोग किया है या इससे भी बड़े उपमानों का आश्रय लिया है।

पर, यह बात तो आत्मा के एक ही प्रवास की हुई। ऐसे प्रवास तो उसने आज तक अनन्त बार किये हैं। शास्त्रकार भगवन्त कहते हैं—

न सा जाई न सा जोणी, न तं ठाणं न तं कुलं।
न जाया न मुआ जत्थ, सव्वे जीवा अणंतसो॥

इस लोक में——चौदह राजप्रमाण विश्व में ऐसी कोई जाति नहीं है ऐसी कोई योनि नहीं है, ऐसा कोई स्थान नहीं है और ऐसा कोई कुल नहीं है कि जहाँ सब जीव अनन्त बार जन्मे और मरे न हों।

इस प्रवास के आँकड़े कौन बता सकता है? एक लाख मील कागज की पट्टी हो तो भी वह छोटी ही पड़े। तात्पर्य यह है कि आत्मा एक अकल्पनीय महान प्रवासी है और उसके प्रवास का कोई माप नहीं है।

लखचौरासी का फेरा

जन्म धारण करने के क्षेत्र को, स्थान को, 'योनि' कहते हैं। उनकी संख्या चौरासी लाख होने के कारण यह संसार 'लखचौरासी का फेरा' कहलाता है। मतलब यह कि आत्मा अपने किये हुए कर्मों के कारण इन चौरासी लाख योनियों में बारबार जन्म लेता रहता है। बहुत से लोग इन चौरासी लाख योनियों के नाम न जानते होंगे, क्योंकि यह विषय दो प्रतिक्रमण में आता है और दो प्रतिक्रमण तक पहुँचने वाले बहुत कम हैं।

हाल ही में बम्बई की एक ज्ञाति के आँकड़े छपे थे। उसके कार्यकर्ता चतुर थे, इसलिए उसमें धार्मिक शिक्षण का भी एक खाना रखा

था। उससे मालूम हुआ कि ८६५७ की बस्ती में मात्र ४८०२ स्त्री-पुरुष धर्म शिक्षण प्राप्त हैं, और उनमें भी ६६८ पुरुष और ८०७ स्त्रियाँ दो प्रतिक्रमण तक नहीं पहुँचे। बाकी ने मात्र नमस्कार मन्त्र सीख कर ही संतोष मान लिया है। जैन कुल में जन्मे हुवे की यह दशा! जैन कुल में जन्मे हुये को अपने धर्म पर कैसी श्रद्धा होनी चाहिए, सो सुनें।

धर्मश्रद्धा पर मन्त्री का दृष्टान्त

एक राजा का मन्त्री जैन कुल में जन्मा था। और, जिनेश्वर-देव का पक्का भक्त था। वह न्यायनीति से चलता, सदाचार का पालन करता और हर एक की भलाई करने में तत्पर रहता।

राजा की स्थिति इससे भिन्न थी। उसे धर्म पर प्रीति नहीं थी, बल्कि कुछ द्वेष था और इसलिए मन्त्री का धर्मनिष्ठ जीवन उसे पसन्द नहीं था। पर, मन्त्री अपने कामकाज में बड़ा कुशल था। वह अपराधी न ठहरे तब तक राजा उसे क्या कह सकता था?

एक बार चौदस का दिन आया, तो मन्त्री ने गुरु से 'पोषह' लिया और वह अपना समय धर्मध्यान में गुजारने लगा। इधर दरबार में मन्त्री की जरूरत पड़ी, पर मन्त्री गैरहाजिर! राजा ने मन्त्री को बुला लाने के लिए सिपाही भेजे। सिपाही मन्त्री के घर आये। मालूम हुआ कि, मन्त्री तो गुरुदेव के पास पोषह में हैं, इसलिए सिपाही वहाँ पहुँचे और सन्देश दिया—"राजा आपको बुलाता है।"

सामान्य लोग राजा के बुलावे को टालें नहीं और पोषह छोड़ कर राज दरबार में दौड़े जायें, मन को समझा लें कि 'पोषह' आज की बजाय कल कर लेंगे, अगली पर्व-तिथि को कर लेंगे, राजा के हुक्म का अनादर कैसे कर सकते हैं? अनादर करेंगे तो भूखे मरेंगे अथवा जान से जायेंगे। पर, मन्त्री ऐसे विचार का नहीं था। उसका हृदय धर्म के रंग में पूरी तरह रँगा हुआ था, इसलिए वह मानता था कि, पहले धर्म, फिर राज सेवा!

उसने सिपाहियों से कह दिया—"आज मेरा पोषह-व्रत है, इसलिए नहीं आ सकता।"

सन्देश राजा को मिला तो उसकी आँखें लाल हो गयीं। "यह मन्त्री क्या समझता है? मेरे हुक्म का अनादर करता है। वेतन मेरा खाता है और सेवा धर्म की करता है। देखता हूँ इसे।"—यह सोचकर उसने अपने एक विश्वासपात्र अंगरक्षक को मन्त्री के पास भेजा और कहलाया—"राज दरबार में आओ, अन्यथा मन्त्री की मुद्रा वापस भेज दो।" यह अंगरक्षक जाति का हज्जाम था। और, हजामों की आदत तो आप जानते ही हैं। नारद-विद्या करने में जरा भी पीछे न रहें और जरा गीला मिला कि मक्खी की तरह चिपट जायें।

उसने रौब से राजा का सदेश सुनाया—"राज दरबार में आओ, वर्ना मन्त्री-मुद्रा वापस कर दो।" मन्त्री के लिए यह पल परीक्षा की थी। मन्त्री-पद छोड़ दे तो आजीविका जाये और इज्जत पर पानी फिर जाये, फिर भी उसने एक क्षण भी विचार किये बगैर और गुरु की भी सलाह लिये बगैर, मन्त्री-मुद्रा अंगरक्षक के हाथ में रख दी। मन्त्री ने राजा का मन्त्री पद छोड़ दिया, मगर पोषह न छोड़ा।

यह देख गुरु को आश्चर्य हुआ, उन्होंने मन्त्री से पूछा—"ऐसा क्यों किया?" मन्त्री ने कहा—"मुद्रा गयी तो उपाधि गयी, वह भी तो धर्म-ध्यान के बीच में आती थी। अब बेफिक्री से धर्मध्यान कर सकूँगा।"

ऐसे शब्द कब निकल सकते हैं? ऐसी टेक कब आ सकती है? जब धर्म का रस पूरी तरह लग गया हो, तभी ऐसा हो सकता है। आपको उस मन्त्री-जैसा धर्म का रस लगना चाहिए। वह रस गुरु-सेवा से अवश्य लग सकता है।

अब हम उस अंगरक्षक की ओर आयें। उसके हर्ष का पार न था। वह मन में सोचता था कि, राजा की मुझ पर पूरी मेहरबानी है, इसलिए

मन्त्री पद तो मुझे ही मिलेगा ! पर, उसे क्या मालूम कि यह मन्त्री-मुद्रा उसका हाल बेहाल कर देगी !

हज्जाम सोचने लगा—"इस मन्त्री मुद्रा को जाकर अभी राजा को दे दूँ या कुछ देर बाद दूँ ? लाओ न इस मुद्रा को पहन कर मन्त्री-पद का आनन्द तो लूट लूँ।" ऐसा सोचकर राजा से पूछे बगैर ही उसने मन्त्री मुद्रा उँगली पर पहन ली। अब जो मन्त्री मुद्रा पहने, सो मन्त्री। इसलिए, यह बताने के लिए मैं मन्त्री हो गया हूँ, वह बाजार की तरफ चल पड़ा।

वहाँ पहली दुकान तबोली की आयी। वह मन्त्री को देख कर दंग रह गया। 'मेरी दुकान पर मन्त्री !'—यह सोचकर उसने एक सुन्दर पान बनाकर दिया और हज्जाम ने उसे मुँह मे रख लिया। वहाँ से हज्जाम दूसरी दुकानों पर गया। वहाँ भी ऐसा ही पान मिला। मान तो मन्त्री-मुद्रा की थी न ? अन्य दुकानदारों ने भी उसका सुन्दर सत्कार किया। हज्जाम भाई आनन्द से फूला नहीं समा रहा था।

अब आगे क्या हुआ सो देखो। राजाके कुछ सामन्त राज्य में मनमानी घरजानी करते रहना चाहते थे, लेकिन मन्त्री की न्यायनिष्ठा के कारण उनका कुछ वश नहीं चलता था। इसलिए, वे मन्त्री को खत्म कर देने का मौका देखते रहते थे। इस वक्त उन्होंने चार हत्यारों को नगी तलवार लेकर मन्त्री का काम तमाम कर देने के लिए भेज दिया। वे नगर में दाखिल हुए। वहाँ पहली दुकान तबोली की आयी। उन्होंने तबोली से पूछा,—"यहाँ के राजा का मन्त्री कहाँ रहता है ?' तबोली ने उंगली से इशारा करके बताया कि, 'वह जा रहा है, मन्त्री'। तब हत्यारों ने दूसरे दुकानदार से पूछा तो उसने भी हज्जाम की तरफ इशारा कर दिया। इसलिए, हत्यारों को इत्मीनान हो गया कि 'वह जो जा रहा है, वही यहाँ के राजा का मन्त्री है। इसलिए, वे उसके पीछे चले, देखने वालों ने समझा कि ये तो मन्त्री के अगरक्षक है, इस कारण इस तरह उसके पीछे-पीछे जा रहे हैं।

उसने सिपाहियों से कह दिया—"आज मेरा पोषह व्रत है, इसलिए नहीं आ सकता।"

सन्देश राजा को मिला तो उसकी आँखें लाल हो गयीं। "यह मंत्री क्या समझता है? मेरे हुक्म का अनादर करता है! वेतन मेरा खाता है और सेवा धर्म की करता है! देखता हूँ इसे!"—यह सोचकर उसने अपने एक विश्वासपात्र अंग रक्षक को मंत्री के पास भेजा और कहलाया—"राज दरबार में आओ, अन्यथा मंत्री की मुद्रा वापस भेज दो।" यह अंगरक्षक जाति का हज्जाम था। और, हजामों की आदत तो आप जानते ही हैं। नारद-विद्या करने में जरा भी पीछे न रहे और जरा गीला मिला कि मक्खी की तरह चिपट जायें।

उसने रौब से राजा का संदेश सुनाया—"राज दरबार में आओ, वर्ना मंत्री-मुद्रा वापस कर दो।" मंत्री के लिए यह पल परीक्षा की थी। मंत्री-पद छोड़ दे तो आजीविका जाये और इज्जत पर पानी फिर जाये, फिर भी उसने एक क्षण भी विचार किये बगैर और गुरु की भी सलाह लिये बगैर, मंत्री-मुद्रा अंगरक्षक के हाथ में रख दी। मंत्री ने राजा का मंत्री पद छोड़ दिया, मगर पोषह न छोड़ा।

यह देख गुरु को आश्चर्य हुआ, उन्होंने मंत्री से पूछा—"ऐसा क्यों किया?" मंत्री ने कहा—"मुद्रा गयी तो उपाधि गयी, वह भी तो धर्म-ध्यान के बीच में आती थी। अब बेफिक्री से धर्मध्यान कर सकूँगा।"

ऐसे शब्द कब निकल सकते हैं? ऐसी टेक कब आ सकती है? जब धर्म का रस पूरी तरह लग गया हो, तभी ऐसा हो सकता है। आपको उस मंत्री-जैसा धर्म का रस लगना चाहिए। वह रस गुरु-सेवा से अवश्य लग सकता है।

अब हम उस अंगरक्षक की ओर आयें। उसके हर्ष का पार नहीं था। वह मन में सोचता था कि, राजा की मुझ पर पूरी मेहरबानी है, इसलिए

मन्त्री-पद तो मुझे ही मिलेगा! पर, उसे क्या मालूम कि यह मन्त्री-मुद्रा उसका हाल बेहाल कर देगी!

हज्जाम सोचने लगा—"इस मन्त्री मुद्रा को जाकर अभी राजा को दे दूँ या कुछ देर बाद दूँ? लाओ न इस मुद्रा को पहन कर मन्त्री पद का आनन्द तो लूट लूँ।" ऐसा सोचकर राजा से पूछे बगैर ही उसने मन्त्री-मुद्रा उँगली पर पहन ली। अब जो मन्त्री मुद्रा पहने, सो मन्त्री। इसलिए, यह बताने के लिए मैं मन्त्री हो गया हूँ, वह बाजार की तरफ चल पड़ा।

वहाँ पहली दुकान तबोली की आयी। वह मन्त्री को देख कर दंग रह गया। 'मेरी दुकान पर मन्त्री!'—यह सोचकर उसने एक सुन्दर पान बनाकर दिया और हज्जाम ने उसे मुँह मे रख लिया। वहाँ से हज्जाम दूसरी दुकानों पर गया। वहाँ भी ऐसा ही पान मिला। मान तो मन्त्री-मुद्रा की थी न? अन्य दुकानदारों ने भी उसका सुन्दर सत्कार किया। हज्जाम भाई आनन्द से फूला नहीं समा रहा था।

अब आगे क्या हुआ सो देखो। राजाके कुछ सामन्त राज्य में मनमानी घरजानी करते रहना चाहते थे, लेकिन मन्त्री की न्यायनिष्ठा के कारण उनका कुछ वश नहीं चलता था। इसलिए, वे मन्त्री को खत्म कर देने का मौका देखते रहते थे। इस वक्त उन्होंने चार हत्यारों को नगी तलवार लेकर मन्त्री का काम तमाम कर देने के लिए भेज दिया। वे नगर में दाखिल हुए। वहाँ पहली दुकान तम्बोली की आयी। उन्होंने तबोली से पूछा,—"यहाँ के राजा का मन्त्री कहाँ रहता है?" तम्बोली ने उगली से इशारा करके बताया कि, 'वह जा रहा है, मन्त्री'। तब हत्यारों ने दूसरे दुकानदार से पूछा तो उसने भी हज्जाम की तरफ इशारा कर दिया। इसलिए, हत्यारों को इत्मीनान हो गया कि 'वह जो जा रहा है, वही यहाँ के राजा का मन्त्री है। इसलिए, वे उसके पीछे चले, देखने वालों ने समझा कि ये तो मन्त्री के अगरक्षक हैं, इस कारण इस तरह उसके पीछे-पीछे जा रहे हैं।

अब वह हज्जाम एक गली ज्यूँ ही घुसा कि, हत्यारे उस पर टूट पडे और उसके टुकडे करके भाग गये। वहाँ पुलिस आयी, पचनामा हुआ और लोगो मे अफवाह फैल गयी कि "मत्री मारा गया! मत्री मारा गया!!"

इस तरफ राजा विचार कर रहा है कि, "अभी तक अगरक्षक वापस क्यो नहीं आया? क्या मत्री ने कोई दाद नहीं दी? वह वेतन खाये मेरा और सेवा करे धर्म की, यह अब नहीं चलने दूँगा। मै खुद ही उसके पास जाकर उसकी खबर लेता हूँ।"

राजा घोडे पर सवार होकर, नगी तलवार लिये, मत्री के स्थान की तरफ चला। रास्ते मे शोर सुना कि 'मत्री मारा गया।' राजा घोडे से नीचे उतरा और गली मे जाकर देखा कि अगरक्षक हज्जाम के टुकड़े हुए पड़े है और मत्री की मुद्रा उसकी उँगली मे दमक रही है।

'ऐसा कैसे हुआ होगा?', यह सोचते हुए राजा को लगा कि मत्री-मुद्रा छिन जाने के कारण मत्री ने यह काड रचाया होगा, लेकिन यह अनुमान गलत था। गलत अनुमान से कैसा बवडर उठता है, यह भी आप को निम्न कथा से मालूम होगा।

कथान्तर्गत राजपूतानी का दृष्टान्त

एक गाँव के बाहर एक बाबाजी आया। वह एक पेड के नीचे धूनी रमाकर बैठ गया। शाम के वक्त गाँव की तीन स्त्रियाँ उस पेड़ के पास वाले कुएँ से पानी भरने आयीं। उनमे एक ब्राह्मणी थी, दूसरी राजपूतनी और तीसरी बनियाइन थी। उस वक्त बाबाजी जप जप रहा था। और, वह भी जोर से—'अगली भी अच्छी, पिछली भी अच्छी, बिचली को जूते की मार।' यह सुनकर ब्राह्मणी और बनियाइन-मुँह ढक कर हँसने लगीं। और, रजपूतनी का तो ऐसा सिर फिरा कि घेड़ा वहीं पटक कर अपने घर लौट पडी।

घर लौटकर उसने न तो जलाया चूल्हा, न जलाया चिराग। एक टूटी हुई खाट पर अस्तव्यस्त पड़ी रही। रात को नोकरी से उसका पति घर आया। घर में अँधेरा देखकर ताज्जुब करने लगा। उसने रजपूतनी की खाट के पास जाकर पूछा—'यह क्यों? क्या किसी ने तेरा अपमान किया है?"

रजपूतनी ने कहा—"जिसका पति पागल हो उसका कोई भी अपमान कर सकता है।"

यह ठहरी राजपूत की जाति! वह ऐसे वचन सुनकर कैसे रह जाय? उसने हाथ में तलवार खींचकर उससे पूछा—"कौन है तेरा अपमान करनेवाला? जल्दी नाम बता, मैं उसकी खबर लेता हूँ।"

रजपूतनी ने कहा—"गाँव के बाहर कुएँ के पास वाले पेड़ के नीचे एक जोगीड़ा बैठा है। उसने मेरा भयंकर अपमान किया है।" वह सारी बात बता गयी। राजपूत ने कहा—"मैं उसका सर धड़ से काट कर अभी लाता हूँ। तू जरा भी चिन्ता न कर।"

राजपूत कुएँ के पास पहुँचा। वहाँ पेड़ के नीचे बाबाजी के सामने दस बारह रजपूतों की मंडली जमी हुई थी। इसलिए, साहस करना योग्य न लगा। वह पेड़ के पीछे छुपा रहा और मौके का इन्तजार करने लगा। धीरे-धीरे राजपूतों की मंडली विसर्जित हो गयी और बाबाजी अकेले रह गये। इसलिए, पुनः अपना जप जपने लगे, 'अगली भी अच्छी, पिछली भी अच्छी, बिचली को जूते की मार।' ये शब्द सुनकर राजपूत विचारने लगा—"इस वक्त यहाँ कोई स्त्री नहीं है, फिर भी यह बाबा ऐसा क्यों बोल रहा है? इसमें जरूर कोई रहस्य छिपा हुआ है। मालूम करना चाहिए।"

तब राजपूत बाबाजी के सामने आकर, नमस्कार करके पूछने लगा—'आप क्या बोल रहे हैं?" बाबाजी ने कहा कि—यह तो मेरे समझने की बात है, लेकिन अगर तू जानना ही चाहता है तो बताता हूँ, हमारी तीन अवस्थाएँ

होती है—बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था। इनमें पहली और तीसरी अवस्थाएँ अच्छी हैं, कारण कि उनमें आत्मा को कुछ बाधा नहीं पहुँचती। बाल्यावस्था में संसार का अजानपना होता है। वृद्धावस्था में संसार का पूरा अनुभव हो गया होता है और इसके अलावा इन्द्रियाँ भी शिथिल हो गयी होती हैं। इसलिए कहता हूँ कि पहली भी अच्छी और पिछली भी अच्छी। बिचली अवस्था में इन्द्रियाँ तूफानी घोड़े के समान होती हैं, इसलिए उन्हें काबू में रखना बहुत मुश्किल होता है। मतलब यह कि, वे आत्मा को बहुत परीशान करती हैं, इसलिए उसे जूते मारने चाहिए, अर्थात् उसका नियंत्रण करना चाहिए। इसलिए कहता हूँ कि, "बिचली को जूते की मार!"

इन शब्दों को सुनकर राजपूत बाबाजी के चरणों पर गिर गया और कहने लगा—"बाबाजी! मुझे क्षमा करें। मेरी स्त्री ने आपके ये शब्द सुने थे, जिससे उसे घोर अपमान लगा था, कारण कि तीन पनिहारियों में वह बिचली थी और उसके अपमान का बदला लेने के लिए मैं आपका खून करने आया था, लेकिन आपने जो खुलासा किया, उससे मेरे मन का पूरा-पूरा समाधान हो गया है। बाबाजी ने उसके माथे पर हाथ रखा। राजपूत खुश होकर अपने घर आया और स्त्री को सारी बात कह सुनायी। उसके भी मन का समाधान हो गया।

तात्पर्य यह कि बात में गहरे उतरे बगैर अटकल अनुमान कर लिया जाये तो महा अनर्थ हो सकता है।

पर, राजा ने वृथा ही अनुमान कर लिया था और मंत्री को जान से मार डालने का मन में संकल्प भी कर लिया था।

मूल कथा

इस ओर मंत्री मन से दृढ था। उसके निकट दुनियादारी बात में

था, आत्मधर्म पहले। जो धर्म की रक्षा करता है, वह आबाद होता है, जो धर्म की अवहेलना करता है वह बरबाद हो जाता है। आज जगत में त्रास, उपद्रव, अशांति का वातावरण फैला हुआ है, उसका कारण धर्म की अवहेलना है। धर्म में इतनी ताकत मौजूद है कि, सारी दुनिया का कल्याण कर सकता है। अगर हमने धर्म को दिल में बसा लिया है, तो वह हमारा रक्षण कर सकता है, हमें शरण दे सकता है। कहा है कि —

व्यसनशतगताना क्लेशरोगातुराणा,
मरणभयहतानां दु:खशोकार्दितानाम्।
जगति बहुविधाना व्याकुलाना जनाना,
शरणमशरणानां नित्यमेको हि धर्मः॥

—सैकड़ों कष्टों से दु:खी, रोगों से क्लेश पाते हुए, मरण के भय से हताश, दु:ख और शोक से आर्त्त, ऐसे बहुत प्रकार से व्याकुल असहाय मनुष्यों के लिए इस जगत में धर्म ही नित्य शरणभूत है।

राजा विचार करने लगा—"यह मन्त्री धर्मी है, उसने बिना अपराध हजाम को क्यों मारा होगा? हजाम तो मेरा अंगरक्षक है, चिट्ठी का चाकर है। मेरे कहने से वह मन्त्री के पास गया। उसमें दोष है तो मेरा है। मन्त्री को अपनी ताकत ही दिखानी थी तो मुझ पर दिखानी थी। पर, उसने एक नौकर पर हाथ क्यों उठाया?"

गुस्सा जब पैदा होता है, उस वक्त उसका वेग बहुत तीव्र होता है। बाद में ज्यों-ज्यों समय गुजरता जाता है, वह मन्द पड़ता जाता है। इसीलिए अनुभवियों ने कहा है कि, जब गुस्सा आये तब परिणाम का विचार करना चाहिए, उतावली नहीं करनी चाहिए। यहाँ विचार करते हुए काफी समय निकल गया, इसलिए राजा का गुस्सा कुछ ठंडा पड़ा। वह

विचारने लगा—'मंत्री न्याय से चलने वाला है, इसलिए अत्यन्त लोकप्रिय है। अगर उसका यकायक वध कर दूँगा, तो बड़ी उत्तेजना फैलेगी और मुझे राज्य में रहना मुश्किल हो जायेगा। इसलिए पहले उसे अपराधी प्रमाणित करना चाहिए और उसके लिए अंगरक्षक का खून करनेवालों को पकड़वा मँगाना चाहिए। उनसे वास्तविकता का पता जरूर मिल सकेगा।'

राजा का हुक्म होते ही आदमी छूटे। हत्यारे पैदल भाग रहे थे, जब कि ये लोग घोड़े पर सवार थे। इसलिए, इन्होंने कुछ ही देर में हत्यारों को पकड़ लिया और राजा के सामने पेश किया।

राजा ने डाँट कर पूछा—"तुमने मेरे अंगरक्षक हज्जाम को क्यों मारा?" हत्यारों ने कहा—"हमने आपके अंगरक्षक हज्जाम को नहीं, बल्कि मंत्री को मारा है। उसके हाथ में पहनी हुई मुद्रा उसकी निशानी है।"

इन शब्दों के सुनते ही राजा को तथ्य रोशन हो गया, फिर भी अधिक खातरी करने के लिए हत्यारों से पूछा—"तुमको इस काम के लिए किसने नियुक्त किया था? सच बोलो, नहीं तो सर उड़ा दिया जायेगा।"

हत्यारों ने सच्चे नाम बता दिये।

सुनकर राजा स्तब्ध हो गया। हज्जाम तो मंत्रीपन का लाभ लेने की कोशिश में जान से हाथ धो बैठा है, यह बात उसके ध्यान में आ गयी। लेकिन, सामन्तों ने मंत्री को मारने के लिए हत्यारे क्यों भेजे? यह प्रश्न उसके मन में चक्कर लगाने लगा। और, अधिक विचार करने पर वह समझ गया कि, मंत्री राज्य का हितैषी है और वह मेरे हक में जरा भी नुकसान नहीं होने देता, जबकि इन सामन्तों को मुझसे मनमानी करानी है, इसलिए इन्होंने बीच के काँटे को दूर करने के लिए यह षड्यंत्र रचा और मंत्री की बजाय हज्जाम मारा गया। अगर मैं दुस्साहस कर गया होता तो क्या होता? लोग मुझे क्या कहते?

राजा की आँखें खुल गयीं। उसे मन्त्री के प्रति पहले से भी अधिक मान हुआ और वह हृदय से मानने लगा कि मन्त्री की धर्मबुद्धि ने—मन्त्री के पोषह ने ही—मुझे भयानक अपकीर्ति से बचाया है।

उसने हज्जाम के हाथ से अँगूठी निकाल कर अपने पास रख ली और यह सोचता हुआ कि मन्त्री से माफी माँगकर इसे उसको वापस दे दूँगा, वह मन्त्री के निवास-स्थान की ओर चला। खुली तलवार उसके हाथ में ज्यों-की त्यों थी।

पोषध में बैठे हुए मन्त्री ने खिड़की में से देखा कि राजा नगी तलवार लिए उसी की तरफ़ आ रहा है। उसने समझा कि वह उसे ही मारने आ रहा है। उसे नहीं मालूम की राजा उससे माफी माँगने, उससे मिलने, उसका उपकार मानने इस तरफ आ रहा है। मन्त्री अपनी आत्मा से कहने लगा—"तू इससे पहले बहुत बार मरा होगा, परन्तु वह तो मोह के वश होकर या और किसी निमित्त से मरा होगा, परन्तु धर्म के लिए, धर्म में अडिग रहकर अभी तक एक भी बार नहीं मरा। इसलिये, यह अवसर तेरे लिए अपूर्व है। तू निश्चल रहना। जरा भी न घबराना और मानना कि राजा तेरा मित्र है, दुश्मन नहीं। वह तो केवल निमित्त है। उस पर रोष क्यों किया जाय? हे आत्मन्! तू शान्त रहना। धर्म ही तुझे इस ससार से तारनेवाला है। मरने से तुझे क्यों डरना चाहिए मरने से वह डरता है जो पापी या अधर्मी है। तू न अधर्मी है न पापी है, तो मौत से क्यों डरा जाये?'

मन्त्री इस प्रकार आत्मा को हित शिक्षा देकर मजबूत कर रहा था, कि राजा पास आ गया और हाथ की तलवार म्यान में करके नमस्कार-पूर्वक बोला—"मन्त्रीश्वर! अपने धर्म के कारण आप बच गये। मैं भी बच गया और मेरा राज्य भी बच गया! इसलिए इस मुद्रा को फिर स्वीकार करो। आज से आपका वेतन दूना किये देता हूँ। और, भविष्य

म आपको धर्म क्रिया करने में कोई बाधा न आये इसकी पूरी सावधानी रखी जायेगी। अपनी इस धर्म-क्रिया के पूर्ण हो जाने पर आप काम पर आना और मुझे भी अपने जैसा धर्मी बनाना।"

ये शब्द सुनकर मत्री अत्यन्त आनन्दित हुआ। उसकी खुशी का कारण यह नहीं था कि मत्री-मुद्रा वापस मिल गयी या वेतन दूना हो गया, बल्कि यह था कि राजा पर धर्म का प्रभाव पड़ा और वह धर्म-प्रेमी बन गया।

मत्री धर्म में अडिग रहा, उसकी श्रद्धा जरा भी चलित नहीं हुई, तो स्वय उन्नत हुआ और राजा पर भी उपकार कर सका। अगर वह दुनियावी विचारो में फँसकर धर्म से डिग जाता तो धर्म भी गुमाता और अपनी जान भी गुमाता! इसलिए सुज्ञ पुरुषों को धर्म में पूरा-पूरा रस लेना चाहिए और प्राणोत्सर्ग हो जाने पर भी उसे छोड़ना नहीं चाहिए।

चौरासी लाख योनियों के नाम

अब हम मूल बात पर आयें। चौरासी लाख योनियों के नाम[1] शास्त्रकारों ने इस प्रकार गिनाये हैं

---

१ चौरासी लाख जीव-योनि-सबधी जीव विचार प्रकरण में नीचे की गाथाएँ मिलती हैं।

तह चउरासी लक्खा, जोणीण होइ जीवाणं।
पुढवाईण चउण्ह, पत्तेय सत्त सत्तेव ॥४५॥
दस पत्तेय तरूण, चउदस लक्खा हवति इयरेसु।
विगलिदिएसु दो दो, चउरो पचिंदि-तिरियाण ॥४६॥
चउर चउर नारय-सुरेसु मणुआण चउदस हवति।
सपिंडिया य सव्वे, चुलसी लक्खो उ जोणीण ॥४७॥

७ लाख	पृथ्वीकाय	ये सब एकेन्द्रिय जीवों की जातियाँ हैं
७ लाख	अपकाय	
७ लाख	तेउकाय	
७ लाख	वाउकाय	
१० लाख	प्रत्येक वनस्पतिकाय	
१४ लाख	साधारण वनस्पतिकाय	
२ लाख	बेइन्द्रिय	
२ लाख	तेइन्द्रिय	
२ लाख	चउरिन्द्रिय	
४ लाख	देवता	
४ लाख	नारकी	
४ लाख	तिर्यंच पचेन्द्रिय	
१४ लाख	मनुष्य	
कुल ८४ लाख योनि		

इन चौरासी लाख योनियों* में से देवता की १ गति, नारकी की १ गति, मनुष्य की १ गति और बाकी के सब तिर्यंचों की १ गति गिनकर कुल चार प्रकार की गति मानी जाती है। देवता, मनुष्य, तिर्यंच और

* जिसमें से शक्ति का नाश नहीं हुआ और जो जीव को उपजाने की शक्ति से सम्पन्न होता है, ऐसे जीव के उत्पन्न होने के स्थान को 'योनि' कहते हैं। उसके मुख्य प्रकार नौ है। (१) सचित्त, (२) अचित्त, (३) सचित्ताचित्त, (४) शीत (५) उष्ण (६) शीतोष्ण, (७) संवृत, (८) विवृत और (९) संवृत विवृत। इनमें जीव प्रदेशवाली योनि सचित्त, जीव प्रदेश से रहित योनि अचित्त, इन दोनों के मिश्रणवाली सचित्ताचित्त, जिसका स्पर्श ठंडा हो वह शीत, जिसका स्पर्श गर्म हो वह उष्ण, जिसका स्पर्श कुछ भागों में शीत और कुछ भाग में उष्ण वह शीतोष्ण, जो ढकी हुई हो वह संवृत, उघाड़ी हो वह विवृत और कुछ ढकी और कुछ उघाड़ी हो वह संवृत विवृत कहलाती है।

नारकी यह उनका क्रम है। इनमें देवता की गति सबसे उत्तम और नरक की गति सबसे कनिष्ठ है।

६ पर्याप्तियाँ

आत्मा चौरासी लाख योनियों म परिभ्रमण करता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि, वहाँ उस उस जाति का शरीर तैयार रहता है, जिसमें वह प्रवेश करता है, बल्कि उसका अर्थ यह है कि वहाँ उत्पन्न होकर अपने कर्मानुसार देह की रचना करता है। उसके लिए शास्त्रकारो ने ६ पर्याप्ति का जो क्रम बताया है, वह बराबर लक्ष में रखने योग्य है। यह पर्याप्तियों म पहली आहार पर्याप्ति है, दूसरी शरीर पर्याप्ति है, तीसरी इन्द्रिय पर्याप्ति है, चौथी श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति है, पाँचवीं भाषा-पर्याप्ति है और छठी मन-पर्याप्ति है।

पर्याप्ति का अन्तरग कारण कार्मण-योग है और बाह्य कारण पुद्गल-ग्रहण है। पुद्गल में रहनेवाली परिणमन-शक्ति को उपयोग म लेने की जीव की शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं।

पूर्व स्थान पर अपनी देह छोड़कर अपनी नयी आनुपूर्वी, गति, जाति आदि नामकर्म-रूप कार्मण शरीर के अनुसार नवीन जन्म-क्षेत्र में पहुँचकर स्वजाति योग्य देह धारण करने के लिए जीव जिस शक्ति के द्वारा पुद्गल ग्रहण करता है, उसे आहार-पर्याप्ति कहते हैं। आहार-पयाप्ति आदि पर्याप्तियों को सब जीव दूसरे जन्म म आते ही शुरू करते है। उनम आहार-पर्याप्ति पहले समय में ही पूरी हो जाती है और बाकी पर्याप्तियाँ अन्तर्मुहूर्त मे पूर्ण हो जाती हैं।

आहार पर्याप्ति के द्वारा ग्रहण किये हुए और खल-रस रूप हुए पुद्गल म से खल (असार) पुद्गल को छोड़कर दूसरे सार पुद्गल को धातु-रूप परि-

णमा कर शरीर नाम-कर्म अनुसार उसका देह-रचना म रूपान्तर करना शरीर पर्याप्ति है। सात धातुओं के रूप मे परिणमित हुए पुद्गल म से इन्द्रिय-योग्य पुद्गल को ग्रहण करके गति, जाति, आदि नामकर्म के अनुसार देह की इन्द्रिय-रचना करने में उसका रूपान्तर करना इन्द्रिय-पर्याप्ति है।

सात धातुओं के रूप में परिणमित हुए, पुद्गल में से उद्भव पाती हुई शक्ति के द्वारा श्वासोच्छवास योग्य पुद्गल को ग्रहण करके उसे श्वासोच्छवास के रूप में परिणमा कर श्वासोच्छवास की क्रिया सम्पादित करना श्वा-सोच्छ्वास पर्याप्ति है।

सात धातुओं के रूप में परिणमाये हुए पुद्गल में से उद्भव पाती हुई शक्ति के द्वारा मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके उनको वचन-रूप परिणमा कर वचन-रूप से लेना-रखना भाषा-पर्याप्ति है।

सात धातुओं के रूप में परिणमाये हुए पुद्गल में से, उद्भव पाती हुई शक्ति के द्वारा मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके उनको मन रूप परिणमा कर, उसका अवलम्बन लेकर, विसर्जन करने की शक्ति द्वारा विचार, चिन्तन, मनन आदि मनोव्यापार में उतारना मन-पर्याप्ति है।

शरीर की रचना पहले होती है और आत्मा उसमें बाद में प्रवेश करती है, ऐसा मानना मुनासिब नहीं है, क्योंकि इस प्रकार तो मशीन से निकली हुई टिकियों की तरह पुद्गलों के बने हुए सब शरीर एक-से होने चाहिए, लेकिन आप देखते हैं कि उनमें कितना ज्यादा फर्क होता है। कोई यह कहे कि पृथक पृथक वीर्य और रज के कारण (उत्पादक पदार्थों के कारण) ऐसा होता है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं है, कारण कि एक ही माता पिता से उत्पन्न होनेवाली सन्तानों के शरीर भी

रूप, रंग, लावण्य, आकृति और बंधारण* में पृथक-पृथक जाति के होते हैं, इसलिए आत्मा देह में उत्पन्न नहीं होता, बल्कि देह को बनाता है और पूर्व कर्म अनुसार उसका निर्माण करता है।

देहधारण क्रिया

आत्मा की यह देहधारण-क्रिया वस्त्र-धारण जैसी है। उसके लिए भगवद्गीता म कहा है कि—

---

* जैन शास्त्रों में आकृति के लिए संस्थान शब्द नियोजित किया गया है और उसके ६ प्रकार माने जाते हैं, (१) समचतुरस्र—सब अंग यथापरिमाण और लक्षणयुक्त (२) न्यग्रोधपरिमंडल—नाभि के ऊपर का भाग यथापरिमाण और लक्षणयुक्त पर नीचे का भाग परिमाण और लक्षण से रहित (३) सादि—नाभि से नीचे के अंग यथापरिमाण और लक्षणयुक्त, पर ऊपर के अंग परिमाण और लक्षण से रहित (४) वामन—हाथ, पग, मस्तक, सिर, यथापरिमाण और लक्षणयुक्त, पर दूसरे अंग परिमाण और लक्षण से रहित (५) कुब्ज—हाथ, पग, मस्तक और सिर परिमाण और लक्षण से रहित, पर दूसरे अंग यथापरिमाण और लक्षण से युक्त (६) हुंडक—शरीर के सब अंग परिमाण और लक्षण से रहित।

जैन-शास्त्रों में शरीर के बंधारण के लिए 'संहनन'-शब्द प्रयुक्त हुआ है। उसके ६ प्रकार माने गये हैं (१) वज्र ऋषभ-नाराच संहनन—जिन संधियों में मर्कटबंध (एक प्रकार का बन्धन), उसके चारों तरफ पट्टी और उसके बीच में वज्र-सरीखी कील लगी हुई हो (२) ऋषभ-नाराच संहनन—जिसमें कील न हो पर मर्कटबंध और पट्टी हो (३) नाराच-संहनन जिसमें केवल मर्कटबंध हो। (४) अर्धनाराच-संहनन—जिसमें अर्ध मर्कटबंध हो (५) कीलक-संहनन—जिसमें मर्कटबंध बिलकुल न हो लेकिन दो संधियाँ कीलों से जड़ी हों और (६) छेवट्ठ-संहनन—जिसमें संधियाँ मात्र एक दूसरे से सटी हुई हों। तीर्थंकर और चरमशरीरी प्रथम संहनन वाले होते हैं

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

—जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार देहधारी आत्मा, पुराने शरीरों को छोड़कर नये शरीर धारण करती है।

आत्मा की एक देहधारण करके छोड़ने तक की क्रिया को हम 'भव' या 'अवतार' कहते हैं। इस 'भव' या 'अवतार' का प्रारम्भ गर्भधारण या जन्म से होती है और अन्त मरण से आता है। अर्थात् आत्मा जन्मा और मरा ये शब्द औपचारिक हैं। जन्म और मरण देह के होते हैं, आत्मा के नहीं।

आत्मा कभी भी जन्मी नहीं है। वह 'अज' कहलाती है और कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होती, वह 'अविनाशी' या 'अमर' कहलाती है। वह 'अरूपी' है, इसलिए शस्त्रों से उसका छेदन-भेदन नहीं हो सकता, अग्नि द्वारा उसका जलन-प्रज्वलन नहीं हो सकता, पानी से भींगता नहीं, पवन से सूखता[1] नहीं। वह चाहे जैसी कठोर दीवारों या पहाड़ों को निमिष

---

१ भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में निम्न पंक्तियाँ आती हैं—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥

—इस आत्मा को शस्त्र छेदते नहीं, इसे अग्नि जलाती नहीं, इसे पानी भिगोता नहीं और पवन सुखाता नहीं।

मात्र* मे पार कर जाता है और कोई उसे रोक नहीं सकता। इसीलिए वह राजलोक के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चाहे जहाँ जा सकती है।

आत्मा का प्रवास, आत्मा का ससार परिभ्रमण कब शुरू हुआ, यह वर्षों की सख्या मे नहीं बताया जा सकता। लाख वर्ष पहले भी उसका ससार परिभ्रमण चालू था, करोड़ वर्ष पहले भी चालू था और अरब वर्ष पहले भी चालू था। अर्थात्, वह ससार में अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है।

सोना जैसे पहले से ही मिट्टी से मिला हुआ होता है, उसी प्रकार आत्मा अनादिकाल से कर्म से लिप्त है और उसका कर्म-बन्धन प्रति समय चालू ही है, इसलिए उसका फल भोगने के लिए उसे देह धारण करना पड़ता है। जब कर्म का नवीन बध होना रुक जाता है और सत्ता में रहे हुए कर्म खिर (नष्ट) जाते हैं, तब उसे नवीन जन्म धारण नहीं करना पड़ता। उस समय वह अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्व गति से लोक के अग्रभाग म पहुँच जाता है और सिद्धशिला के अग्रभाग में विराजकर मोक्ष के अक्षयअनन्त सुख का उपभोक्ता बन जाता है। तब इस महान् प्रवासी का प्रवास पूरा होता है और वह एक ही स्थान पर अनन्तकाल तक स्थिर रहता है।

---

* यहाँ निमिष मात्र शब्द का प्रयोग वस्तुस्थिति सरलता से समझ में आ जाये इसलिए किया है। वास्तव में तो आत्मा निमिष के असख्यातवें भाग यानी एक, दो या तीन समय में ही अपने गतव्य स्थान पर पहुँच जाती है। आत्मा की इस गति को विग्रहगति कहते हैं। आत्माकी स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है, यह बतलाया जा चुका है।

चौथा व्याख्यान

पुनर्जन्म

महानुभावों !

श्रुतस्थविर भगवत रचित श्री उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवें अध्ययन में अल्पससारी आत्मा का वर्णन है । उस पर से आत्मा का विषय चल रहा है ।

आत्मा एक महान् प्रवासी है और वह आदिकाल से अपने कर्मानुसार चार गति और चौरासी लाख जीव योनियों में परिभ्रमण करता रहता है । इस परिभ्रमण का अन्त तभी आता है जब कि यह मुक्ति की प्राप्ति कर लेता है । यह तथ्य आपको गत व्याख्यान में विस्तार से बतायी है, परन्तु कुछ को पुनर्जन्म के विषय में शंका है, इसलिए उसके सम्बन्ध में अब हम विशेष विचारणा करेंगे ।

जिन्हें पुनर्जन्म के विषय में शका है, वे कहते हैं—"अगर हमारा पुनर्जन्म हुआ हो, तो हमें पूर्वभव की बातें याद क्यों नहीं रहतीं ? जब हम पच्चीस, पचास या उससे भी ज्यादा वर्षों की बातें याद रख सकते हैं, तब हमे पूर्वजन्म की बातें भी याद रहनी ही चाहिए । कोई यह कहे कि, हमारी स्मरण शक्ति इतनी तीव्र नहीं है कि, यह सब याद रह सके, तो इस जगत मे ऐसी स्मरण शक्तिवाले मनुष्य भी पड़े हैं, जो एक बार देखा हुआ या एक बार पढा हुआ भूलते नहीं है तो उन्हें भी पूर्वजन्म की बातें याद नहीं हैं, इसलिए यह मानने का कारण है कि, पुनर्जन्म जैसी कोई चीज नहीं है ।"

पुनर्जन्म का सिद्धान्त सर्वज्ञकथित है

इस तर्क का हम पूर्ण निराकरण करेंगे, पर उससे पहले यह सूचित कर देना चाहते हैं कि, पुनर्जन्म का सिद्धान्त किसी की कल्पित वस्तु नहीं है, बल्कि जो भूत, वर्तमान और भविष्य के सब पदार्थों की सब पर्यायों (स्वरूपों) को साक्षात् जान-देख* सकते हैं, उनका कहा हुआ है। इसलिए वह अन्यथा हो ही नहीं सकता। ये सर्वज्ञ महापुरुष वीतराग थे, इसलिए उन्हें किसी के प्रति राग या द्वेष नहीं था। दूसरे शब्दों में कहें तो उन्हें इस जगत् का कोई भी स्वार्थ नहीं था कि, अपने ज्ञान में वस्तु को देखें एक प्रकार से और बतायें दूसरे प्रकार से। इसलिए, उन्होंने जिस प्रकार कथन किया है, उसी रूप में तथ्य को स्वीकार करना चाहिए। धर्मश्रद्धालु आत्मायें तो उनके कथन को ज्यों-का-त्यों ग्रहण करती हैं।

अनन्तज्ञानी के वचनों पर विश्वास न रखना और अपनी मामूली, तुच्छ बुद्धि पर विश्वास रखना, यह किस तरह की होशियारी है? आपको बड़ी इमारत बनवानी हो तो अपनी बुद्धि पर विश्वास रखते हैं या 'इंजीनियर' की बुद्धि पर? आपको रोग-निवारण करना हो, तो अपनी बुद्धि पर विश्वास रखते हैं या वैद्य, हकीम, डॉक्टर की बुद्धि पर? अगर ऐसे विषय में आप अपनी बुद्धि पर विश्वास न रख कर एक कुशल इंजीनियर या कुशल वैद्य-हकीम-डॉक्टर की बुद्धि पर विश्वास रखते हैं, तो तत्त्व के विषय में तत्त्वपारगत सर्वज्ञ भगवंत पर विश्वास क्यों नहीं रखते?

सर्वज्ञ भगवंत ने 'भवसमुद्र' कहा है। इसका अर्थ यह है कि, समुद्र के जलबिन्दुओं की तरह भवों की संख्या अपार है। इस भव की अनन्तता पुनर्जन्म स्वीकार किये बिना, कैसे घटित हो सकती है? उन्होंने यह भी

---

* केवल ज्ञानी को पहले ज्ञान और फिर दर्शन होता है, इसलिए यहाँ 'जान-देख' सकते हैं, ऐसा प्रयोग किया है। उसका विशेष कथन आगे आयेगा।

कहा है कि पुण्य पाप का या अच्छे-बुरे कर्मों को भोगने के लिए जीव को अमुक गति में उत्पन्न होना पड़ता है—यह पुनर्जन्म के बिना कैसे संभव हो सकता है ? विशेषत उन सर्वज्ञ महापुरुषों ने अपने पूर्व भवों का वर्णन विस्तार से कहा है । उससे भी पुनर्जन्म की पुष्टि होती है । अगर, पुनर्जन्म-जैसी कोई वस्तु ही न हो तो ये महापुरुष पूर्वभवों का वर्णन क्यों करें ?

कोई भी वस्तु तीन प्रकार से सिद्ध होती है—श्रुति से (शास्त्र-प्रमाण से), युक्ति से (तर्क से) और अनुभूति से (अनुभव से) इनमें से श्रुति की बात हम कर गये । अब आयें युक्ति पर !

पुनर्जन्म मानने के कारण

'पूर्वजन्म की बात याद नहीं है, इसलिए पुनर्जन्म नहीं है,' ऐसा कहनेवालों से हम पूछ सकते हैं कि, आपको गर्भ की बात याद है क्या ? अगर गर्भ की बात याद है तो बतलाइये । वे क्या जवाब देंगे ? गर्भ की बात याद नहीं है । गर्भ की बात स्मरण नहीं है, पर आप गर्भ को मानते हैं या नहीं ? आप गर्भ में से पैदा हुए या इस जगत में यूँ ही चू पड़े ?

इस जगत में जितने मनुष्य जन्मे हैं, वे सब माँ के पेट में थे । नीचे सर और ऊपर पग, इस तरह नौ मास से भी अधिक समय तक उसमें लटके रहे थे । वह थी, अंधेरी कोठरी ! और, उसमें ऐसी उत्कट गर्मी थी कि अनाज को भी पचा दे ! उपरात उसमें ऐसी दुर्गंध थी कि मुँह फेर लिया जाये ! बिल्कुल जकड़े रहना होता था—न हाथ लम्बा होता था न पैर सिकोड़ा जा सकता था । पर, गर्भ में से बाहर आने के बाद एकदम पलटा हुआ और हम वह सब भूल गये । क्या इससे यह कहा जा सकता है कि हम गर्भ में थे ही नहीं ?

अगर मनुष्य को गर्भावस्था का वह दु ख याद रहे, तो फिर वह गर्भ

म आना पसन्द करे ही नहीं ! लेकिन, आदमी वह सब भूल जाता है और जो नया जीवन प्राप्त हुआ है, उसी म आनन्द मानता है।

हमारा जीवन नदी के दो किनारों को जोड़ने वाले पुल के समान है। उसमें एक किनारे को हम जन्म कहते ह और दूसरे किनारे को मरण करते है। वास्तव मे दोनो में अन्तर नहीं है। एक से आना है और दूसरे से जाना है। आने वाला पहले मर-कर ही आता है और जाने वाला भी जन्म ले कर ही जाता है, लेकिन हम जन्म के समय बाजे बजाते है, मिठाइयाँ बाँटते हैं और बड़ा उत्सव मनाते हैं, जबकि मरण के समय रोते-धोते है और कई दिनों तक शोक मनाते है। इसका कारण क्या ? राग और स्वार्थ या और कुछ ? राग और द्वेप ये दो ही हमें ससार में भटकाने वाले महान् शत्रु हैं। फिर भी हम उनका सग छोड़ते नहीं, यह क्या कम दु ख की बात है ?

मनुष्य गर्भावस्था का दु ख बाहर आकर क्यों भूल जाता है ? यह भी मै आपको समझाना चाहता हूँ। मरण शय्या पर पड़ा हुआ आदमी कहता है 'अगर मैं बच गया तो धर्म करूँगा' पर, अगर वह सच मुच बच जाता है तो क्या कहता है ? रुग्णावस्था में जो अनेक प्रकार का दु ख भोगना पड़ा था, उससे छूट जाने की खुशी मनाता है और उस खुशी में अपना सकल्प भूल जाता है।

आप एक नाव में बैठे हों और तूफान आने पर नाव डगमगाने लगे तब क्या कहते है ? 'हे प्रभु ! मुझे बचाओ ! हे शासन-देव मेरी रक्षा करो ! हे चक्रेश्वरी माता ! मुझे उबारने दौडकर आओ ! हे पद्मावती माता ! इस तूफान को शान्त कर दो !' आदि। लेकिन, तूफान निकल जाने के बाद आप उन सबको कितना याद करते हैं ? दो-चार बार नाम लेना याद करना नहीं कहलाता। दिल में लगातार उनकी रट चले तब 'याद किया' कहलाते। इस तरह याद कितनी बार करते हैं ?

कोई जवान मर जाये और आप शोक में हों, तो आपके मन में कैसे विचार आते हैं? 'अहो! यह संसार असार है!' 'मौत किसी को छोड़ती नहीं!' 'मुझे भी अबेर-सबेर इस तरह जाना पड़ेगा, इसलिए अब और सब छोड़कर धर्माराधन में लग जाऊँ!' पर, वापस आकर व्यवहार में पड़ जाने पर आपको वह सब कितना याद रहता है? वही खान, वही पान, वही रहनी और वही करनी! सब पूर्ववत् प्रारम्भ हो जाता है और श्मशान का वैराग्य भाग जाता है।

छोटा बालक किसी खिलौने से खेलता है। वह खिलौना हानिकारक है, अगर उसे छीन लिया जाये तो बालक रोता और तूफान मचाता है, परन्तु उसे बहलाकर दूसरा खिलौना हाथ में दे दें तो वह प्रसन्न हो जाता है और उससे खेलने लगता है, और पहला खिलौना अपने आप छूट जाता है। ठीक उसी तरह आदमी को जब नया जीवन मिल जाता है, तो वह गर्भावस्था का दुःख भूल जाता है।

गर्भावस्था में भी बालक कभी रोता है। इस सम्बन्ध में एक किस्सा याद आता है। अहमदाबाद में छाया डॉक्टर की स्त्री का पेट बढ़ा। डॉक्टर ने समझा कि वह गाँठ है। अहमदाबाद के अच्छे-अच्छे डॉक्टर बुलाये गये। सबने रोगी की जाँच करके एक मत से कहा—"इसके पेट में गाँठ है, उसे निकालने के लिए ऑपरेशन करना पड़ेगा।"

ऑपरेशन की तैयारियाँ हुईं, रोगिणी को मेज पर सुला दिया गया। उसी वक्त मिरज का एक मशहूर डॉक्टर किसी काम से अहमदाबाद आया था। उसकी फीस एक हजार रुपये थी। उसके आने की उस डॉक्टर को खबर मिली, इसलिए उसे बुलाकर सलाह लेने का निश्चय किया। पत्नी पर उसे बड़ा प्रेम था। वह अच्छी हो जाये तो हज़ार रुपये की उसे फिक्र नहीं थी।

उसने मिरजके डॉक्टर को बुलाया। उसने स्त्री का पेट देखा। फिर वह हँसते हुए कहने लगा—"आप यह क्या कर रहे हैं?" अन्य डॉक्टर मन

में हँसने लगे। वे विचार करने लगे कि "कैसा मूर्ख है, इतना भी नहीं समझता ?" फिर प्रकट में जवाब दिया 'ऑपरेशन करती हैं।' उसने पूछा—"किसका ?" डॉक्टरों ने कहा कि "गॉठ का" तब मिरज के डॉक्टर ने कहा—"अरे भाइयो ! यह गॉठ नहीं है, यह तो गर्भ है।" यह कहकर उसने स्त्री के पेट पर स्टेथेस्कोप रखकर सबको बताया कि, बालक गर्भ में भी झीनाझीना रोता है।

यह देखकर अहमदाबाद के डॉक्टर खिसियाकर रह गये। अगर उन्होंने उस स्त्री का ऑपरेशन कर दिया होता, तो दो जीवों की हानि होती और छाया डाक्टर जिन्दगी भर दु खी रहता। कुछ देर पहले मिरज के डॉक्टर की मन में हँसी उड़ानेवालों ने उसका आभार माना। उस स्त्री ने फिर गर्भ को सँभाला और पूरे दिन होने पर पुत्र जन्मा।

मरण का दु ख जन्म के दु ख से आठ गुना ज्यादा होता है। सैकड़ों-हजारों बिच्छुओं के काटने से जो कष्ट होता है, वैसा कष्ट मरण के समय जीव को भोगना पड़ता है। वहाँ से वह जन्मक्षेत्र में प्रवेश करता है, तब मरण के दु ख की तुलना में गर्भ का दु ख कम होने से वह पहले का सब भूल जाता है।

जो पच्चीस या पचास वर्ष की बात याद रखने की कहते हैं, उनसे उनके वर्तमान जीवन के पहले और दूसरे वर्ष का हाल पूछें तो क्या बता सकते हैं ? अगर उनको अपने जीवन के पहले और दूसरे वर्ष की बात याद नहीं है तो पहला या दूसरा वर्ष था ही नहीं ऐसा कहा जा सकता है क्या ?

आत्मा जब गर्भ में होती है, तब किसी की सगति म नहीं आती। फिर भी एक बालक क्रूर, दूसरा दयालु, तीसरा लोभी और चौथा उदार क्यों होता है ? उसका स्वभाव अक्सर माता पिता से भी विरुद्ध देखा जाता है। मम्मन सेठ कृपण था, पर उसकी माता कृपण नहीं थी। वसुदेव भोगी थे, पर उनके ६ पुत्र परम वैरागी थे। बहादुर माता का

पुत्र कायर और कायर माता का पुत्र बहादुर, मूर्ख पिता का पुत्र ज्ञानी और ज्ञानी पिता का पुत्र मूर्ख देखने में आता है।

बालक का यह स्वभाव आया कहाँ से ? इसका एक ही उत्तर हो सकता है—"आत्मा ने जब यह देह धारण किया, उस समय वह पूर्व भव के संस्कारों की पूँजी अपने साथ लेता आया था और वही पूँजी इस तरह व्यक्त हो रही है।"

यहाँ यह भी बता दिया जाये कि, जब आत्मा एक देह छोड़कर दूसरी देह धारण करने के लिए गति करता है, तब उसके साथ संस्कारों की पूँजी के अलावा 'तैजस्' और 'कार्मण्य' नाम के दो शरीर भी होते हैं। ये शरीर चूँकि अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इसलिए कोई उन्हें रोक नहीं सकता। और, आत्मा के साथ वे चाहे जहाँ जा सकते हैं।

पाँच प्रकार के शरीर

यहाँ आप पूछेंगे कि शरीर कितने प्रकार का होता है ? इसलिए इसका भी स्पष्टीकरण कर दिया जाये। शास्त्रकार भगवत ने श्री पन्नवणा सूत्र में कहा है कि—"पच सरीरा पणत्ता, त जहा ओरालिये, वेउव्विए, आहारए, तेयए, कम्मए। ज्ञानी भगवतों ने पाँच प्रकार के शरीर कहे हैं। वे इस प्रकार—१ औदारिक, २ वैक्रिय, ३ आहारक, ४ तैजस् और ५ कार्मण्य।

जो शरीर उदार यानी उत्कृष्ट पुद्‌गलों का बना होता है, वह औदारिक कहलाता है अथवा अन्य शरीरों की अपेक्षा जो उच्च स्वरूपवाला हो वह औदारिक कहलाता है अथवा जिसका छेदन, भेदन, ग्रहण, दहन, आदि हो सके वह औदारिक कहलाता है।

शास्त्र में औदारिक के लिए 'ओरोलिय' शब्द है। 'ओरालिय' शब्द 'उरल', 'उराल', या 'ओराल' से बना है। 'उरल' का अर्थ है 'विरल'। अर्थात् यह शरीर अन्य शरीरों की अपेक्षा स्वल्प प्रदेशवाला है, विरल प्रदेशवाला है। 'उराल' का अर्थ है 'उदार' यानी यह शरीर सब शरीरों से

स्थूल है। 'ओराल' का अर्थ है 'हाड़-मांस' यानी जिस शरीर में 'हाड़-मांस' आदि हों वह औदारिक। बाकी के शरीर में हाड़-मांस नहीं होते।

जिस शरीर में छोटे से बड़ा होने की और बड़े से छोटा होने की, अथवा मोटे से पतला होने की और पतले से मोटा होने की, अथवा एक रूप से अनेक रूप धारण करने की और अनेक रूप से एक रूप धारण करने की विक्रिया होती है वह वैक्रिय कहलाता है। देव और नारकियों को ऐसा शरीर जन्म से ही होता है, मनुष्य को वह लब्धि से प्राप्त होता है। औदारिक शरीर आत्मा से अलग हो जाने के बाद वैसी ही रह सकता है, जबकि वैक्रियक शरीर आत्मा से अलग हो जाने पर कपूर की तरह उड़ जाता है, बिखर जाता है।

चतुर्दश पूर्वधर* मुनि सूक्ष्म अर्थ का सन्देह निवारण के लिए केवली भगवत के पास जाने के लिए, अथवा तीर्थंकर की ऋद्धि देखने के लिए तीर्थंकर के पास भेजने के लिए विशुद्ध पुद्गलों से बने हुए जिस अव्याघाती शरीर को धारण करते हैं, वह **आहारक** कहलाता है।

जो शरीर खाये हुए आहार को पचाने में समर्थ है और तेजोमय है और उष्मा देनेवाला है, वह **तैजस** कहलाता है।

और, ज्ञानावरणी आदि आठ कर्मों का समूह जो आत्म प्रदेश से एक हुआ रहता है, वह **कार्माण्य** शरीर कहलाता है।

ये शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। यानी औदारिक से वैक्रिय सूक्ष्म है, वैक्रिय से आहारक सूक्ष्म है, आहारक से तैजस् सूक्ष्म है और तैजस् से कार्माण्य सूक्ष्म है।

संस्कारों का संचय और उनका सुधार

आत्मा शरीर द्वारा क्रिया करता है और उसके सस्कार उस पर पड़ते

*चौदह पूर्व, सूत्र और अर्थ को जाननेवाले चतुर्दश पूर्वधर कहलाते हैं। चौदह पूर्व बारहवें अंग दृष्टिवाद का एक भाग था और उसमें अनेक ... विषय था।

है, अर्थात् अच्छी क्रिया के अच्छे सस्कार पड़ते है और बुरी क्रिया के बुरे सस्कार पड़ते हैं। जो जिन-मदिर जाते है, देव-दर्शन करते है, सेवा पूजा करते है, सद्गुरु का समागम करते है, उनकी व्याख्यान वाणी सुनते है, व्रतनियम करते है और अच्छी-अच्छी धार्मिक पुस्तकें पढते है, वे धार्मिक बनते हैं। और जो खाने-पीने की बातों में ही व्यस्त रहते है, नयी-नयी भोग-सामग्री खोजते रहते है, नाटक-तमाशों में अपना समय बिताते है तथा शराबी, गँजेड़ी या जुवारी मित्रों की सगत में फँसे है, वे अधर्मी बनते हैं। कहावत है कि, 'जैसा सग वैसा रग।'

वस्तुपाल तेजपाल का दृष्टान्त

सयोगों से सस्कार सुधर भी सकते हैं। वस्तुपाल और तेजपाल पहले से उदार नहीं थे। पर, एक बार उन्हें सकुटुम्ब यात्रा पर जाना हुआ। सम्पत्ति बहुत थी, उसे कौन सँभालेगा? यह सोचकर अशर्फियों का चरू भरा और उसे साथ ले लिया। यात्रा में जहाँ जायें वहाँ उसे साथ रखें। पूजा करने जायें तो चरू देखकर जायें और पूजा करके आयें तो फिर देख लें। पूजा में भी ध्यान चरू में रहे। खाते-पीते, उठते बैठते, नहाते धोते, हर समय चरू की चिन्ता रखें। उनकी माता सस्कारी थी। उससे यह सहन न हुआ। उसने कहा—"बेटो! घड़ी-घड़ी चरू में ध्यान रखते हो, तो यात्रा कैसे होगी? यात्रा में तो धर्म करना चाहिए। वह इस तरह नहीं होता, इस तरह तो मोह की वृद्धि हो रही है।"

पुत्र विनयी थे। उन्होंने कहा—'तो इस चरू का क्या करें?' माता ने कहा—'उसे दूहे वाले स्थान में गाड़ दो, लौटते समय वहाँ से ले लेना।" माता के इस वचन को मान कर, रात के समय दोनों भाई उस चरू को गाड़ने गये। वहाँ जरा जमीन खोदी तो कुदाली किसी ठोस चीज के साथ टकरायी और खोदने पर उसमें से एक चरू निकला। वह ऊपर तक अशर्फियों से भरा हुआ था।

स्थूल है। 'ओगल' का अर्थ है 'हाड़-मास' यानी जिस शरीर म 'हाड़-मास' आदि हो वह औदारिक। बाकी के शरीर म हाड मास नहीं होते।

जिस शरीर मे छोटे से बडा होने की और बड़े से छोटा होने की, अथवा मोटे से पतला होने की और पतले से मोटा होने की, अथवा एक रूप से अनेक रूप धारण करने की और अनेक रूप से एक रूप धारण करने की विक्रिया होती है वह वैक्रिय कहलाता है। देव और नारकियो को ऐसा शरीर जन्म से ही होता है, मनुष्य को वह लब्धि से प्राप्त होता है। औदारिक शरीर आत्मा से अलग हो जाने के बाद वैसी ही रह सकता है, जबकि वैक्रियक शरीर आत्मा से अलग हो जाने पर कपूर की तरह उड़ जाता है, बिखर जाता है।

चतुर्दश पूर्वधर* मुनि सूक्ष्म अर्थ का सन्देह निवारण के लिए केवली भगवत के पास जाने के लिए, अथवा तीर्थंकर की ऋद्धि देखने के लिए तीर्थंकर के पास भेजने के लिए विशुद्ध पुद्गलों से बने हुए जिस अव्याघाती शरीर को धारण करते है, वह **आहारक** कहलाता है।

जो शरीर खाये हुए आहार को पचाने म समर्थ है और तेजोमय है और उष्मा देनेवाला है, वह **तैजस** कहलाता है।

और, ज्ञानावरणी आदि आठ कर्मों का समूह जो आत्म प्रदेश से एक हुआ रहता है, वह **कार्माण्य** शरीर कहलाता है।

ये शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। यानी औदारिक से वैक्रिय सूक्ष्म है, वैक्रिय से आहारक सूक्ष्म है, आहारक से तैजस् सूक्ष्म है और तैजस् से कार्माण्य सूक्ष्म है।

संस्कारों का सचय और उनका सुधार

आत्मा शरीर द्वारा क्रिया करता है और उसके सस्कार उस पर पड़ते

*चौदह पूर्व, सूत्र और अर्थ को जाननेवाले चतुर्दश पूर्वधर कहलाते है। चौदह पूर्व बारहवें अग दृष्टिवाद का एक भाग था और उसमें अनेक गूढ विद्यायें थीं।

हैं, अर्थात् अच्छी क्रिया के अच्छे संस्कार पड़ते हैं और बुरी क्रिया के बुरे संस्कार पड़ते हैं। जो जिन मंदिर जाते हैं, देव-दर्शन करते हैं, सेवा पूजा करते हैं, सद्गुरु का समागम करते हैं, उनकी व्याख्यान-वाणी सुनते हैं, व्रतनियम करते हैं और अच्छी-अच्छी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते हैं, वे धार्मिक बनते हैं। और जो खाने पीने की बातों में ही व्यस्त रहते हैं, नयी-नयी भोग-सामग्री खोजते रहते हैं, नाटक-तमाशों में अपना समय बिताते हैं तथा शराबी, गॅजेड़ी या जुवारी मित्रों की संगत में फँसे हैं, वे अधर्मी बनते हैं। कहावत है कि, 'जैसा संग वैसा रंग।'

वस्तुपाल तेजपाल का दृष्टान्त

संयोगों से संस्कार सुधर भी सकते हैं। वस्तुपाल और तेजपाल पहले से उदार नहीं थे। पर, एक बार उन्हें सकुटुम्ब यात्रा पर जाना हुआ। सम्पत्ति बहुत थी, उसे कौन सँभालेगा? यह सोचकर अशर्फियों का चरू भरा और उसे साथ ले लिया। यात्रा में जहाँ जायें वहाँ उसे साथ रखें। पूजा करने जायें तो चरू देखकर जायें और पूजा करके आयें तो फिर देख लें। पूजा में भी ध्यान चरू में रहे। खाते-पीते, उठते बैठते, नहाते-धोते, हर समय चरू की चिन्ता रखें। उनकी माता संस्कारी थी। उससे यह सहन न हुआ। उसने कहा—"बेटो! घड़ी-घड़ी चरू में ध्यान रखते हो, तो यात्रा कैसे होगी? यात्रा में तो धर्म करना चाहिए। वह इस तरह नहीं होता, इस तरह तो मोह की वृद्धि हो रही है।"

पुत्र विनयी थे। उन्होंने कहा—'तो इस चरू का क्या करें?' माता ने कहा—'उसे कूड़े वाले स्थान में गाड़ दो, लौटते समय वहाँ से ले लेना।" माता के इस वचन को मान कर, रात के समय दोनों भाई उस चरू को गाड़ने गये। वहाँ जरा जमीन खोदी तो कुदाली किसी ठोस चीज के साथ टकरायी और खोदने पर उसमें से एक चरू निकला। वह ऊपर तक अशर्फियों से भरा हुआ था।

वे दोनों चरुओं को माता के पास ले गये। माता को लगा कि उपाधि बड़ी। उसने पूछा—"बेटो! यह चरू किसका है?" पुत्रों ने कहा—'उसके मालिक की खबर नहीं है।' माता ने कहा—'जैसे इसका धनी इसे छोड़ गया, वैसे ही तुम्हें भी इसे छोड़ जाना पड़ेगा या नहीं?" पुत्र इस वचन का मर्म समझ गये। उन्होंने वह चरू जमीन में नहीं गाड़ा, बल्कि उसके धन को खुले हाथों सुकृत में लुटानी शुरू कर दी और भी बहुत-सा धन अच्छे कामों में खर्च करके दानेश्वर कहलाये। तात्पर्य यह कि, निमित्त मिलने पर मनुष्य के संस्कारों में परिवर्तन हो सकता है।

संस्कार से स्वभाव बनता है और स्वभाव के अनुसार प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार बालकों के पृथक्-पृथक् स्वभाव और भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों का रहस्य पूर्वजन्म के संस्कारों में है। इस तरह की युक्ति से भी पुनर्जन्म सिद्ध होता है।

पुनर्जन्म का हाल सुनानेवाले मिलते हैं

अब आइये अनुभूति पर! इस जगत में प्रत्येक काल मे ऐसे अनेक मनुष्य मिलते रहे है, जिन्हें कि पूर्वभव का ज्ञान होता है। आधुनिक युग में भी ऐसे उदाहरण देखने में आते है और वे समाचारपत्रों में प्रकट होते रहते हैं। आप में से बहुतों ने उन्हें पढ़ा होगा।

प्रश्न—पर ऐसे उदाहरण कितने हैं?

उत्तर—ऐसे उदाहरण भले ही लाखों मे दो-चार हों, पर वे पुनर्जन्म को सिद्ध करते है। इसलिए उनकी महत्ता बहुत है। ऐसा एक उदाहरण मुझे याद है, आपको सुनाते हैं —

पाटन के पास चाणस्मा नामक एक गाँव है। वहाँ एक लड़के को पूर्वभव का ज्ञान हुआ। उसने कहा—"मैं पूर्वभव में पाटन नगर के अमुक मुहल्ले में रहता था। मेरा नाम केवलचन्द था।" इस बात की

पुष्टि करने के लिए लोग उसे पाटन ले गये। वहाँ उसने अपने घर का रास्ता बतलाया और घर भी पहचान कर बता दिया। और, उसकी जो जो निशानियाँ बतायीं वे भी सब मिलती गयीं। वहाँ उसके लड़के का लड़का मणिलाल नाम का था, उसे भी उसने पहचान लिया।

इस प्रकार अनुभूति से भी पुनर्जन्म की बात को सबल समर्थन मिलता है। इसलिए, पुनर्जन्म के सिद्धान्त में कोई शंका नहीं रखनी चाहिए।

पाँचवाँ व्याख्यान

आत्मा की अखण्डता

महानुभावो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवें अध्ययन का आत्मा का विषय आगे चलता है। आज आत्मा की अखण्डता के विषय में विवेचन करना है। इस विषय को पसन्द करने का कारण यह है कि, आत्मा की अमरता और आत्मा की अखण्डता का निकट सम्बन्ध है। अगर आत्मा की अखण्डता दिल में न बसी, तो आत्मा की अमरता भी दिल में नहीं बसनेवाली है; और आत्मा की अमरता दिल में न बसी तो स्थिति चार्वाकों-जैसी ही होगी। अगर आत्मा रहनेवाला नहीं है, तो पाप-पुण्य का फल किसको भोगना है ? और, पाप-पुण्य का फल न भोगना हो, तो उसका विवेक करने का क्या प्रयोजन है ? इसलिए, आत्मा नित्य है, अमर है, यह बात अंतर के अणु-अणु में बैठाने की आवश्यकता है। उसकी पुष्टि के लिए ही आज यह विषय चुना गया है।

अखण्ड की व्याख्या

"'अखण्ड' किसे कहते हैं ?"—पहले यह विचार लें। जिसके 'खण्ड' अर्थात् टुकड़े न हो सकें, उसे 'अखण्ड' कहते हैं। विशेष रूप से कहें तो जिस वस्तु के एक, दो, तीन या न्यूनाधिक रूप में, परिमाण में, आकार में या अन्य सभाव्य प्रकारों में किसी भी क्रिया से टुकड़े न हो सकें, उसे 'अखण्ड' कहते हैं।

आत्मा सदा अखण्ड रहता है।

वस्त्रादि कालान्तर मे फटते है, टूटते है और उनके खण्ड खण्ड हो जाते हैं। वस्त्रादि बिलकुल नये हों और उनके टुकड़े करना चाहें तो चीर-कर, फाड़कर या तोड़कर कर सकते है। पर, आत्मा की स्थिति इनसे भिन्न है। चाहे जितना समय गुजर जाये, उसका कोई प्रदेश* टूटता नहीं है, विलग नहीं होता और न उसके स्वरूप में कोई कमीबेशी होती है। उस पर चाहे जैसी क्रिया की जाये या चाहे जैसा प्रयोग किया जाये तो भी उसके खण्ड या टुकड़े नहीं होते। **"नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावक"** आदि वचन उसकी इस अखण्डता, अमरता के कारण ही कहे गये हैं। इसका अर्थ यह समझना है कि, आत्मा भूतकाल में अखण्ड था, वर्तमान काल में भी अखण्ड है और भविष्य में भी वह अखण्ड ही रहेगा।

आप कहेंगे कि, 'हाथी के शरीर में रहनेवाला आत्मा जब चींटी के शरीर में प्रवेश करता होगा, तब क्या होता होगा? हाथी का शरीर बहुत बड़ा होता है और चींटी का शरीर बहुत छोटा होता है, इसलिए हाथी के शरीर में रहनेवाला आत्मा जब तक खड रूप न बने, तब तक कीड़ी के शरीर में कैसे प्रविष्ट हो सकता है?' परन्तु, ऐसा प्रश्न आत्मा का स्वरूप न समझने के कारण ही मन में उठता है।

आत्मा संकोच-विस्तार-गुणधारी है

आत्मा—जैसे अखड है, वैसे सकोच-विस्तार-गुणधारी भी है। इसलिए, बड़े और छोटे सब शरीरों में उसकी अवगाहना के अनुसार व्याप्त रहता है अर्थात् हाथी के शरीर में रहनेवाला आत्मा जब चींटी के शरीर में प्रवेश करता है, तब सकुचित हो जाता है, पर वह खण्डित होकर छोटा

* आत्मा के अति सूक्ष्म अंश को प्रदेश कहते हैं।

नहीं बनता। एक वस्त्र की घड़ी करके उसको छोटा बनायें तो वह उसका 'संकोच' क्रिया कहलायेगा, और उसको फाड़कर छोटा बनायें तो उसके खण्ड करना अथवा उसका खण्डन करना कहलायेगा। 'संकोच' और 'खण्डन' का यह अन्तर अब आपके लक्ष में बराबर आ गया होगा।

'संकोच' और 'विस्तार' का गुण समझने के लिए दीप-प्रकाश का दृष्टान्त उपयोगी है। एक दीप को ४०×४० फुट के कमरे में रखा हो तो उसका प्रकाश उतनी जगह में व्याप्त होकर रहता है, २०×२० फुट के कमरे में रखा हो तो उसका प्रकाश उतनी जगह में व्याप्त होकर रहता है और १०×१० फुट के कमरे में रखा हो तो उसका प्रकाश उतनी जगह में व्याप्त होकर रहता है।

आत्मा देहपरिमाण है

आत्मा देह के परिमाण के अनुसार व्याप्त होकर रहता है, इसलिए 'देहपरिमाण' कहलाता है।* आत्मा के गुण देह से बाहर नहीं जान पड़ते, इसलिए उसे देह से अधिक परिमाणवाला नहीं माना जा सकता। अगर आत्मा को देह से अधिक परिमाणवाला मानें, तो वहाँ सुख-दुःख का अनुभव किस तरह होगा? और, सुख-दुःख का अनुभव न हो तो कर्म का भोक्तृत्व कहाँ रहा? अगर कर्म का भोक्तृत्व न हो, तो कर्तृत्व का भी क्या अर्थ? इस तरह आत्मा को देह से अधिक परिमाणवाला मानने से अनेक आपत्तियाँ आती हैं।

---

* आत्मा 'देहपरिमाण' है ऐसी मान्यता उपनिषदों में भी मिलती है। कौषीतकी उपनिषद् में कहा है कि, जैसे छुरी अपने म्यान में, जैसे अग्नि अपने कुंड में व्याप्त है, उसी तरह आत्मा शरीर में नख से शिख तक व्याप्त है। तैत्तिरीय-उपनिषद् में आत्मा को अन्नमय-प्राणमय-मनोमय विज्ञानमय कहा गया है, वह शरीर परिमाण मानने पर ही घट सकता है।

कुछ लोग आत्मा को देह से सूक्ष्म परिमाणवाला मानते हैं। वे कहते हैं—"आत्मा तो मात्र चावल या जौ के दाने के बराबर है," "मात्र अरीठा जितना है," "मात्र बेंत जितना है" आदि। लेकिन, अगर आत्मा इस तरह देह से सूक्ष्म हो, तो प्रश्न होगा कि वह रहता कहाँ है? अगर यह कहा जाये कि, वह हृदय में रहता है, तो बाकी के भाग में सुख-दुःख का संवेदन कैसे होता है? कोई हाथ पैर में सुई चुभोये तो तुरत दुःख होता है और चन्दनादि का लेप करे तो सुख उपजता है। इसलिए कहना होगा कि, आत्मा देह से अधिक परिमाणवाला भी नहीं है और सूक्ष्म परिमाणवाला भी नहीं है, बल्कि देह जितने ही परिमाणवाला है।

एक श्रोता यहाँ प्रश्न करता है कि, "रबर को अति अधिक खींचे तो उसके टुकड़े हो जाते हैं, उसी तरह आत्मा किसी बहुत बड़े शरीर में जाये और बहुत विस्तार पाये तो उसके टुकड़े हो जायेंगे या नहीं?" इसका उत्तर यह है कि, 'आत्मा की शक्ति चौदह राजलोक[1] पर्यन्त व्याप्त हो सकने योग्य है, इसलिए चाहे जितने बड़े शरीर में व्याप्त होने पर भी उसके टुकड़े नहीं होते, खंड नहीं होते।'

एक दूसरा श्रोता प्रश्न करता है—"शरीर की अधिक-से अधिक अवगाहना १००० योजन से कुछ ज्यादा होती है[2], इसलिए आत्मा को ज्यादा

---

[1] लोक का माप चौदह रज्जु है, इसलिए उसे चौदह राजलोक कहा जाता है। एक निमिष में लाख योजन जानेवाला देव ६ महीने में जितनी दूरी तय करे, उसे एक 'रज्जु' या एक 'राज' कहते हैं। पदार्थों की गति में, ग्रहों आदि की दूरी मापने में आधुनिक वैज्ञानिक भी प्रकाश-वर्ष आदि उपमानों का इसी तरह उपयोग करते हैं।

[2] जोयण सहस्समहियं, एगिंदियदेहमुक्कोस ॥ २९१ ॥

—श्री बृहत्संग्रहणीसूत्र

एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट देहमान हजार योजन से कुछ अधिक होता है। यह अवगाहना उतने गहरे जलाशय में कमल आदि की मानी गयी है।

में ज्यादा १००० योजन से कुछ अधिक फैलने का प्रसग आयेगा, पर चौदह राजलोक जितना तो कोई शरीर नहीं है, इसलिए उसे इतने विस्तार में फैलने का प्रसग कैसे आयेगा ? और, अगर ऐसा प्रसग न आये तो आत्मा की शक्ति चौदह राजलोक म व्याप्त हो जाने योग्य है, यह कैसे जाना जायेगा ?"

इसका उत्तर यह है कि, शरीर की बड़ी से-बड़ी अवगाहना १००० योजन से कुछ ज्यादा होती है, यह ठीक है, पर जब आत्मा को केवली-समुद्घात[1] करने का प्रसग आता है, तब आत्मप्रदेश शरीर के बाहर निकलते ही वह चौदह राजलोक पर्यन्त व्याप्त हो जाती है। वह इस प्रकार है—अगर सर्वज्ञ केवली भगवन्त को नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन कर्मों की स्थिति अपने आयुष्यकर्म की स्थिति से अधिक भोगनी बाकी हो, तो वह केवली भगवत उक्त तीनों कर्मों की स्थिति को आयुष्यकर्म की स्थिति के बराबर बनाने के लिए अपने आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर पहले समय में लोकान्त यानी लोक के निचले सिरे से ऊपर के सिरे तक चौदह राजलोक परिमाण ऊँचा और स्वदेह परिमाण मोटा दडाकार रचते है, दूसरे समय में पूर्व-से पश्चिम अथवा उत्तर-से-दक्षिण लम्बा लोकान्त तल कपाटाकार बनाते है, तीसरे समय में उत्तर-से-दक्षिण अथवा पूर्व-से-पश्चिम आत्मप्रदेशों को लम्बायमान कर दूसरा कपाटाकार यानी मथानी के आकार (चार पखवाली मथनी के आकार) का बनाते है, चौथे समय चार अन्तरालों को पूरते है, इस प्रकार उन केवली भगवन्त

---

[1] समुद्घात में आत्मप्रयत्न और कर्म की उदीरणा मुख्य होती है। (उदय म न आये हुए कर्मों को खींचकर भोग लेने को उदीरणा कहते हैं।) वह सात प्रकार का होता है—(१) वेदना, (२) कषाय, (३) मरण, (४) वैक्रिय, (५) तैजस, (६) आहारक और (७) केवली। इनमें पहला ६ प्रकार का छद्मस्थ जीवों को, प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त होता है और अतिम सर्वज्ञों को, समय परिमाण होता है। इस समुद्घात का विशेष स्वरूप दडक आदि में से जाना जा सकता है।

का आत्मा स्वात्मप्रदेशों द्वारा सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है, क्योंकि एक आत्मा के प्रदेश लोकाकाश के बराबर हैं।

उसके बाद पाँचवें समय में, अन्तराल मे पूर्व समय में पूरे हुए आत्म-प्रदेशों का संहरण होता है, छठे समय मथान के अर्द्ध भाग के आत्मप्रदेशों का संहरण होता है, सातवें समय मे कपाट का संहरण कर लेते हैं और आठवें समय में दण्डाकार प्रदेशो का संहरण कर लेते हैं और तब आत्मा पूर्ववत् सम्पूर्ण शरीरस्थ हो जाता है। यह केवली-समुद्घात पूर्ण हो जाने पर केवली भगवत अन्तर्मुहूर्त जी कर मन वचन काया का निरोध कर मोक्ष-गामी बनते है।

एक शरीर में आत्मा कितनी ?

अब यह जान लेना जरूरी है कि, एक शरीर में एक आत्मा भी रहती है और अनन्त आत्माएँ भी रहती हैं। अपने शरीर में और गाय-भैंस घोड़ा-हाथी के शरीर में भी एक आत्मा होती है। मछली-मेंढक-पतंगा-कुत्ता-कीड़ी मकोड़ा आदि के शरीर में भी एक आत्मा होती है। उसी तरह प्रत्येक वनस्पति में जड़, पत्ते, बीज, छाल, लकड़ी, फल आदि अंगों में एक आत्मा होती है, परन्तु साधारण वनस्पति में एक शरीर म अनन्त आत्माएँ होती है। वहाँ उसका माप अँगुल का असंख्यातवाँ भाग होता है।

'इतनी आत्माएँ एक साथ कैसे रहती होंगी ? वे आपस में टकराती होंगी या नहीं ? परस्पर संघर्ष होता होगा या नहीं ? वे एक दूसरे के असर से खंडित होती होंगी या नहीं ?' आदि प्रश्न आपके मन में उठते होंगे। उनका अभी समाधान करेंगे। जैसे एक कमरे में अनेक दीपकों का प्रकाश साथ रह सकता है, वैसे ही एक शरीर में अनन्त आत्माएँ साथ रह सकती हैं। इन दीपकों के प्रकाश एक ही कमरे में साथ रहते हुए भी जैसे परस्पर टकराते नहीं हैं, परस्पर संघर्ष नहीं करते, एक दूसरे

से खंडित नहीं होते, उसी तरह एक शरीर में अनन्त आत्माएँ साथ रहती हुई भी परस्पर टकराती नहीं, परस्पर संघर्ष नहीं करती, एक दूसरे से खंडित नहीं होती।

कोई यह कहे कि, ये आत्मा पानी में नमक की तरह घुल जाती हैं या एक दूसरे में लय हो जाती होंगी, इसीलिए एक दूसरे से टकराती न होंगी या संघर्ष न करती होंगी, तो यह कहना उचित नहीं है। दीपक के विविध प्रकाश साथ रहते हुए भी, जैसे अपना व्यक्तित्व बनाये रखते हैं, उसी तरह अनन्त आत्मा साथ रहते हुए भी अपना व्यक्तित्व कायम रखती है।

'दीपक का प्रकाश किस प्रकार अपना व्यक्तित्व बनाये रखता है ?' यह पूछा जाये तो कहते हैं, कि इन दीपकों में से किसी भी दीपक को बाहर ले जाया जाये, तो उसका प्रकाश भी उसके साथ ही बाहर निकल जायेगा। तात्पर्य यह कि, अनेक दीपकों के साथ रहते हुए भी वह अपना मूल प्रकाश खोता नहीं है, अपना व्यक्तित्व छोड़ता नहीं है।

देव अपनी शक्ति से अनेक जाति के रूप बना सकते हैं, यह सब जानते हैं। मानो कि, उन्होंने इस लोक में एक रूप बनाया, तो वे अपनी आत्मा का एक खंड या टुकड़ा उसमें नहीं रखते, बल्कि अपने आत्म-प्रदेशों को वहाँ तक लम्बायमान करते हैं। इन प्रलम्बित आत्मप्रदेशों को किसी की टक्कर नहीं लगती, या अग्नि, वायु, जल आदि का उपघात नहीं होता, कारण कि स्वभाव से वह अखंड और अरूपी है।

जिस जमाने में सूक्ष्मदर्शक यंत्र नहीं थे, दूरदर्शक यंत्र नहीं थे, उस जमाने में यह सब कहा गया है, सो कैसे कहा गया होगा ? सर्वज्ञ-भगवंतों ने अपने ज्ञान से जो देखा सो हम कहा है और वह परम सत्य है। आजके विज्ञान ने इस विषय में कुछ चक्षुपात किया है, पर वह जैन-शासन द्वारा दिये हुए ज्ञान को नहीं पहुँच सका। जैन-शासन में भव्य तत्त्वज्ञान के उपरान्त गणित, खगोल, भूगोल,

इतिहास आदि का खजाना भरा हुआ है। इटालियन विद्वान् डॉक्टर टैसीटोरी ने ठीक ही कहा है—"आधुनिक विज्ञान ज्यों ज्यों आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों जैन सिद्धान्तों को ही साबित करता जाता है।"

लोकाकाश

एक आत्मा का प्रदेश लोकाकाश के बराबर हैं, यह ऊपर कहा गया है, इसलिए यहाँ लोकाकाश के सम्बन्ध में भी स्पष्ट कर लें। आकाश यानी अवकाश (स्पेस)! इस बारे में किसी का भी मतभेद नहीं है। आज के विज्ञान ने भी उसकी अनन्तता मानी है। इस अनन्त आकाश के जितने भाग में लोक व्यवस्थित हुआ है, उसे 'लोकाकाश' कहा जाता है। और, शेष आकाश को 'अलोकाकाश' कहा जाता है, अर्थात् कि वहाँ आकाश के सिवाय और कोई वस्तु नहीं है।

लोक का सामान्य परिचय

'लोक' किसे कहा जाये? अथवा उसमें क्या होता है? इसका उत्तर श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाईसवें अध्ययन में इस प्रकार दिया गया है

धम्मो अहम्मो आगास, कालो पुग्गल-जंतवो।
एस लोगोत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहि॥

—१ धर्म, २ अधर्म, ३ आकाश, ४ काल, ५ पुद्गल और ६ आत्मा इन ६ द्रव्यों के समूह को श्रेष्ठ दर्शन वाले सर्वज्ञ-सर्वदर्शी जिनेश्वर-भगवंतों ने लोक कहा है।

तात्पर्य यह है कि हम जिसे लोक, विश्व, ब्रह्माण्ड, जगत् या दुनिया (यूनिवर्स) कहते हैं, उसम मूल द्रव्य ६ हैं (१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) काल, (५) पुद्गलास्तिकाय और (६) जीवास्तिकाय। पाँच शब्दों को अस्तिकाय शब्द लगाने का कारण यह है कि, उनमें 'अस्ति' अर्थात् प्रदेशों का, 'काय' अर्थात् समूह

होता है। काल को अस्तिकाय न कहने का कारण यह है कि, भूतकाल तो नष्ट हो चुका है और भविष्य काल अविद्यमान है, और वर्तमानकाल तो समय मात्र है, इसलिए उसमें प्रदेशो का समूह सभव नहीं हो सकता।

आत्मा का स्वरूप अच्छी तरह समझने के लिए, द्रव्यो का यह सामान्य परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। इसलिए, अब हम तत्सम्बन्धी कुछ विवेचन करेंगे।

(१) धर्मास्तिकाय अर्थात् गति सहायक द्रव्य ! वह सकल लोकाकाश म व्याप्त है और पदार्थों की गति करने में सहायता करता है। जैसे मछली मे तैरने की शक्ति होने पर भी वह जल बिना नहीं तैर सकती, उसी तरह पुद्गल और आत्मा गति करने मे समर्थ होते हुए भी धर्मास्तिकाय की सहायता बिना गति नहीं कर सकते।

(२) अधर्मास्तिकाय अर्थात् स्थिति सहायक द्रव्य ! वह भी सकल लोकाकाश में व्याप्त है और पदार्थों को स्थित होने म सहायता करता है। जैसे यात्री में स्थिर होने की शक्ति होने पर भी, वह वृक्ष की छाया बिना स्थिर नहीं हो सकता, वैसे ही पुद्गल और आत्मा स्थिर होनेमे समर्थ होते हुए भी अधर्मास्तिकाय की सहायता बिना स्थिर नहीं हो सकते।

पहले बहुत से दार्शनिक इस धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के निरूपण के विषय में जैन-दर्शन का मजाक उड़ाते थे। पर, आधुनिक विज्ञान ने 'ईथर' का आविष्कार किया और ध्वनि आदि की गति म उनकी उपयोगिता स्वीकार की तो उनके मुँह उतर गये। तात्पर्य यह कि, गति-सहायक और स्थिति-सहायक द्रव्यो का ख्याल सबसे पहल जैन-दर्शन ने दिया है और वह सच्चा है।

(३) आकाशास्तिकाय के बारे म पहले कह चुके है।

(४) काल ! किसी भी वस्तु की वर्तना का विचार इस द्रव्य के कारण

आता है। यह वस्तु थी, यह वस्तु है, यह वस्तु होगी, यह सब काल के आधार से ही कहा जाता है।

(५) पुद्गलास्तिकाय अर्थात् पूरण और गलन स्वभाववाला अणु और स्कन्ध रूप वर्णादि से युक्त द्रव्य। पूरण अर्थात् इकट्ठा होना और गलन अर्थात् अलग होना। वर्णादि यानी वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और शब्द[1] तात्पर्य यह कि, जो द्रव्य इकट्ठा भी हो सकता है, अलग भी हो सकता है, तथा जिसको रूप होता है, वास होती है, स्वाद होता है, स्पर्श होता है तथा जिससे शब्द यानी ध्वनि (साउंड) उत्पन्न होती है, उसे 'पुद्गल-द्रव्य' (मैटर) समझना चाहिए।

ये पाँचो द्रव्य जड़ अर्थात् चेतनारहित हैं और छठा द्रव्य आत्मा चैतन्ययुक्त है। इस आत्मा के सम्बन्ध में हमें काफी विवेचन करना है, परन्तु यहाँ प्रसंगवश इतना बता दें कि, आत्मा को फँसानेवाला पुद्गल है।

आत्मा को फँसानेवाले पुद्गल हैं

अच्छा शब्द, अच्छा रूप, अच्छी गंध, सुन्दर भोजन, प्रिय स्पर्श आत्मा को फँसाते हैं। खराब, कड़वी या दुर्गंधपूर्ण वस्तु आत्मा को फँसा नहीं सकती। आपको कोई कठोर स्पर्शवाली खाट पर सुलावे, तो सोयेंगे क्या? सुकुमारी की बात तो बहुत मशहूर है ही। धनवान की पुत्री होते हुए भी वह कुरूप थी। उसके साथ शादी करने को कोई तैयार नहीं था। अरे! उसके नजदीक जाने के लिए भी कोई राजी नहीं था। आखिर वनिक पिता ने उसे एक रास्ते चलते भिखारी के साथ ब्याह किया। उस भूखे, बेहाल, घरबारहीन, भटकते भिखारी को सेठ ने धन

१—सद्दंधयार उज्जोओ, पहा छायाऽऽतवेइ वा।
वण्ण रसगंध-फासा, पुग्गलाण तु लक्खणं॥

—श्री उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २८

'शब्द, अंधकार, प्रकाश, कांति, छाया, आतप, वर्ण, रस, गंध और स्पर्श ये पुद्गल का लक्षण है।'

दिया, मकान-मिल्कियत दी, सुन्दर जरी के वस्त्र पहनाये, पर जब वह सुकुमारी से मिला, तब उसका अत्यन्त अनिष्ट स्पर्श क्षण भर के लिए भी न सह सका और सब छोड़कर भाग गया।[1]

इन्द्रियाँ चपल घोड़ों के समान हैं। उनके बहकाये मे तो आप कहाँ-से-कहाँ पहुँच जायेंगे। उन्हे तो जिनेश्वर के आदेशरूपी डोरे म बाँध रखेंगे तभी ठिकाने लगेंगी। जो इन्द्रियों के विषय में ललचाया उसे डूबा समझिए। उनसे दूर भागना ही अच्छा है।

इन्द्रियों के सुख गुड़-राब सरीखे है और आत्मिक सुख बर्फी-पेड़ा-सरीखे है। इस पर एक दृष्टान्त सुनिये।

सेठ और जाट का दृष्टान्त

मारवाड का एक व्यापारी सेठ सुसराल जाने के लिए निकला। सुसराल पाँच कोस दूर थी। सुबह चलना शुरू किया। दस बजे ढाई कोस पहुँचा। अब सर पर धूप और नीचे गरम रेती थी। इस मरुभूमि में आक और कैर के छोटे-छोटे पेड़ों के सिवाय कोई पेड़ दिखायी नहीं देगा। आक की छाया तो उसी में समा जाती है। सेठ उलझन में पड़ा। आगे कैसे चला जाये? उसने पीछे देखा तो एक जाट की गाड़ी चली आ रही थी। उसे खड़ी करके सेठ ने पूछा—"कहाँ जाना है?" उसने जवाब दिया—"अगले गाँव"। सेठ ने कहा—"मै थक गया हूँ, अपनी गाड़ी मे बैठने दोगे?"

जाट ने भी सेठ की इस स्थिति का लाभ लेते हुए पूछा—"क्या दोगे?" "तुझे क्या चाहिए?" सेठ ने पूछा जाट ने इशारे से कहा—"खाना!" सेठ तो जमाई के तौर पर जानेवाला था, इसलिए उसने 'हाँ' कह दी। उसने कहा—"छाछ-रोटी नहीं चलेगी। गुड़राब दो तो ले चलूँ।'

१—द्रौपदी पूर्व भव म सुकुमारिका नाम की धनिक-पुत्री थी। उसीकी यह कथा है।

सेठ जानता था कि जँवाई को दूधपाक मिल सकती है, खड़ी भी मिल सकती है, जो पकवान-मिष्टान चाहिए सो मिल सकते हैं, लेकिन सुसर के घर में गुड़-राब नहीं मिलने का, क्योंकि वह गरीब लोगों का मिष्टान्न है। इसलिए उसने कहा—"गुड़राब से भी अच्छा खाना देंगे।" लेकिन जाट ने कहा "नहीं, सेठ! इस जगत में उससे अच्छा कुछ नहीं है। मुझे तो गुड़-राब चाहिए। अगर उसके लिए तैयार हो तो बैठने दूँ, नहीं तो मैं यह चला।"

सेठ ने वक्त देख कर उसकी शर्त स्वीकार कर ली। इस तरह गाड़ी में बैठकर सेठ सुसराल आया। सेठ के साथ जाट का भी सत्कार हुआ। सेठ को नहलाया धुलाया, साथ ही उस जाट को भी नहलाया-धुलाया। पर, उसे चैन नहीं पड़ती थी। उसका मन तो गुड़ राब में ही भरा हुआ था, लेकिन यह सेठ की सुसराल है, इसलिए बोला नहीं जा सकता, इतना वह समझता था।

दोनों को जीमने बिठाया। बर्फी, पेड़ा और दूसरे अनेक प्रकार के व्यञ्जन परोसे गये, पर वह गुड़राब न आयी। जब सब चीजें परोसी जा चुकीं, तो सालों ने सेठ से कहा—"जीमना शुरू कीजिए।" उस वक्त सेठ ने जाट के सामने देखा और इशारे से जीमना शुरू करने के लिए कहा, तब जाट ने इशारे से उलट कर पूछा "गुड़-राब कहाँ है?" सेठ ने इशारे से कहा कि—"वह अभी आयेगी, तू खाना तो शुरू कर।"

इससे जाट खीजने लगा। वह मन में विचार करने लगा कि 'बारह बजे तक मुझे भूखा बिठाये रखकर अब यह धूल और ढेले देता है और शर्त के अनुसार गुड़-राब नहीं देता, इसलिए इसे देख लूँ जरा।'

सेठ वस्तुस्थिति को ताड़ गया। लेकिन, सालों के सामने कुछ बोला नहीं जा सकता था। अब सालों को दूसरे कमरे में भेजने के लिए सेठ ने मुँह में ग्रास रखा। मारवाड़ का रिवाज है कि मेहमान जीमना शुरू कर दे, उसके बाद ही दूसरे जीम सकते हैं। सेठ ने जीमना शुरू कर दिया,

यह जानकर साले दूसरे कमरे में जीमने के लिए चले गये। खुद को भूखा रखकर सेठ ने जीमना शुरू कर दिया, यह देखकर जाट का सिर फिर गया। जाट तो जाट ही है। उसने फेंट बाँधी और हाथ में डाँग ली, और सेठ के पास आकर बोला—"तुमने झूठा वायदा किया और शर्त तोड़ी है, इसलिए उसका फल चखने के लिए तैयार हो जाओ।'

सेठ भी कच्ची गोलियाँ खेले हुए नहीं था। वह जानता था कि, इस गँवार ने अभी तक बर्फी-पेड़ा का स्वाद नहीं लिया, इसलिए 'गुड़-राब, गुड़-राब' रट रहा है। पर, एक बार उसका स्वाद चखेगा तो सब भूल जायेगा। इसलिए वह उठा और जाट की थाली में से बर्फी का एक बड़ा टुकड़ा लेकर जाट की गरदन पकड़ कर उसके बोलने के लिए खुले हुए मुँह में ठूँस दिया। अब जाट उस टुकड़े को मुँह में से बाहर निकालने की कोशिश करे, उससे पहले तो उसका स्वाद उसकी जीभ को लग गया था। इसलिए, उसका गुस्सा ठंडा पड़ गया और वह समझदार आदमी की तरह अपनी जगह बैठ गया। सेठ भी अपनी जगह बैठ गया।

सेठ ने अभी दो-तीन ग्रास गले उतारे होंगे कि, वहाँ उस जाट की थाली में परोसा हुआ सब खत्म! सेठ ने सब चीजें दूसरी बार मँगायीं और खुद थोड़ा-बहुत जीमा, लेकिन जाट की थाली फिर खत्म! इस तरह सेठ जीमा तब तक जाट चार थाली भरकर मिठाई सफाचट कर गया! अब वह सेठ पर बहुत खुश था। उसने अपनी मूँछ मरोड़ते हुए कहा—"सेठ! अब जब भी तुमको सुसराल आना हो तो मेरे गाँव कहलवा देना, तो मैं गाड़ी जोतकर आधी रात को भी चला आऊँगा और तुमको सुसराल अच्छी तरह पहुँचा दूँगा।"

सेठ पर जाट की इस कृपा-दृष्टि का कारण उत्तम प्रकार की मिठाइयों का लाभ था।

आत्मा का भी ऐसा ही है। उसने दुनियवी सुखों की गुड़-राब का स्वाद तो लिया है, पर आत्मिक सुखों की मिठाइयों का स्वाद नहीं

लिया। उसे अगर सेठ-सरीखा कोई गुरु मिल जाये और आत्मिक सुख का स्वाद लगा दे तो फिर वह उन दुनियवी सुखों की गुड़-राब की तरफ देखे भी नहीं। कारण कि वे सुख उसे बरबाद करनेवाले हैं, दुर्गति में ले जानेवाले हैं।

जिस चीज का रस लगना चाहिये, वह न लगे यही तो 'उपाधि' है। आपको अच्छा-अच्छा खाने का, पहनने का, अच्छी जगह में रहने का, संसार माँडने का रस लगता है, पर रस तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी तीन रत्नों का लगना चाहिये।

गुरु ऐसा रस लगाने के लिए सूत्र सिद्धान्त का व्याख्यान करते हैं और तत्त्वज्ञान का विषय परोसते हैं, उस समय भाग्यशालियों की हालत कैसी होती है, सो देखो।

निद्रा की छातीपर चढ़ बैठनेवाले सेठ का दृष्टान्त

गुरु महाराज का व्याख्यान चल रहा था। उस समय एक सेठ को आने में सहज देर हो गयी, लेकिन नेता होने के कारण उन्हें आगे बिठाया गया। तब तक काफी विषय चल चुका था और तत्त्वज्ञान की सूक्ष्म बातें छन रही थीं, इसलिए सेठ उन्हें नहीं समझ सके। उनकी आँखें नींद से घिरने लगीं। यह देखकर गुरु महाराज ने पूछा—'क्यों सेठ! ऊँघते हो?'

सेठ जरा विनोदी थे। उन्होंने कहा 'गुरुदेव! मैं ऊँघता नहीं हूँ, पर निद्रा देवी आने के लिए तैयारी कर रही है, इसलिए मैं आँख के दरवाजे बन्द कर रहा हूँ।'

व्याख्यान आगे चला और सेठ झोंके खाने लगे। यह देखकर गुरु महाराज ने फिर पूछा—"क्यों सेठ! झोंके खाते हो?" तब सेठने कहा—"गुरुदेव! मैं झोंके नहीं खा रहा, पर निद्रा देवी मुझसे पूछती है कि मैं अन्दर आ जाऊँ? तो मैं उससे कह रहा हूँ कि आजा!"

यह जानकर साले दूसरे कमरे म जीमने के लिए चले गये। खुद को भूखा रखकर सेठ ने जीमना शुरू कर दिया, यह देखकर जाट का सिर फिर गया। जाट तो जाट ही है। उसने फेंट बाँधी और हाथ म डाँग ली, और सेठ के पास जाकर बोला—"तुमने झूठा वायदा किया और शर्त तोडी है, इसलिए उसका फल चखने के लिए तैयार हो जाओ।'

सेठ भी कच्ची गोलियाँ खेले हुए नहीं था। वह जानता था कि, इस गँवार ने अभी तक बर्फी-पेड़ा का स्वाद नहीं लिया, इसलिए 'गुड़-राब, गुड़-राब' रट रहा है। पर, एक बार उसका स्वाद चखेगा तो सब भूल जायेगा। इसलिए वह उठा और जाट की थाली में से बर्फी का एक बड़ा टुकड़ा लेकर जाट की गरदन पकड़ कर उसके बोलने के लिए खुले हुए मुँह में ठूँस दिया। अब जाट उस टुकड़े को मुँह म से बाहर निकालने की कोशिश करे, उससे पहले तो उसका स्वाद उसकी जीभ को लग गया था। इसलिए, उसका गुस्सा ठंडा पड गया और वह समझदार आदमी की तरह अपनी जगह बैठ गया। सेठ भी अपनी जगह बैठ गया।

सेठ ने अभी दो-तीन ग्रास गले उतारे होंगे कि, वहाँ उस जाट की थाली में परोसा हुआ सब खत्म! सेठ ने सब चीजें दूसरी बार मँगायीं और खुद थोड़ा-बहुत जीमा, लेकिन जाट की थाली फिर खत्म! इस तरह सेठ जीमा तब तक जाट चार थाली भरकर मिठाई सफाचट कर गया! अब वह सेठ पर बहुत खुश था। उसने अपनी मूँछ मरोड़ते हुए कहा—"सेठ! अब जब भी तुमको सुसराल आना हो तो मेरे गाँव कहलवा देना, तो मैं गाड़ी जोतकर आधी रात को भी चला आऊँगा और तुमको सुसराल अच्छी तरह पहुँचा दूँगा।"

सेठ पर जाट की इस कृपा-दृष्टि का कारण उत्तम प्रकार की मिठाइयों का लाभ था।

आत्मा का भी ऐसा ही है। उसने दुनियवी सुखों की गुड़-राब का स्वाद तो लिया है, पर आत्मिक सुखों की मिठाइयों का स्वाद नहीं

लिया। उसे अगर सेठ सरीखा कोई गुरु मिल जाये और आत्मिक सुख का स्वाद लगा दे तो फिर वह उन दुनियवी सुखों की गुड़-रान की तरफ देखे भी नहीं। कारण कि वे सुख उसे बरबाद करनेवाले हैं, दुर्गति में ले जानेवाले हैं।

जिस चीज का रस लगना चाहिये, वह न लगे यही तो 'उपाधि' है। आपको अच्छा-अच्छा खाने का, पहनने का, अच्छी जगह में रहने का, संसार माँडने का रस लगता है, पर रस तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी तीन रत्नों का लगना चाहिये।

गुरु ऐसा रस लगाने के लिए सूत्र सिद्धान्त का व्याख्यान करते हैं और तत्त्वज्ञान का विषय परोसते हैं, उस समय भाग्यशालियों की हालत कैसी होती है, सो देखो।

निद्रा की छातीपर चढ़ बैठनेवाले सेठ का दृष्टान्त

गुरु महाराज का व्याख्यान चल रहा था। उस समय एक सेठ को आने में सहज देर हो गयी, लेकिन नेता होने के कारण उन्हें आगे बिठाया गया। तब तक काफी विषय चल चुका था और तत्त्वज्ञान की सूक्ष्म बातें छन रही थीं, इसलिए सेठ उन्हें नहीं समझ सके। उनकी आँखें नींद से घिरने लगीं। यह देखकर गुरु महाराज ने पूछा—'क्यों सेठ! ऊँघते हो?'

सेठ जरा विनोदी थे। उन्होंने कहा 'गुरुदेव! मैं ऊँघता नहीं हूँ, पर निद्रा देवी आने के लिए तैयारी कर रही है, इसलिए मैं आँख के दरवाजे बन्द कर रहा हूँ।'

व्याख्यान आगे चला और सेठ झोंके खाने लगे। यह देखकर गुरु महाराज ने फिर पूछा—"क्यों सेठ! झोंके खाते हो?" तब सेठने कहा—"गुरुदेव! मैं झोंके नहीं खा रहा, पर निद्रा देवी मुझसे पूछती है कि मैं अन्दर आ जाऊँ? तो मैं उससे कह रहा हूँ कि आजा!"

सेठ के इस विनोद से वातावरण जरा हल्का हुआ और गुरु महाराज का व्याख्यान आगे चला। लेकिन, थोड़ी देर में सेठ ढुल्क पड़े, तो गुरु महाराज ने जरा ऊँची आवाज से पूछा कि—"क्यों सेठ! सो गये?" इससे सेठ हड़बड़ा कर जग गये और कहने लगे "गुरुदेव! मैं सो नहीं गया था, पर निद्रा देवी आ गयी, इसलिए उसकी छाती पर चढ़ बैठा था।"

इस जवाब से सब श्रोता हँस पड़े और गुरु महाराज को भी हँसी आ गयी।

जब तक तत्त्वज्ञान की बातों में रस नहीं पड़ता, तब तक ऐसा ही होता है। इसलिए, भाग्यशालियों को तत्त्व की बातों में रस लेना चाहिए। शास्त्रकारों ने कहा है कि **'बुद्धे फलं तत्त्वविचारणं च'**—बुद्धि का फल तत्त्व की विचारणा है। आप सब तत्त्व की बात में रस ले रहे हैं। यह आनन्द की बात है, पर अभी और रस लें और तत्त्व बोध पाकर पुरुषार्थ में लग जायें, यही हमारी भावना है।

छठाँ व्याख्यान

आत्मा की संख्या

महानुभावो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवें अध्ययन में से उद्‌भूत आत्मा का विषय चल रहा है। आप उसका नित्य श्रवण करके इस व्याख्या को सिद्ध कर रहे हैं कि **'शृणोति जिनवचनमिति श्रावक'**—जो जिन वचनों को गुरुमुख से सुने सो श्रावक ! लेकिन, एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल डालने को सच्चा श्रावक नहीं कहते। सुनने की भी रीति है। वह श्रावक शब्द के दूसरे अर्थ में बतायी गयी है। श्रावक शब्द का दूसरा अर्थ इस प्रकार है—श्रा यानी श्रद्धा, व यानी विवेक, और क यानी क्रिया से युक्त। जो इन तीनों से युक्त हो वह श्रावक। इसलिए, आप जो कुछ सुनें उसे श्रद्धापूर्वक सुनें—जिन-वचन अन्यथा हो ही नहीं सकते, ऐसे दृढ विश्वास से सुनें। उसमें यह निर्णय करते जाना विवेक है कि, यह जानने लायक है, यह आचरने लायक है, यह छोड़ने लायक है। और, आचरने योग्य को आचरण में लाना क्रिया है।

'जो एक को जानता है वह सबको जानता है', ऐसा ज्ञानी भगवन्त का वचन है, इसलिए आप एक आत्मा को अच्छी तरह जान लें।

आत्मा का अस्तित्व है, वह नित्य अर्थात् अजर-अमर है, कर्म का फल भोगने के लिए भिन्न-भिन्न योनियों में जन्मता है और हर दशा में अखण्डित रहता है। इतनी बात हम विस्तार से विचार कर चुके हैं। अब आत्मा की संख्या के सम्बन्ध में विचार करें।

कुछ लोग कहते है कि इस लोक में, विश्व में, एक ब्रह्म (आत्मा) है, दूसरा कुछ नहीं है। उनसे पूछें—"इस विश्व मे अकेला ब्रह्म ही हो तो ससार के प्रपच्च की प्रतीति किससे होती है ?" तो कहते हैं—'माया से'। इसका अर्थ तो यह हुआ कि, इस विश्व मे केवल ब्रह्म ही नहीं है, बल्कि माया नाम की एक दूसरी चीज भी है। 'यह माया कहाँ से आयी ?' यह पूछें तो कहते है—'अविद्या के प्रताप से'। 'यह अविद्या क्या है ?'—यह पूछे तो कहते हैं 'अज्ञान !' यह तो 'मरा नहीं कि फिर हुआ' जैसी बात है। माया कहो, अविद्या कहो या अज्ञान कहो, इससे परिस्थितियों में क्या फेर पड़ा ? एक ब्रह्म के अलावा दूसरी चीज माननी ही पड़ी। यह दूसरी चीज क्या है ? कैसे आयी ? कहाँ से आयी ? इसका वे स्पष्ट खुलासा नहीं कर सकते।*

अगर इस विश्व में एक ब्रह्म ही हो, तो सब जीवो के स्वभाव समान होने चाहिए, सब की प्रवृत्ति भी समान चाहिए, और सबको सुख दुःख का अनुभव भी एक-सा होना चाहिए। पर, हम देखते है कि जीवों का स्वभाव भिन्न भिन्न रूप का होता है। कोई उदार तो कोई कृपण, कोई

---

* आत्मा एक ही है ऐसा मत वेदान्तदर्शन का है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, उत्तरमीमांसा, आदि की मान्यता इससे भिन्न है। अगर आत्मा एक ही है तो ससार में प्रत्यक्ष दिखनेवाले अनेक जीवों का उसके साथ क्या सम्बन्ध है ? इसका स्पष्टीकरण जरूरी है। यह खुलासा करने का प्रयत्न ब्रह्मसूत्र के व्याख्यानकारों ने किया है। पर, उसमें एक मति कायम नहीं रखी गयी। शंकराचार्य ने उसका खुलासा मायावाद से करने का प्रयत्न किया, तो भास्कराचार्य ने सत्योपाधिवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत वाद पर जोर दिया, तो निम्बार्क ने द्वैताद्वैत यानी भेदाभेदवाद का समर्थन किया। मध्वाचार्य ने भेदभाव को स्वीकार किया, तो विज्ञानभिक्षु ने अविभागाद्वैत की घोषणा की। चैतन्य ने अचिन्त्य भेदाभेदवाद को प्राधान्य दिया, तो वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत मार्ग की प्ररूपणा की। इस मतभेद का विशेष वर्णन देखना हो तो श्री गोविन्दलाल ह० भट्ट कृत 'ब्रह्मसूत्राणुभाष्य' के गुजराती भाषान्तर की प्रस्तावना देखें।

शूरवीर तो कोई कायर, कोई परिश्रमी तो कोई आल्सी, कोई शात तो कोई उग्र। सब जीवों की प्रवृत्ति भी भिन्न-भिन्न होती है। कोई अध्ययन-अध्यापन करता है, तो कोई शस्त्रसज्ज होकर लड़ाई लड़ता है, कोई खेती करता है, तो कोई गोपालन करता है, कोई व्यापार करता है, तो कोई मजदूरी करता है। उसी तरह सबके सुख-दु ख का अनुभव भी भिन्न-भिन्न होता है। जब कि कुछ जीव गानतान में मस्त होकर आनन्द मनाते हैं, तो कुछ जीव करुण क्रन्दन करके अपना कष्ट प्रदर्शित करते हैं। कुछ साहित्य, सगीत और कला के द्वारा उच्च प्रकार का आनन्द मनाते है, तो कुछ गालीगलौज करके भारी कलह मचाते हैं और एक दूसरे को पीटकर दु ख उपजाते हैं। कुछ शरीर को सुन्दर वस्त्राभूषणों से सजाकर उत्सव में रगरेलियाँ करते हैं, तो कुछ भयकर रोगों के भोग बने बिस्तर पर पड़े पड़े कराहते रहते हैं। इस प्रकार जीवों का स्वभाव, प्रवृत्ति और सुख दु ख के अनुभव में बड़ी तरतमता दिखायी देती है।

अगर इस विश्व में एक ब्रह्म ही हो, तो सबकी उन्नति या अवनति साथ ही होनी चाहिए, लेकिन देखने में कुछ और ही आता है। एक जीव उन्नति के शिखर पर मालूम होता है, तो दूसरा उन्नति के मार्ग पर मालूम होता है, तीसरा अवनति की ओर प्रयाण करता होता है, तो चौथा अवनति के निम्न स्तर पर पहुँच गया होता है।

अगर इस विश्व में एक ब्रह्म ही व्याप्त हो, तो बध और मोक्ष-जैसी कोई वस्तु सभव न हो। जहाँ एक ब्रह्म हो वहाँ फिर बन्ध किसका हो? अगर बन्ध माने तो दूसरी वस्तु स्वीकार करनी पड़े। 'हाथ पर पट्टी बाँधी' ऐसा कहें तो हाथ और पट्टी ऐसी दो वस्तुएँ सिद्ध होती हैं या नहीं? उसी तरह जहाँ एक ब्रह्म ही हो वहाँ मोक्ष किसका हो? कौन किससे छूटे? 'बाड़े में से पाड़ा एक, छूटा होकर भागा छेक' ऐसा कहें तो वहाँ बाड़ा और पाड़ा ऐसी दो वस्तुओं का प्रतिपादन होगा या नहीं?

एक आत्मा का सिद्धान्त समझाने के लिए कुछ लोग यह कहते है कि 'चन्द्र एक होते हुए भी, जैसे उसका प्रतिबिम्ब अनेक जलाशयों में पड़ता है, उसी तरह आत्मा मूल स्वरूपमे एक होते हुए भी, उसका प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न जीवों म पड़ता है'* इसका अर्थ तो यह हुआ कि सब जीवों में जो आत्मा प्रतीत होता है, वह सच्चा नहीं है, बल्कि भासमात्र है। यह विचारने की बात यह है कि, अगर सब जीवों में रहनेवाली आत्मा सच्ची न हो और भासमात्र हो, तो वह आत्मा का कार्य किस तरह कर सकेगी ? जल में रहनेवाला चन्द्र का प्रतिबिम्ब क्या सच्चे चन्द्र का कार्य कर सकता है ? पर यहाँ तो हर आत्मा आत्मा का कार्य करती दिखलायी देती है। इसलिए, यह मान्यता निराधार है।

अगर कहने का आशय यह हो कि, मूल आत्मा तो एक ही है, पर सब जीवों में उसका अंश होता है, तो यह कथन भी योग्य नहीं है, कारण कि, इस तरह तो सब आत्माओं की स्थिति एक ही प्रकार की होनी चाहिए। एक कारखाने में से निकला हुआ, पेटेंट माल एक सरीखा होता है या तरह-तरह का ? अमुक छाप डोरे की कोई गड्डी ले, तो उसमें से डोरा सरीखा ही निकलेगा। इस तरह सब आत्मा एक आत्मा के अंश हों तो स्वभाव, प्रकृति, सुख-दुःख का अनुभव, सब समान रूप से ही हों, लेकिन वस्तु स्थिति कुछ और ही देखने में आती है। इसलिए, सब आत्माओं को एक ही आत्मा के अंश नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार एकात्मवाद या अद्वैतवाद अपनी बुद्धि को सन्तोष नहीं द सकता, इसलिए उसे कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? बुद्धिमान मनुष्य तो यही कहेंगे कि जब हरएक भूत, सत्त्व या प्राणी का अपना व्यक्तित्व

होता है, अपनी 'खासियत' (गुण) होती है, उसे सुख दुःख का अनुभव भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है, तब उनमे से प्रत्येक म अलग ही आत्मा मानना चाहिए। ज्ञानी भगवतों का वचन भी ऐसा ही है। वे कहते हैं—

पुढवी जीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी ।
वाउजीवा पुढो सत्ता तण रुक्खा सबीयगा ॥
अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया ।
एयावए जीवकाए नावरे कोइ विज्जइ ॥

—सूयगडांग सूत्र, १, ११ ।

—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और बीजसहित तृण, वृक्ष आदि वनस्पतिकाय ये सब जीव पृथक पृथक है। अर्थात् ऊपर से एक आकार वाले दिखते हुए भी वे सब अलग-अलग व्यक्तित्व रखते हैं।

उक्त पाँच स्थावर-जीवों के उपरात दूसरे त्रस-प्राणी भी हैं। सबको षट्निकाय कहा है। इस ससार में जितने भी जीव हैं, उन सब का समावेश इस षट्निकाय में हो जाता है। इनके सिवाय और कोई जीवनिकाय नहीं है।

जिन-शासन में प्राणियों के विषय में जितना विज्ञान है, उतना अन्यत्र नहीं मिलेगा। प्राणी कितने प्रकार के होते हैं? उनमें से हर एक के शरीर का जघन्य और उत्कृष्ट परिमाण कितना है? उनमें से हर एक का आयुष्य कितना है? आदि समस्त तथ्य आपको जिन शासन में मिलेंगी। श्री जीवा जीवाभिगम-सूत्र और श्री पन्नवणा-सूत्र इस विषय के महान् ग्रन्थ हैं। श्री भगवती जी आदि में भी तत्सम्बन्धी अनेक प्रश्नों पर चर्चा की गयी है। उन सब का सार आपको सक्षेप में मिल जाये इसके लिए जीव-विचार और दंडक-जैसे प्रकरण ग्रन्थ भी रचे गये हैं। आप में से कुछ ने उनका अध्ययन किया होगा, जिन्होंने न किया हो वे रोज एक एक दो-दो गाथाओं का अध्ययन जरूर करें।

एक आत्मा का सिद्धान्त समझाने के लिए कुछ लोग यह कहते हैं कि 'चन्द्र एक होते हुए भी, जैसे उसका प्रतिबिम्ब अनेक जलाशयों म पड़ता है, उसी तरह आत्मा मूल स्वरूपसे एक होते हुए भी, उसका प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न जीवों म पड़ता है* इसका अर्थ तो यह हुआ कि सब जीवों में जो आत्मा प्रतीत होता है, वह सच्चा नहीं है, बल्कि भास-मात्र है। यह विचारने की बात यह है कि, अगर सब जीवों में रहनेवाली आत्मा सच्ची न हो और भासमात्र हो, तो वह आत्मा का कार्य किस तरह कर सकेगी ? जल में रहनेवाला चन्द्र का प्रतिबिम्ब क्या सच्चे चन्द्र का कार्य कर सकता है ? पर यहाँ तो हर आत्मा आत्मा का कार्य करती दिखलायी देती है। इसलिए, यह मान्यता निराधार है।

अगर कहने का आशय यह हो कि, मूल आत्मा तो एक ही है, पर सब जीवों मे उसका अंश होता है, तो यह कथन भी योग्य नहीं है, कारण कि, इस तरह तो सब आत्माओं की स्थिति एक ही प्रकार की होनी चाहिए। एक कारखाने में से निकला हुआ, पेटेंट माल एक सरीखा होता है या तरह-तरह का ? अमुक छाप डोरे की कोई गड्डी ले, तो उसमें से डोरा सरीखा ही निकलेगा। इस तरह सब आत्मा एक आत्मा के अंश हों तो स्वभाव, प्रकृति, सुख-दुःख का अनुभव, सब समान रूप से ही हों, लेकिन वस्तु स्थिति कुछ और ही देखने में आती है। इसलिए, सब आत्माओं को एक ही आत्मा के अंश नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार एकात्मवाद या अद्वैतवाद अपनी बुद्धि को सन्तोष नहीं द सकता, इसलिए उसे कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? बुद्धिमान मनुष्य तो यही कहेंगे कि सब हरएक भूत, सत्त्व या प्राणी का अपना व्यक्तित्व

---

* एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते प्रतिष्ठित ।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

—ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्

होता है, अपनी 'खासियत (गुण) होती है, उसे सुख दुःख का अनुभव भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है, तब उनमें से प्रत्येक में अलग ही आत्मा मानना चाहिए। ज्ञानी भगवंतों का वचन भी ऐसा ही है। वे कहते हैं—

पुढवी जीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी ।
वाउजीवा पुढो सत्ता तण रुक्खा सबीयगा ॥
अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया ।
एयावए जीवकाए, नावरे कोइ विज्जइ ॥

— सूयगडांग सूत्र, १, ११।

—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और बीजसहित तृण, वृक्ष आदि वनस्पतिकाय ये सब जीव पृथक पृथक हैं। अर्थात् ऊपर से एक आकार वाले दिखते हुए भी वे सब अलग-अलग व्यक्तित्व रखते हैं।

उक्त पाँच स्थावर-जीवों के उपरांत दूसरे त्रस-प्राणी भी हैं। सबको षट्निकाय कहा है। इस संसार में जितने भी जीव हैं, उन सब का समावेश इस षट्निकाय में हो जाता है। इनके सिवाय और कोई जीवनिकाय नहीं है।

जिन-शासन में प्राणियों के विषय में जितना विज्ञान है, उतना अन्यत्र नहीं मिलेगा। प्राणी कितने प्रकार के होते हैं? उनमें से हर एक के शरीर का जघन्य और उत्कृष्ट परिमाण कितना है? उनमें से हर एक का आयुष्य कितना है? आदि समस्त तथ्य आपको जिन शासन में मिलेंगी। श्री जीवा जीवाभिगम-सूत्र और श्री पन्नवणा-सूत्र इस विषय के महान् ग्रन्थ हैं। श्री भगवती जी आदि में भी तत्सम्बन्धी अनेक प्रश्नों पर चर्चा की गयी है। उन सब का सार आपको संक्षेप में मिल जाये इसके लिए जीव-विचार और दंडक जैसे प्रकरण ग्रन्थ भी रचे गये हैं। आप में से कुछ ने उनका अध्ययन किया होगा, जिन्होंने न किया हो वे रोज एक-एक दो-दो गाथाओं का अध्ययन जरूर करें।

अब संख्या पर आयें। पर, संख्या-विषयक हमारी मान्यता बड़ी संकुचित है—कूपमंडूक-जैसी! एक बार किसी सरोवर का मेंढक कुएँ में आ गया। वहाँ एक मेंढक स्थायी रूप से रहता था। उसने सरोवर के मेंढक से पूछा—"भाई! तू कहाँ से आया है?" उसने जवाब दिया—"सरोवर से"। इससे कुएँ के मेंढक की समझ में कुछ न आया। इसलिए उसने पूछा—"सरोवर का अर्थ क्या?" दूसरे ने जवाब दिया—"सरोवर याने पानी का विशाल जत्था"। कुएँ के मेंढक ने पूछा—"विशाल माने कितना? क्या इस कुएँ के चौथे भाग के बराबर होगा?" सरोवर के मेंढक ने ठंडे कलेजे से जवाब दिया—"नहीं, इससे बहुत बड़ा।" तब कुएँ के मेंढक ने फिर पूछा—"कुएँ के आधे भाग के बराबर होगा?" दूसरे ने पहली तरह ही जवाब दिया—"नहीं, उससे बहुत बड़ा।" इससे कुएँ के मेंढक को आश्चर्य हुआ और कहने लगा "तब क्या वह सारे कुएँ के बराबर होगा?" दूसरे ने बिल्कुल ठंडे कलेजे से कहा—"अरे भाई! इससे भी बहुत बड़ा।" यह सुनकर कुएँ के मेंढक ने कहा—"यह तो तू मुझे बना रहा है। इस सारे कुएँ से ज्यादा बड़ा पानी का जत्था हो ही नहीं सकता। मैंने अपनी तमाम जिन्दगी में इससे बड़ा पानी का जत्था देखा ही नहीं है।"

आपसे पूछें कि 'बड़ी संख्या कौन सी है?' तो आप करोड़ या अरब कहेंगे। किसी ने लीलावती आदि पुराने गणित देखे होंगे तो कहेगा कि 'परार्ध' पर, यह कोई संख्या का अन्त नहीं है। उसमें तो केवल अठारह अंक होते हैं, जबकि संख्या तो उससे बहुत बढ़ी हुई है। शास्त्रकारों ने १९४ अंकों की संख्या को 'शीर्षप्रहेलिका'[1] कहा है और ज्योतिष्करंडक

१—शीर्षप्रहेलिका की संख्या नीचे लिखे अनुसार समझना

७५८, २६३, २५३, ०७३, ०१०, २४१, १५७, ९७३, ५६९, ९७५, ६९६, ४०६, २१८, ९६६, ८४८, ०८०, १८३, २९६। इस तरह कुल ५४ अंक और इस पर १४० शून्य यानी कुल अंक १९४।

आदि ग्रन्थों में २५० अंकों की संख्या भी आती है।[1] अगर मुझ से संख्या बतानी हो, तो अंकों की संख्या लाखों करोड़ों तक पहुँचती है। उदाहरणके तौर पर नौके ऊपर नौ और उस पर ९ की संख्या लिखी गो

$\left(9^{9^{9}}\right)$ तो उसका जवाब ३८ करोड़ अंकों से भी ज्यादा आयेगा।

आप पूछेंगे कि यह कैसे होगा? इसलिए, उसका जरा स्पष्टीकरण करेंगे। जब किसी भी संख्या का वर्ग आदि बताना हो तो उसके ऊपर एक छोटा अंक लिखा जाता है। ९ के ऊपर छोटा २ लिखें तो इसका अर्थ हुआ कि ९×९—उसका उत्तर ८१ आयेगा। यहाँ ९ के ऊपर ९ और उसके ऊपर ९ लिखा है। उसका अर्थ यह हुआ कि ९ के ऊपर ३८७४२०४८९

लिखा है। $\left(9^{387420489}\right)$ अब ९ को ९ से इतनी बार गुणा हो तो

आप में से कोई गुणा नहीं कर सकता। गणित का बड़ा प्रोफेसर हो तो भी गुणा नहीं कर सकता। इसमें कितना वक्त जायेगा और कितने बड़े साधन चाहियें, इसका विचार कीजिये। लेकिन उसमें कितने अंक आयेंगे यह जाना जा सकता है। ९ को जितनी बार ९ से गुणते जायँ, उतनी बार एक एक अंक बढ़ता जाता है,[2] यानी उसका जवाब

१—ज्योतिष करण्डक में निम्नलिखित संख्या आती है
७२८७, ९५५९, २७६, ५५०, ११२, ५९५, ४१९, ००६, ६९६, ८१३, ४२०, ७७० ७६७, ४६५, ८९४, २६१, ६७७, ७४७, ६५७, २५७, ३४५, ७१८, ६८१, ६ कुल ७० अंक और इस पर १८० शून्य, इस तरह कुल अंक २५०।

२—   ९
×९
———
८१ दो अंक
×९   देखिये पृष्ठ ९०
———

३८ करोड़ ७४ लाख, २० हजार और ४८९ अंक का आयेगा। ऊपर वक्त और साधन की बात कही उसका भी खुलासा कर दें। एक आदमी खाना पीना सब छोड़कर मात्र अंक ही लिखता रहे और एक मिनिट में १० अंक लिखे तो इस संख्या को लिखने में लगभग ७४॥ वर्ष[1] लगेंगे, और अगर एक इञ्च में १० अंक लिखे, तो उसे लिखने के लिए ६११ मील से ज्यादा लम्बी पट्टी चाहिए। अब आप ही कहिये कि, इतना समय और इतना साधन कौन ला सकता है?

परन्तु शास्त्रीय गणित इससे भी आगे बढ़ जाता है और उत्कृष्ट संख्या का अनुमान अनवस्थित, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका के उपमानों द्वारा देता है।

यहाँ यह बतला दें कि, व्यवहार-गणित गणना के लिए संख्यात और असंख्यात ऐसे दो प्रकार मानता है और असंख्यात को ही अनन्त कहता है, पर जैन-शास्त्रकारों ने इससे आगे बढ़कर वस्तु की गणना के लिए तीन प्रकार बताये हैं—संख्यात, असंख्यात और अनन्त। उसमें संख्यात तीन प्रकार के बतलाये हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। २ की गणना संख्या

(पृष्ठ ८९ की पाद टिप्पणि का शेषांश)

७२९ तीन अंक
×९
६५६१ चार अंक
×९
५९०४९ पाँच अंक
वगैरह

१—१ मिनिट में दस तो घंटे में ६०० और २४ घंटे में १४४००। इस संख्या को ३६० दिन से गुणा करें तो ५१८४००० की संख्या आयेगी। इससे उपर्युक्त ३८७४२०४८९ की संख्या से भाग दें तो लगभग ७४ आयेगा और ३८०४४८९ शेष बचेगा। इसलिए यहाँ लगभग ७४॥ वर्ष कहा है।

में नहीं होती, इसलिए २ जघन्य संख्या है, २ से लगाकर उत्कृष्ट तक की संख्या मध्यम है और जिसका ऊपर के उपमानों द्वारा कथन किया गया है उससे १ कम, उत्कृष्ट संख्या है।

असंख्यात के तीन प्रकार हैं परित्त, युक्त और निजपद युक्त। इन तीन के फिर तीन तीन प्रकार हैं जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। इस प्रकार असंख्यात के कुल नौ प्रकार होते हैं। वे इस प्रकार—

१—जघन्य परित्त असंख्यात।
२—मध्यम परित्त असंख्यात।
३—उत्कृष्ट परित्त असंख्यात।
४—जघन्य युक्त असंख्यात।
५—मध्यम युक्त असंख्यात।
६—उत्कृष्ट युक्त असंख्यात।
७—जघन्य असंख्यात असंख्यात।
८—मध्यम असंख्यात असंख्यात।
९—उत्कृष्ट असंख्यात असंख्यात।

उत्कृष्ट संख्यात में १ बढ़ा दें, तो जघन्य परित्त असंख्यात बन जायेगा। इस तरह असंख्यात का गणित बड़ा सूक्ष्म है, इसलिए उसका विवेचन नहीं करेंगे, परन्तु थोड़े में इतना ही कहेंगे कि असंख्यात को असंख्य बार गुणा करें तब असंख्यात-असंख्यात होता है।

इस उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात में एक बढ़ा दें तो अनन्त कहायेगा। शास्त्रकारों ने अनन्त के भी तीन प्रकार माने हैं। परित्त, युक्त और निजपद युक्त और उनके भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन प्रकार माने हैं। अर्थात् अनन्त भी नौ प्रकार का होता है। वे इस प्रकार—

१—जघन्य परित्त अनन्त।
२—मध्यम परित्त अनन्त।

३८ करोड़ ७४ लाख, २० हजार और ४८९ अंक का आयेगा। ऊपर वक्त और साधन की बात कही उसका भी खुलासा कर दें। एक आदमी खाना-पीना सब छोड़कर मात्र अंक ही लिखता रहे और एक मिनिट में १० अंक लिखे तो इस संख्या को लिखने में लगभग ७४।।। वर्ष[1] लगेंगे, और अगर एक इञ्च में १० अंक लिखे, तो उसे लिखने के लिए ६११ मील से ज्यादा लम्बी पट्टी चाहिए। अब आप ही कहिये कि, इतना समय और इतना साधन कौन ला सकता है?

परन्तु शास्त्रीय गणित इससे भी आगे बढ़ जाता है और उत्कृष्ट संख्या का अनुमान अनवस्थित, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका के उपमानों द्वारा देता है।

यहाँ यह बतला दें कि, व्यवहार-गणित गणना के लिए संख्यात और असंख्यात ऐसे दो प्रकार मानता है और असंख्यात को ही अनन्त कहता है, पर जैन-शास्त्रकारों ने इससे आगे बढ़कर वस्तु की गणना के लिए तीन प्रकार बताये हैं—संख्यात, असंख्यात और अनन्त। उसमें संख्यात तीन प्रकार के बतलाये हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। २ की गणना संख्या

(पृष्ठ ८९ की पाद टिप्पणि का शेषांश)

७२९ तीन अंक
×९
६५६१ चार अंक
×९
५९०४९ पाँच अंक
वगैरह

१—१ मिनिट में दस तो घंटे में ६०० और २४ घंटे में १४४००। इस वर्ष के ३६० दिन से गुणा करें तो ५१८४००० की संख्या आयेगी। इस उपर्युक्त ३८७४२०४८९ की संख्या में भाग दें तो भजनफल ७४ आयेगा और ३८०४४८९ शेष बचेगा। इसलिए यहाँ लगभग ७४।।। वर्ष कहा है।

में नहीं होती, इसलिए २ जघन्य संख्या है, १ से लगाकर उत्कृष्ट तक की संख्या मध्यम है और जिसका ऊपर के उपमानों द्वारा कथन किया गया है उससे १ कम, उत्कृष्ट संख्या है।

असंख्यात के तीन प्रकार हैं परित्त, युक्त और निजपद-युक्त। इन तीन के फिर तीन तीन प्रकार हैं जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। इस प्रकार असंख्यात के कुल नौ प्रकार होते हैं। वे इस प्रकार—

१—जघन्य परित्त असंख्यात।
२—मध्यम परित्त असंख्यात।
३—उत्कृष्ट परित्त असंख्यात।
४—जघन्य युक्त असंख्यात।
५—मध्यम युक्त असंख्यात।
६—उत्कृष्ट युक्त असंख्यात।
७—जघन्य असंख्यात असंख्यात।
८—मध्यम असंख्यात असंख्यात।
९—उत्कृष्ट असंख्यात असंख्यात।

उत्कृष्ट संख्यात में १ बढा दें, तो जघन्य परित्त असंख्यात बन जायेगा। इस तरह असंख्यात का गणित बड़ा सूक्ष्म है, इसलिए उसका विवेचन नहीं करेंगे, परन्तु थोड़े में इतना ही कहेंगे कि असंख्यात को असंख्य बार गुणा करें तब असंख्यात-असंख्यात होता है।

इस उत्कृष्ट असंख्यात-असंख्यात म एक बढा दें तो अनन्त कहायेगा। शास्त्रकारों ने अनन्त के भी तीन प्रकार माने हैं। परित्त, युक्त और निज-पद युक्त और उनके भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन प्रकार माने हैं। अर्थात् अनन्त भी नौ प्रकार का होता है। वे इस प्रकार—

१—जघन्य परित्त अनन्त।
२—मध्यम परित्त अनन्त।

३—उत्कृष्ट परित्त अनन्त।
४—जघन्य युक्त अनन्त।
५—मध्यम युक्त अनन्त।
६—उत्कृष्ट युक्त अनन्त।
७—जघन्य अनन्तानन्त।
८—मध्यम अनन्तानन्त।
९—उत्कृष्ट अनन्तानन्त।

उसमें गणना तो मध्यम अनन्तानन्त तक ही जाती है, उत्कृष्ट अनन्तानन्त तक नहीं जाती* इसलिए वह केवल समझने के लिए है।

उत्कृष्ट अनन्तानन्त क्यों नहीं है? इसका एक उदाहरण व्यवहार-गणित से देते हैं। किसी आदमी से यह कहें कि १ का दूना करते ही जाओ तो वह कहाँ तक करेगा? मान लो कि उस आदमी की उम्र अरब वर्ष की है, तो भी क्या इस प्रक्रिया का अन्त आजायेगा क्या? उसी तरह १ के दो-दो विभाग करने हों तो भी उसका अन्त नहीं आयेगा। इस प्रकार अनन्त बुद्धिगम्य होते हुए भी अन् अत—अन्तरहित ही रहता है और इसलिए उत्कृष्ट अनन्त सभव नहीं है।

अनन्त के विषय में और भी एक बात समझ लेनी है कि, अनन्त म अनन्त बढा दें तो भी अनन्त होता है और अनन्त म मे अनन्त घटा दें तो भी अनन्त रहता है। समुद्र के पानी म पाँच लाख मन नया पानी आवे तो वह बढ नहीं जाता और पाँच लाख मन पानी उसम से ले लिया जाय तो वह घटता नहीं।

---

* 'उक्कोसय अणन्ताणं नत्थि' उत्कृष्ट अनन्तानन्त नहीं है।
—श्री अनुयोगद्वार सूत्र

संख्या विषयक यह जानकारी मन मे रखकर, हम आत्मा की सख्या पर आयें। इस विश्व में मनुष्यों की सख्या कम है, अर्थात् मध्यम सख्यात है। देव और नरक के जीवों की सख्या उससे असख्यात गुनी है और तिर्यंच की सख्या अनन्त गुनी है। यहाँ तिर्यंच शब्द से जलचर, थलचर और नभचर पञ्चेन्द्रिय प्राणी ही नहीं, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय भी समझने चाहिए।

एकेन्द्रिय के पाँच भेद हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। इसमें पहले चार प्रकार के जीव सूक्ष्म और बादर दो जाति के हैं। वनस्पतिकाय की दो जातियाँ हैं (१) प्रत्येक और (२) साधारण। इनमें प्रत्येक-वनस्पति एक शरीर में एक जीववाली है, जब कि साधारण-वनस्पति एक शरीर में अनन्त जीव वाली है। साधारण वनस्पति के जीवों के शरीर को ही 'निगोद' कहते हैं। उसमें प्रत्येक-वनस्पति बादर ही होता है और साधारण वनस्पति अथवा निगोद सूक्ष्म और बादर दोनों प्रकार की होती है।

शास्त्रकार-भगवंतों ने निगोद के विषय में कहा है कि—

गोला य असंखिज्जा, अस्सख निगोअओ हवइ गोला।
एक्केक्कम्मि निगोए, अणत जीवा मुणेयव्वा॥

यह विश्व यानो चौदह राजलोक असख्य (सूक्ष्म) गोलों से व्याप्त है। हर एक गोले में असख्य निगोद हैं और हर निगोद में अनन्त जीव हैं, ऐसा समझना।

अर्थात् अकेले साधारण वनस्पतिकाय के जीवों की सख्या ही अनन्तानन्त है। उसमें दूसरे चाहे जितनी आत्माएँ बढ़ा दी जायें, तो भी यह

संख्या अनन्तानन्त ही रहती है—अर्थात् आत्माओं की संख्या मध्यम अनन्तानन्त है, ऐसा समझना।

यह विश्व अनादिकाल से चल रहा है और उसमें रहने वाले जीवों का मुक्तिगमन चालू है, तो कभी यह विश्व आत्माओं से बिल्कुल रहित हो जायगा या नहीं? इसका उत्तर नीचे की गाथा देती है।

जइआइ होई पुच्छा, जिणाण मग्गमि उत्तरं तइया।
इक्कस्स निगोयस्स, अणंत भागो उ सिद्धिगओ॥

—'जिन मार्ग में जब भी ऐसी पृच्छा की जाती है कि, अब तक कितने आत्मा सिद्ध हुए, तो उसका उत्तर यह मिलता है कि, अब तक एक निगोद का अनन्तवाँ भाग सिद्ध हुआ है।'

अर्थात्, अनन्त में से अनन्त जाने पर भी अनन्त ही रहेंगे और यह विश्व आत्माओं से कभी खाली नहीं होगा यह निश्चित है।

ये सब बातें सूक्ष्म हैं, पर सद्गुरु का संग करो और उनके सहवास में आते रहो तो अज्ञान का पर्दा हटने में देर नहीं लगेगी। पारसमणि और लोहे की डिब्बी के बीच का पर्दा हटाया कि लोहे की डिब्बी सोने की बन जाती है। यह दृष्टान्त यहाँ विचारने लायक है।

पारसमणि का दृष्टान्त

एक बाबाजी थे। उनके पास पारसमणि था। पारसमणि लोहे को छुए तो सोना हो जाता है। गाँव के नगरसेठ को इसकी खबर लगी तो अपना धन्धा वन्धा छोड़ कर बाबाजी के पास दौड़ा गया और उनकी सेवा शुरू कर दी। बाबाजी को कष्ट न हो, इसलिए सेठ ने अपना रहना, खाना, सोना, बैठना, सब बाबाजी के साथ रखा।

बाबाजी उठें उससे पहले सेठ उठ जाये और बाबाजी की सेवा में लग जाये। बाबाजी का दातुन-पानी, स्नान, कपड़ा, भोजन, शयन सबकी बड़ी फिक्र रखे और यत्नपूर्वक खातिर तवाजह करे। परन्तु, यह सेवा सेठ किसकी करता था ? बाबाजी की या पारसमणि की ? लालच ऐसी वस्तु है कि, आदमी से चाहे जो काम करा ले।'

बाबाजी भी पक्के थे। वे सब स्वाग देखा करते, पर कुछ कहते नहीं। इस तरह बारह वर्ष बीत गये, तब बाबाजी प्रसन्न हुए और सेठ से कहने लगे कि 'तुम्हारी सेवा से मैं प्रसन्न हुआ हूँ। इसलिए, तुम्हें जो माँगना हो सो माँगो। सेठ ने कहा—"पारसमणि दे दीजिये।" बाबाजी ने कहा—"अच्छी बात है। वह उस झोली में लोहे की डिब्बी म पड़ा है, उस झोली को यहाँ लाओ।'

सेठ ने तो सुना था कि, पारसमणि लोहे को छू ले तो सोना हो जाता है और बाबाजी कहते हैं कि वह लोहे की डिब्बी में पड़ा है, इसलिए सेठ को शका हुई कि, बाबाजी पारसमणि के बदले कोई दूसरी ही चीज देकर मुझे टाल देगा। बारह बारह वर्ष की लगातार सेवा-चाकरी का यह फल! यह सोच कर सेठ ढीला पड़ गया। पर, बाबाजी ने कहा था, इसलिए उठकर झोली ले आया और बाबाजी को दे दी।

बाबाजी ने उसमें से लोहे की एक डिब्बी निकाली और उसे खोली तो कपड़े की पोटली में कुछ बँधा हुआ था। सेठ को शका हुई कि, इसमें पारसमणि नहीं, कोई और चीज ही बँधी हुई होगी। पर, बाबाजी ने कपड़े की पोटली खोली कि जगमग प्रकाश हुआ और वह मणि ही हो ऐसा लगा। फिर, उस मणि को लोहे की डिब्बी में रखा कि वह सोने की हो गयी। इससे सेठ की जान में जान आयी और विश्वास हो गया कि यह जरूर पारसमणि है। बाबाजी ने वह पारसमणि भेंट दे दी और सेठ की इच्छा पूरी की।

लोहे और पारसमणि के बीच कपड़े का अन्तर था, इसलिए लोहे का सोना नहीं होता था। उसी तरह आप के और गुरु के बीच मोहमाया का अन्तर है, इसलिए आपको सच्चा ज्ञान नहीं होता। अगर यह मोहमाया का पर्दा हट जाये, तो आपको आज और इसी वक्त सच्चा ज्ञान हो जाये, और आप उसके सहारे चारित्र में प्रगति करके शिवसदन का अनन्त सुख भोग सकें। इसलिए, मोहमाया छोड़े और सद्‌गुरु का संग करने में सदा तत्पर रहें।

सातवाँ व्याख्यान

आत्मा का मूल्य

महानुभावो !

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीसवें अध्ययन का अल्प-ससारी आत्मा का वर्णन हमारे विषय की मूल पीठिका है। आत्मा के स्वरूप को अच्छी तरह समझ लेने पर ही इस पीठिका पर आपकी दृष्टि स्थिर होगी। तब आप भी अल्प-ससारी आत्मा के गुणों का विकास कर इस भयंकर ससार-सागर को शीघ्र पार कर सकते हैं। इसीलिए, हम आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयास कर रहे हैं।

जिन वचन हमारे लिए अन्तिम शब्द है। ऐसा होनेके बावजूद हम युक्ति और उदाहरण भी काफी देते हैं, ताकि आपके मन में उठती हुई शकाओं का समाधान हो और आप नि शक होकर आराधना में आगे बढ सकें।

आप व्यापारी हैं और हर वस्तु का मूल्याकन करते हैं। अधिक मूल्यवान वस्तु को अधिक महत्त्व देते हैं और उसकी प्राप्ति में आनन्द मानते हैं। जिसके पास ताँबा है, वह चाँदी से आनन्द पाता है। जिसके पास चाँदी है, वह सोने से आनन्द पाता है। जिसके पास सोना है, वह मणि-मुक्ता से आनन्द पाता है। ज्यादा कीमती चीज आपको ज्यादा आनन्द देती है।

परन्तु, दुनिया की महामूल्यवान वस्तुओं से भी आपका शरीर अधिक मूल्यवान है। कोई आपको मुट्ठी भर हीरा दे और बदले में कान या नाक या हाथ या पैर माँगे तो क्या आप दे देंगे ?

लोहे और पारसमणि के बीच कपड़े का अन्तर था, इसलिए लोहे का सोना नहीं होता था। इसी तरह आप के और गुरु के बीच मोहमाया का अन्तर है, इसलिए आपको सच्चा ज्ञान नहीं होता। अगर वह मोहमाया का पर्दा हट जाये, तो आपको आज और इसी वक्त सच्चा ज्ञान हो जाये, और आप उसके सहारे चारित्र में प्रगति करके शिवसदन का अनन्त सुख भोग सकें। इसलिए, मोहमाया छोड़ें और सद्गुरु का संग करने में सदा तत्पर रहें।

सातवाँ व्याख्यान

आत्मा का मूल्य

महानुभावो !

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीसवें अध्ययन का अल्प-ससारी आत्मा का वर्णन हमारे विषय की मूल पीठिका है। आत्मा के स्वरूप को अच्छी तरह समझ लेने पर ही इस पीठिका पर आपकी दृष्टि स्थिर होगी। तब आप भी अल्प-ससारी आत्मा के गुणों का विकास कर इस भयकर ससार-सागर को शीघ्र पार कर सकते हैं। इसीलिए, हम आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयास कर रहे हैं।

जिन वचन हमारे लिए अन्तिम शब्द है। ऐसा होनेके बावजूद हम युक्ति और उदाहरण भी काफी देते हैं, ताकि आपके मन में उठती हुई शकाओं का समाधान हो और आप नि शक होकर आराधना में आगे बढ़ सकें।

आप व्यापारी हैं और हर वस्तु का मूल्याकन करते हैं। अधिक मूल्यवान वस्तु को अधिक महत्त्व देते हैं और उसकी प्राप्ति में आनन्द मानते हैं। जिसके पास ताँबा है, वह चाँदी से आनन्द पाता है। जिसके पास चाँदी है, वह सोने से आनन्द पाता है। जिसके पास सोना है, वह मणि-मुक्ता से आनन्द पाता है। ज्यादा कीमती चीज आपको ज्यादा आनन्द देती है।

परन्तु, दुनिया की महामूल्यवान वस्तुओं से भी आपका शरीर अधिक मूल्यवान है। कोई आपको मुट्ठी भर हीरा दे और बदले में कान या नाक या हाथ या पैर माँगे तो क्या आप दे देंगे ?

सुबह से शाम तक मेहनत मजदूरी करके पेट भरनेवाला भी यह माँग स्वीकार नहीं करेगा, क्योंकि धन दौलत या मणि मुक्ता से आप शरीर की कीमत ज्यादा आँकते हैं।

जरा बुखार आ गया, माथा दुखा, या पेट में पीड़ा उठी, तो तुरत वैद्य-हकीम-डॉक्टर को बुलाते हैं और उसकी फीस देकर दवा लेते हैं। अगर वह यह कहे कि, "बीमारी गहरी है। आपको एक्स-रे लेना पड़ेगा, अमुक 'इञ्जक्शनों' का 'कोर्स' लेना पड़ेगा और अमुक खर्च करना पड़ेगा," तो उसके लिए आप तैयार हो जाते हैं। और, जिस धन को बड़ी ममता से इकट्ठा किया हो उसकी थैली का मुँह खोल देते हैं। अगर आपको धन-दौलत से शरीर प्यारा न हो तो आप शरीर की खातिर धन को कुर्बान क्यों करें ?

आपको शरीर प्यारा है, बहुत प्यारा है। उसे कुछ हो न जाये यह भय आपके मन में सदा रहता है। इसीलिए, आप अनेक प्रकार की सावधानी रखते हैं, अनेक प्रकार के उपाय करते हैं। जीवन-संरक्षण की नीति शरीर पर कैसा असर डालती है, यह देखने के लिए एक बार चार डॉक्टरों ने मिलकर एक प्रयोग किया था। एक बिलकुल तन्दुरुस्त और हृष्टपुष्ट आदमी की जाँच करके पहले डॉक्टर ने कहा—"यूँ तो तुम्हारा शरीर ठीक लगता है, पर थोड़ी ही देर में तुम्हें बुखार आयेगा।" यह सुनकर वह आदमी भड़का—"क्या मुझे बुखार आयेगा ?" यह विचार उसके मन में घुस गया। थोड़ी देर के बाद दूसरे डॉक्टर ने उसकी जाँच करके कहा—"तुम्हारे शरीर में बुखार है और संभव है कि वह बढ़ जाये, इसलिए दवा की एक खुराक अभी ले लो!" यह सुनकर उस आदमी को शङ्का हुई, कि कहीं कोई बड़ी बीमारी तो नहीं लग जायेगी ? उसके मन में इस भय का इतना ज्यादा असर हुआ कि, थोड़ी ही देर में बुखार से हिलने लगा। डॉक्टर ने देखा तो उसे १०४॥ डिगरी बुखार था। उस पर भय का असर पूरा पूरा हो चुका था, इसलिए अब उसे भयमुक्त

करने की जरूरत थी। तीसरे डॉक्टरने कहा,–"तुम्हें बुखार बहुत चढा हुआ है, पर हमारे पास उसकी अक्सीर दवा है। तुम जरा भी फिक्र न करो। थोड़ी ही देर में तुम्हारा बुखार उतर जायेगा।" इससे उस आदमी को बड़ी राहत मिली। डॉक्टर की दवा पीने के कुछ ही देर बाद बुखार उतरने लगा। उसके बाद चौथे डॉक्टर ने उसकी जाँच करके कहा—"आदमी का शरीर है, तो कभी-कभी बुखार भी आ जाता है। बाकी तुम्हारे शरीर मे कोई रोग नहीं है। तुम थोड़े ही समय में अच्छे हो जाओगे।" इन शब्दों ने उस आदमी के मन के भय को बिलकुल दूर कर दिया और वह बुखार से बिलकुल मुक्त हो गया। कहने का मतलब यह है कि, यह शरीर आपको इतनी प्यारी है, कि उसे कुछ भी हो जाने के विचारमात्र से आप भयाकुल हो जाते हैं और अनेक प्रकार के उपचार करने लगते हैं।

शरीर दुबला न हो जाये, इसलिए बड़ी तपस्या नहीं करते। बड़ी तिथि या पर्व के रोज भी तीनों बार डट कर खाते हैं। नोकारसी-सरीखा छोटा पच्चक्खाण, छोटा नियम, भी नहीं करते। यह शरीर के प्रति कैसा व्यामोह है? पर, जान रखिये कि, यह शरीर लगता तो है नित्य-मित्र जैसा, पर वह आपके प्रति वफादार नहीं रहनेवाला है!

तीन मित्रों का दृष्टान्त

राजा का एक कर्मचारी कामकाजमें बड़ा कुशल था। अपनी जिम्मेदारी बराबर अदा करे। उसे एक बार विचार आया—"आज तो मुझ पर राजा के चारों हाथ हैं, पर वह न जाने कब रूठ जाये। इसलिए, एक ऐसा मित्र करूँ कि जो कठिनाई के समय मेरी मदद करे।" इसलिए उसने एक दोस्त बनाया। उसके साथ पक्की दोस्ती की—यहाँ तक कि हमेशा साथ रखे, साथ नहलाये, साथ खिलाये और जहाँ जाये वहाँ साथ ले जाये।

कुछ समय बाद कर्मचारी को विचार आया कि, एक से दो भले! इसलिए, दूसरा दोस्त बनाया, परन्तु उससे पर्व या त्यौहार के रोज ही

मिलना रखा। उसके बाद एक तीसरा दोस्त बनाया, पर वह कभी-कभी ही मिलता और नमस्कार-प्रणाम करके चला जाता। इस तरह एक के दो हुए, दो के तीन हुए। उन्हें पहचानने के लिए कर्मचारी ने नाम रखे—पहले का नित्य-मित्र, दूसरे का पर्वमित्र और तीसरे का जुहारमित्र।

एक बार कर्मचारी को विचार आया—"मैंने मित्र तो बनाये हैं, पर वह सकट के समय कितनी सहायता करते हैं, इसकी परीक्षा की जाये।" इसके लिए उसने एक प्रपञ्च रचा। राजा के कुँवर को अपने यहाँ जीमने बुलाया और उसे अपने पुत्र के साथ रमत गमत (खेलकूद) में लगाकर घर के अन्दर के गुप्त भौंयरे मे उतार दिया। फिर, दूसरे पुत्र के साथ अपनी स्त्री को पीहर भेज दिया। फिर अपने एक ऐसे नौकर को जिसके पेट में बात टिके ही नहीं बुलाकर कहा—"आज राजा के कुँवर को हमने जीमने बुलाया था, लेकिन उसके अति मूल्यवान गहने देखकर मेरी बुद्धि बिगड़ गयी, इसलिए मैंने उसकी गरदन मरोड़ दी और गहने उतार लिए। पर, अब मुझे राजा का डर लगता है, इसलिए मै घर छोड़ कर जा रहा हूँ। किसी जगह जाकर छिप रहूँगा। अगर राजा के आदमी तलाश करते हुए आयें, तो यह गुप्त भेद प्रकट मत करना, बल्कि अपनी अक्ल लड़ाकर ऐसा जवाब देना कि, मुझ पर धाड़ न आवे। इस तरह समझा कर कर्मचारी ने अपना घर छोड़ा और वह सीधा नित्यमित्र के यहाँ गया।

कर्मचारी को यकायक हक्काबक्का अपने यहाँ आया हुआ देखकर नित्यमित्र सोचने लगा कि, दाल म जरूर कुछ काला है, लेकिन कोई सवाल पूछे जाने से पहले ही कर्मचारी ने बतला दिया—"मेरे प्यारे दोस्त! कहने के लिये जबान नहीं चलती, पर आज मेरे हाथों एक ऐसा काम हो गया है कि, जिसकी वजह से राजा मुझे जरूर पकड़ेगा और फाँसी पर लटकायेगा, इसलिए मेरा रक्षण कर।"

नित्यमित्र ने पूछा—"पर बात क्या हुई है?" कर्मचारी ने कहा—"आज राजा के कुँवर को अपने यहाँ जीमने बुलाया था। वह अत्यन्त सुन्दर आभूषणों से सज्ज होकर मेरे यहाँ आया था। यह देखकर मेरा मन ललचाया और उसका खून करके मैंने सब आभूषण उतार लिये। पर, अब मुझे राजा का डर लगता है, मुझे बचाओ!"

नित्यमित्र ने कहा—"तुमने तो गजब कर दिया! राजकुमार का खून छिपा कैसे रह सकता है? अभी राज के सिपाही छूटेंगे और वे घर-घर की तलाशी लेंगे। उस वक्त तुम मेरे यहाँ पाये गये, तो मेरी क्या दशा होगी? इसलिए तुम तुरत यहाँ से चुपचाप चले जाओ और दूसरी किसी जगह आश्रय लो।"

कर्मचारी ने आश्रय देने के लिए उसे बड़ा समझाया, पर वह सब समझाना व्यर्थ गया। जब कर्मचारी उसके यहाँ से चला तो उसने अपने घर का दरवाजा बन्द कर दिया और मुँह से "आवजो" तक न कहा। उसे तो यही लगा कि यह बला बड़ी मुश्किल से टली है।

कर्मचारी ने समझ लिया कि, यह मित्र पूरा मतलबी है। वहाँ से निकल कर वह पर्व-मित्र के यहाँ गया और सब हाल कहकर आश्रय देने का अनुरोध किया। तब पर्व मित्र ने कहा—"तुम्हारी मदद करना मेरा फर्ज है, पर अपने घर में तुम्हें छुपाने लायक स्थान नहीं है। मैं बाल-बच्चे वाला आदमी ठहरा, राजा का मुझ पर कोप उतरा और मैं जेल गया तो मेरे बीबी बच्चों का क्या होगा? इसलिए तुम किसी और जगह इन्तजाम कर लो।"

कर्मचारी ने कहा—"इस वक्त तो मेरी बुद्धि चकराई हुई है। कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? यह सूझता ही नहीं है? इसलिए तू ही भला बनकर आश्रय दे।" पर्व मित्र टस-से मस न हुआ। इसलिए, कर्मचारी को प्रतीत हो गया कि, यह भी पूरा स्वार्थी है।

वहाँ से पहुँचा जुहार-मित्र के यहाँ। उसने कर्मचारी को देखते ही स्वागत किया और प्रेम से पूछा—"मेरे लायक क्या काम आ पड़ा ?" कर्मचारी ने सब हाल सुनाया और आश्रय की माँग की। जुहार-मित्र ने कहा—"मेरा ऐसा सद्‌भाग्य कहाँ कि, मैं आपके काम आऊँ। फिलहाल खुशी से मेरे यहाँ रहिये, आपको किसी तरह की असुविधा न होने दूँगा।" यह कहकर उसने कर्मचारी को आश्रय दिया।

इस तरफ क्या हुआ वह भी देखिये! छिछले पेट में कोई बात टिकती नहीं, अथवा यह कहिये कि दुष्ट दुष्टता दिखाये बिना नहीं रहता। उस नौकर ने कारबारी की बात गुप्त रखने के बदले राजा के सामने जाकर कह दी, जिससे कि उसका प्रिय बन सके और कुछ इनाम पा सके!

इस बात को सुनकर राजा के क्रोध का पार न रहा। उसने राजसेवकों को हुक्म दिया—"इस दुष्ट कर्मचारी को जहाँ हो वहाँ से पकड़ कर मेरे सामने हाजिर करो।" हुक्म सुनकर राजसेवक छूटे और कर्मचारी के बैठने उठने के ठिकानों पर खोज करने लगे। यह करते हुए वे नित्य-मित्र के यहाँ आये। तब नित्य-मित्र ने कहा—"इस काले काम का करनेवाला कर्मचारी मेरे यहाँ आया था और आश्रय चाहता था, पर मै ऐसा मूर्ख नहीं हूँ कि उस-जैसे खूनी को आश्रय दूँ, मेरे ख्याल से वह बहुत करके पर्व मित्र के यहाँ गया होगा, इसलिए वहाँ तलाश कीजिये।"

नित्य मित्र ने सकट के समय सहायता तो की ही नहीं, बल्कि ऊपर से राजसेवकों के आगे उसकी बुराई करके आश्रय प्राप्त करने का सभावित स्थान भी बता दिया!

राजसेवक पर्व मित्र के यहाँ पहुँचे। उसने कहा—"मैंने कर्मचारी को आश्रय नहीं दिया। शक हो तो मेरा घर देख लो। बाकी उसके विषय म मै कुछ नहीं जानता।"

अब राजसेवक किसी से खबर पाकर जुहार मित्र के यहाँ गये और धमका कर कहने लगे—"तुमने कर्मचारी को आश्रय दिया है, यह अच्छा

नहीं किया। अब भी अपनी खैर चाहते हो, तो उसे हमारे हवाले कर दो!" जुहार मित्र ने कहा—"यह बात गलत है, आपको तलाशी लेनी हो तो ले सकते हैं।" राज-सेवकों के दो-तीन बार हिरा फिरा कर कहने पर भी जुहार मित्र ने एक ही जवाब दिया, इसलिए उनका शक दूर हो गया और वे वहाँ से चले गये।

किसी जगह से कर्मचारी का पता नहीं मिला, इसलिए राजा ने ढिंढोरा पिटवाया कि, "जो कोई कर्मचारी को पकड़ कर लायेगा उसे राज्य की तरफ से बड़ा इनाम मिलेगा!"

कर्मचारी को तीनों मित्रों की परीक्षा करनी थी। वह पूरी हो गयी थी। इसलिए उसने जुहार-मित्र से कहा—"तू राजा का ढिंढोरा झेल ले और राजा के पास जाकर कह कि मैं कर्मचारी का पता बताये देता हूँ, पर आपकी जैसी धारणा है वैसा अपराधी वह कर्मचारी है नहीं, क्योंकि आयुष्मान् कुमार सहीसलामत है और आप आज्ञा करें तो इसी वक्त यहाँ आ सकता है।"

जुहार-मित्रने ऐसा ही किया। इसलिए, राजा ने कुँवर और कर्मचारी को हाजिर करने का हुक्म किया। जुहार-मित्र ने उन दोनों को हाजिर कर दिया। यह देखकर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और जुहार-मित्र को बड़ा इनाम दिया। फिर राजा ने कर्मचारी से पूछा—"यह सब क्या है?" तब कर्मचारी ने अथ-से इति तक सारी कहानी कह सुनायी। इससे राजा को उसकी दीर्घदृष्टि के प्रति बड़ा मान उत्पन्न हुआ और उसने उसके वेतन में भारी वृद्धि कर दी। फिर कर्मचारी ने नित्यमित्र और पर्वमित्र की संगति छोड़ दी और केवल जुहारमित्र के साथ प्रेम रक्खा। इससे वह बहुत सुखी हुआ।

यहाँ कर्मचारी को जीव जानना। नित्यमित्र को चिर-परिचित शरीर जानना। पर्वमित्र को सगे सम्बन्धी जानना। और, जुहारमित्र को कभी-कभी होने वाला धर्माराधन जानना। जब मृत्यु आकर खड़ी हो जाती है,

तो शरीर सब सम्बन्ध छोड़कर अलग हो जाता है, सामने देखता तक नहीं। सगे-सम्बन्धी, कुछ देर के लिए, जलाने आते हैं और दो आँसू गिराकर वापस चले जाते हैं। जबकि, जुहारमित्रके समान धर्म—चाहे थोड़ा भी किया हो तो भी—परलोकमें साथ आता है और विपत्तियोंसे रक्षण करके सुखशांति देता है। इसलिए, नित्यमित्र-सरीखे इस बेवफा शरीर का मोह छोड़िए और जुहारमित्र के समान परम वफादार धर्ममित्र की सुहबत कीजिये।

शरीर से भी एक वस्तु अधिक मूल्यवान है और वह है आपकी आत्मा! जो वह न हो तो इस शरीर के रंगरूप की, लम्बाई-चौड़ाई की क्या कीमत है? जब आत्मा शरीर को छोड़ कर चला जाता है, तब लोग क्या कहते हैं? 'अब जल्दी करो'—काहे की जल्दी? उस आत्मरहित शरीर को घर से बाहर निकालने की। ज्यादा वक्त जाये तो मुर्दा भारी हो जाये और उठाना मुश्किल हो जाये, इसलिए उसे जल्दी कफन में बाँधकर घर से श्मशान ले जाया जाता है। वहाँ उसे लकड़ी की चिता पर रखकर जला कर भस्म कर दिया जाता है। जिस शरीर को नित्य नये नये भोजन कराकर हृष्टपुष्ट रखा जाता था, स्नान-विलेपन से स्वच्छ और सुगंधित रखा जाता था और जिसकी देख-रेख में धर्म की आराधना भी विसार दी जाती थी, उस शरीर की अन्त में यह कैसी दशा!

आत्मा इस जगत की सबसे मूल्यवान वस्तु है! लाखों-करोड़ों हीरे भी उसके सामने किसी बिसात म नहीं। फिर भी आप उसकी कितनी दर-कार रखते हैं? सच्ची बात यह है कि, आपको आत्मा की सच्ची कीमत नहीं मालूम। अगर सच्ची कीमत मालूम हो तो यह हालत न हो।

कीमती वस्तु का मूल्यांकन करना हो तो बुद्धि और अनुभव दोनों चाहिए।

पेशवा नाना फड़नवीस बड़ा बुद्धिशाली माना जाता था। उसे देखने के लिए लोग दूर-दूर से आते थे। एक बार एक सौदागर उसकी सभा म आया और उसने एक पानीदार हीरा निकाल कर उसका मूल्य पूछा।

उस राजसभा मे बहुत से जौहरी भी बैठे थे। उन्होंने वह हीरा देखकर कहा कि, इसकी कीमत करीब डेढ लाख रुपये होगी। फिर वह हीरा नाना फड़नवीस के हाथ मे आया। उसने उसका बारीकी से निरीक्षण करना शुरू किया। इतने म एक मक्खी उड़ती हुई उस हीरे पर आकर बैठ गयी। इससे नाना फड़नवीस तुरत समझ गया कि, यह हीरा सच्चा नहीं है, बनावटी है, और उसे मिश्री तराश कर बनाया गया है, अन्यथा उस पर मक्खी नहीं बैठती। फिर उसने उस सौदागर से कहा—"अगर तुम इस हीरे की कीमत पूछते हो, तो मैं कहता हूँ कि इसकी कीमत शक्कर के एक टुकड़े के बराबर है।" यह कह कर उसने वह हीरा मुँह में रख लिया और सबके देखते हुए चबाकर खा गया। सौदागर ने अपने कान पकड़ लिए।

लेकिन, आप तो शक्कर के टुकड़े को ही हीरा मान कर काम चला रहे हैं और तिस पर दुनिया में अक्लमन्द कहला रहे हैं! आप मानते हैं कि, हम दिनरात मेहनत करके कमाई कर रहे हैं, पर जिस कमाई में से कुछ भी साथ न जाये, वह कमाई किस काम की ?

किसी आदमी के मकान में आग लग गयी। उसकी तमाम जिन्दगी की कमाई उसकी तिजोरी में थी। उसी तिजोरी के एक खाने में कुछ कोरे कागज भी थे, उस आदमी ने आग में से तिजोरी का माल बचाने की सोची। उतावली और घबराहट में तिजोरी का खाना खोल कर जो हाथ में आया उसे लेकर भागा। बाहर आने पर लोगों ने पूछा—"क्या ले आया ?" वह बोला—"अपने जीवन की कमाई।" उस वक्त उसके हाथ में कोरे कागज ही थे। यह देखकर लोगों ने हँसते हुए कहा—"वाह रे, तेरी कमाई! क्या तूने अपनी जिन्दगी में यही कमाया था ?"

शरीर रूपी मकान से भागते वक्त आपके हाथ में कोरे कागज ही न आयें इसकी सावधानी रखना!

तो शरीर सब सम्बन्ध छोडकर अलग हो जाता है, सामने देखता तक नहीं। सगे सम्बन्धी, कुछ देर के लिए, जलाने आते हैं और दो आँसू गिराकर वापस चले जाते हैं। जबकि, जुहारमित्रके समान धर्म—चाहे थोड़ा भी किया हो तो भी—परलोकमे साथ आता है और विपत्तियोंसे रक्षण करके सुखशाति देता है। इसलिए, नित्यमित्र-सरीखे इस बेवफा शरीर का मोह छोड़िए और जुहारमित्र के समान परम वफादार धर्ममित्र की सुहबत कीजिये।

शरीर से भी एक वस्तु अधिक मूल्यवान है और वह है आपकी आत्मा! जो वह न हो तो इस शरीर के रगरूप की, लम्बाई-चौड़ाई की क्या कीमत है? जब आत्मा शरीर को छोड़ कर चला जाता है, तब लोग क्या कहते हैं? 'अब जल्दी करो'—काहे की जल्दी? उस आत्मरहित शरीर को घर से बाहर निकालने की। ज्यादा वक्त जाये तो मुर्दा भारी हो जाये और उठाना मुश्किल हो जाये, इसलिए उसे जल्दी कफन में बाँधकर घर से स्मशान ले जाया जाता है। वहाँ उसे लकड़ी की चिता पर रखकर जला कर भस्म कर दिया जाता है। जिस शरीर को नित्य नये नये भोजन कराकर हृष्टपुष्ट रखा जाता था, स्नान-विलेपन से स्वच्छ और सुगधित रखा जाता था और जिसकी देख-रेख में धर्म की आराधना भी बिसार दी जाती थी, उस शरीर की अन्त में यह कैसी दशा!

आत्मा इस जगत की सबसे मूल्यवान वस्तु है! लाखों-करोड़ों हीरे भी उसके सामने किसी बिसात मे नहीं। फिर भी आप उसकी कितनी दर-कार रखते हैं? सच्ची बात यह है कि, आपको आत्मा की सच्ची कीमत नहीं मालूम। अगर सच्ची कीमत मालूम हो तो यह हालत न हो।

कीमती वस्तु का मूल्याकन करना हो तो बुद्धि और अनुभव दोनों चाहिए।

पेशवा नाना फड़नवीस बड़ा बुद्धिशाली माना जाता था। उसे देखने के लिए लोग दूर-दूर से आते थे। एक बार एक सौदागर उसकी सभा मे आया और उसने एक पानीदार हीरा निकाल कर उसका मूल्य पूछा।

उस राजसभा में बहुत से जौहरी भी बैठे थे। उन्होंने वह हीरा देखकर कहा कि, इसकी कीमत करीब डेढ लाख रुपये होगी ! फिर वह हीरा नाना फड़नवीस के हाथ मे आया। उसने उसका बारीकी से निरीक्षण करना शुरू किया। इतने म एक मक्खी उड़ती हुई उस हीरे पर आकर बैठ गयी। इससे नाना फड़नवीस तुरत समझ गया कि, यह हीरा सच्चा नहीं है, बनावटी है, और उसे मिश्री तराश कर बनाया गया है, अन्यथा उस पर मक्खी नहीं बैठती। फिर उसने उस सौदागर से कहा—"अगर तुम इस हीरे की कीमत पूछते हो, तो मैं कहता हूँ कि इसकी कीमत शक्कर के एक टुकड़े के बराबर है।" यह कह कर उसने वह हीरा मुँह में रख लिया और सबके देखते हुए चबाकर खा गया। सौदागर ने अपने कान पकड़ लिए।

लेकिन, आप तो शक्कर के टुकड़े को ही हीरा मान कर काम चला रहे हैं और तिस पर दुनिया में अक्लमन्द कहला रहे हैं ! आप मानते हैं कि, हम दिनरात मेहनत करके कमाई कर रहे हैं, पर जिस कमाई में से कुछ भी साथ न जाये, वह कमाई किस काम की ?

किसी आदमी के मकान में आग लग गयी। उसकी तमाम जिन्दगी की कमाई उसकी तिजोरी में थी। उसी तिजोरी के एक खाने में कुछ कोरे कागज भी थे, उस आदमी ने आग में से तिजोरी का माल बचाने की सोची। उतावली और घबराहट में तिजोरी का खाना खोल कर जो हाथ में आया उसे लेकर भागा। बाहर आने पर लोगों ने पूछा—"क्या ले आया ?" वह बोला—"अपने जीवन की कमाई।" उस वक्त उसके हाथ में कोरे कागज ही थे। यह देखकर लोगों ने हँसते हुए कहा—"वाह रे, तेरी कमाई ! क्या तूने अपनी जिन्दगी में यही कमाया था ?"

शरीर रूपी मकान से भागते वक्त आपके हाथ में कोरे कागज ही न आयें इसकी सावधानी रखना !

पैसे की कमाई सच्ची कमाई नहीं है, क्योंकि उसमें से कुछ भी साथ नहीं जाता, हीरा-मोती के गहने या नोटों के बण्डल में से कुछ भी साथ जानेवाला हो, तो कह देना! जहाँ दाँत कुरेदने की सलाई भी साथ नहीं ले जा सकते, वहाँ और वस्तुओं की बात क्या करना? साथ तो सिर्फ पुण्य और पाप जानेवाले हैं। अगर पुण्य की कमाई की होगी तो, गति भी अच्छी मिलेगी, शरीर भी अच्छा मिलेगा और सयोग भी अच्छे मिलेंगे।

पुण्यशाली आत्मा का कैसा प्रभाव होता है, इस पर एक दृष्टान्त सुनिये —

पुण्यशाली आत्मा का प्रभाव

एक गाँव का राजा अपनी सभा में बैठा था। वहाँ एक नैमित्तिक आया। नैमित्तिक अर्थात् अष्टाग निमित्त का जानकार—भविष्यवेत्ता! राजा ने उससे पूछा—"भविष्यमें क्या होनेवाला है?" नैमित्तिक बोला—"हे राजन्! आगामी वर्ष बड़ा अकाल पड़ेगा। ऐसे ग्रहयोग हैं, इसलिए अनाज का भरपूर सग्रह कर रखना, जिससे कि प्रजा भूखी न मरे?"

राजा ने कहा—"मैं अनाज का सग्रह तो कर लूँ, लेकिन अगर सुकाल पड़ा और भावमें नुकसान हुआ तो?" नैमित्तिक बोला—"अगर मेरा वचन सच न निकले तो मेरी जबान खींच लेना, और तो क्या कहूँ!" राजा ने उसे नजर-कैद रखा और गाँव-गाँव से अनाज इकट्ठा करना शुरू कर दिया।

लेकिन, जेठ महीने के बैठते न बैठते आकाश बादलों से घिरने लगा और बरसात बहुत अच्छी हुई। उस वर्ष अनाज इतना हुआ कि कुत्ते भी न खायें। राजा विचार करने लगा—"अनाज का जबरदस्त जत्था अब फेंक देना पड़ेगा और इससे राज्य को बड़ा नुकसान सहन करना पड़ेगा। यह नुकसान उस नैमित्तिक की वजह से होनेवाला है, इसलिए उसे सख्त सजा देनी चाहिए।"

इतने में एक ज्ञानी पुरुष उस गाँव में पधारे। लोग उनका उपदेश सुनने के लिए उमड़ पड़े। क्या उनका उपदेश! क्या उनकी वाणी! लोगों के आनन्द का पार नहीं रहा। यह बात राजा को मालूम हुई, इसलिए वह भी उपदेश सुनने आया। उपदेश सुनकर उसके मन पर बड़ा असर हुआ और हृदय में भक्तिभाव जागा। फिर तो उपदेश सुनने रोज आने लगा।

एक बार राजा ने पूछा—"हे भगवन्त! नैमित्तिक बड़ा ज्ञानी था, फिर भी झूठा क्यों पड़ा? उसके कहने के अनुसार अकाल तो नहीं पड़ा, पर सुकाल ऐसा पड़ा कि पूछिये नहीं।"

गुरु ने कहा—"ग्रहों का योग ऐसा है कि, इस वर्ष अकाल पड़ना चाहिये था, पर एक सेठ के यहाँ महापुण्यशाली आत्मा का जन्म हुआ, इसलिए अकाल सुकाल में बदल गया और सब खुशहाल हुए। उस वक्त व्याख्यान में वह सेठ भी हाजिर था, जिसके यहाँ उसका जन्म हुआ था। उसने गुरु महाराज के कथन का समर्थन करते हुए कहा—"उस लड़के का जन्म होने के बाद मेरी ऋद्धि-सिद्धि में बहुत वृद्धि हुई है। अब हम अत्यन्त सुखी और सन्तुष्ट हैं।"

फिर गुरु महाराज ने उस लड़के के पूर्वजन्म की बात कही—"यह लड़का पूर्वजन्म में भिखारी था। उसे अपने जीवन के प्रति अत्यन्त अरुचि थी। वह मेरे पास आया और किसी भी प्रकार उच्चावस्था में लाने की याचना की। मैंने उसे नवकारमन्त्र सिखाया। साथ में एक श्लोक भी सिखाया और कहा कि, यह जिनेश्वर-देव की स्तुति है। जिनेश्वर-देव के मंदिर में रोज जाकर यह स्तुति करना और जो कुछ मिले उसका चौथा भाग गरीब-दुखी को दे देना।

"भिखारी ने इस तरह करना शुरू कर दिया। रोज नवकारमन्त्र पढ़े, उस श्लोक को बोले और भिक्षा में जो कुछ मिले उसका चौथा भाग गरीबों को बाँट दे। अत्यन्त प्रतिकूल संयोगों में भी वह यह नियम

पालता रहा। लोगों को मालूम हुआ कि, गुरुमहाराज ने एक भिखारी को श्रावक किया है और वह व्रत नियम बराबर पालता है। इसलिए, वे उसे खाद्य पदार्थ ज्यादा परिमाण मे देने लगे। फिर भी भिखारी ने अपना नियम न छोड़ा, जो पाता उसका चतुर्थांश गरीबों को बाँटता रहा।

"इस तरह करते हुए उसके पास कुछ पैसा इकट्ठा हो गया। उससे धधा करना शुरू कर दिया और उसमे सफलता मिलती रही। कुछ ही समय में वह एक बडा व्यापारी बन गया। फिर भी वह अपने नियम को न भूला। उसे जो कुछ लाभ मिलता, उसका चौथा भाग गरीब-गुरबा को बाँट देता। इस तरह पुण्य का सचय होने लगा और अन्त में बड़ा पुण्य एकत्र हो गया। फिर, समाधिमरण के बाद, पुण्य के प्रभाव से उसने इस सेठ के यहाँ जन्म लिया।"

गुरु महाराज के मुख से यह बात सुनकर राजा ने नैमित्तिक को मुक्त कर दिया और भविष्यवाणी के लिए उसे पुरस्कृत भी किया। फिर राजा ने उस सेठ से उसका पुत्र माँगा, क्योंकि उसे कोई वारिस नहीं था। इस तरह सेठ का पुत्र राजा का वारिस बन गया। उसके राजा बनने के बाद उस राज्य मे न तो कभी अकाल पड़ा, न कभी बडा सङ्कट आया। पुण्यशाली आत्मा का प्रभाव ऐसा होता है!

समस्त लोक में ६ द्रव्य हैं। उसमें आत्मा ही चेतनयुक्त है, शेष सब जड़ हैं। इसलिए प्रधानता आत्मा की है। अगर आत्मा न हो, तो बाकी के द्रव्यों की क्या कीमत है?

आप आत्मा का मूल्य बराबर समझें और उसके हित की ही प्रवृत्ति करें!

आठवाँ व्याख्यान

आत्मा का खजाना

(१)

महानुभावो !

श्रुतस्थविर भगवंत प्रणीत श्री उत्तराध्ययनसूत्र, उसका छत्तीसवाँ अध्ययन और उसमें अल्पसंसारी आत्मा का वर्णन—ये तीन बातें आपको बराबर याद होंगी। उसके अन्तर्गत आत्मा के विषय की अब तक समुचित विचारणा हुई है, परन्तु विषय अति गहन है, इसलिए अभी तत्सम्बन्धी बहुत कुछ विचारणा करनी बाकी है।

आपने किसी श्रीमंत या राजा का खजाना देखा होगा। उसमें नकद रकम, सोना, चाँदी, हीरा, मोती, माणिक, नीलम आदि जवाहरात होते हैं। कुछ राजाओं का खजाना बहुत बड़ा होता है और उसमें बहुत कीमती और अजीब चीजें संगृहीत होती हैं। कुछ समय पहले लोग बड़ौदा के नजरबाग पैलेस में गायकवाड़-सरकार के जवाहरात देखने जाते और उसमें सच्चे मोतियों की चादर देखकर आश्चर्यचकित होते।

यह कहा जाता है कि, नंदराजा के खजाने में बड़ा धन था और सिकन्दर का खजाना सोना और जवाहरात की बहुमूल्य चीजों से भरपूर था, लेकिन इन सब खजानों से आत्मा का खजाना बड़ा है और उसे आज आपके सामने खोल डालना है और फिर उसकी चाबी भी आपको ही सौंप देनी है, इसलिए पूरी सावधानी रखियेगा !

इस खजाने को खोलने से पहले उसकी दो विशेषताएँ बता दें। श्रीमंत या राजा का खजाना चोर-डाकुओं द्वारा लूटा जा सकता है, अग्नि से

जल जाता है और जल-प्रलय आदि प्रकृति की आपत्तियों से नष्ट हो जाता है, लेकिन आत्मा के खजाने को न चोर-डाकू लूट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल-प्रलयादि नष्ट कर सकते हैं। दूसरे, श्रीमंत या राजा बाहर जाये तो, या प्रवास पर निकले, तो अपने कीमती खजाने को साथ नहीं ले जा सकता। ले भी जाये, तो बड़ा खतरा उठाना पड़ता है, परन्तु आत्मा का खजाना ऐसा है कि, जहाँ जायें साथ ले जा सकते हैं और उसमे कोई खतरा नहीं उठाना पड़ता।

खजाना प्राप्त करने के लिए लोग कैसे खतरे उठाते हैं! वे अँधेरी रात मे जगल का प्रवास करते हैं, पहाड़ों की गहन गुफाओं में घुसते हैं और गहरे अधेरे भुँइधरा में भी उतरते हैं। चौतरफ सागर की तरगें उछलती हों और जहाँ खाने-पीने की वस्तुएँ भाग्य से ही मिलें, ऐसे द्वीपों मे भी जाते है और कोई उनके मार्ग में अन्तराय डाले तो उसके साथ घमासान युद्ध भी करते हैं। परन्तु, आत्मा का खजाना प्राप्त करने के लिए आपको जगलों, पहाड़ों, भुँइधरों या द्वीपों में जाने की जरूरत नहीं है। वह आपके नजदीक है, बहुत नजदीक है और उसकी वस्तुओं को आप आसानी से प्राप्त कर सकते हैं। यह कोई मामूली मौका नहीं है! परन्तु, उस खजाने का आपको वास्तविक अनुमान नहीं है, इसलिए मिला हुआ मौका हाथ से निकल जाता है और आप जिन्दगी भर दरिद्र बने रहते हैं।

धन की दरिद्रता से गुण की दरिद्रता ज्यादा खतरनाक है। एक से अन्न, वस्त्र, निवास, आदि की तगी सहन करनी पड़ती है, जब कि दूसरी से प्रगति, विकास या अभ्युदय के सब मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं और मानवता चली जाती है। इसलिए, गुण की दरिद्रता के तो साये से भी दूर रहना!

आत्मा के खजाने म बहुत से गुणरत्न भरे हुए हैं। उनमे भी दो गुणरत्न बहुत बड़े हैं। उनका प्रकाश अद्भुत है, उनका तेज अनोखा है। उनके नाम हैं—ज्ञान और दर्शन!

उत्पत्ति के क्रम से देखें तो दर्शन पहला है। और ज्ञान, दूसरा, महत्त्व की दृष्टि से ज्ञान प्रथम है, दर्शन द्वितीय।।

ज्ञान-प्राप्ति का निमित्त मिलने पर, हमें 'कुछ होने' का जो अस्फुट या सामान्य बोध होता है, उसे दर्शन* कहते हैं, और उसके रूप, रंग, अवयव, स्थान वगैरह का जो विशेष बोध होता है, उसे ज्ञान कहते है। **ज्ञायते अनेन अस्माद् वा इति ज्ञानम्**—जिसके द्वारा या जिससे जान सकें, वह ज्ञान है। इस व्याख्या के अनुसार दर्शन को भी ज्ञान का ही एक भाग कह सकते हैं, कारण कि वह वस्तु के ज्ञान होने में उपयोगी है।

जानना एक प्रकार का चैतन्यव्यापार है, इसलिए वह चेतनायुक्त द्रव्य में ही संभव है। ऐसा चेतनायुक्त द्रव्य आत्मा है, इसलिए जानने की क्रिया आत्मा में ही संभव है। गद्दी रुई की हो, मगर उसकी कोमलता पलंग को नहीं मालूम पड़ती। मिठाई चाहे जैसी स्वादिष्ट हो, पर चम्मच को उसका स्वाद नहीं आता। फूल चाहे जैसा सुगंधपूर्ण हो, पर फूलदान को उसका भान नहीं होता। मुकुट, हार आदि चाहे जितने सुंदर हों, पर मूर्ति को उनकी सुन्दरता की जानकारी नहीं होती। वीणा में स्वर की चाहे जितनी मधुरता हो, पर दीवार को उसका अनुभव नहीं होता।

चेतनाव्यापार को उपयोग कहते हैं। लेकिन, उसका जो अर्थ आप समझते हैं, उस अर्थ में नहीं। एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। इस पर एक दृष्टान्त सुनिये—

---

* जं सामान्नगहणं भावाणं नेय कट्टु आगारं।
अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिह वुच्चए समये।।

'स्फुट आकार किए बिना तथा अर्थ की विशेषता रहित भावों का जो ग्रहण होता है उसे शास्त्रों में दर्शन कहा है।

आधुनिक मानसशास्त्र इस क्रिया को 'परसेप्शन' कहता है।

भीलराजा की तीन रानियों का दृष्टान्त

तीन रानियों को साथ लेकर, भीलराजा प्रवास कर रहा था। गन्तव्य स्थान अभी बहुत दूर था। उस वक्त एक रानी ने कहा—"हे स्वामिन्! प्यास से मेरा गला सूख रहा है, पानी ला दीजिये।" दूसरी रानी ने कहा—"हे नाथ! मुझे बड़ी भूख लगी है, किसी प्राणी का शिकार कर लाओ, तो भूख मिटे।" तीसरी रानी ने कहा—"अब तो चलते-चलते जी ऊब गया है, कोई सुन्दर गीत गाओ, तो चित्त प्रसन्न हो और रास्ता आसानी से कटे।"

भीलराजा ने तीनों रानियों की बात सुनने के बाद जवाब में इतना ही कहा कि 'सरो नत्थि' उससे तीनों रानियों को ऐसा लगा कि, उनके प्रश्न का जवाब मिल गया है।

पहली समझी कि 'पास में कोई 'सर' यानी सरोवर नहीं है, पानी कहाँ से लाऊँ, ऐसा कह रहे है। दूसरी समझी कि, तरकस म 'सर' यानी बाण नहीं है, शिकार कैसे करूँ, यह बता रहे हैं। तीसरी समझी कि 'सर' यानी स्वर नहीं है, गाऊँ कैसे? यह मेरा जवाब है। इस तरह 'सर' शब्द के तीन अर्थ हुए सरोवर, बाण और स्वर।

यहाँ 'उपयोग' शब्द का अर्थ है—वस्तु के बोध के प्रति आत्मा की प्रवृत्ति* अथवा विषय की ओर अभिमुखता। शास्त्रकारों ने उसे ही जीव का लक्षण माना है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाईसवें अध्याय में 'जीवो

---

* उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोग। जिसके द्वारा जीव वस्तु के परिच्छेद यानी बोधके प्रति व्यापार करे, प्रवृत्त हो, वह उपयोग कहलाता है। अथवा उप यानी समीप, और योग यानी ज्ञान दर्शन का प्रवतन—जिसके द्वारा आत्मा ज्ञान दर्शन का प्रवतन करने के लिए अभिमुख होता है, उस चेतना व्यापार को 'उपयोग' कहते हैं।

उवओग लक्खणो' आता है† और श्री उमास्वाति महाराज ने तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय में 'उपयोगो लक्षणम्' इस सूत्र से 'जीव का लक्षण उपयोग है', ऐसा कहा है।

जीव का लक्षण उपयोग है, इसका अर्थ यह है कि, हरएक जीव में उपयोग होता है और उससे वह वस्तु का सामान्य और विशेष बोध प्राप्त कर सकता है। यहाँ आप पूछेंगे कि 'निगोद' के जीवों को भी उपयोग होता है क्या? वे क्या जान सकते होंगे? परन्तु नन्दीसूत्र मे कहा है 'सब जीवों को अक्षर का अनन्तवाँ भाग प्रकट होता है,' इसलिए उन्हें भी उपयोग होता है और वे भी कुछ जानते हैं।

यहाँ यह ध्यान में रखिये कि, उपयोग सब जीवों को होता है, पर उन सबको समान नहीं होता। कर्म के क्षयोपशम के अनुसार वह कमोबेश होता है। दीपक पर खादी का मोटा कपड़ा ढँका हुआ हो, तो उसमें से आता हुआ प्रकाश बड़ा मन्द होता है। मादरपाट का कपड़ा ढँका हुआ हो तो उसमें से आता हुआ प्रकाश कुछ ठीक होता है और शरबती मलमल ढँकी हो तो उसमें से आता हुआ प्रकाश बहुत तेज होता है। इस तरह जिस आत्मा को कर्म का आवरण गाढ़ा हो, उसका उपयोग कम होता है और जिसके कर्म का आवरण पतला हो उसका उपयोग ज्यादा होता है। आत्मा के बीच में स्थित आठ रुचक-प्रदेश सर्वथा शुद्ध रहते हैं—उनपर कर्म का आवरण नहीं होता। यदि ये प्रदेश भी कर्म से ढँक जाते, तो जड़ पदार्थ में और बिल्कुल निम्न स्तर के आत्मा में कोई अन्तर न रहता।

---

† पूरी गाथा इस प्रकार है—

वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओग लक्खणो।
नाणेण दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य॥ १०॥

काल का लक्षण है वर्तना, और जीव का लक्षण है उपयोग। वह ज्ञान और दर्शन द्वारा तथा सुख और दुःख के अनुभव द्वारा जाना जा सकता है।

ज्ञान और दर्शन इस उपयोग के ही दो प्रकार हैं। जो उपयोग साकार यानी विशेषता वाला होता है, वह ज्ञान कहलाता है और जो उपयोग अनाकार यानी सामान्य प्रकार का होता है, उसे दर्शन कहते हैं।

आप यहाँ बैठे हैं और व्याख्यान सुन रहे हैं, इसलिए आपका उपयोग व्याख्यान में है, यह कहा जा सकता है। आप गरदन फिरायें और यह देखें कि कौन आया, तो यह कहा जायेगा कि आपका उपयोग वहाँ गया। अथवा घड़ी की तरफ देखें और उसके काँटे पर नजर रखें तो आपका उपयोग वहाँ गया समझा जायेगा। इस तरह आप कोई भी वस्तु सुनें, देखें, सूँघें, चखें या छुएँ तब आपका उपयोग उसमें गया माना जायेगा। उसी प्रकार मन में कोई विचार करने लगें तो उपयोग उसमें गिना जायेगा।

हमारा उपयोग घूमता रहता है, एक ही वस्तु पर स्थिर नहीं रहता। अगर एक ही वस्तु पर स्थिर रहे, तो हमें ध्यान सिद्ध हो जाये और हमारा बेड़ा पार हो जाये, परन्तु छद्मस्थ आत्माओं को एक वस्तु का दर्शनोपयोग या ज्ञानोपयोग ज्यादा-से ज्यादा अन्तर्मुहूर्त तक होता है* उसमें दर्शनोपयोग की अपेक्षा ज्ञानोपयोग का समय सख्यात गुना ज्यादा होता है। केवलियों को दोनों उपयोग एक-एक समय के ही होते हैं।

हमारा ज्ञान वृद्धि पाता है—वह साकार उपयोग या ज्ञानोपयोग का आभारी है। उसके सम्बन्ध में शास्त्रकार भगवतों ने कहा है—सव्वाओ लद्धीओ सागारोव ओगवउत्तस्स, नो अनागारोवओगवउत्तस्स—केवल-

---

* लोकप्रकाश में कहा है कि—

समयेभ्यो नवभ्य स्यात् प्रभृत्यन्तर्मुहूर्तकम्।
समयोनमुहूर्तान्तमसङ्ख्यातविध यत ॥

'नौ समयों से लेकर अन्तर्मुहूर्त का प्रारम्भ होता है और वह मुहूर्त यानी दो घड़ी में एक समय कम तक सब समयान्तरों पर लागू पड़ता है।' समय यानी जिसके कल्पना से भी दो भाग न किये जा सकें, ऐसा काल का निर्विभाज्य भाग।

ज्ञानादि सब लब्धियाँ साकार उपयोग वाले आत्मा को होती है, पर अनाकार उपयोगवाले आत्मा को नहीं होतीं।

ज्ञान पाँच प्रकार का है (१) मति, (२) श्रुति, (३) अवधि, (४) मन पर्यव और (५) केवल।

स्पर्शनेद्रियादि पाँच इन्द्रियों और छठे मन द्वारा वस्तु का जो अर्थाभिमुख (अर्थ के समीप ले जानेवाला) निश्चित बोध हो, उसे 'मतिज्ञान' कहते है। उसका दूसरा 'आभिनिबोधिक' नाम है।

शब्द के निमित्त से इन्द्रियों और मन द्वारा जो मर्यादित ज्ञान होता है उसे 'श्रुतिज्ञान' कहते हैं।

इन्द्रिय और मन की मदद के बिना, आत्मा को प्रत्यक्ष होने वाला अमुक क्षेत्रवर्ती, अमुक कालवर्ती ज्ञान, 'अवधिज्ञान' कहलाता है।

इन्द्रिय और मन की मदद के बिना आत्मा को होनेवाला मन के पर्यायों सम्बन्धी ज्ञान 'मन·पर्यय' या 'मन·पर्यवज्ञान' कहलाता है।

जब केवलज्ञान उत्पन्न होता है, तब मति, श्रुति, अवधि और मन पर्यव ज्ञान नहीं होते, अर्थात् वह एक होता है। उस समय ज्ञानावरणी कर्म का मल जरा भी नहीं होता, वह पूर्णतम निर्मल होता है। उसमे किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं होती, वह परिपूर्ण होता है। और, आने के बाद चला नहीं जाता, यानी अनन्त होता है।

जिसे केवलज्ञान हो जाये, वह आत्मा उसी भव में सकल कर्म का क्षय करके मोक्ष जाता है, इसलिए सब मुमुक्षुओं का ध्येय इस केवलज्ञान की प्राप्ति होता है।

मिथ्यात्वी का मतिज्ञान 'मतिअज्ञान' कहलाता है, मिथ्यात्वी का श्रुत ज्ञान 'श्रुतअज्ञान' कहलाता है और मिथ्यात्वी का अवधिज्ञान 'विभगज्ञान' कहलाता है। मिथ्यात्वी को मन पयव अज्ञान या 'केवल अज्ञान' सभव नहीं है।

इस प्रकार पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान मिलकर ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का माना जाता है।

दर्शन चार प्रकार का है: (१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षुदर्शन, (३) अवधिदर्शन और (४) केवलदर्शन।

चक्षु के द्वारा वस्तु का सामान्य बोध होना चक्षुदर्शन है। चक्षु के सिवाय दूसरी इन्द्रियों तथा मन के द्वारा सामान्य बोध होना, अचक्षुदर्शन है। इन्द्रिय और मन की सहायता बिना, आत्मा को रूपी द्रव्य का जो सामान्य बोध हो वह अवधिदर्शन है और आत्मा को केवलज्ञान हो जाने के बाद जो सामान्य उपयोग हो वह केवलदर्शन है। केवलज्ञान और केवलदर्शन साथ-साथ होते हैं।

यहाँ आप प्रश्न करेंगे कि, चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन ऐसे दो भेद क्यों किये? इसका समाधान यह है कि, चक्षुदर्शन द्वारा सामान्य बोध होते हुए भी, वह दूसरी इन्द्रियों की अपेक्षा से विश्वस्त है, इसलिए उसका भेद अलग गिना। "मन पर्यवदर्शन' क्यों नहीं होता?" यह प्रश्न भी आप के मन में उठेगा। परन्तु 'मन पर्यवज्ञान' मात्र मनोगत भावनाओं का ही ज्ञान करता है, यानी उसका विषय है—आलोचनात्मक ज्ञान, मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान, इसलिए उसमें मन पर्यवदर्शन नहीं होता।

आठ प्रकार का ज्ञानोपयोग और चार प्रकार का दर्शनोपयोग मिलकर कुल बारह प्रकार के होते हैं।

आत्मा जब जानवर की योनि में जाती है, तब उसका ज्ञान मनुष्य की अपेक्षा कम हो जाता है। चार-इन्द्रिय में, उससे कम, तीन-इन्द्रिय म उससे कम, दो इन्द्रिय में उससे कम और एक-इन्द्रिय में उससे कम होता है। जैसे सोना घटते-घटते भी सोना ही रहता है, उसी प्रकार ज्ञान कम होते-होते भी आत्मा आत्मा ही रहता है।

मनुष्य योनि में ज्ञान का बहुत विकास हो सकता है, ठेठ केवलज्ञान तक पहुँचा जा सकता है, इसीलिए उसे श्रेष्ठ भव गिना जाता है। मनुष्य

का भव मिलने पर भी जो ज्ञान का विकास नहीं करते, उनके लिए शास्त्र-कारों ने ये शब्द कहे हैं—

ज्ञान विना पशु सरीखा, जाणो श्रेणे ससार,
ज्ञान आराघन थी लह्युं, शिवपद सुख श्रीकार।

इस ससार में जो ज्ञानरहित हैं, जो अपने स्वाभाविक ज्ञान गुण का विकास नहीं करते, वे पशु तुल्य हैं। जिन्होंने ज्ञान की आराधना उपासना की, उन्होंने श्रीकार-जैसा मोक्ष पद प्राप्त किया।

ज्ञान—मति, अक्ल—के बिना सामान्य व्यवहार भी नहीं चलते, इसीलिए अनुभवी पुरुषों ने कहा है—"अपनी अक्ल न पहुँचती हो तो दूसरे की अक्ल लेनी चाहिए।" पदभ्रष्ट मत्री ने दूसरे की अक्ल ली, तो पुन मत्री पद पर प्रतिष्ठित हुआ और सुखी हुआ।

अक्ल लेनेवाले पदभ्रष्ट मंत्री की कथा

एक राजा का मत्री सरल स्वभावी था, परन्तु नायब मत्री महा खट-पटी था। चन्द्र के लिए राहु के समान वह मुख्यमत्री के खिलाफ रोज राजा के कान भरा करता। सतत घर्षण से रस्सी से पत्थर में भी निशान पड़ जाता है, तो जीवित मनुष्य की तो बात ही क्या है? रोज बाते भरने से राजा भरमा गया और उसने मत्री को पदभ्रष्ट कर दिया और उसका स्थान नायब मत्री को दे दिया। परन्तु, नायब मत्री को इतने से सन्तोष न हुआ। उसने अनेक प्रकार के दाँव पेचों से मत्री की सारी सम्पत्ति जब्त करा ली।

मत्री ने विचार किया—"अब इस गाँव में रहना ठीक नहीं है। मत्री-पद गँवाया, पैसा खोया, अब शायद जान की बारी आ जाये, इसलिए कहीं और चलकर किस्मत आजमायी जाये।" उस वक्त उसके पास सिर्फ सवा सौ रुपये बचे थे, उन्हें लेकर दूसरे गाँव के लिए चल पड़ा।

कुछ दिनों बाद वह एक शहर में पहुँचा। वहाँ एक दुकान देखी।

उसके ऊपर 'अक्ल की दुकान' ऐसा बोर्ड लगा हुआ था। उसने आज तक बहुत प्रकार की दुकानें देखी थीं, पर 'अक्ल की दुकान' कभी नहीं देखी थी। इसलिए वह आश्चर्य और कुतूहल से दुकान पर पहुँचा।

दुकान में एक आदमी बैठा-बैठा पढ़ रहा था। उसके इर्द गिर्द अल्मारियों में किताबों के अलावा कुछ नहीं था। दुकानदार ने पूछा—"क्यों भाई! क्या चाहिए?" मत्री ने कहा—"क्या आप अक्ल बेचते हैं? क्या अक्ल भी खरीदी जा सकती है?" दुकानदार ने कहा—"जरूर हमारे यहाँ से खरीदी जा सक्ती है। कहिये आपको कितने वाली अक्ल चाहिये? न्यूनतम कीमत पचीस रुपये है, ज्यादा तो चाहिये जितनी।"

इस जवाब को सुनकर मत्री ने विचार किया—"मेरे पास सवा सौ रुपये हैं। उसमे से पच्चीस रुपये वाली एक अक्ल ली जाये।" उसने दुकानदार से कहा—"मुझे पच्चीस रुपये वाली अक्ल दीजिये।"

दुकानदार ने कहा—"रुपये पहले दीजिये, माल बाद म मिलेगा।" इसलिए मत्री ने पच्चीस रुपये नकद गिन दिये। दुकानदार ने पैसे गल्ले में रख लिये, फिर मत्री से कहा—"सफर में अकेला नहीं जाना चाहिए।" यह सुनकर मत्री को लगा कि, पैसे पानी मे गये। इसने इसमें नयी बात क्या कही? पर, हारा जुवारी दूना खेलता है, इस न्याय से उसने दूसरे पच्चीस रुपये देकर कहा—"दूसरी अक्ल दे दीजिये।" उसने सोचा—"इस बार पहले की कसर निकल जायेगी।"

दुकानदार ने उन पच्चीस रुपयों को गल्ले म रखकर कहा—"पाँच आदमी कहें, वह बात माननी चाहिए।" परन्तु मत्री को इस अक्ल म भी कुछ खास नया नहीं लगा। इसलिए तीसरे पच्चीस रुपये देकर कहा—"इस बार कोई बढिया अक्ल दीजिये।" उसने रुपये ठिकाने रखकर कहा "जिस जगह सब स्नान करते हों, वहाँ स्नान न करना चाहिये।"

"इसमें इसने क्या अक्ल दे डाली!" यह सोच कर मत्री को बड़ी कसमसाहट हुई। लेकिन, एक बार और आजमाया जाये, यह सोच कर

उसने चौथे पच्चीस रुपये दिये। उसने रुपये लेकर कहा—"कोई भी गुप्त बात स्त्री से न कहनी चाहिए।"

मंत्री ने विचार किया—"यह तो गजब हो गया! अगर इतना रुपया खाने-पीने के लिये रखा होता तो कितना अच्छा होता!" पर, घटना के बाद होशियारी किस काम की?

दुकानदार उसके चेहरे से समझ गया कि, इसे इन चार सलाहों से सन्तोष नहीं हुआ, इसलिए उसने कहा—"क्यों भाई! तुझे मेरी इन सलाहों पर विश्वास नहीं आता? ये बातें जब तक विचार रूप में हैं, तब तक तुझे यही लगता रहेगा कि इनमें क्या है! पर, जब तू इनका अनुभव करेगा, तब इनकी महत्ता समझेगा। फिर भी अगर तू पच्चीस रुपये और खर्च करे तो तुझे एक ऐसी चमत्कारिक वस्तु दूँ कि, जिसका फल तुझे अभी मिल जाये।"

अब पच्चीस रुपये खर्चना माने जेब की सारी पूँजी साफ कर डालनी! इससे मंत्री बड़ी उलझन में पड़ा। पर 'मुँड़वाने बैठे हैं तो पूरी तरह मुँड़वा लें', यह सोच कर उसने बाकी के पच्चीस रुपये भी उस दुकानदार को दे दिये। इस बार दुकानदार ने अपने पास से कुछ बीज निकाल कर रेती पर बिछाये और उनपर पानी डाला कि, तुरन्त शक्करटेंटी की बेलें फूट निकलीं और देखते-देखते उसपर सुन्दर मजेदार टेंटी आ गयीं। टेंटी तोड़ कर मंत्री को खिलायीं तो अमृत-सी मीठी लगीं। फिर उस दुकानदार ने कहा—"इसमें खूबी तो यह है कि, इस तरह जो टेंटी पैदा होंगी, उनके बीज भी ऐसे ही उगेंगे।" फिर उसके कुछ बीज उसने मंत्री को दिये। यह आखिरी चीज मंत्री को अच्छी लगी। इसलिए पैसे जाने का अफसोस बहुत कम हो गया। उसने विचार किया—'अब परदेश जाने की जरूरत क्या है? इस बीज की करामात से ही चाहे जितना पैसा पैदा किया जा सकता है! इसलिए घर की तरफ चला जाये।'

वह घर की तरफ मुड़ा कि, पहली अक्ल सामने आ गयी कि 'सफर में

उसके ऊपर 'अक्ल की दुकान' ऐसा बोर्ड लगा हुआ था। उसने आज तक बहुत प्रकार की दुकानें देखी थीं, पर 'अक्ल की दुकान' कभी नहीं देखी थी। इसलिए वह आश्चर्य और कुतूहल से दुकान पर पहुँचा।

दुकान में एक आदमी बैठा-बैठा पढ रहा था। उसके इर्द गिर्द अल्मारियों में किताबों के अलावा कुछ नहीं था। दुकानदार ने पूछा—"क्यों भाई! क्या चाहिए?" मत्री ने कहा—"क्या आप अक्ल बेचते हैं? क्या अक्ल भी खरीदी जा सकती है?" दुकानदार ने कहा—"जरूर हमारे यहाँ से खरीदी जा सकती है। कहिये आपको कितने वाली अक्ल चाहिये? न्यूनतम कीमत पच्चीस रुपये है, ज्यादा तो चाहिये जितनी।"

इस जवाब को सुनकर मत्री ने विचार किया—"मेरे पास सवा सौ रुपये हैं। उसमे से पच्चीस रुपये वाली एक अक्ल ली जाये।" उसने दुकानदार से कहा—"मुझे पच्चीस रुपये वाली अक्ल दीजिये।"

दुकानदार ने कहा—"रुपये पहले दीजिये, माल बाद म मिलेगा।" इसलिए मत्री ने पच्चीस रुपये नकद गिन दिये। दुकानदार ने पैसे गल्ले में रख लिये, फिर मत्री से कहा—"सफर में अकेला नहीं जाना चाहिए।" यह सुनकर मत्री को लगा कि, पैसे पानी मे गये। इसने इसमें नयी बात क्या कही? पर, हारा जुवारी दूना खेलता है, इस न्याय से उसने दूसरे पच्चीस रुपये देकर कहा—"दूसरी अक्ल दे दीजिये।" उसने सोचा—"इस बार पहले की कसर निकल जायेगी।"

दुकानदार ने उन पच्चीस रुपयों को गल्ले म रखकर कहा—"पाँच आदमी कहें, वह बात माननी चाहिए।" परन्तु मत्री को इस अक्ल में भी कुछ खास नया नहीं लगा। इसलिए तीसरे पच्चीस रुपये देकर कहा—"इस बार कोई बढिया अक्ल दीजिये।" उसने रुपये ठिकाने रखकर कहा "जिस जगह सब स्नान करते हो, वहाँ स्नान न करना चाहिये।"

"इसमें इसने क्या अक्ल दे डाली!" यह सोच कर मत्री को बड़ी कसमसाहट हुई। लेकिन, एक बार और आजमाया जाये, यह सोच कर

उसने चौथे पच्चीस रुपये दिये। उसने रुपये लेकर कहा—"कोई भी गुप्त बात स्त्री से न कहनी चाहिए।"

मंत्री ने विचार किया—"यह तो गजब हो गया! अगर इतना रुपया खाने-पीने के लिये रखा होता तो कितना अच्छा होता!" पर, घटना के बाद होशियारी किस काम की?

दुकानदार उसके चेहरे से समझ गया कि, इसे इन चार सलाहों से सन्तोष नहीं हुआ, इसलिए उसने कहा—"क्यों भाई! तुझे मेरी इन सलाहों पर विश्वास नहीं आता? ये बातें जब तक विचार रूप में हैं, तब तक तुझे यही लगता रहेगा कि इनमें क्या है! पर, जब तू इनका अनुभव करेगा, तब इनकी महत्ता समझेगा। फिर भी अगर तू पच्चीस रुपये और खर्च करे तो तुझे एक ऐसी चमत्कारिक वस्तु दूँ कि, जिसका फल तुझे अभी मिल जाये।"

अब पच्चीस रुपये खर्चना माने जेब की सारी पूँजी साफ कर डालनी! इससे मंत्री बड़ी उलझन में पड़ा। पर 'मुँड़वाने बैठे हैं तो पूरी तरह मुँड़वा लें', यह सोच कर उसने बाकी के पच्चीस रुपये भी उस दुकानदार को दे दिये। इस बार दुकानदार ने अपने पास से कुछ बीज निकाल कर रेती पर बिछाये और उनपर पानी डाला कि, तुरन्त शक्करटेंटी की बेलें फूट निकलीं और देखते-देखते उसपर सुन्दर मजेदार टेंटी आ गयीं। टेंटी तोड़ कर मंत्री को खिलायीं तो अमृत सी मीठी लगीं। फिर उस दुकानदार ने कहा—"इसमें खूबी तो यह है कि, इस तरह जो टेंटी पैदा होंगी, उनके बीज भी ऐसे ही उगेंगे।" फिर उसके कुछ बीज उसने मंत्री को दिये। यह आखिरी चीज मंत्री को अच्छी लगी। इसलिए पैसे जाने का अफसोस बहुत कम हो गया। उसने विचार किया—'अब परदेश जाने की जरूरत क्या है? इस बीज की करामात से ही चाहे जितना पैसा पैदा किया जा सकता है! इसलिए घर की तरफ चला जाये।'

वह घर की तरफ मुड़ा कि, पहली अक्ल सामने आ गयी कि 'सफर में

अकेला नहीं जाना ।" पर, यहाँ साथ किसका किया जाये ? कुछ देर विचार करके उसने इधर उधर देखा तो झाड़ के नजदीक पड़ा हुआ एक साही नजर आया । साही (पशु) गोल गेंद की तरह होता है । उसके चारों तरफ तीक्ष्ण काँटे होते है । खाने वगैरह के लिए वह मुँह बाहर निकालता है, वर्ना छिपाये रखता है ।

'जब दूसरा और कोई साथ नहीं मिलता, तो यह साही ही क्या बुरा है ? यह भी तो जीव है ।' यह सोच कर मत्री ने उसे थैले में डाला और सफर शुरू कर दिया ।

शाम के वक्त जब वह एक झाड़ी के सामने आया, तो बहुत थका हुआ था । सोने का विचार करके वह एक पेड़ के नीचे लेट गया । वहाँ उसे साही याद आया । अगर उसे खुला छोड़ दे, तो फिर पता लगाना मुश्किल हो जाये । इसलिए, थैले में से रस्सी निकाल कर उसने उससे साही का एक पैर बाँधा और दूसरे सिरे से अपना पैर बाँधा । इससे साही आजादी से हिर फिर तो सकता था पर भाग जानासम्भव न था । फिर, वह पड़ते ही खुर्राटों की नींद सोने लगा ।

सुबह उठकर देखा तो भयकर दृश्य दिखायी दिया । थोड़ी दूर पर देखा कि, एक काला नाग लोहूलुहान हालत में निष्प्राण पड़ा है । और उसकी पूँछ साही के मुँह में है । यह देखकर मत्री समझ गया कि, रात मेरा काल आ पहुँचा था, पर इस साही ने उससे लड़कर मुझे बचा लिया । उस वक्त उसने उस दुकानदार की दी हुई अक्ल के लिए आभार माना और भविष्य म उसी के अनुसार बर्तने का निर्णय किया ।

शाम को एक गाँव में पहुँचा । वहाँ सराय मे उतरा और अपने-सरीखे अनेक मुसाफिरों के साथ सो रहा । सुबह उठकर देखा कि, एक के सिवाय बाकी सब मुसाफिर उठकर चले गये थे । मालूम करने पर विदित हुआ कि, वह न उठने वाला मुसाफिर रात्रि में मृत्यु को प्राप्त हो गया है ।

कुछ देर बाद गाँव के लोग सराय पर इकट्ठे हुए। तब प्रश्न यह खड़ा हुआ कि, इसे स्मशान कौन पहुँचाये? मुसाफिर बिल्कुल अनजान था, उसका कोई सगा सम्बन्धी वहाँ था नहीं। इसलिए सब लोगों ने उससे कहा कि 'तुम इसे स्मशान पहुँचा दो', उस वक्त मंत्री को दूसरी अक्ल याद आयी कि 'पाँच आदमी कहें सो करना।' इसलिए, मंत्री उसको कन्धे पर उठाकर स्मशान ले गया, उसे अग्निदाह देने से पहले उसका शरीर देखा तो कमर से एक बसनी बँधी मिली। वह अशर्फियों से भरी हुई थी। मंत्री ने वह निकाल ली और मुर्दे को अग्निदाह किया। इस तरह दूसरी अक्ल फली देखकर, मंत्री के आनन्द का पार नहीं रहा।

अग्निदाह देने के बाद वह स्नान करने के लिए नदी पर गया। वहाँ घाट पर बहुत से लोग नहा रहे थे। उस वक्त तीसरी अक्ल याद आयी कि, 'जहाँ सब स्नान करते हों वहाँ स्नान न करना'। इसलिए, घाट से थोड़ी दूर पर एक अच्छी जगह ढूँढ ली। झटपट स्नानादि क्रिया पूरी करके क्षुधा मिटाने के लिये गाँव की तरफ चला। कुछ दूर जाने परउसे बसनी याद आयी। स्नान करते वक्त उसने उसे नदी के किनारे पर रख दी थी पर जल्दी में लेना भूल गया! 'बसनी का क्या हुआ होगा!'—यह सोचकर वह बड़ा घबराया दौड़ कर नदी किनारे पहुँचा। वहाँ बसनी ज्यों-की-त्यों पड़ी हुई थी। यह देख कर उसकी जान में जान आयी। इस तरह तीसरी अक्ल भी फलदायक बनी। उसके लिए वह दुकानदार का आभार मानने लगा।

कुछ दिनों के बाद वह घर पहुँचा और उत्साह के आवेश में स्वयं अनुभव की हुई सारी बात अपनी पत्नी को बतला दी। उस वक्त उसे ख्याल न रहा कि, वह चौथी अक्ल को भंग कर रहा है। तिस पर उसने वे चीज भी पत्नी को दे दिये।

दूसरे दिन सुबह वह राजदरबार में गया। राजा ने उसका स्वागत करके कुशल-समाचार पूछा। नायब मंत्री को यह अच्छा नहीं लगा। कैसे

लगे ? जिसका दिल सिर्फ स्वार्थ और लुच्चाई से भरा हो वह दूसरे को अच्छा और सुखी नहीं देख सकता। उस वक्त मत्री ने बातों-बातों में कहा कि 'महाराज' इस जगत् में चमत्कार जैसी भी चीज है। यह सुन कर नायब मत्री बोला—"इस जगत में चमत्कार जैसी कोई चीज है ही नहीं। यह तो लोगों को फँसाने के लिए चालबाजी है, अगर सचमुच चमत्कार है, तो साबित कीजिये।"

यह सुनकर मत्री को भी ताव चढ़ा। उसने कहा—"अगर मैं साबित करके दिखा दूँ तो किसकी शर्त लगाता है?" उसने कहा—"जो जीतें वह दूसरे के घर जाये और जिस वस्तु को हाथ लगादे वह जीतनेवाले की।" मत्री ने यह शर्त मजूर कर ली। अब उसे अक्ल देने वाले पर पूरी श्रद्धा हो गयी थी। उसे राजा को अपनी बुद्धि-प्रतिभा दिखलाने का भी हौंसला था, इसलिए राजा को साक्षी रख कर उसने कहा—"ये बीज शकरटेंटी के हैं। उन्हें रेती पर रखकर उस पर पानी छिड़कूँगा कि, वे फूटेंगी और उसकी शकरटेंटी आपको खाने को मिलेगी।" यह सुनकर नायब मत्री व्यग्य की हँसी हँसने लगा।

मत्री ने बीज रेती पर रखे और पानी डाला, और परिणाम की राह देखने लगा, लेकिन काफी देर हो जाने पर भी उन बीजों में कोई फेरफार नहीं हुआ। यह देखकर मत्री हकबका गया। वह समझ न सका कि यह कैसे हुआ? सब अक्लों के फल जाने के बाद यह बाधा क्यों आयी? उसने अपनी हार मजूर कर ली लेकिन शर्त का अमल होने के लिये पन्द्रह दिन की मोहलत माँगी। नायब मत्री को जीत का मद था। वह राजा के सामने अपनी उदारता का भी प्रदर्शन करना चाहता था; इसलिए उसने पन्द्रह दिन की मोहलत कबूल कर ली।

मत्री घर वापस न जाकर, मजिल-दर-मजिल अक्ल बेचने वाले दुकानदार के पास पहुँचा और सारा हाल कह सुनाया। दुकानदार ने कहा—"इसमें तुमने एक जगह भूल खायी है। सब बात बी मे नहीं कहनी

थी। अगर तुमने उससे बात न की होती, तो सब कुछ ठीक हो गया होता। मुझे लगता है कि, तुम्हारी स्त्री और नायब मंत्री मिले हुए हैं और उन्होंने तुम्हें नीचा दिखाने के लिए उनने यह षड्यन्त्र रचा है। तुम इन बीजों को गौर से देखोगे तो मालूम होगा कि ये सिके हुए हैं।"

फिर दुकानदार ने अपने पास से दूसरे बीज निकाल कर फिर प्रयोग कर दिखाया और नये बीज दिये और क्या करना चाहिये, इसके बारे में कुछ सलाह भी दी। इससे मंत्री को सन्तोष हुआ और अपने गाँव वापस आया। पर, वह घर न जाकर सीधा राजदरबार में गया और राजा से यह कह कर कि, अब मैं अपनी शर्त पालने के लिये तैयार हूँ। 'आप नायब मंत्री को साथ लेकर घर पधारें', कहकर वह अपने घर चला गया।

मंत्री का घर पुराने ढंग का था। ऊपर पाटन पर चढ़ने के लिए एक सीढ़ी रखनी पड़ती थी। उसने सीढ़ी के द्वारा पत्नी को ऊपर भेज दिया और नीचे की हर चीज ऊपर चढ़ा दी। फिर, पत्नी को भी ऊपर ही रहने दिया। उसे यूँ समझा दिया कि तू ऊपर होगी तो जिस चीज की जरूरत होगी उसे नीचे दे सकेगी। ऐसा कहकर उसने सीढ़ी हटा दी।

थोड़ी देर बाद राजा उस नायब मंत्री को लेकर मंत्री के घर आया। मंत्री ने उनका स्वागत किया। अब नायब मंत्री चारों तरफ नजर डालकर देखने लगा, पर जिस चीज पर हाथ रखना है वह तो दिखायी ही नहीं दे रही थी। उस वक्त मंत्री की पत्नी ने शर्म छोड़ कर कहा—"मैं ऊपर बैठी हूँ।" नायब मंत्री ने उसके सर पर हाथ रखने के विचार से ऊपर चढ़ने का निर्णय किया और वहाँ पड़ी हुई सीढ़ी उठा कर मेढ़े पर लगायी। उसी वक्त मंत्री ने कहा—"बस, अपनी शर्त पूरी हो गयी। आपने इस सीढ़ी को हाथ लगाया है। इसलिए, यह सीढ़ी आप की हो गयी।" तभी नायब मंत्री को भान हुआ कि, उसने गम्भीर भूल खायी है। पर, अब दूसरा उपाय नहीं था।

उस वक्त मंत्री ने कहा—"महाराज! यह सब तो हुआ, पर मुझे

आपको टेंटी वाला चमत्कार दिखाना ही है।" यह कह कर उसने अपने पास से बीज निकाले और रेती पर डाल कर पानी छिड़का कि, तुरन्त उनमें से बेलें फूटीं और शक्करटेंटी तैयार हो गयीं। राजा को चखायीं तो अमृत-जैसी मीठी लगी। वह बड़ा खुश हुआ। उसने मन्त्रीसे पूछा—"अगर इस बीज में ऐसी शक्ति है, तो पहले क्यों नहीं हुआ ?" मन्त्री ने कहा—"इस नायब मन्त्री की दगाबाजीसे। ये बीज रातोंरात सेक दिये गये थे।" इस उत्तर से राजा समझ गया कि, नायबमन्त्री ने सीढ़ी पर हाथ रखा सो सीढ़ी लेने के लिए नहीं, पर सीढ़ी से ऊपर चढ़ कर मन्त्री की स्त्री पर हाथ रखने के लिए ही रखा था। उसने जान लिया कि यह मन्त्री दुराचारी है और मेरे सच्चे मन्त्री को खोटी चाल से परेशान करना चाहता है। इसलिए, राजा को नायब मन्त्री पर बड़ा क्रोध आया और उसके गले में वह सीढ़ी बाँध कर उस सारे गाँव में फिराया। फिर, उसे पदभ्रष्ट करके देश निकाला दे दिया और उसका स्थान पुराने मन्त्री को दे दिया।

इस तरह अक्ल मिलने से पदभ्रष्ट मन्त्री फिर अपने स्थान पर आरूढ़ हुआ और सुखी हुआ।

ज्ञान के प्रकार और उसके अन्य गुणों के विषय में ज्ञानी महाराज ने जो देखा होगा, वह अब बाद में कहा जायेगा।

नवाँ व्याख्यान

आत्मा का खजाना

(२)

महानुभावो !

व्याख्यान के प्रारम्भ में श्री उत्तराध्ययनसूत्र और उसका छत्तीसवें अध्ययन को याद कर लें, क्योंकि वह आत्मा के प्रकृत विषय का उद्गम-स्थान है। लोग नदी से ज्यादा नदी के उद्गम को अधिक पवित्र मानते हैं, इसीलिए नदी की परिक्रमा करते-करते उसके उद्गम तक पहुँचते हैं। हर वर्ष हजारों लोग हिमालय के गंगोत्री-जमनोत्री की यात्रा को जाते हैं, क्योंकि वे गंगा और यमुना के उद्गम स्थान माने जाते हैं।

कल आत्मा का खजाना खोला और उसके जवाहरात परखने शुरू किये, तो ज्ञान-दर्शन आपकी नजरों में चढे। उनमें भी ज्ञान ने आपका ध्यान विशेषरूप से खींचा। आज इस ज्ञान के विषय में ही आपसे कुछ विशेष कहना है।

ज्ञान आत्मद्रव्य की विशेषता है। वह आपको किसी जड़ पदार्थ में नहीं मिलेगी। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय ये पाँच जड़ हैं। इनमें से किसी में ज्ञान नहीं होता।

आत्मा ज्ञान के द्वारा पदार्थ को जानता है और देखता है, उस पर श्रद्धा करता है तथा हेय उपादेय का विवेक करके चारित्रमार्ग मे आगे बढने के लिए शक्तिमान होता है अर्थात् ज्ञान धार्मिक प्रगति का मूल है, आध्यात्मिक विकास का पाया है और सिद्धि-सोपान चढने का

साधन है। **'पढमं नाणं तओ दया' 'नाणकिरियाहिं मोक्खो', 'सम्यक् ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष.'**, आदि सूत्र जिन-प्रवचन मे प्रचलित हैं। उनका अर्थ यह है कि दया, सयम या किसी प्रकार की धार्मिक क्रिया करनी हो तो पहले ज्ञान चाहिए। ज्ञान न हो तो ये क्रियाएँ ठीक नहीं हो सकतीं, न अपना सच्चा फल प्रदान कर सकती है।

'जीवों पर दया करना' यह तो गुरुमुख से सुना, परन्तु जीव किसे कहा जाता है? अजीव किसे कहा जाता है? जीवका लक्षण क्या है? जीव कितने प्रकार के हैं? यह न जाना जाये, तो जीव दया कैसे पाली जा सकती है? इसी प्रकार समय तथा दूसरी सब क्रियाओं के विषय में समझना चाहिए।

सथारापोरिसी में एक गाथा आती है

एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बहिरा भावा, सव्वे सजोगलक्खणा॥

इस गाथा का अर्थ पूरे रूप म समझने योग्य है। आत्मा का अनुशासन कैसे करना—आत्मा को ठिकाने किस तरह रखना? इस सम्बन्ध में यह गाथा कही गयी है। वहाँ पहले यह चिन्तन करना है कि **'एगो हं नत्थि मे कोइ'**—मैं इस जगत् मे अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है। **'नाहमन्नस्स कस्सइ'**—उसी प्रकार मैं भी किसी का नहीं हूँ। जिनके सगे-सम्बन्धी मर गये है, वे दीन है, रक है, लोग ऐसा विचार करते हैं, पर यहाँ तो ऐसी दीनता से यह विचार नहीं करना है। यहाँ तो आत्मा की सच्ची परिस्थिति समझकर विचार करना है। इसीलिए कहा है कि **'एव अदीणमणसो अप्पाणमणुसासई'**—इस तरह अदीन मन से आत्मा का अनुशासन करे।

फिर जो चिन्तन करना है, सो इस गाथा में कहा है—**'एगो मे सासओ अप्पा'**—एक मेरा आत्मा ही शाश्वत है। यह आत्मा कैसा है? **'नाणदंसणसजुओ'**—ज्ञान और दर्शन मे युक्त है। ज्ञान और दर्शन

आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं, अर्थात् वे किसी समय आत्मा से अलग नहीं होते, इसीलिए आत्मा को ज्ञान दर्शन युक्त कहा है। यहाँ किसी को ऐसा प्रश्न भी हो सकता है, कि 'अगर आत्मा अकेला ही है, तो माता, पिता, भाई, बहन, पत्नी, परिवार, सगे-सम्बन्धी, इष्टमित्र, आदि' क्या हैं? क्या वे अपने नहीं हैं?' तो वहाँ यह समझना कि **'सेसा मे बहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा'**—ज्ञान और दर्शन के सिवाय सब भाव बहिर्भाव हैं, कारण कि वे जन्म के संयोग से प्राप्त हुए हैं, यानी इस जन्म तक के लिए हैं, दूसरे जन्म में साथ नहीं आने वाले। जिन्हें आप 'मेरा-मेरा' कहते हैं और जिन्हें पालने, पोसने और खुश रखने के लिए न करने योग्य काम भी करने लगते हैं, वे आपको दो कदम पहुँचाकर लौट आते हैं। उनमें से कोई साथ नहीं आता। तब क्या धनमाल साथ आता है? गहनों की डिब्बियाँ, नोटों के बंडल, आलीशान इमारतें, सब यहीं पड़े रह जाते हैं। आत्मा इन वस्तुओं के मोह से दुःखी होता है और दुर्गति में जाता है। इसलिए, ये सब संयोग आत्मा को दुःखदायी होने के कारण त्याज्य हैं।

आत्मा अकेला आया है और अकेला जायेगा, इस तथ्य में कभी कोई अंतर नहीं पड़ सकता।

आत्मा की ज्ञानशक्ति बहुत बड़ी है। लोग अणुबम और अणुशस्त्रों की बात सुनकर चकित हो जाते हैं। पर, उनका आविष्कार किया किसने? ज्ञान ने या और किसी ने?

अणुशक्ति में पुद्गल के अणु का स्फोट करने की अद्भुत् शक्ति मानी जाती है, पर आत्मा ज्ञानशक्ति से करोड़ों वर्ष के संचित कर्मों को क्षणमात्र में भस्म कर देता है। कहा है कि—

ज्ञानी सासोसासमें, करे कर्म नो खेह,
पूर्व कोडी वरसा लगें, अज्ञाने करे तेह,

'अज्ञानी जिन कर्मों का क्षय करोड़ो वर्षों के परिश्रम से कर सकता है, ज्ञानी उन कर्मों का क्षय मात्र श्वासोच्छ्वास के समय में कर डालता है।'

इसे कोई अतिशयोक्ति न माने, अतिशयोक्ति तो कवि करते है, जैन-महर्षि नहीं करते। वे तो जैसा हो वैसा कहते है। लेकिन, आपकी बुद्धि दृष्टान्त और तर्क की आदी है। अन्य विषयों की तरह इस विषय में भी आपका समाधान एक दृष्टान्त से करेंगे।

इलापुत्र का दृष्टान्त

धनदत्त सेठ सब प्रकार से सुखी था, पर उसके एक भी पुत्र नहीं था। लोग पुत्र के लिए क्या नहीं करते? अनेक ज्योतिषियों से पूछते हैं, भूत-प्रेत क्रिया करनेवालो मे मिलते हैं, देव देवियो की मान्यताएँ करते हैं। धनदत्त सेठ को भी, यह सब कुछ कर चुकने के बाद, इलादेवी की कृपा से एक पुत्र हुआ, इसलिए उसने उसका नाम इलापुत्र रखा।

अकेला पुत्र और श्रीमतघर! इसलिए उसके लाड़ प्यार में क्या कमी रह सकती थी? 'दिन दूना रात चौगुना' बढकर वह बड़ा हुआ और अनुक्रम से युवावस्था को प्राप्त हुआ। इस अवस्था में मनुष्य को विषया-भिलाषा जागृत होती है और अगर पूर्वसंस्कारों का बल पर्याप्त परिमाण में न हुआ, तो उसके हाथों अनेक अनर्थ हो जाते हैं। इलापुत्र का भी ऐसा ही हुआ।

एक बार नट लोग तमाशा दिखलाने आये। उनकी एक युवती पुत्री को देखकर इलापुत्र मोहित हो गया। 'अगर शादी करूँगा तो इस नटपुत्री से ही करूँगा', ऐसा संकल्प कर लिया। फिर वह अनमना होकर एक टूटी खाट पर पड़ा रहा। माता पिता ने उसे बहुत मनाया, तो बोला "आप

हमारे मकान के नीचे जो नट लोग तमाशा दिखला रहे थे, उनकी पुत्री की शादी मेरे साथ हो तो हाँ, नहीं तो ना।"

पिता ने कहा—"अपने यहाँ सुन्दर कन्याओं की क्या कमी है कि, तू उस नटपुत्री से शादी करने की इच्छा करता है?" पर, इलापुत्र ने न माना। आखिर धनदत्त सेठ ने नटों को बुलाकर कहा कि—"तुम चाहे जितना धन ले लो, पर अपनी पुत्री को मेरे पुत्र के साथ व्याह दो।" नटों ने कहा—"सेठ! हम अपनी पुत्री की बिक्री नहीं करना चाहते। लेकिन, अगर आपका पुत्र हमारे साथ रहे और हमारी सब विद्याएँ सीखकर किसी राजा को रिझाये और उससे बड़ा इनाम पाये, तो उसके साथ अपनी पुत्री की शादी कर देंगे।"

इस शर्त को अपमानजनक मानकर धनदत्त सेठ ने साफ इनकार कर दिया। पर, इलापुत्र का मन नटी से चिमटा हुआ था, इसलिए उसने यह शर्त मजूर कर ली और माता पिता और धन वैभव का त्याग करके, नटनी के साथ चल पड़ा। मोह से मनुष्य के मन कैसी व्याकुलता पैदा हो जाती है, उसका यह नमूना है।

नटों के साथ रहकर, इलापुत्र उनकी सब विद्यायें सीख गया और राजा को रिझाने के इरादे से वह बेनातट नगर म आया। वहाँ राजा की आज्ञा लेकर राजमहल के निकटस्थ चौक में खेल करने लगा। आजकल 'सर्कस' का खेल देखकर लोग दाँतों में उँगली दबा लेते हैं, पर हमारे नटों के खेल उनसे बहुत बढ़कर थे। बाँस पर बाँस बाँधे और उस पर भी बाँस बाँधे, फिर सर पर सात घड़ा एक के ऊपर एक लेकर उस पर चढ़ जाये। उसमें न उसका पग डिगे न एक भी बेड़ा टूटे। उसी तरह हाथ में छुरी, बाँका या तलवार लेकर बाँस पर चढ़ कर उसके अनेक प्रकार के खेल दिखलावे। इलापुत्र भी ऐसे अद्भुत खेल करने लगा। राजा और रानी उन खेलों को देखने के लिए झरोखे पर आकर बैठे और लोग चौक में इकट्ठे हो गये।

इलापुत्र बाँस पर चढ गया और नटपुत्री पग में घुँघरू बाँधकर किन्नर स्वर से गा-गाकर ढोल बजाने लगी। इलापुत्र को दृढ विश्वास था कि राजा इस खेल से जरूर खुश होगा और नटपुत्री हमेशा के लिए मेरी हो जायेगी। पर, राजा ने जब नटपुत्री का अद्भुत सौन्दर्य देखा तो उसकी स्वय की नीयत बिगड़ गयी। वह सोचने लगा कि—"अगर यह नट बाँस से नीचे गिर पड़े और मर जाये तो इस नटपुत्री को मैं अपने रनवास में रख लूँ।' यह भी कर्म की एक विचित्रता ही कही जायेगी कि जिसे रिझाना है, जिसे रिझाकर बड़ा इनाम लेना है, वह ही मन में दुष्ट विचार करने लगा।

इलापुत्र ने खेल बड़ा अद्भुत् किया और लोग बड़े खुश हुए, पर राजा नहीं रीझा। इसलिए वह बाँस पर फिर चढा। फिर भी नतीजा वही निकला। अगर राजा न रीझा तो बारह वर्ष तक की हुई मेहनत फिजूल ही चली जायगी, यह सोचकर इलापुत्र तीसरी बार, चौथी बार बाँस पर चढ़ा और अपनी विद्या का कमाल दिखलाया। पर, जिसके दिल में पहले से ही गाँठ हो वह क्यों रीझने लगा?

लोग सोचने लगे कि, ऐसे अद्भुत् खेल से भी राजा क्यों नहीं खुश होता? जरूर कुछ दाल मे काला है। राजा के इस व्यवहार से रानी भी विचार मे पड़ गयी और उसके मन में शका उठने लगी कि कहीं नटपुत्री पर राजा का दिल तो नहीं आ गया।

आखिर इलापुत्र पाँचवीं बार बाँस पर चढा और बाँवाजी से खेल दिखाने लगा। उस समय उसकी नजर पास की हवेली में गयी। वहाँ एक अत्यन्त रूपवती नवयौवना स्त्री हाथ म मोदक का थाल लिए खड़ी एक मुनिराज से उसे ग्रहण करने के लिए विनती कर रही थी। परन्तु, मुनिराज मोदक नहीं ले रहे थे, आँख उठाकर उस स्त्री की ओर देख भी नहीं रहे है।

ज्ञान होने में भी कुछ निमित्त चाहिये, वह इलापुत्र को मिल गया। वह विचार करने लगा—"स्वय जवान है, सामने रूपवती स्त्री है और एकान्त का योग है, फिर भी उनका एक रोम भी नहीं हिलता और मैं एक नटनी के प्रेम में पागल बनकर जगह-जगह भटक रहा हूँ। धिक्कार है मुझको! लानत है, मेरी इस मोहान्ध दशा पर! मैं इस नीच राजा को रिझाने के लिए अपनी जान की बाजी लगा रहा हूँ, यह भी मूर्खता की पराकाष्ठा है। मैं बहुत भूला, पर अब अपनी बाजी सुधार लूँगा!"

इलापुत्र को भोग की निस्सारता स्पष्ट हो गयी और आत्मा के प्रति कर्तव्य का ज्ञान हुआ। इसी को कहते हैं—सच्चा ज्ञान! ज्यों-ज्यों इस ज्ञान की झलझलाहट बढती गयी, त्यों-त्यों उसकी कर्मराशि नष्ट होने लगी। अभी वह बाँस पर ही था, लोग उसे खेल करता हुआ देख रहे थे, इतने में रग बदल गया—उपार्जित किये हुए उसके कर्म नाश को प्राप्त हुए और उसे केवलज्ञान प्रकट हो गया। उसी क्षण चमत्कार खड़ा हुआ—बाँस की जगह सिंहासन बन गया और इलापुत्र केवली उसपर विराजमान सबको नजर आने लगे। देवों ने वहाँ ज्ञानमहोत्सव करना शुरू कर दिया।

यह देखकर रानी विचार करने लगी—'इतनी रूपवती रानियों के अन्त पुर में होते हुए भी राजा का मन एक नटपुत्री में गया! यह ससार ही असार है!' इस तरह उसके हृदय में ज्ञान की ज्योति प्रकटी और वह प्रति क्षण बढने लगी। उससे उसके भी घातिया कर्मों का नाश हुआ और उसे भी केवलज्ञान हो गया।

यह दृश्य देखकर राजा का हृदय भी बदला। उसे अपनी अधमता पर तिरस्कार की भावना जगी। उसकी आँखों में से पश्चात्ताप के आँसू टप-टप टपकने लगे। उसे भी यह ससार असार भासित हुआ और उसमें से आत्मा को उबार लेने की भावना प्रकटी। उस भावना के प्रताप से वह भी कुछ ही क्षणों में घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञानी बना।

इधर नटनी विचार करने लगी—"मैं ही सारे अनर्थ की मूल हूँ। मेरे रूपने ही इस इलापुत्र को पागल बनाया और राजा की नीयत बिगाड़ी। धिक्कार हो इस रूप को! अब मुझे इस नट-विद्या से क्या? मैं साधुता के मार्ग पर चलकर अपना कल्याण करूँगी।" ज्ञान का उदय अज्ञान का नाश करता है, मोह को पराजित करता है, इसलिए नटनी के हृदय में भी जबरदस्त परिवर्तन हुआ और शुद्ध भावना भाते हुए उसे भी केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

फिर उन चारों केवलियों ने जगत् को धर्म का बोध देकर महा उपकार किया।

तात्पर्य यह है कि, जिन कर्मों को अज्ञानी करोड़ो वर्षों में भी नहीं खपा सकता, उन्हें ज्ञानी मात्र श्वासोच्छ्वास में खपा देता है और केवल-ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष का अधिकारी बनता है।

ज्ञान की आराधना

हर वर्ष ज्ञानपञ्चिमी आती है और ज्ञान की आराधना उत्कट भाव से करने की पुकार कर जाती है। पर, उस पुकार को कौन कितना सुनता है? अगर उस पुकार को सुनते होते तो हमारी स्थिति ऐसी न होती। धर्मशास्त्र का ज्ञान नहीं है, आत्मा का ज्ञान नहीं है, कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं है, भक्ष्याभक्ष्य और पेयापेय का विचार भी बहुत थोड़ों को होता है। अगर सच्चा ज्ञान बढ़े तो ऐसी हालत न रहे और उद्धार का मार्ग प्रशस्त हो जाये।

ज्ञान पाँच प्रकार का है, यह बात कल बतला दी गयी है। आज उसके भेदों पर प्रकाश डालेंगे, ताकि ज्ञान का स्वरूप आप पूरी तरह समझ जायें।

मतिज्ञान के भेद

मतिज्ञान की चार मजिलें हैं, यानी उसके मुख्य भेद चार हैं (१) अवग्रह, (२) ईहा, (३) अवाय और (४) धारणा।

अर्थ को अर्थात् जानने योग्य पदार्थ को ग्रहण करना अवग्रह है। उसमें पहले व्यजन (पौद्गलिक सामग्री) ग्रहण होता है और फिर 'कुछ है' ऐसा अव्यक्त बोध होता है। यानी अवग्रह के भी **व्यजनावग्रह** और **अर्थावग्रह** ऐसे दो भेद हैं। चक्षु और मन का व्यजनावग्रह नहीं होता, कारण कि वह अप्राप्यकारी है—अप्राप्यकारी माने वस्तु को प्राप्त किये बिना ही उसका बोध करनेवाला। चक्षु दूरस्थ वृक्ष, पर्वत, चन्द्र, सूर्य आदि को देख सकता है। मन यहीं बैठा हुआ दूर-सुदूर के विचार कर सकता है।

'यह क्या है ?' ऐसा विचार **ईहा** है। 'यह अमुक वस्तु है' ऐसा निर्णय **अवाय** है, और उसका अवधारण करना स्मरण याद रखना **धारणा** है।

आप कहेंगे कि, हम तो घोड़े को देखते ही यह जान लेते हैं कि यह घोड़ा है। उसमें ये चार मजिलें कैसे आती होंगी ? पर, ये अवश्य आती हैं। चिरपरिचित वस्तु में हमारा उपयोग अत्यन्त तीव्र गतिमान होने के कारण सब मजिलों का भान नहीं होता, लेकिन अगर कोई अनजानी चीज लें तो इसका भान बराबर होता है। मान लीजिए आप शाम के समय किसी खेत से होकर गुजर रहे हैं। वहाँ दूर पर कुछ दिखायी देता है। आप उसे देखते हुए विचार करते हैं कि 'यह क्या है ? यह किसी पेड़ का ठूँठ है या आदमी ?' फिर आप यह विचार करते हैं कि 'मनुष्य होता तो कुछ हिलन-चलन होती। दूसरे, इसका ऊपर का भाग नीचे के भाग से परिमाण में छोटा होता, जब कि यह तो बिलकुल स्थिर जान पड़ता है और इसका ऊपर का भाग नीचे के भाग से परिमाण में कुछ

बड़ा लगता है, इसलिए यह तो पेड़ का ठूँठ ही है।' फिर आप याद रखते हैं—"मैंने पेड़ का ठूँठ ही देखा।" इस तरह आपको यहाँ अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा की स्पष्ट जानकारी दे दी गयी।

दो प्रकार के अवग्रह, (व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह) ईहा, अवाय और धारणा—इन पाँच को पाँच इन्द्रियों और छठे मन से गुणें तो ३० की संख्या आती है, पर इसमें चक्षु और मन का व्यंजनावग्रह नहीं होता, इसलिए मतिज्ञान के कुल २८ भेद माने जाते हैं। ये भेद ज्ञान-प्राप्ति के क्रम के लिहाज से माने गये हैं। लेकिन, मति अर्थात् बुद्धि के प्रकार देखें तो चार हैं—(१) औत्पत्तिकी, (२) वैनेयिकी, (३) कार्मिकी और (४) पारिणामिकी। जो बुद्धि सूत्र, गुरु या बड़ों की मदद के बिना जन्मांतरीय संस्कारों के क्षयोपशम की तीव्रता के कारण वस्तु के यथार्थ मर्म को ग्रहण कर सकती है और उसके योग्य उपाय नियोजित कर सकती है, वह औत्पत्तिकी बुद्धि है। जो बुद्धि गुरु और शास्त्र का विनय करने से प्रकट हो वह वैनेयिकी बुद्धि है। जो बुद्धि कर्म यानी सतत अभ्यास से उत्पन्न हो वह कार्मिकी-बुद्धि है, और जो बुद्धि अनुभव से प्रकट हुई हो वह पारिणामिकी बुद्धि है।

औत्पत्तिकी-बुद्धि

गाँव का एक किसान की गाड़ी में ककड़ी भर कर पास के शहर म बेचने गया। वहाँ एक चालाक आदमी ने आकर कहा—"अगर कोई आदमी इस गाड़ी की तमाम ककड़ियों को खा जाये तो क्या देगा?" यह भी कहीं हो सकता है, ऐसा मान कर किसान ने कहा—"अगर कोई यह कर देगा तो उसे इतना बड़ा लड्डू दूँ जो कि शहर के दरवाजे से बाहर न निकल सके।"

चालाक आदमी ने यह शर्त मंजूर कर ली और उसकी गाड़ी की सब ककड़ियाँ जरा जरा चख लीं। फिर, वह किसान उन ककड़ियों

को बेचने लगा तब लोग कहने लगे—"यह सब ककड़ियाँ तो खायी हुई हैं।" उस चालाक आदमी ने ये शब्द पकड़ लिये और किसान से कहा—"मैंने अपनी शर्त पूरी कर दी है, इसलिए अब तू अपनी शर्त पूरी कर।"

किसान ने तो यह मान रखा था कि ऐसा लड्डू देने का वक्त ही नहीं आयेगा, इसलिए उसने इस सम्बन्ध में कुछ विचार ही नहीं किया। पर, अब वह घबराया और शर्त से छुट्टी पाने के लिए उसे पच्चीस रुपये देने लगा। लेकिन, उसने इसे स्वीकार नहीं किया। किसान ने पच्चीस के बजाय पचास रुपये देने की, सौ रुपये देने की बात कही, पर वह नहीं माना। आखिर किसान ने विचार किया—"यह धूर्त मुझे छोड़नेवाला नहीं है, इसलिए किसी अक्लमन्द को खोजूँ और इसका उपाय पूछूँ।" अत वह एक अक्लमन्द आदमी के पास गया, जो कि अपनी औत्पत्तिकी-बुद्धि के लिए प्रख्यात था। उसने किसान की सारी बात सुनने के बाद कहा—"इसमें घबराने की क्या बात है? यह तो बड़ी सहल बात है। तू उस आदमी को ऐसा लड्डू दे सकता है जो कि नगर के दरवाजे से बाहर न निकल सके।" फिर उसने क्या करना है, सब समझा दिया।

वह किसान हलवाई की दुकान से मुट्ठी में समाने योग्य मामूली लड्डू लेकर उस धूर्त और नगर के लोगों के साथ शहर के दरवाजे पर गया और उस लड्डू को दरवाजे के बीच में रखकर कहने लगा—"हे लड्डू! तू नगर के दरवाजे में से बाहर निकल।" पर लड्डू नगर के दरवाजे से बाहर नहीं निकल सका। इसलिए, उसने वह लड्डू धूर्त को देते हुए कहा—"यह लड्डू ऐसा है कि, जो नगर के दरवाजे में से बाहर नहीं निकल सकता!"

वह क्या बोलता? सेर को सवा सेर बराबर मिल गया था!

वैनेयिकी-बुद्धि

एक राजा सेना लेकर विजय यात्रा पर निकला। मंजिल-दर-मंजिल वह एक जंगल में आ पहुँचा। वहाँ सब तृषातुर होकर पानी की खोज करने लगे। पर, पानी नहीं मिला। आखिर एक वृद्ध सैनिक ने कहा—"गधों को खोल कर छोड़ दो। वे भूमि सूँघते हुए जहाँ पहुँचें वहाँ पानी मिल जायेगा।" सेना के साथ का बोझ ढोने के लिए कुछ गधे भी रखे गये थे, उन्हें खोल देने का राजा ने हुक्म किया। वे गधे भूमि सूँघते सूँघते ऐसी जगह पहुँचे जहाँ पानी से भरा हुआ एक तालाब था। पानी पीकर राजा और सेना ने अपने प्राण बचाये। यहाँ वृद्ध सैनिक की बुद्धि को वैनेयिकी समझना, कारण कि उसने वह बुद्धि बड़ों-बूढ़ों का विनय करके प्राप्त की थी।

कार्मिकी-बुद्धि

घानी चलाना और लोगों को तेल देना तेली का धंधा है। तेलिन दूकान रोज पर बैठती और लोगों को तेल बेचती। इस कार्य में वह खूब अभ्यस्त थी।

एक बार वह किसी काम से कोठे पर गयी। उधर ग्राहक आ गये। वे कहने लगे—"दुकानदारी के वक्त तेलिन कहाँ चली गयी? हम कब तक राह देखें?" तेलिन ये शब्द सुन कर बोली—"जिसे तेल लेना हो वह इस खिड़की के नीचे आ जाये। जितना चाहिये उतना तेल दूँगी?" इस पर तेल लेने वाले खिड़की के नीचे जमा हो गये।

पहले ने कहा 'एक सेर' तेलिन ने ऊपर से धार की। उसके बर्तन में बराबर एक सेर तेल गिरा। न कम न ज्यादा और उसने धार ऐसी की कि एक बूँद भी बाहर नहीं गिरी। इस तरह जिस ग्राहक ने जितना तेल माँगा उतना बराबर दिया। इसे कार्मिकी बुद्धि समझना।

पारिणामिकी-बुद्धि

राजा के यहाँ छोटे-बड़े अनेक सेवक होते हैं। उनमें से एक बार तरुण सेवकों ने राजा से कहा—"महाराज! सफेद बाल वाले और जीर्ण शरीरवाले वृद्धों को नौकरी मे न रखकर तरुणों को ही रखिये, इससे आपका महल शोभा पायेगा!"

राजा पक्का अनुभवी था—पारिणामिकी बुद्धिवाला था। उसने कहा—"मै तुम्हारी बात को ध्यान में रखूँगा।"

इस बात को कुछ दिन बीत गये। तब राजा ने तरुण सेवकों को इकट्ठा करके पूछा—"मुझे लात मारने वाले को क्या दड देना चाहिये?" तरुण सेवकों ने तुरन्त जवाब दिया—"उसे सूली का सजा देनी चाहिये।" फिर राजा ने वृद्ध सेवको को इकट्ठा करके वही सवाल पूछा, तो उन्होंने कहा—"हमें कुछ समय दीजिये। सोच कर जवाब देंगे।"

सब वृद्ध सेवक एकत्र होकर विचार करने लगे—"राजा को लात कौन मार सकता है? या तो रानी या उसका बाल-कुँवर। उनका तो सत्कार करना चाहिये।" कुछ देर में उन्होंने जवाब दिया—"महाराज! आपको लात मारनेवाले का सत्कार करना चाहिये।"

आशय के अनुसार जवाब मिलने पर, राजा खुश हुआ और उसने तरुण सेवकों को इस जवाब का हवाला देकर कहा—"अब आप ही कहें कि मुझे वृद्धों को नौकरी में रखना चाहिये या नहीं?"

तरुण सेवक क्या जवाब देते! उन्होंने मन-ही-मन राजा की और वृद्धों की परिपक्व बुद्धि की प्रशंसा की।

मतिज्ञान का विषय यहाँ पूरा होता है। अब श्रुतज्ञान के भेदों पर विचार करें।

श्रुतज्ञान के भेद

श्रुतज्ञान क्या है, यह हमने कल बतलाया था, जो ज्ञान पुस्तक पढ़कर, गुरु का उपदेश सुनकर या शब्द के निमित्त से हो उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। हमारे ज्ञान का बहुत बड़ा भाग इस रीति से प्राप्त होता है, इसलिए उसका बड़ा महत्त्व है। शास्त्रकारों ने चार ज्ञानों को गूँगा कहा और श्रुतज्ञान को 'बोलता' कहा सो इसी कारण। केवली भगवत केवलज्ञान से सब जान सकते हैं, परन्तु उसका व्याख्यान तो शब्द द्वारा ही करते हैं।

श्रुतज्ञान के चौदह भेद माने गये हैं। उनका आपको सामान्य परिचय कराये देते हैं। उन भेदों के जानने से आपको श्रुतज्ञान-सम्बन्धी परिभाषा बराबर समझ में आ जायेगी।

विविध प्रकार की लिपियों अर्थात् अक्षरों द्वारा जो ज्ञान होता है उसे **अक्षरश्रुत** कहते हैं। और, जो ज्ञान 'अक्षर' के उपयोग बिना, यानी हाथ पैर के इशारे से, सर हिलाने से, चुटकी बजाने से, खखारने, आदि से, होता है उसे **अनक्षरश्रुत** कहते हैं।

असज्ञी जीवों का श्रुतज्ञान **असंज्ञीश्रुत** कहलाता है। एकेन्द्रिय से समूर्च्छिम पचेन्द्रिय तक असज्ञी जीव हैं, और शेष पचेन्द्रिय जीव सज्ञी हैं। सज्ञी जीवों का श्रुतज्ञान **संज्ञीश्रुत** कहलाता है।

सम्यक् दृष्टियों द्वारा रचित श्रुत **सम्यक्श्रुत** कहलाता है और मिथ्या दृष्टियों द्वारा रचित श्रुत **मिथ्याश्रुत** कहलाता है।

जिस श्रुत का आदि हो, उसे **सादिश्रुत** और जिसका आदि न हो उसे **अनादिश्रुत** कहते हैं। जिस श्रुत का अन्त हो उसे **सपर्यवसितश्रुत** और जिसका अन्त न हो उसे **अपर्यवसितश्रुत** कहते हैं।

सादि, अनादि, सपर्यवसित और अपर्यवसित श्रुत का विचार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से करना है। एक व्यक्ति की अपेक्षा से श्रुतज्ञान आदि और अन्त सहित है, यानी वह सादि और सपर्यवसित है,

अनेक व्यक्तियों की अपेक्षा से वह आदि और अन्त सहित नहीं है, यानी अनादि तथा अपर्यवसित है। क्षेत्र की अपेक्षा से पाँच भरत और पाँच ऐरावत में सादि-सपर्यवसितश्रुत है और महाविदेह में अनादि-अपर्यवसितश्रुत है। काल की अपेक्षा से उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में सादि सपर्यवसितश्रुत है और नो उत्सर्पिणी-नोअवसर्पिणी में (महाविदेह क्षेत्र में ऐसा काल है) अनादि-अपर्यवसितश्रुत है। भाव की अपेक्षा से भव्य जीवों के लिए सादि सपर्यवसित श्रुत है;अभव्य जीवों के लिए अनादि अपर्यवसित श्रुत है।

जिसमें समान आलापक हों, उस दृष्टिवाद (बारहवें अंग) के श्रुत को **गमिकश्रुत** कहते हैं, और जिसमें समान आलापक नहीं है, उस दृष्टिवाद के सिवाय अन्य श्रुत को **अगमिकश्रुत** कहते हैं।

श्री गौतम स्वामी आदि गणधर भगवंतों के रचे हुए श्रुत को **अंगप्रविष्टश्रुत** कहते हैं। और, श्री भद्रबाहु स्वामी आदि स्थविर भगवंतों के रचे हुए श्रुत को **अंगबाह्यश्रुत** कहते हैं। द्वादशांग अंग प्रविष्ट श्रुत है, और उपांग, पयन्ना, आदि अंगबाह्यश्रुत हैं।

शास्त्रों का ज्ञान सुनने से मिलता है, इसलिए उसे 'श्रुत' कहते हैं। हमारा श्रुत सागर के समान विशाल है, इसलिए उसे **'श्रुतसागर'** कहा जाता है। ज्ञान से संलग्न जो आठ प्रकार का आचार है, उसे श्रुतज्ञान के अन्तर्गत समझना है।

श्रुत-योग्य काल में पढ़ना काल नामक ज्ञानाचार है। गुरु और शास्त्र से विनय श्रुत पूर्वक ग्रहण करना, विनय-नामक ज्ञानाचार है। श्रुत गुरु और शास्त्र के प्रति बहुमान पूर्वक ग्रहण करना बहुमान नामक ज्ञानाचार है। श्रुत उपधान पूर्वक ग्रहण करना उपधान नामक ज्ञानाचार है। उपधान तो आजकल खूब हो रहे हैं, इसलिए उनका स्वरूप तो आप जानते ही होंगे।

ज्ञान देनेवाले गुरु का नाम, जाति, आदि छिपाना अनिह्नवता-नामक ज्ञानाचार है। सूत्रपाठ के अक्षरों के अनुसार ही ग्रहण करना व्यंजन-

नामक ज्ञानाचार है। सूत्रपाठ के अर्थानुसार ही ग्रहण करना अर्थ-नामक ज्ञानाचार है। और, अक्षर तथा अर्थ उभय शुद्ध प्रकार से ग्रहण करना तदुभव-नामक ज्ञानाचार है।

जैसे बूँद-बूँद से सरोवर भर जाता है, वैसे ही थोड़ा-थोड़ा सीखते रहने से बहुत ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए, ज्ञान प्राप्ति के इच्छुकों को अवश्य कुछ शास्त्राध्ययन करते रहना चाहिए। आपने सुना होगा कि—

देवपूजा गुरूपास्ति: स्वाध्यायः संयमस्तप:।
दानं चेति गृहस्थाना, षट्कर्माणि दिने दिने॥

गृहस्थ के छ कर्त्तव्य हैं—१ देवपूजा, २ गुरु-सेवा, ३ स्वाध्याय, यानी शास्त्र का अध्ययन, ४ सयम, ५ तप और ६ दान। शास्त्राध्ययन साधुओं का ही नहीं, आपका भी नित्य कर्त्तव्य है। आप अधिकार के अनुसार ग्रन्थ पढ सकते हैं।

अवधिज्ञान आदि के भेद

अवधि, मन पर्यव और केवल ये तीनों उच्चकोटि के ज्ञान हैं। वे मनुष्यों में सयम और तपके प्रभाव से प्रकट होते हैं। देव तथा नारकी जीवों को अवधिज्ञान भवप्रत्यय, यानी उस भव के निमित्त से सहज, होता है। अवधिज्ञान का उपयोग रखने से आत्मा दूर सुदूर के रूपी पदार्थों को देख-जान सकता है।

अवधिज्ञान के मुख्य ६ भेद है—**अनुगामी** या अवधिज्ञानी पुरुष के साथ जानेवाला, **अननुगामी** यानी साथ न जानेवाला, **वर्धमान** यानी उत्तरोत्तर वृद्धि पाने वाला, **हीयमान** यानी उत्तरोत्तर कम होने वाला, **प्रतिपाती** यानी आने के बाद चला जाने वाला, और **अप्रतिपाती** यानी आने के बाद हमेशा रहनेवाला।

आज का विज्ञान '**क्लेरवोयेंस**' आदि शक्तियों को मानता है। वह इस ज्ञान का समर्थन करती हैं।

मन पर्यव ज्ञान के दो भेद हैं—**ऋजुमति** और **विपुलमति**। इनमें ऋजुमति मनोगत भावों को सामान्य रूप से जानता है और विपुलमति विशेष रीति से जानता है। आज जिसे 'टेलीपैथी' कहा जाता है, वह इस ज्ञान के अस्तित्व को साबित करती है।

केवलज्ञान में कोई भेद नहीं है। वह एक है।

इस तरह मतिज्ञान के २८, श्रुतज्ञान के १४, अवधिज्ञान के ६, मन:पर्यवज्ञान के २ और केवल ज्ञान का १, सब मिलकर ज्ञान के कुल ५१ भेद होते हैं।

आत्मा के खजाने के विषय में अभी बहुत-कुछ कहना है।

दसवाँ व्याख्यान

आत्मा का खजाना

(३)

महानुभावो !

रत्नाकर के समान विशाल जैनश्रुत में बहुत से रत्न पड़े हुए हैं। उनमें से एक महारत्न है—श्री उत्तराध्ययनसूत्र ! उसके हर अध्ययन में प्रज्ञा का पवित्र प्रकाश झलझला रहा है और वह मुमुक्षुओं को मोक्ष साधन का सुन्दर मार्गदर्शन कर रहा है। छत्तीसवें अध्ययन में अल्पससारी आत्मा का विषय आया। उससे हमने आत्मा के स्वरूप की गहरी विचारणा करनी प्रारम्भ कर दी। तत्सबधी अनेक बातों में आत्मा की अमरता देखी, अखडता देखी, सख्या तथा मूल्य का भी विचार किया और अब उसके समृद्ध खजाने की ओर मुड़े हैं। इस समय उसके खजाने की खोज चल रही है।

आत्मा जैसे ज्ञान दर्शन-युक्त है, वैसे ही 'वीर्य' से भी युक्त है। वैद्यक में 'वीर्य' का अर्थ 'शुक्र' होता है, पर यहाँ उसका अर्थ 'क्रियाशक्ति' समझनी चाहिए। इस क्रियाशक्ति द्वारा आत्मा कोई भी क्रिया या प्रवृत्ति करने में शक्तिमान होता है। खाना-पीना, सोना-उठना, बैठना चलना, दौड़ना, विचारना, बोलना, आनन्द विनोद करना, भोग-विलास करना, धर्म की आराधना करना, आदि क्रियाएँ आत्मा की इस शक्ति से ही सभव होती हैं। यदि आत्मा में यह शक्ति न हो तो इनमें से कोई क्रिया सम्भव न हो सके !

जड़-वस्तुओं में यत्रादि के प्रयोग से क्रियाशक्ति उत्पन्न होती है, परन्तु उस क्रिया में और इस क्रिया मे बड़ा अन्तर है। यात्रिक क्रिया में सज्ञा (इस्टिक्ट), विचार (थाट), भावना (फीलिंग) या इच्छा-शक्ति (विल) जैसा कुछ नहीं होता—केवल गति (मोशन) होती है और वह वेग (स्पीड) के पूरे हो जाने पर रुक जाती है, जब कि आत्मा के द्वारा होनेवाली क्रिया में सज्ञा, विचार, भावना और इच्छाशक्ति का तत्त्व होता है और इसीलिए उसमें विविधता दिखायी देती है।*

खिलौने का कुत्ता चाबी देने से चलेगा-दौड़ेगा जरूर, पर वह जीवित कुत्ते की तरह इच्छापूर्वक विविध गतियाँ नहीं कर सकता।

मनुष्य, पशु, आदि जीवित प्राणी चलकर कहीं पहुँच सकते हैं, पर जड़ यन्त्र अपने आप चलकर कहीं नहीं जा सकते। मोटरकार, रेलवे-ट्रेन, स्टीमर, सबमरीन, विमान, आदि सब यन्त्रों को खतरे आदि से बचाते हुए, समझदारी से चलाने के लिए 'ड्राइवर' या चालक की जरूरत होती है।

अगर आत्मा शुभ क्रियाओं में प्रवृत्त होगी, तो पुण्य का सचय करेगी, अशुभ क्रियाओं में प्रवृत्त होगी तो पाप का सचय करेगी। इस पुण्य-पाप का फल उसे इस लोक में या परलोक में अवश्य भोगना पड़ता है। इसीलिए, आत्मा को कार्य का कर्ता और भोक्ता माना गया है।

कुछ लोग कहते हैं कि, आत्मा स्वय कोई क्रिया नहीं करती, बल्कि ईश्वर उसे क्रिया करने की प्रेरणा करता है, इसलिए वह अच्छी या बुरी क्रिया करने में प्रवृत्त होता है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि, अगर ईश्वर ही आत्मा को क्रिया करने के लिए प्रेरित करता हो, तो सिर्फ अच्छे काम

---

*जो आत्मा अविकसित स्थिति में होती है, उसकी क्रियाओं में विचार नहीं, सज्ञा प्रधान रूप से होती है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार मुख्य सज्ञाएँ हैं। प्रकारान्तर से दस, पन्द्रह और सोलह सज्ञाओं का भी शास्त्र में उल्लेख है।

ही करने की प्रेरणा क्यों नहीं करता है ? खराब या दुष्ट काम करने की प्रेरणा क्यो करता है ? सब सामान्य बुद्धि के लोग भी जानते है कि दुष्कर्म का परिणाम दु ख है, तो क्या सर्वज्ञ ईश्वर इस बात को नहीं जानता ? अगर, यह जान कर भी वह प्राणियों मे दुष्कर्म कराता है, तो इसका मतलब तो यह हुआ कि वह उन्हें जानबूझकर दु ख के समुन्दर में ढकेलता है। तो फिर 'महादयालु', 'कृपासिन्धु', 'परमपिता', आदि उसके विशेषण किस तरह सार्थक होंगे ?

दुनिया का कानून तो यह है कि, जो अपराध करे वह दड का पात्र; और अपराध करावे वह भी दड का पात्र । किसी को अपराध करने के लिये प्रेरित करने वाला 'इडियन पेनल कोड' की दफा १०९ और ११४ के अनुसार दडनीय है। इसी तरह प्राणियों से दुष्ट कर्म या अपराध कराने के लिए ईश्वर भी सजा का पात्र ही गिना जायेगा। अगर कोई यह कहे, 'ईश्वर सबसे बड़ा है, इसलिए उसे सजा नहीं भोगनी पड़ती,' तो इसमें न्याय कहाँ रहा ? बड़ा पुरुष जुर्म करने की प्रेरणा करके छूट जाये और छोटा आदमी जुर्म करने की सजा भोगता रहे, यह तो सरासर अन्याय है ! अगर खराब काम की सजा मिलती हो—मिलती है—तो वह दोनों को मिलनी चाहिए और एक-सी मिलनी चाहिए। इस तरह ईश्वर को कर्म का प्रेरक मानने से उसमें अनेक दोषों का आरोप होता है, इसलिए ऐसा मानना योग्य नहीं है।

परन्तु, इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी खराबी तो तब प्रकट होती है, जब लोग अनेक प्रकार के दुष्ट कर्म करके भी अपने को जिम्मेदार न मान कर अपने सब पापों की हडिया ईश्वर के सर फोड़ते हैं। "तूने शराब क्यों पी ?", तो कहता है "ईश्वर ने प्रेरणा की !" "तूने मास क्यों खाया ?", तो कहता है "ईश्वर ने प्रेरणा की", "तूने चोरी क्यों की ?", तो कहता है "ईश्वर ने प्रेरणा की" "तूने व्यभिचार क्यों किया ?" तो भी कहता "ईश्वर ने प्रेरणा की" ।

कुछ दिन पहले का किस्सा है, एक आदमी के मन में ऐसा भ्रम होने लगा कि 'मेरे घर के सब लोग दुष्ट हैं।' इसलिए उसने एक रात ईश्वर का स्मरण किया और प्रार्थना की "हे ईश्वर ! तू मुझे इन दुष्टों का संहार करने की शक्ति दे।" और, सब का खून कर डाला। सुबह लोगों को खबर हुई। उन्होंने पुलिस को खबर दे दी। पुलिस ने खून के आरोप में उसे गिरफ्तार कर लिया। उसके विरुद्ध कार्रवाई शुरू हो गयी। न्यायाधीश ने पूछा—"तूने इन सब का खून क्यों किया ?" तो उसने जवाब दिया—"ईश्वर ने प्रेरणा की थी, इसलिए मैंने खून किये।" यह सुनकर न्यायाधीश ने कहा—"ईश्वर मुझे यह प्रेरणा कर रहा है कि तुझे फाँसी की सजा दूँ, इसलिए तुझे फाँसी की सजा देता हूँ।"

ईश्वर को कर्म का प्रेरक मानने से न्याय और नीति का तथा संयम और सदाचार का कैसा दिवाला निकल जाता है, यह इससे साफ समझ में आ जायेगा। इसलिए अच्छे और बुरे कर्मों का कर्ता आत्मा ही है और उसके फल उसे अवश्य भोगने पड़ते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक स्थल पर आता है—

'यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति, पुण्य: पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति, तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।'

—मनुष्य जैसा काम करता है और जैसा आचरण रखता है, वैसा ही वह बनता है। अच्छा काम करनेवाला अच्छा बनता है, पाप का काम करने वाला पापी बनता है। इसीलिए कहा है कि मनुष्य कामनाओं से बना है। जैसी जिसकी कामना होती है, वैसा वह निश्चय करता है, जैसा निश्चय करता है, वैसा काम करता है, जैसा काम करता है वैसा फल पाता है।

इन शब्दों के सुनने के बाद किसी को आत्मा की कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्ति के बारे म कोई शका न रह जानी चाहिए।

आत्मा की क्रियाशक्ति को काम मे लगाने को पुरुषार्थ कहते हैं। इस पुरुषार्थ के योग से ही धर्म की आराधना हो सकती है। पुरुषार्थ न किया जाये तो अहिंसा का पालन नहीं हो सकता और सयम में भी स्थिरता नहीं आ सकती। धर्म होना होगा तो हो जायेगा, ऐसा मानकर बैठे रहे तो धर्म का आराधन कभी भी नहीं हो सकता। उसके लिए दृढ सकल्प करना चाहिए और आत्मा का वीर्य निरन्तर स्फुरायमान करना चाहिए। हस और केशव की बात सुनिये आपको इत्मीनान हो जायेगा।

हंस और केशव की बात

एक गाँव के बाहर दो भाई चले जा रहे थे—उनमे हस बड़ा था, केशव छोटा। रास्ते मे गुरु महाराज मिले। उन्होंने उपदेश दिया—"रात्रि-भोजन नरक का दरवाजा है, उसका त्याग करो।" उसी वक्त दोनों भाइयो ने रात्रिभोजन न करने की प्रतिज्ञा ले ली।

काम पूरा करके घर लौटे तो रात हो गयी थी, इसलिए उन्होंने खाने के लिये ना कह दिया। पिता ने पूछा—"क्यों नहीं जीमना?" तो उन्होंने प्रतिज्ञा की बात बता दी। पिता को यह बिल्कुल नहीं रुचा। उसने घर में कह दिया—"कल से इनको दिन के समय कुछ भी खाने को न देना।"

सुबह दोनों को दुकान पर ले गया और शाम तक नहीं छोड़ा। रात को वापस आये तो माता ने भोजन सामने रखा, लेकिन प्रतिज्ञा म दृढ रहते हुए दोनों ने भोजन करने मे इनकार कर दिया। माँ-बाप ने मान लिया कि आज नहीं तो कल खायेंगे।

दूसरे दिन भी पिता ने उन्हें दुकान ले जाकर शाम को छोड़ा और व रात में घर पहुँचे। उस वक्त उनके आगे खाना रखा गया, पर उन्होंने उसकी तरफ देखा भी नहीं। इसी तरह चौथा दिन हो गया। पिता ने कह

दिया—"मेरे घर में रहना हो तो रात को खाना पड़ेगा, नहीं तो तुम लोग अपना रास्ता देख लो।" इस पर दोनों भाई वहाँ से चल दिये। पर उस वक्त हंस को कुछ ढीला देखकर, पिता ने उसका हाथ पकड़ लिया और उसे घर मे रख लिया।

केशव अपनी प्रतिज्ञा में अचल रहा। परन्तु, ऐसा बनता रहा कि उसे दिन में कुछ खाना न मिलता, इसलिए उसे कड़ाके पर कड़ाके होते रहे। इस तरह सातवाँ दिन हो गया तब वह आधी रात के समय भंडीरव यक्ष के मंदिर के पास आ पहुँचा।

पूनम की रात थी और लोग वहाँ यक्ष की प्रार्थना करते हुए बैठे थे। उनकी ऐसी प्रतिज्ञा थी कि उस समय जो कोई अतिथि आ जाये, तो उसे जिमा कर जीमना। वे केशव को देखकर हर्षित हुए और उसे जिमाने की तैयारी करने लगे। परन्तु, केशव ने उन्हें सूचित कर दिया—"मुझे जीमना नहीं है, इसलिए कोई तैयारी न करें।"

लोग उससे अनुनय विनय करने लगे—"भाई, ऐसा क्यों करते हो? हम सब यहाँ भूखे बैठे हैं। तुम जीम लो तो हम भी जीम सकेंगे।" सात दिन का कड़ाका है, लोगों का बड़ा अनुरोध है, परन्तु केशव अपनी प्रतिज्ञा से चलित नहीं हुआ। वह लोगों से नम्रतापूर्वक कहने लगा—"मुझे रात में न खाने की प्रतिज्ञा है, इसलिए आप सुबह तक ठहर जायँ तब मैं खा लूँगा।" लोग कहने लगे—"अगर तुम इस वक्त नहीं जीमोगे तो बात कल मध्यरात्रि तक टल जायेगी और तब तक तो कितने ही भूख के मारे मर भी जायेंगे, इसलिए भले होकर हमारी बात मानो। तुम्हें रात में न जीमने की प्रतिज्ञा हो तो भी बहुतों के कल्याण की खातिर खालो।" परन्तु, ये वचन केशव को उसकी प्रतिज्ञा से विचलित न कर सके।

अब उसी समय यक्ष प्रकट हुआ और हाथ में मुद्गर लेकर केशव के सामने आया। वह क्रोध से आगबबूला होकर भड़क कर कहने लगा—"तू

इन लोगों का कहना क्यों नहीं मानता ? अगर जिन्दगी चाहता है तो इसी वक्त खाले नहीं तो इस मुद्गर से तेरा सर फोड डालूँगा ।'

यात्रार्थी यक्ष को देखकर हर्षध्वनि करने लगे, पर केशव की स्थिति बड़ी अटपटी हो गयी । वह सोचने लगा—"अब क्या करना ? यह यक्ष मुझे जिन्दा नहीं छोड़ेगा । इसका कहा मानकर जान बचाना कि प्रतिज्ञा की रक्षा करके प्राण का बलिदान करना ?" अगर उसकी जगह कोई कच्चा आदमी होता तो वह यक्ष की धमकी में आकर चुपचाप खाने बैठ जाता, पर केशव ने बड़ी हिम्मत दिखलायी और कह दिया—"आप को जो करना हो सो करो, मैं इस वक्त नहीं जीम सकता ।'

उस वक्त यक्ष ने उसे प्रतिज्ञा देनेवाले गुरु को हाजिर किया और गुरु महाराज कहने लगे—"अब बहुत हुआ । तू बहुतों के भले की खातिर जीम ले ।' इस पर केशव विचारने लगा कि, 'जिस गुरु ने मुझे रात में न खाने की प्रतिज्ञा दी, वह मुझसे रात में खाने के लिये कैसे कह सकते हैं ? इसमें कुछ दगाबाजी होनी चाहिए ।' इसलिए वह चुप खड़ा रहा । तब यक्ष ने कहा—"अगर तू नहीं मानता तो इस प्रतिज्ञा देनेवाले गुरु को और तुझे दोनों को मार डालूँगा ।" यह कहकर उसने गुरु पर मुद्गर का प्रहार किया । गुरु आर्तनाद करने लगे, लेकिन अब भी केशव को लगा—"मेरा गुरु तो ऐसा शक्तिशाली है कि, उसे कोई यक्ष इस तरह सता नहीं सकता और वह मुझसे इस तरह खाने के लिए भी न कहेगा, इसलिए मुझे इस धोखे में नहीं आ जाना चाहिए ।'

यक्ष ने देखा कि इससे भी केशव डिगता नहीं है, इसलिए वह गुरु को छोड़कर उस पर झुका और दाँत किटकिटाकर मुद्गर उठाकर बोला—"देख मेरी आज्ञा न मानने का नतीजा !'

एक महाबलवान् यक्ष का फौलादी मुद्गर सर पर पड़े तो आदमी का क्या हाल हो ! पर, वहाँ हकीकत कुछ और ही बनी । उसके सर पर तुला हुआ मुद्गर गायब हो गया, यक्ष भी गायब हो गया, यात्री भी गायब

हो गये ! एक महातेजस्वी देव उसके सामने खड़ा था और कह रहा था—
"केशव ! यह सब देवमाया थी । तेरी अडिग प्रतिज्ञा से म प्रसन्न हुआ हूँ,
इसलिए तुझे तीन वरदान देता हूँ—आज से सातवे दिन तू राजा होगा,
तेरे शरीर के प्रक्षाल से हर रोग दूर हो सकेगा, तेरी हर उत्कट अभिलाषा
को मैं पूर्ण करूँगा ।" इतना कहकर देव अदृश्य हो गया ।

दूसरे दिन केशव एक नगर में दाखिल हुआ और वहीं पारणा की ।
द दिन वहाँ गुजारे । वह रात को सोया हुआ था, उस वक्त गाँव का
नि पुत्र राजा मरण को प्राप्त हुआ । मन्त्रियों ने पचदिव्य किया ।
हथिनी की सूँड में कलश देकर लोग नये राजा की शोध में निकले । हथिनी
चलते-चलते वहाँ आयी जहाँ केशव सो रहा था, और आकर कलश उसके
सर पर ढार दिया । इसी तरह और भी चार दिव्य हुए । इसलिए मन्त्री
उसे राजा स्वीकार करके राजमहल में ले गये और उसे गद्दी पर बिठाकर
विधिवत् उसका अभिषेक किया । इस प्रकार देवता का दिया हुआ प्रथम
वरदान पूरा हुआ ।

कुछ दिनों बाद केशव नगर में घूमने निकला, वहाँ उसने एक फटेहाल
भिखारी-सरीखे बूढ़े आदमी को देखा । उसका चेहरा देखते ही वह पहचान
गया कि वह उसका पिता है । दौड़कर पैरों पड़ा और पूछा—"पिताजी !
यह क्या ?" पिता ने भी उसे पहचान लिया और बोला—"बेटा केशव !
तू यहाँ कहाँ ?" केशव ने कहा—"मै यहाँ का राजा हो गया हूँ ।" फिर
सब बात सुनायी । पिता ने कहा—"भाई ! तूने अच्छा किया कि टेक न
छोड़ी, जिससे कि ऐसे अच्छे दिन देखने का समय आया । मै तो जिस
दिन से तू गया उस दिन से दु खी-दु खी रहा हूँ । उस दिन तेरे भाई
हंस ने रात्रि-भोजन किया, उसम किसी जहरीले जन्तु की लार आ गयी,
जिससे उसे कै-दस्त होने लगे । बहुत उपचार करने पर भी वह ठीक नहीं
हुआ । उसका शरीर नीला पड़ गया और सारे शरीर मे वेदना होने
लगी । बहुतेरे उपाय किये, मगर वह वेदना न मिटी । आखिर एक

इन लोगों का कहना क्या नहीं मानता ? अगर जिन्दगी चाहता है तो इसी वक्त खा ले नहीं तो इस मुद्गर से तेरा सर फोड़ डालूँगा !"

यात्री यक्ष की जयजयकार हर्षध्वनि करने लगे, पर केशव की स्थिति बड़ी अटपटी हो गयी। वह सोचने लगा—"अब क्या करना ? यह यक्ष मुझे जिन्दा नहीं छोड़ेगा। इसका कहा मानकर जान बचाना कि प्रतिज्ञा की रक्षा करके प्राण का बलिदान करना ?" अगर उसकी जगह कोई कच्चा आदमी होता तो वह यक्ष की धमकी में आकर चुपचाप खाने बैठ जाता, पर केशव ने बड़ी हिम्मत दिखलायी और कह दिया—"आप को जो करना हो सो करें, मैं इस वक्त नहीं जीम सकता।"

उस वक्त यक्ष ने उसे प्रतिज्ञा देनेवाले गुरु को हाजिर किया और गुरु महाराज कहने लगे—"अब बहुत हुआ। तू बहुतों के भले की खातिर जीम ले!" इस पर केशव विचारने लगा कि, 'जिस गुरु ने मुझे रात में न खाने की प्रतिज्ञा दी, वह मुझसे रात में खाने के लिये कैसे कह सकते हैं ? इसमें कुछ दगाबाजी होनी चाहिए।' इसलिए वह चुप खड़ा रहा। तब यक्ष ने कहा—"अगर तू नहीं मानता तो इस प्रतिज्ञा देनेवाले गुरु को और तुझे दोनों को मार डालूँगा।" यह कहकर उसने गुरु पर मुद्गर का प्रहार किया। गुरु आर्तनाद करने लगे, लेकिन अब भी केशव को लगा—"मेरा गुरु तो ऐसा शक्तिशाली है कि, उसे कोई यक्ष इस तरह सता नहीं सकता और वह मुझसे इस तरह खाने के लिए भी न कहेगा, इसलिए मुझे इस धोखे में नहीं आ जाना चाहिए।"

यक्ष ने देखा कि इससे भी केशव डिगता नहीं है, इसलिए वह गुरु को छोड़कर उस पर झुका और दाँत किटकिटाकर मुद्गर उठाकर बोला—"देख मेरी आज्ञा न मानने का नतीजा !"

एक महाबलवान् यक्ष का फौलादी मुद्गर सर पर पड़े तो आदमी का क्या हाल हो ! पर, वहाँ हकीकत कुछ और ही बनी। उसके सर पर तुला हुआ मुद्गर गायब हो गया, यक्ष भी गायब हो गया, यात्री भी गायब

हो गये । एक महातेजस्वी देव उसके सामने खड़ा था और कह रहा था—"केशव ! यह सब देवमाया थी । तेरी अडिग प्रतिज्ञा से मै प्रसन्न हुआ हूँ, इसलिए तुझे तीन वरदान देता हूँ—आज से सातवें दिन तू राजा होगा, तेरे शरीर के प्रक्षाल से हर रोग दूर हो सकेगा, तेरी हर उत्कट अभिलाषा को मै पूर्ण करूँगा।" इतना कहकर देव अदृश्य हो गया।

दूसरे दिन केशव एक नगर मे दाखिल हुआ और वहीं पारणा की। ६ दिन वहाँ गुजारे। वह रात को सोया हुआ था, उस वक्त गाँव का निपुत्र राजा मरण को प्राप्त हुआ। मन्त्रियों ने पचदिव्य किया। हथिनी की सूँड़ मे कलश देकर लोग नये राजा की शोध मे निकले। हथिनी चलते-चलते वहाँ आयी जहाँ केशव सो रहा था, और आकर कलश उसके सर पर ढार दिया। इसी तरह और भी चार दिव्य हुए। इसलिए मन्त्री उसे राजा स्वीकार करके राजमहल में ले गये और उसे गद्दी पर बिटाकर विधिवत् उसका अभिषेक किया। इस प्रकार देवता का दिया हुआ प्रथम वरदान पूरा हुआ।

कुछ दिनों बाद केशव नगर में घूमने निकला, वहाँ उसने एक फटेहाल भिखारी-सरीखे बूढे आदमी को देखा। उसका चेहरा देखते ही वह पहचान गया कि वह उसका पिता है। दौड़कर पैरों पड़ा और पूछा—"पिताजी ! यह क्या ?" पिता ने भी उसे पहचान लिया और बोला—"बेटा केशव ! तू यहाँ कहाँ ?" केशव ने कहा—"मै यहाँ का राजा हो गया हूँ।" फिर सब बात सुनायी। पिता ने कहा—"भाई ! तूने अच्छा किया कि टेक न छोड़ी, जिससे कि ऐसे अच्छे दिन देखने का समय आया। मै तो जिस दिन से तू गया उस दिन से दुखी-दुःखी रहा हूँ। उस दिन तेरे भाई हंस ने रात्रि-भोजन किया, उसमे किसी जहरीले जन्तु की लार आ गयी, जिससे उसे कै-दस्त होने लगे। बहुत उपचार करने पर भी वह ठीक नहीं हुआ। उसका शरीर नीला पड़ गया और सारे शरीर में वेदना होने लगी। बहुतेरे उपाय किये, मगर वह वेदना न मिटी। आखिर एक

अनुभवी वृद्ध वैद्य ने कहा तुम तीस दिन के अन्दर अमुक औषध ले आओ तो तुम्हारा पुत्र अच्छा हो जायेगा, और कोई उपाय नहीं है।" इसलिए मैं औषध की तलाश में निकला हूँ और गाँव गाँव भटक रहा हूँ।"

यह सुनकर केशव को बड़ा दुःख हुआ। अपना अंग धोकर छिड़का जाता तो उसका रोग जरूर मिट जाता, पर वह तो सैकड़ों मील दूर था, वहाँ क्या हो? इतने में देव का तीसरा वरदान याद आया। उसने उत्कट इच्छा की कि वह और उसके पिता अपने मूल घर में पहुँच जायें। देव ने जरा-सी देर में उन्हें वहाँ पहुँचा दिया। देव निमिषमात्र में यथेच्छ कार्य कर सकते हैं, यह स्मरण रखना चाहिए।

केशव ने अपने शरीर का धोवन हंस पर छिड़का कि, उसका शरीर मूल रंग में आ गया और उसकी वेदना भी शान्त हो गयी। सब ने केशव को बहुत धन्यवाद दिये और भविष्य में रात्रि भोजन न करने की प्रतिज्ञाएँ लीं। फिर अपने सब कुटुम्बीजनों को साथ लेकर वह अपने राज्य में गया और धर्म का पालन करके सुखी हुआ।

तात्पर्य यह कि धर्म का आराधन करने के लिए दृढ संकल्प और पुरुषार्थ की बड़ी आवश्यकता है।

पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा

व्यवहार में भी पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा कम नहीं है। जो काम हाथ में लिया कि फिर उसके पीछे सतत लगा रहने वाला दुष्कर कार्यों को भी पूर्ण कर यश का भागी बनता है। महाभारत में जय प्राप्त करना कोई साधारण काम नहीं था, पर पाण्डवों ने पुरुषार्थ न छोड़ा तो अन्त में सफल हुए और दुनिया में अपना नाम अमर कर गये। श्री रामचन्द्रजी ने लंका में विजय कैसे प्राप्त की? सैन्य में वानर थे, समुद्र पार करना था; मुकाबले पर महाबली रावण था, फिर भी पुरुषार्थ करते रहे तो विजय की

वरमाला उनके गले म पड़ी। कवियों, लेखकों, पत्रकारों और राजनीतिज्ञों के जीवन में भी इस सत्य की पुष्टि करने वाले अनेक उदाहरण मिल जायेंगे।

कुछ लोग कहा करते हैं कि, लक्ष्मी तो भाग्य का खेल है, पर भाग्य भी पूर्व-भव के पुरुषार्थ के सिवाय क्या है? पूर्व भव में जो पुण्य कमाया उसी का नाम तो सद्भाग्य है, यानी आखिरकार सारी बात पुरुषार्थ पर आकर ठहर जाती है।

पुरुषार्थ के पाँच दर्जे

पुरुषार्थ के पाँच दर्जे माने गये हैं। 'उत्थान' यानी आलस छोड़ उठ कर खड़ा हो जाना, 'कर्म' यानी कार्य म संलग्न हो जाना, 'बल' यानी कार्य में काया, वाणी और मन का शक्ति भर उपयोग करना, 'वीर्य' यानी कार्य की सफलता का उल्लास, आनंद, मनाते रहना, और 'पराक्रम' यानी कठिनाइयों का सामना करते हुए धैर्यपूर्वक डटे रहना। भगवान् महावीर ने साधनाकाल में कैसा पराक्रम दर्शाया था, वह आप जानते हैं।

गोशालक कहता था—"जगत में सब भाव नियत हैं, इसलिए उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम से कुछ नहीं होने वाला। सुख दुःख नियत है और वे प्राणी को अवश्य भोगने पड़ते हैं।" उसके इस नियतवाद की निस्सारता महावीर प्रभु ने किस तरह दर्शायी थी यह शास्त्र में दिया हुआ है।

नियतिवाद की निरर्थकता पर सद्दालपुत्र का दृष्टान्त

पोलासपुर में सद्दालपुत्र नामक एक गृहस्थ रहता था। उसके पास पुष्कल धन था—एक कोटि हिरण्य निधान में था, एक कोटि ब्याज में लगा हुआ था और एक कोटि अपने व्यवहार धंधे के उपयोग में था। उसके पास दस हजार गायें थीं। उसकी मालिकी में पाँच सौ हाट पोलासपुर नगरी के बाहर थे। उनमें उसने बहुत से आदमी लगा

अनुभवी वृद्ध वैद्य ने कहा तुम तीस दिन के अन्दर अमुक औषध ले आओ तो तुम्हारा पुत्र अच्छा हो जायेगा, और कोई उपाय नहीं है।" इसलिए मैं औषध की तलाश म निकला हूँ और गाँव गाँव भटक रहा हूँ।"

यह सुनकर केशव को बड़ा दुःख हुआ। अपना अग धोकर छिड़का जाता तो उसका रोग जरूर मिट जाता, पर वह तो सैकड़ों मील दूर था, वहाँ क्या हो? इतने म देव का तीसरा वरदान याद आया। उसने उत्कट इच्छा की कि वह और उसके पिता अपने मूल घर में पहुँच जायँ। देव ने जरा-सी देर म उन्हे वहाँ पहुँचा दिया। देव निमिषमात्र में यथेच्छ कार्य कर सकते है, यह स्मरण रखना चाहिए।

केशव ने अपने शरीर का धोवन इस पर छिड़का कि, उसका शरीर मूल रग मे आ गया और उसकी वेदना भी शान्त हो गयी। सब ने केशव को बहुत धन्यवाद दिये और भविष्य म रात्रि-भोजन न करने की प्रतिज्ञाएँ ली। फिर अपने सब कुटुम्बीजनों को साथ लेकर वह अपने राज्य मे गया और धर्म का पालन करके सुखी हुआ।

तात्पर्य यह कि धर्म का आराधन करने के लिए दृढ सकल्प और पुरुषार्थ की बड़ी आवश्यकता है।

पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा

व्यवहार में भी पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा कम नहीं है। जो काम हाथ में लिया कि फिर उसके पीछे सतत लगा रहने वाला दुष्कर कार्यों को भी पूर्ण कर यश का भागी बनता है। महाभारत मे जय प्राप्त करना कोई साधारण काम नहीं था, पर पाडवों ने पुरुषार्थ न छोड़ा तो अन्त म सफल हुए और दुनिया मे अपना नाम अमर कर गये। श्री रामचन्द्रजी ने लका में विजय कैसे प्राप्त की? सैन्य मे वानर थे, समुद्र पार करना था; मुकाबले पर महाबली रावण था, फिर भी पुरुषार्थ करते रहे तो विजय की

वरमाला उनके गले में पड़ी। कवियों, लेखकों, पत्रकारों और राजनीतिज्ञों के जीवन में भी इस सत्य की पुष्टि करने वाले अनेक उदाहरण मिल जायेंगे।

कुछ लोग कहा करते है कि, लक्ष्मी तो भाग्य का खेल है, पर भाग्य भी पूर्व-भव के पुरुषार्थ के सिवाय क्या है? पूर्व-भव में जो पुण्य कमाया उसी का नाम तो सद्भाग्य है, यानी आखिरकार सारी बात पुरुषार्थ पर आकर ठहर जाती है।

पुरुषार्थ के पाँच दर्जे

पुरुषार्थ के पाँच दर्जे माने गये हैं। 'उत्थान' यानी आलस छोड़ उठ कर खड़ा हो जाना, 'कर्म' यानी कार्य में संलग्न हो जाना, 'बल' यानी कार्य में काया, वाणी और मन का शक्ति भर उपयोग करना, 'वीर्य' यानी कार्य की सफलता का उल्लास, आनन्द, मनाते रहना, और 'पराक्रम' यानी कठिनाइयों का सामना करते हुए धैर्यपूर्वक डटे रहना। भगवान् महावीर ने साधनाकाल में कैसा पराक्रम दर्शाया था, वह आप जानते हैं।

गोशालक कहता था—"जगत में सब भाव नियत हैं, इसलिए उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम से कुछ नहीं होने वाला। सुख दुःख नियत है और वे प्राणी को अवश्य भोगने पड़ते हैं।" उसके इस नियतवाद की निस्सारता महावीर प्रभु ने किस तरह दर्शायी थी यह शास्त्र में दिया हुआ है।

नियतिवाद की निरर्थकता पर सद्दालपुत्र का दृष्टान्त

पोलासपुर में सद्दालपुत्र नामक एक गृहस्थ रहता था। उसके पास पुष्कल धन था—एक कोटि हिरण्य निधान में था, एक कोटि व्याज में लगा हुआ था और एक कोटि अपने व्यवहार धंधे के उपयोग में था। उसके पास दस हजार गायें थीं। उसकी मालिकी में पाँच सौ हाट पोलासपुर नगरी के बाहर थे। उनमें उसने बहुत से आदमी लगा

रखे थे। वे बरतन आदि बनाते थे और उन्हें राजमार्ग में जाकर बेचते थे। सद्दालपुत्र की पत्नी का नाम अग्निमित्रा था।

सद्दालपुत्र गोशालक का भक्त था, इसलिए नियतिवाद का दृढ श्रद्धालु था। एकबार वह अपने बगीचे में बैठा था। वहाँ आकाशवाणी हुई—"कल यहाँ एक सर्वज्ञ, सर्वदशा, त्रैलोक्य पूजित महापुरुष पधारेंगे। उनकी तू वन्दना करना और अशनपानादि का निमंत्रण देना।"

सद्दालपुत्र ने समझा कि ऐसा महापुरुष तो मेरे गुरु गोशालक के अतिरिक्त कोई हो नहीं सकता, परन्तु दूसरे दिन श्रमण भगवान् महावीर वहाँ पधारे। आकाशवाणी हुई थी, इसलिए सद्दालपुत्र उनके दर्शन के लिए गया। उस समय भगवान् ने आकाशवाणी की बात कही। इससे सद्दालपुत्र को आश्चर्य हुआ और उनके प्रति श्रद्धावान हुआ। फिर, उसने भगवान को अपने लिए आवश्यक वस्तुएँ लेने का निमंत्रण दिया।

एक बार सद्दालपुत्र कच्चे बरतनों को धूप में सुखा रहा था। वहाँ भगवान पधारे और उससे कहा—"हे सद्दालपुत्र! यह बरतन किस तरह बना?" सद्दालपुत्र ने कहा, "भगवन्! पहले तो यह मिट्टी था। फिर उसे गूँधकर चाक पर चढ़ाया गया, तब यह बरतन की शक्ल में आया।"

भगवान ने कहा—"उसमें उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम की जरूरत पड़ती है या नहीं?" इस प्रश्न से सद्दालपुत्र चमका, पर उसने अपने आजीविक सिद्धान्त के अनुसार जवाब दिया कि, "भगवन्! उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम बिना ही वह नियति रूप में बनता जाता है।"

भगवान् ने कहा—"हे सद्दालपुत्र! कोई आदमी तेरे इन बरतनों को उठा ले जाये, फेंक दे, फोड़ डाले अथवा तेरी इस अग्निमित्रा भार्या के साथ भोग भोगे तो तू उसे सजा दे या नहीं?"

सद्दालपुत्र ने कहा—"हे भगवन्! मैं उस दुष्ट आदमी को जरूर पकड़ूँ, बाँधूँ और मारूँ!"

भगवान् ने कहा—"अगर सब कुछ किसी के उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम बिना ही नियति के अनुसार होता है, तो कोई बरतन चुराता नहीं, फोड़ता नहीं, तेरी स्त्री के साथ भोग भोगता नहीं, तो फिर तू किसलिए उस पुरुष को पकड़े, बाँधे और मारेगा? तेरे हिसाब से तो सब नियत है और किसी के प्रयत्न बिना होता जाता है।"

इन शब्दों ने सद्दालपुत्र की आँखें खोल दीं। फिर उसने भगवान् का सिद्धान्त सुनने की इच्छा प्रकट की। भगवान् ने उसे अपना सिद्धान्त अच्छी तरह समझाया। उसने अपनी स्त्री सहित भगवान् के सिद्धान्त को स्वीकार किया और उनसे श्रावक के बारह व्रत लिये। उन व्रतों का पालन उसने ऐसी दृढ़ता से किया, कि प्रभु महावीर के सुप्रसिद्ध श्रावकों में स्थान प्राप्त कर लिया।*

जैसे कर्मों के कारण आत्मा की ज्ञान-दर्शन शक्ति दब जाती है, उसी तरह क्रियाशक्ति भी दब जाती है। इसीलिए विभिन्न प्राणियों में उसकी तरतमता दिखायी देती है। जब कर्म के आवरण बिलकुल हट जाते हैं, तब आत्मा उस शक्ति का स्वामी बन जाता है। परमात्मा

---

* भगवान् बुद्ध ने भी गोशालक के नियतिवाद को निकृष्ट गिना था। अंगुत्तर-निकाय के मक्खलि वर्ग में कहा है—'हे भिक्षुओ! इस अवनि पर मिथ्यादृष्टि-सरीखा कोई अहितकर पापी नहीं है। मिथ्यादृष्टि सब से बड़ा पापी है, क्योंकि वह सद्धर्म से विमुख रखता है। हे भिक्षुओ! ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव बहुत हैं, पर मोघ-पुरुष गोशालक जैसा अन्य का अहित करने वाला मैं किसी और को नहीं देखता। समुद्र का जाल जैसे बहुत सी मछलियों के लिए दुःखदायी अहितकर और घातक निकलती है, उसी तरह इस संसार-सागर में मोघपुरुष गोशालक बहुत से जीवों को भ्रम में डालकर दुःखदायक और अहितकर निकलता है ... मक्खलि गोशालक का वाद सब श्रमणवादियों में निकृष्ट है।"

रखे थे। वे बरतन आदि बनाते थे और उन्हें राजमार्ग में जाकर बेचते थे। सद्दालपुत्र की पत्नी का नाम अग्निमित्रा था।

सद्दालपुत्र गोशालक का भक्त था, इसलिए नियतिवाद का दृढ श्रद्धालु था। एकबार वह अपने बगीचे में बैठा था। वहाँ आकाशवाणी हुई—"कल यहाँ एक सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, त्रैलोक्य पूजित महापुरुष पधारेंगे। उनकी तू वन्दना करना और अशनपानादि का निमन्त्रण देना।"

सद्दालपुत्र ने समझा कि ऐसा महापुरुष तो मेरे गुरु गोशालक के अतिरिक्त कोई हो नहीं सकता, परन्तु दूसरे दिन श्रमण भगवान् महावीर वहाँ पधारे। आकाशवाणी हुई थी, इसलिए सद्दालपुत्र उनके दर्शन के लिए गया। उस समय भगवान् ने आकाशवाणी की बात कही। इससे सद्दालपुत्र को आश्चर्य हुआ और उनके प्रति श्रद्धावान हुआ। फिर, उसने भगवान को अपने लिए आवश्यक वस्तुएँ लेने का निमन्त्रण दिया।

एक बार सद्दालपुत्र कच्चे बरतनों को धूप में सुखा रहा था। वहाँ भगवान पधारे और उससे कहा—"हे सद्दालपुत्र! यह बरतन किस तरह बना?" सद्दालपुत्र ने कहा, "भगवन्! पहले तो यह मिट्टी था। फिर उसे गूँदकर चाक पर चढ़ाया गया, तब यह बरतन की शक्ल में आया।"

भगवान ने कहा—"उसमें उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम की जरूरत पड़ती है या नहीं?" इस प्रश्न से सद्दालपुत्र चमका, पर उसने अपने आजीविक-सिद्धान्त के अनुसार जवाब दिया कि, "भगवन्! उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम बिना ही वह नियति रूप से बनता जाता है।"

भगवान् ने कहा—"हे सद्दालपुत्र! कोई आदमी तेरे इन बरतनों को उठा ले जाये, फेंक दे, फोड़ डाले अथवा तेरी इस अग्निमित्रा भार्या के साथ भोग भोगे तो तू उसे सजा दे या नहीं?"

सद्दालपुत्र ने कहा—"हे भगवन्! मैं उस दुष्ट आदमी को जरूर पकड़ूँ, बाँधूँ और मारूँ!"

भगवान् ने कहा—"अगर सब कुछ किसी के उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम बिना ही नियति के अनुसार होता है, तो कोई बरतन चुराता नहीं, फोड़ता नहीं, तेरी स्त्री के साथ भोग भोगता नहीं, तो फिर तू किसलिए उस पुरुष को पकड़े, बाँधे और मारेगा? तेरे हिसाब से तो सब नियत है और किसी के प्रयत्न बिना होता जाता है।"

इन शब्दों ने सद्दालपुत्र की आँखें खोल दीं। फिर उसने भगवान् का सिद्धान्त सुनने की इच्छा प्रकट की। भगवान् ने उसे अपना सिद्धान्त अच्छी तरह समझाया। उसने अपनी स्त्री-सहित भगवान् के सिद्धान्त को स्वीकार किया और उनसे श्रावक के बारह व्रत लिये। उन व्रतों का पालन उसने ऐसी दृढ़ता से किया, कि प्रभु महावीर के सुप्रसिद्ध श्रावकों में स्थान प्राप्त कर लिया।*

जैसे कर्मों के कारण आत्मा की ज्ञान-दर्शन शक्ति दब जाती है, उसी तरह क्रियाशक्ति भी दब जाती है। इसीलिए विभिन्न प्राणियों में उसकी तरतमता दिखायी देती है। जब कर्म के आवरण बिल्कुल हट जाते हैं, तब आत्मा उस शक्ति का स्वामी बन जाता है। परमात्मा

* भगवान् बुद्ध ने भी गोशालक के नियतिवाद को निकृष्ट गिना था। अंगुत्तर-निकाय के मक्खलि वग्ग में कहा है—'हे भिक्षुओ! इस अवनि पर मिथ्यादृष्टि-सरीखा कोई अहितकर पापी नहीं है। मिथ्यादृष्टि सब में बड़ा पापी है, क्योंकि वह सद्धर्म से विमुख रखता है। हे भिक्षुओ! ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव बहुत हैं, पर मोघ-पुरुष गोशालक जैसा अन्य का अहित करने वाला मैं किसी और को नहीं देखता। समुद्र का जाल जैसे बहुत सी मछलियों के लिए दुःखदायी अहितकर और घातक निकलती है, उसी तरह इस संसार-सागर में मोघपुरुष गोशालक बहुत से जीवों को भ्रम में डालकर दुःखदायक और अहितकर निकलता है ... मक्खलि गोशालक का वाद सब श्रमणवादियों में निकृष्ट है।"

महावीर ने जन्म के दिन ही, मेरु-पर्वत पर चौसठ इन्द्रों द्वारा होते हुए अभिषेक के समय, अपने पैर के अँगूठे को जरा ही दबाकर लाख योजन के मेरु पर्वत को कपायमान कर दिया था। वैसी शक्ति हम में भी है, पर वह कर्मों से दबी हुई है। सारे जगत् का ध्वंस और रक्षण करने की शक्ति आत्मा में है। कर्मों के कारण हम कमजोर हैं। कर्मों का नाश होने के साथ ही आत्मा अनन्त शक्तिशाली बन जाती है।

श्रद्धा

पुरुषार्थ श्रद्धा से पैदा होता है और श्रद्धा से ही आगे बढ़ता है। आपके मन में यह श्रद्धा हो कि मैं अमुक रास्ते चलूँगा और अमुक फासला तय करूँगा तो अमुक स्थान पर पहुँचूँगा, तभी आप उस रास्ते को पकड़ते हैं और, चलना शुरू कर देते हैं। आपके मन में यह श्रद्धा हो कि मैं अमुक प्रकार का भोजन करूँगा तो मेरा शरीर स्वस्थ-बलिष्ठ रहेगा, तभी आप वह भोजन करते हैं। और आपके मन में ऐसी श्रद्धा हो कि अमुक धंधा करूँगा तो धन कमा सकूँगा, तभी आप वह धंधा करने के लिए तैयार होते हैं और उस धंधे को करने लगते हैं।

आदमी रस्सी के सहारे चाहे जितनी ऊँची भीत पर चढ़ जाता है, लेकिन अगर रस्सी टूट जाये तो क्या होता है? श्रद्धा के बारे में भी ऐसा ही समझना चाहिए, कारण कि वह भी एक प्रकार का अवलम्बन है। श्रद्धा टूटी, विश्वास डिगा, कि प्रवृत्ति खत्म! अगर आपके मन में यह ठस जाये कि अमुक धंधे में बरकत नहीं होने वाली, तो क्या फिर आप उस धंधे को करेंगे?

धर्माचरण में श्रद्धा को पहला स्थान दिया जाता है। श्रद्धारहित क्रिया पूरा फल नहीं देती। अगर आपको धर्म-प्रवर्तक के प्रति श्रद्धा हो, धर्म-

गुरु के प्रति श्रद्धा हो, तो उसके सिद्धान्तों को आचरण में लाने के लिए तैयार होओ। इसलिए प्रथम श्रद्धा की पुष्टि की जाती है।

श्रद्धा किस पर रखी जाये ? यह भी विचारने योग्य है। गलत दवा पर श्रद्धा रखकर उसका सेवन करते रहें तो फायदा तो दूर रहा, नुकसान अवश्य हो। देव, गुरु और सिद्धान्तों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिये। जो कुदेव, कुगुरु और कुवचन में श्रद्धा रखकर उनका अनुसरण करते हैं, उन्हें फायदे के बजाय नुकसान जरूर होता है। इसीलिए शास्त्रकारों ने देव, गुरु और प्रवचन की परीक्षा करने के लिए कहा है और उनमें जो सच्चा लगे उसी का अनुसरण करने का आदेश दिया है।

सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की श्रद्धा को 'सम्यक्त्व' कहा जाता है। सम्यक्त्व के प्रताप से ही ज्ञान और क्रिया सफल होती है। कोई आदमी बहुश्रुत हो और धार्मिक क्रिया भी करता हो, लेकिन अगर सम्यक्त्व-शून्य हो तो उसका आध्यात्मिक विकास नहीं होनेवाला। शास्त्रकार भगवत कहते हैं

विना सम्यक्त्वरत्नेन व्रतानि निखिलान्यपि।
नश्यन्ति तत्क्षणादेव ऋते नाथाद्यथा चमूः॥
तद्विमुक्त क्रियायोग प्राय स्वल्पफलप्रदः।
विनानुकूलवातेन कृषिकर्म यथा भवेत्॥

—सम्यक्त्व रत्न विना सब व्रत सेनापति रहित सेना की तरह तुरन्त ही नाश पाते हैं। अनुकूल पवन विना जैसे खेती फलदायक नहीं होती; उसी प्रकार सम्यक्त्व विना सब क्रियाएँ प्राय अल्प फलदायी होती हैं।

श्रावक के बारह व्रत सम्यक्त्व का मूल कहलाते हैं, कारण कि उनमें पहले सम्यक्त्व और तब व्रत दिये जाते हैं।

सम्यक्त्व के विषय में आगे बहुत विवेचना करना है, इसलिए यहाँ उसका विस्तार नहीं करते, पर इतना बतलाये देते हैं कि, सम्यक्त्व आत्मा का मूल गुण है। इसलिए, उसका विकास अवश्य करना चाहिए। जिसका सम्यक्त्व निर्मल और दृढ होगा, वह कभी मुक्ति अवश्य पायेगा।

लोग आनन्द की तलाश करते हैं। कोई खान में, कोई पान में, कोई गान में, तो कोई तान में! किसी को वह कंचन में दिखलायी देता है, तो किसी को कामिनी में! किसी को वह मकान महलों में दिखायी देता है, तो किसी को मान-पान और अधिकार में दिखायी देता है। लेकिन, यह सब भ्रम है, मायाजाल है। इनमें से किसी में न तो आनन्द है, न आनन्द देने की शक्ति। यह तो कस्तूरी-मृग सी स्थिति है। कस्तूरी मृग को कस्तूरी की मीठी सुगंध आती है, उससे वह मोहित होकर उसकी तलाश में वन में भ्रमता है, पर वह उसका मूल स्थान नहीं खोज सकता। कस्तूरी है अपनी नाभि में और ढूँढता है बाहर! इसी तरह आनन्द का स्रोत बहता है आपकी आत्मा में और आप उसे ढूँढते हैं बाहर, तो वह आपको कैसे मिल सकता है?

खानपान, गानतान आदि में आपने आनन्द माना है, इसलिए वह आनन्ददायक लगते हैं अर्थात् वह आनन्द खानपान, गानतान आदि में नहीं, बल्कि आपकी मान्यता का है। वह मान्यता बदल जाये तो उनमें से कौन-सी वस्तु आनन्द दे सकेगी? अरुचि के रोगी को मेवा-मिठाई अच्छी नहीं लगती। जिसका जवान लड़का मर गया हो, उसे गाना-बजाना अच्छा नहीं लगता। कंचन भी सबको आनन्द नहीं दे सकता। त्यागी-वैरागी को वह कंटक-समान लगता है। कामिनी का भी ऐसा ही है। जब तक मन में मोहराय का तांडव चलता रहता है, तभी तक वह आनन्दजनक लगती है, पर वह तांडव रुका कि वह बन्धन रूप दिखने लगता है और उसके पाश से छूट जाने की भावना होती है।

मान्यता बदल जाये तो महल भी कैदखाना सरीखा लगता है, मानपान मिथ्योपचार लगते हैं और अधिकार आकुलता पैदा करने लगता है।

आत्मा इन सब चीजों में आनन्द मानती है, इसका कारण उसकी विभावदशा है। विभावदशा अर्थात्—मोहग्रस्त स्थिति। यह स्थिति ज्यों-ज्यों दूर होती जाती है, त्यों त्यों वह स्वभाव में आता जाता है और निजानन्दरसलीन रहने लगता है।

आत्मा के खजाने में आनन्द ठूँस ठूँसकर भरा है, इसीलिए वह आनन्दघन कहलाता है। वह आनन्द कभी कम नहीं होता, वह आनन्द कभी नष्ट नहीं होता। वह अक्षय और अविनाशी है। सिद्ध भगवान् ऐसे आनन्द में सदा रमण करते रहते हैं और वही सब आत्मार्थी पुरुषों का लक्ष्य है।

आप मोह को छोड़ दें तो इस आनन्द का अनुभव होने लगे। एक बार इस आनन्द का अनुभव हुआ कि फिर आपको पौद्गलिक आनन्द अच्छा नहीं लगेगा, पौद्गलिक आनन्द की इच्छा भी नहीं होगी। जिसे चक्रवर्ती का भोजन मिलता हो वह कोटों के भोजन की इच्छा क्यूँ करेगा?

आत्मा का खजाना अपूर्व है! इस जगत् की पार्थिव वस्तुएँ उसका मुकाबला नहीं कर सकतीं!

ग्यारहवाँ व्याख्यान

सर्वज्ञता

महानुभावो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवें अध्ययन मे वर्णित आत्मा के विषय पर अब तक काफी विवेचन हो चुका है। वह आपको याद होगा। खास-खास बातें तो आपको याद होंगी ही। सुने हुए विषय का चिन्तन मनन करते रहने से उसका रहस्य प्रकट हो जाता है। स्वाध्याय के पाँच प्रकारों मे तीसरा प्रकार 'परावर्तना' है। इसका अर्थ यह है कि जो कुछ सीखे हो, उसे स्मरण करते रहना चाहिए। एक गुरु चेले से पूछता है—'पान क्यों सड़ा ? घोड़ा क्यों अड़ा ? विद्या क्यो भूली ? रोटी क्यों जली ?' चेला होशियार था। उसने चारों सवालों का एक जवाब दिया—'फेरा न था !' इसलिए जो कुछ सुनो सीखो उसे 'फेरते' रहने की जरूरत है।

पिछले व्याख्यानों मे केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता का निर्देश हुआ है। आज उसी पर कुछ विवेचन करेंगे।

'ज्ञान' और 'दर्शन' आत्मा का स्वभाव है, इसलिए आत्मा कभी ज्ञान दर्शन रहित नहीं होता। निगोद-अवस्था म ज्ञान न्यूनतम होता है, केवलज्ञानी हो जाने पर अधिकतम ! केवलज्ञानी माने पूर्णज्ञानी, सर्वज्ञ। वह त्रिलोक, त्रिकाल के समस्त द्रव्यो को समस्त पर्यायों को युगपत्, एक साथ, जानते है।

कर्मवशात् ससार म परिभ्रमण करता हुआ आत्मा 'देव', 'मनुष्य', 'तिर्यञ्च' और 'नारकी' इन चार गतियों मे से किसी न किसी म अवश्य

जाता है। पहले यह बतायेंगे कि केवलज्ञान इनमें से किस गति म होता है।

देवों को सुख-वैभव बहुत होता है, परन्तु चारित्र नहीं होता। उनकी हार्दिक अभिलाषा रहती है कि अगर हमे दो घड़ी के लिए सामायिक की सामग्री मिल जाये, चारित्र की प्राप्ति हो जाये, तो हमारी देवगति सफल हो जाये।[1] पर, वह सामग्री उन्हें प्राप्त नहीं होती। देवों को अवधिज्ञान तो जन्म से ही होता है, पर चारित्र के अभाव में वे 'केवलज्ञान' प्राप्त नहीं कर सकते।

नारकी जीव भी, देवों की तरह, जन्म से ही अवधिज्ञानी होते हैं, परन्तु चूँकि दु ख का निरन्तर अनुभव करते रहते हैं, इसलिए चारित्र-परिणामी नहीं होते। अत उन्हें भी केवलज्ञान नहीं हो सकता।

तिर्यचों की हालत कैसी दर्दनाक होती है, आप जानते ही हैं। उन्हें भूख, प्यास, ठडी, गरमी, आदि अनेक कष्ट सहते रहना पड़ता है, उनम चारित्र के परिणाम कैसे हों? तिर्यचों को सज्ञी पचेन्द्रियों के निमित्त-वशात् जातिस्मरण ज्ञान होता है और वे अपना पूर्वभव देख सकते हैं। उन्हें निमित्तवशात् अवधिज्ञान भी होता है।[2] परन्तु चारित्र के अभाव से[3] वे केवलज्ञान नहीं पा सकते।

१—सामाइयसामग्गि देवा वि चिंतति हिययमज्झम्मि।
जइ होइ मुहुत्तमेग, ता अम्ह देवत्तण सुलह॥

२—श्री तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में 'यथोक्तनिमित्त षड्विकल्प शेषाणाम्' ॥ २२ ॥ इस सूत्र से यह दर्शाया गया है कि देवों और नारकियों के अलावा दूसरों को निमित्तवशात् अवधिज्ञान होता है।

३—तिर्यचों में महाव्रतों का आरोप होने पर भी उनमें चारित्र के परिणामों का अभाव होता है, यह बात श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषणवती-नामक ग्रन्थ में स्पष्ट की है।

बाकी रही मनुष्यगति, उसमे चारित्र होने से केवलज्ञान सभव है। मनुष्यगति को श्रेष्ठ मानने का यही कारण है। मनुष्यभव बिना चारित्र नहीं है, चारित्र बिना केवलज्ञान नहीं है, और केवलज्ञान बिना मुक्ति नहीं है।

ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल ऐसे जो पाँच प्रकार बतलाये हैं, वे सब मनुष्य को हो सकते है। मति और श्रुत ज्ञान तो उनमे सहज होता है, अवधि, मन पर्यय और केवल लब्धिजन्य होते हैं।

केवलज्ञान किसी का दिया हुआ नहीं आता। उसे स्वय ही प्राप्त करना होता है। जो पुरुषार्थ करता है, अर्थात् सयम-जप तप-ध्यान के मार्ग पर चलता और अप्रमत्त रहता है, उसे वह प्राप्त होता है। आज तक अनन्त केवली हो गये है। उन सब ने केवलज्ञान की प्राप्ति इसी प्रकार की है। और, आगे जो अनन्त केवली होनेवाले है, वे भी केवलज्ञान की प्राप्ति इसी प्रकार करेंगे।

केवलज्ञानी अपना कल्याण करते हैं और दुनिया का भी कल्याण करते हैं। आपको भी स्व-पर कल्याण करना हो, तो केवलज्ञानी बनने का ध्येय रखना चाहिए। यद्यपि इस काल में यहाँ केवलज्ञान नहीं होता, फिर भी उसकी प्राप्ति का दृढ सकल्प रखकर पुरुषार्थ करते रहें, तो शीघ्र ही किसी न किसी भव में आप अवश्य केवलज्ञानी हो जायेंगे। यह कभी न भूलिये कि, दृढ सकल्प और पुरुषार्थ जीवन को सफल बनाने के अमोघ उपाय है।

अभी तो हम अपनी पीठ के पीछे क्या हो रहा है, यह भी नहीं देख सकते, क्योंकि हमारी देखने की शक्ति मर्यादित है। परन्तु, केवलज्ञान केवलदर्शन हो जाने के बाद हम सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाते है।

उल्लू रात मे देख सकता है, दिन में नहीं देख सकता। कौआ दिन में देख सकता है, रात म नहीं देख सकता। हम ज्यादा अँधेरे म नहीं देख सकते। परन्तु, केवलज्ञानी हो जायें तो निबिड अधकार में भी देख सकते हैं।

केवलज्ञानी मृगावती साध्वी ने घोर अँधेरे म भी काले नाग को जाते हुए देख लिया था। कथा है —

भगवान् महावीर कौशाम्बी में विराजे हुए थे। चन्द्र और सूर्य अपने स्वाभाविक विमानों में उनकी वन्दना करने आये। उन विमानों के प्रकाश से आकाश प्रकाशित रहा, इसलिए लोग दिन समझकर रात को देर तक बैठे रहे। साध्वी मृगावती का भी ऐसा ही हुआ, यद्यपि उसकी गुरुणी महत्तरा चन्दनबाला योग्य समय अपने स्थान को चली गयी थी।

जब मृगावती को अपनी गल्ती मालूम हुई, तो उसे आघात लगा और वह अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप करने लगी। वह उपाश्रय में पहुँचकर चदनबाला से क्षमायाचना करने लगी। गुरुणी चन्दनबाला ने कहा—"साध्वियों को रात को देर तक बाहर नहीं रहना चाहिए। उन्हें समय पर उपाश्रय में आ ही जाना चाहिए।"

मृगावती कोई सामान्य साध्वी नहीं थी। वह महाराज चेटक की पुत्री थी, कौशाम्बी की राजरानी थी, ससारपक्षसे चन्दनबाला की मौसी थी। वह चाहती तो बचाव कर सकती थी, पर भूल का बचाव क्यों किया जाये, यह सोचकर वह चुप रह गयी। उसने दिल को समझा लिया कि 'जब सर्वस्व छोड़ दिया है, तो इतनी स्खलना भी क्यों हो?' वह शुद्ध भावना से दारुण पश्चात्ताप करने लगी। उस पश्चात्ताप के प्रताप से उसकी कर्मश्रृंखलाएँ टूट गयीं, घातिया कर्मों का नाश हो गया, और उसे केवल-ज्ञान प्रकट हो गया।

मृगावती का सथारा चन्दनबाला के सथारे के पास था। उस वक्त उपाश्रय में रात का प्रगाढ़ अन्धकार व्याप्त था। इतने में मृगावती ने चन्दनबाला के हाथ की तरफ आता हुआ एक काला नाग देखा। उसने चन्दनबाला का हाथ ऊँचा कर दिया और नाग चन्दनबाला के हाथ के नीचे से निकल गया। चन्दनबाला जग गयी।

"लेकिन तुमने ऐसे प्रगाढ अन्धकार में उस सर्प को देखा कैसे ?"—चन्दनबाला ने आश्चर्य से पूछा ।

"आपके प्रताप से हुए केवलज्ञान के द्वारा,' —मृगावती ने विनयपूर्वक जवाब दिया । उसी समय चन्दनबाला उठकर खड़ी हो गयी और उसने मृगावती के चरणों में गिरकर आशातना के लिए क्षमा माँगी । इस तमाम घटना पर विचार करके उसके हृदय में भी प्रायश्चित की आग प्रज्वलित हो गयी और उसमें सब घातिया कर्म जलकर भस्म हो गये और उसे भी केवलज्ञान प्रकट हो गया ।

किन्हीं लोगों को सर्वज्ञता की बात इसलिए गले नहीं उतरती कि, आजकल कोई सर्वज्ञ प्रत्यक्ष देखने में नहीं आता । लेकिन, हर एक वस्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध नहीं होती । कुछ शास्त्राधार से, कुछ युक्ति से, और कुछ अनुभव से सिद्ध होती है । दूसरे, आज कोई सर्वज्ञ भले ही न बताया जा सके, पर ऐसे व्यक्ति देखने में आते हैं कि जिनसे हम सर्वज्ञ का अनुमान कर सकते है । इसे हम यहाँ विस्तार से समझायेंगे ।

शास्त्रों में बताये हुए ज्ञान के पाँच प्रकारों में एक केवलज्ञान है । अगर केवलज्ञान सर्वज्ञता-जैसी कोई वस्तु इस विश्व में न होती, तो शास्त्रकार उसका निर्देश क्यों करते ? हर तीर्थंकर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है । इसीलिए 'सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं' कह कर उनकी स्तुति की जाती है । इस सर्वज्ञता की प्राप्ति के उपाय शास्त्रों में विस्तारपूर्वक बतलाये गये है । अन्य महापुरुषों और महासतियों को केवलज्ञान प्रकट होने की बात भी शास्त्रों तथा चारित्रग्रन्थों में मिलती है । इस प्रकार शास्त्र प्रमाण से सर्वज्ञता सिद्ध है ।

अब युक्ति से विचार करें । एक लालटेन पर मोटा कपड़ा ढँका हो, तो प्रकाश कम निकलता है, पतला ढँका हो तो ज्यादा निकलता है, और कपड़ा हटा दें तो पूरा प्रकाश निकलता है । इसी प्रकार आत्मा से कर्म का आवरण हट जाये तो पूर्ण ज्ञान क्यों न होगा ? कम ज्ञान पर पर्दा डाल

देता है, उसका नाश हो जाने पर पूर्ण ज्ञान प्रकट होना ही चाहिए। दूसरे, जो कम जानता है वह ज्यादा जान सकता है, और जो ज्यादा जानता है वह पूरा भी जान सकता है।

हमारा ज्ञान सामान्य है, फिर भी हम भूत और भविष्य का अनुमान कर सकते हैं। पैर के निशान देखकर कहना कि यहाँ से हिरन गया है, यह भूतकालीन घटना सम्बन्धी अनुमान है। और, बादल और हवा का रुख देखकर कहना कि वर्षा होगी, यह भविष्यकालीन घटना सम्बन्धी अनुमान है। हमारा ऐसा अनुमान अक्सर सच निकलता है। तो फिर सर्वश्रेष्ठ ज्ञान वाले भूत और भविष्यत् काल का साक्षात् दर्शन क्यों नहीं कर सकते ?

कोई तर्क करे कि हमारे पास सामग्री हो, वस्तु हो, कोई पदार्थ या निशान हो, तो हम भूतकालीन या भविष्यत् कालीन अनुमान कर सकते हैं, पर जहाँ वस्तु का कोई चिह्न या नामोनिशान तक न हो, वहाँ ऐसा साक्षात् दर्शन कैसे हो सकता है ? पर, इस तर्क के करने वाले को भूलना न चाहिए कि, द्रव्य के पर्यायों का नाश होता है, पर द्रव्य का नाश नहीं होता। द्रव्य तो विश्व में किसी न-किसी रूप में विद्यमान रहता ही है, उससे भूत और भविष्यत् कालीन स्थिति का दर्शन किया जा सकता है। खान से निकला हुआ पत्थर अनेक हाथों से गुजर कर 'साइकोमैट्री' जानने वाले के पास आये, तो वह उसे कपाल से स्पर्श करा के कह सकता है कि यह पत्थर अमुक खान से निकला है, इसे अमुक व्यक्तियों ने निकाला है, उनके पास से अमुक-अमुक के पास आया है, आदि। उसके बतलाये हुए सब व्यक्ति विद्यमान ही हों, यह जरूरी नहीं है। उनमें से बहुत-से मर खप गये हों तो भी 'साइकोमैट्रिस्ट' उनके नाम बतलाता है, उनका वर्णन करता है, और वह सत्य होता है।

रावण एक नीतिमान राजा था, उसे केवल सीता की ओर राग उत्पन्न हुआ था। उसके सिवाय उसने किसी परस्त्री की तरफ नजर उठाकर

भी नहीं देखा था। एक दिन उसने राज्य के नैमित्तिक ज्योतिषी को बुलाकर पूछा—"मेरा मरण कब, किस प्रकार होगा ?" नैमित्तिक ने ग्रहदशा देखकर और बराबर गणना करके कहा—"राजा दशरथ के भावी पुत्रों बलदेव और वासुदेव द्वारा और राजा जनक की पुत्री सीता के निमित्त से आपकी मृत्यु होगी।" ये व्यक्ति उस समय जगत् में विद्यमान नहीं थे, फिर भी नैमित्तिक ने उनकी बात की और हम जानते हैं कि वह सच्ची निकली।

नैमित्तिक इस प्रकार ठीक-ठीक भविष्य बतला सकते थे, क्योंकि ये भावी घटनाएँ उनके अन्तरचक्षुओं के सामने खड़ी हो जाती थी, तो फिर उनकी अपेक्षा अनेक गुने शक्तिशाली केवलज्ञानी के अन्तरचक्षुओं के समक्ष यह सब क्यों नहीं खड़ा हो सकता ?

हम मनुष्यों को विभिन्न विषयों में निष्णात देखते हैं। सामान्य मनुष्य की अपेक्षा उनका ज्ञान बहुत ही उच्चकोटि का होता है, आत्मा की ज्ञान-शक्ति अगाध है। यह शक्ति जब चरम सीमा पर पहुँच जाये तो समस्त वस्तुओं के समस्त भावों का ज्ञान क्यों नहीं हो सकता ?

आपने 'मैस्मेरिज्म' करने वाले को देखा होगा। जिसे 'मैस्मेराइज' किया जाता है, उसकी आँखों पर पट्टी बाँध दी जाती है, अथवा उसके सारे शरीर पर काला मोटा कपड़ा उढा दिया जाता है। फिर, मैस्मेरिज्म करनेवाला अपने हाथ में कोई किताब लेता है और उसके किसी अंश पर निशान लगाता है। मैस्मेराइज हुआ आदमी उसे फरफर पढ़ जाता है। अथवा रास्ते से गुजरते हुए किसी आदमी की तरफ इशारा करके मैस्मेराइज करने वाला पूछे तो वह उसका यथार्थ वर्णन कर जाता है। केवल ज्ञान को न मानने वाले से हम पूछते हैं—"जब एक आदमी की आँखें बन्द होती हैं और उनके ऊपर पट्टी बँधी हुई होती है, तो वह आदमी यह सब किस तरह देख लेता है ?" इससे यह समझा जा सकता है कि, आँखों के बगैर भी देखा जा सकता है और देखने वाला आत्मा ही होता है।

'हिप्नोटिज्म' की अवस्था में आदमी बेहोश होता है, फिर भी वह सामने रखी गयी पुस्तक में से इच्छित पृष्ठ खोलकर इच्छित अंश पढ़कर सुना देता है और लिखकर भी दे देता है* खूबी की बात तो यह है कि वह पुस्तक उसकी पहले देखी हुई नहीं होती !

बम्बई निवासी अध्यात्म-विशारद डॉ० मूलशंकर हीरजीभाई व्यास यहीं बैठे सैकड़ों मील दूर की वस्तु देखकर उसका वर्णन कर सकते हैं। उन्होंने इसी साल सुन्दराबाई हॉल में जैन-साहित्य-प्रकाशन मंदिर की ओर से नियोजित शिक्षा-स्मृति समारोह के अवसर पर† आँखों पर पट्टी बाँधकर अनेक वस्तुओं के नाम कह सुनाये थे, रंग बता दिये थे, तथा विभिन्न भाषाओं की पुस्तकों के नाम भी पढ़ सुनाये थे। उनकी आँखों को बन्द करके रुई के मोटे पहले रखे गये थे। फिर रूमाल कसकर बाँध दिया गया था। उसके बाद आठ पट खादी का कपड़ा बाँधा गया। अर्थात् पट्टी में किसी कमी की गुंजाइश नहीं रहने दी गयी। फिर भी वह अलमारी में रखी हुई, जमीन की, पानी की, और सैकड़ों मील दूर की वस्तु बता सके ! इससे हमें इत्मीनान हो जाता है कि आत्मा में चाहे जितनी दूर रखी हुई वस्तु जानने-देखने की शक्ति मौजूद है।

कुछ दिन हुए साप्ताहिक बम्बई-समाचार में श्री गिरीशचन्द्र वनवासी ने 'मानव भूत, भविष्यत् और वर्तमान को जान सकता है' शीर्षक लेख

---

* पॉल ब्रन्टन पी० एच० डी० एक महान् लेखक है। उसने दुनिया के अनेक भागों की खोज करके अध्यात्म विषय पर पुस्तकें लिखी हैं। उसने 'A search in Secret Egypt' गुप्त मिश्र देश की खोज—नामक अति प्रसिद्ध पुस्तक में हिप्नोटिज्म के अद्‌भुत प्रयोग करके बतानेवाले मोंशियर ऐडवर्ड ऐब्रिज का जो वर्णन किया है (पृष्ठ ६७ में), वह इस विषय में प्रमाण रूप है। आवृत्ति १६, पृष्ठ १०० पर इस तरह लिखी गयी पंक्तियों का चित्र भी दिया है।

† यह समारोह जैन शिक्षावली की प्रथम श्रेणी के प्रकाशन के निमित्त नियोजित किया गया था।

भी नहीं देखा था। एक दिन उसने राज्य के नैमित्तिक ज्योतिषी को बुलाकर पूछा—"मेरा मरण कब, किस प्रकार होगा ?" नैमित्तिक ने ग्रहदशा देखकर और बराबर गणना करके कहा—"राजा दशरथ के भावी पुत्रों बलदेव और वासुदेव द्वारा और राजा जनक की पुत्री सीता के निमित्त से आपकी मृत्यु होगी।" ये व्यक्ति उस समय जगत् में विद्यमान नहीं थे, फिर भी नैमित्तिक ने उनकी बात की और हम जानते हैं कि वह सच्ची निकली।

नैमित्तिक इस प्रकार ठीक ठीक भविष्य बतला सकते थे, क्योंकि ये भावी घटनाएँ उनके अन्तरचक्षुओं के सामने खड़ी हो जाती थी, तो फिर उनकी अपेक्षा अनेक गुने शक्तिशाली केवलज्ञानी के अन्तरचक्षुओं के समक्ष यह सब क्यों नहीं खड़ा हो सकता ?

हम मनुष्यों को विभिन्न विषयों में निष्णात देखते हैं। सामान्य मनुष्य की अपेक्षा उनका ज्ञान बहुत ही उच्चकोटि का होता है, आत्मा की ज्ञान-शक्ति अगाध है। यह शक्ति जब चरम सीमा पर पहुँच जाये तो समस्त वस्तुओं के समस्त भावों का ज्ञान क्यों नहीं हो सकता ?

आपने 'मैस्मेरिज्म' करने वालों को देखा होगा। जिसे 'मैस्मेराइज' किया जाता है, उसकी आँखों पर पट्टी बाँध दी जाती है, अथवा उसके सारे शरीर पर काला मोटा कपड़ा उढ़ा दिया जाता है। फिर, मैस्मेरिज्म करनेवाला अपने हाथ में कोई किताब लेता है और उसके किसी अंश पर निशान लगाता है। मैस्मेराइज हुआ आदमी उसे फरफर पढ़ जाता है। अथवा रास्ते से गुजरते हुए किसी आदमी की तरफ इशारा करके मैस्मेराइज करने वाला पूछे तो वह उसका यथार्थ वर्णन कर जाता है। केवलज्ञान को न मानने वाले से हम पूछते हैं—"जब एक आदमी की आँखें बन्द होती हैं और उनके ऊपर पट्टी बँधी हुई होती है, तो वह आदमी यह सब किस तरह देख लेता है ?" इससे यह समझा जा सकता है कि, आँखों के बगैर भी देखा जा सकता है और देखने वाला आत्मा ही होता है।

'हिप्नोटिज्म' की अवस्था मे आदमी बेहोश होता है, फिर भी वह सामने रखी गयी पुस्तक म से इच्छित पृष्ठ खोलकर इच्छित अंश पढकर सुना देता है और लिखकर भी दे देता है* खूबी की बात तो यह है कि वह पुस्तक उसकी पहले देखी हुई नहीं होती ।

बम्बई निवासी अध्यात्म-विशारद डॉ० मूलशकर हीरजीभाई व्यास यहीं बैठे सैकड़ों मील दूर की वस्तु देखकर उसका वर्णन कर सकते हैं। उन्होंने इसी साल सुन्दराबाई हॉल में जैन-साहित्य-प्रकाशन मदिर की ओर से नियोजित शिक्षा-स्मृति समारोह के अवसर पर† आँखों पर पट्टी बाँधकर अनेक वस्तुओं के नाम कह सुनाये थे, रग बता दिये थे, तथा विभिन्न भाषाओं की पुस्तकों के नाम भी पढ़ सुनाये थे । उनकी आँखों को बन्द करके रुई के मोटे पहले रखे गये थे । फिर रूमाल कसकर बाँध दिया गया था । उसके बाद आठ पट खादी का कपड़ा बाँधा गया । अर्थात् पट्टी में किसी कमी की गुंजाइश नहीं रहने दी गयी । फिर भी वह अलमारी में रखी हुई, जमीन की, पानी की, और सैकड़ों मील दूर की वस्तु बता सके । इससे हमें इत्मीनान हो जाता है कि आत्मा में चाहे जितनी दूर रखी हुई वस्तु जानने-देखने की शक्ति मौजूद है ।

कुछ दिन हुए साप्ताहिक बम्बई-समाचार में श्री गिरीशचन्द्र वनवासी ने 'मानव भूत, भविष्यत् और वर्तमान को जान सकता है' शीर्षक लेख

---

* पॉल ब्रन्टन पी० एच० डी० एक महान् लेखक है । उसने दुनिया के अनेक भागों की खोज करके अध्यात्म विद्या पर पुस्तकें लिखी हैं। उसने 'A search in Secret Egypt' गुप्त मिश्र देश की खोज—नामक अति प्रसिद्ध पुस्तक में हिप्नोटिज्म के अद्भुत प्रयोग करके बतानेवाले मोंशियर ऐडवर्ड ऐब्जि का जो वर्णन किया है (पृष्ठ ६७ से), वह इस विषय में प्रमाण रूप है । आवृत्ति १६, पृष्ठ १०० पर इस तरह लिखी गयी पंक्तियों का चित्र भी दिया है ।

† यह समारोह जैन शिक्षावली की प्रथम श्रेणी के प्रकाशन के निमित्त नियोजित किया गया था ।

प्रकाशित किया था। उसमें जो तथ्य बतलाया गया है, वह ध्यान देने योग्य है। वे उस मननीय लेख में लिखते हैं—

मानव भूत, भविष्यत् और वर्तमान जान सकता है !

हम अपनी अनेक धार्मिक पुराण-कथाओं में भूत, भविष्यत और वर्तमान बतानेवाले महान् ऋषि मुनियों का हाल पढ़ते हैं। अब भी हमारे भारत में ऐसे संत महात्मा हैं। वे हिमालय, गिरनार, आदि पहाड़ों की गुफाओं में रहते हैं और अपने ध्येय की साधना में मग्न रहते हैं।

हॉलैण्ड में आज पीटर हरकोस नामक एक व्यक्ति है, जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान बतला सकता है।

इंग्लैण्ड के स्कॉटलैंड यार्ड के एक पुलिस अधिकारी को यह बात सुनकर आश्चर्य और शंका हुई। उसने और उसके सहयोगियों ने इस बारे में खातरी करने के लिए पीटर को बुलवा भेजा।

१९५१ के बड़े दिन का त्यौहार था। उस वक्त स्कॉटलैंड यार्ड की पुलिस का बुलावा सुनकर पीटर विचार में पड़ गया। पर, वह गया। पुलिस अधिकारी ने पीटर का स्वागत करते हुए कहा—"मिस्टर पीटर, हमने सुना है कि आप भूत, भविष्यत् और वर्तमान जान सकते हैं। क्या यह सच है?"

"जी"—पीटर ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया।

"क्या आप अपनी शक्ति द्वारा हमारी सहायता करेंगे?"

"कहिये, क्या सेवा है?"

"'वेस्ट मिंस्टर अबे' में से राज्याभिषेक की एक बहुत मूल्यवान चीज चोरी चली गयी है। उसकी तलाश में अगर आप हमारी मदद करेंगे, तो बड़ी कृपा होगी और हमें आपकी अद्भुत् शक्ति की प्रतीति भी होगी।"

"आपको अवश्य सहायता दूँगा!"

"तो चलिये लंदन"—पुलिस अफसर ने कहा।

"चलिये।"

लंडन पहुँच कर वे लोग वैस्ट मिंस्टर अबे गये।

पीटर ने कहा—"कृपया सब शांति रखें। मैं जो कुछ कहता जाऊँ, लिखते जायें।" यह कह पीटर भारतीय योगी की तरह ध्यानावस्थित हो गये।

कुछ देर बाद पीटर ने बोलना शुरू किया—"चोरी पाँच आदमियों ने की है। एक दो अन्दर आये हैं, बाकी बाहर देख रेख करते रहे हैं। चोरी में मोटर का उपयोग किया गया।" उस मोटर का नंबर भी पीटर ने सुना दिया, और कुछ देर के लिए मौन हो गये।

फिर बोले—"लोअर टेम्स स्ट्रीट।" और, उस भाग का चित्रण भी कर दिया। वह सब ठीक था और पीटर उससे पहले कभी इंग्लैण्ड नहीं आये थे। यह सब देखकर पुलिस अधिकारी आश्चर्य-चकित रह गये।

"आपके पास चोरी करनेवालों की कोई चीज है?"—पीटर ने पूछा।

"हाँ यह कोश है, इससे चोरों ने ताला तोड़ा था"—पुलिस अफसरों ने कोश पीटर के सामने रख दिया।

पीटर ने कोश को लेकर देखा और फिर ध्यानस्थ हो गये। करीब पाँच मिनट के बाद आँखें खोलकर बोले—"चलिये मेरे साथ।"

"कहाँ?"

"ग्रीनलेन में"—पीटर ने कहा। वे सब मोटर पर सवार होकर कुछ देर में ग्रीनलेन आ पहुँचे।

"सामने की लुहार की दुकान से चोरों ने यह कोश खरीदा था"—पीटर ने कहा। इसके बाद वे सब 'वैस्टमिंस्टर अबे' में वापस आ गये।

"चोरी की चीज पहले लंडन में खपायी गयी, बाद में वह ग्लासगो पहुँच गयी।"—पीटर ने कहा।

इसके बाद पुलिसवालों ने अपना काम शुरू कर दिया। सारी बात सच निकली। आखिर अपराधी पकड़े गये। पीटर के नाम की धूम मच गयी। लंडन के समाचारपत्रों में उनके चित्र और परिचय छपे।

ऐसा ही एक प्रसंग पेरिस का है। १९५२ में पेरिस के एक पुराने मकान में पुराना सामान बेचने की दुकान थी। उसमें रहस्यमय हत्या हुई। खूनी ने खून करके शव गुम कर दिया था।

पेरिस की पुलिस खून की खबर पाते ही घटनास्थल पर आयी। उसने मकान में रहनेवालों के और पड़ोसियों के बयान लिये। लेकिन न खूनी मिला न लाश!

पुलिस ने बड़ी दौड़-धूप की! हर मुमकिन कोशिश की, पर सब फिजूल! तीन हफ्ते गुजर गये, पर कोई सुराग न लगा।

अखबार पेरिस की पुलिस की सख्त आलोचना करते रहे और पुलिस दिलोजान से भरसक कोशिश करती रही। यूँ तीन सप्ताह और निकल गये। सब हताश हो गये थे कि एक पुलिस अफसर को लंडन की चोरी का पता लगाने वाले उपर्युक्त भविष्यवक्ता पीटर की याद आयी। उन्हें घटना की खबर दी गयी और पेरिस पधारने की दरख्वास्त की गयी।

पीटर आये। पुलिस अफसरों ने सारा विवरण सुना दिया। पीटर ने मृतक का फोटो और खून का स्थल देखना चाहा। वह उन्हें दिखला दिया गया।

पीटर उस फोटो को लेकर ध्यानस्थ हो गये। बाद में बोले—"मेरे साथ चलिये" पुलिस अफसरों के साथ चलते-चलते वे एक पुराने मकान के पास आकर खड़े हो गये। उस मकान के अन्दर दाखिल हुए। पुलिस ने घटनास्थल बताया।

"खून यहाँ नहीं हुआ"—पीटर ने कहा।

"क्या कहते हैं, मिस्टर पीटर!" पुलिस-अधिकारी बोल उठे—"इस घटनास्थल के सबूत से जाहिर है कि खून यहीं हुआ है।"

"आपका सबूत कहता होगा। आपने इस मकान का बारीकी से निरीक्षण किया है ?"—पीटर ने पूछा।

"जी हाँ ! मकान के हर कोने और हर दीवार का बड़ी ही सूक्ष्मता से निरीक्षण किया गया है"—पुलिस अफसरों ने कहा।

"इस मकान म भूगर्भ है। नीचे एक कमरा है।"

"यह कैसे मुमकिन हो सकता है, मिस्टर पीटर, आपको भ्रम हो रहा है,"—पुलिसवालों ने कहा।

"आइये"—पीटर ने कहा। और, उन्होंने एक जगह बूट की एड़ी दबायी कि सामने भूगर्भ के कमरे का दरवाजा खुल गया। वे भूगर्भ में उतरे। भूगर्भ के कमरे के एक कोने की तरफ इशारा करके पीटर ने कहा—"मृतक का शव यहाँ है" पुलिस ने वह जगह खोदी तो मरनेवाले की लाश निकल आयी। तब पीटर ने वहीं खड़े-खड़े खून करनेवाले दो आदमियों और एक औरत का नाम बताया। पुलिस को उनमें से एक व्यक्ति के रहने की जगह तो मालूम थी। आखिर पुलिस ने पीटर की इस अद्‌भुत् शक्ति की मदद से एक मुश्किल और जटिल अपराध का पता लगा लिया।

ये दोनों किस्से तो भूतकाल के सुने। अब उसकी भविष्यकथन की शक्ति का नमूना देखिये—

पेरिस के 'ल्विारेगेट' नामक उपनगर में रहनेवाले एक अच्छे औद्योगिक व्यापारी ने पीटर को बुलाया। पीटर नियत समय पर उसके दफ्तर में पहुँचे। उन दिनों व्यापारी कार्बोनिक गैस को बोतलों में भरने का एक नया उद्योग शुरू करने का विचार कर रहा था। उसी के विषय में परामर्श लेने उसने पीटर को बुलाया था।

वे दोनों एक दूसरे से बिल्कुल अनजान थे। व्यापारी का कारखाना या उसकी मशीनों को पीटर ने कभी नहीं देखा था।

व्यापारी, मैनेजर, कारखाने का मिकेनिक और पीटर घूमते घूमते एक के बाद एक मशीन देखते गये। इतने में पीटर एक मशीन पर हाथ रखकर बोले—"यह मशीन नहीं चलेगी। यह आपको बड़ी ही कठिनाई में डाल देगी।"

मैनेजर पीटर की बात सुनकर उपेक्षा की हँसी हँसते हुए बोला—"मिस्टर पीटर! आप कैसी बात करते है! यह मशीन बिल्कुल नयी है, काम क्यों नहीं देगी?"

"यह निश्चित है कि यह काम नहीं देगी",—पीटर ने कहा।

इसके बाद वे लोग विसर्जित हो गये।

एक दिन पीटर के यहाँ यकायक फोन आया—"मिस्टर पीटर! आपकी भविष्यवाणी बिलकुल सच निकली। आज हमने उस मशीन को चालू करने की बड़ी मेहनत की, पर वह चली नहीं।"

पीटर कोई मिकेनिक नहीं हैं, फिर भी वे मशीन के दोष देख सकते हैं। वह कैमिस्ट नहीं है, फिर भी कैमिस्ट्री के फार्मूलों को जान सकते हैं। इस अद्भुत् शक्ति की बदौलत वे सुप्रसिद्ध रेडियो टेलीविजननिर्माण संस्था फिलिप्स कम्पनी म बहुत बड़ी तनख्वाह पर नियुक्त किये गये है।

पीटर पहले मामूली मजदूर थे। वे मकानो पर रंग करते थे और साधारण जीवन व्यतीत करते थे। वे १९४३ मे एक ऊँचे मकान की खिड़की को रँग रहे थे। खिड़की जमीन से ४०-४५ फीट ऊँची थी। रँग करते-करते उनका पैर फिसल गया और धड़ाम से नीचे गिर गये। उनके सर में सख्त चोट आयी। बड़ा खून बहा और वे बेहोश हो गये। उन्हें 'एम्ब्युलेंस' में रखकर अस्पताल लाया गया।

उपचारों के बावजूद वे आठ रोज तक बेहोश रहे। जब होश म आकर जगे, तो साथ ही उनका सोया हुआ भाग्य भी जागा! उन्हे भूत, भविष्यत् और वर्तमान जानने की अद्भुत् शक्ति प्राप्त हो गयी! उस शक्ति से उन्हें सब अदृश्य दिखायी देने लगा। स्वयं पीटर को आश्चर्य होता

था कि यह सब कैसे दिखायी देता है। ऐसे ज्ञान को हम 'विभंग ज्ञान' कह सकते हैं। उसके उत्पन्न होने का कारण शायद न बताया जा सके। कारण कुछ भी हो, पर ऐसे उदाहरण प्रमाणित करते हैं कि आत्मा में भूत, भविष्यत् और वर्तमान को जानने देखने की शक्ति मौजूद है। इससे सर्वज्ञता की भी सिद्धि होती है।

परम पुरुष सर्वज्ञता प्राप्त करके जगत को कल्याण का सच्चा मार्ग बताते हैं। उस मार्ग को पाकर जगत् के करोड़ों जीव अपना कल्याण करते हैं और हमेशा के लिए परम सुखी हो जाते हैं। ऐसे परम महर्षियों का जीवन, ज्ञान और चर्या जगत के तमाम आत्माओं के हितार्थ होती है। ऐसे महापुरुष दुनियवी चीजों, भौतिक पदार्थों, का मोह छुड़ा कर मोक्षमार्ग पर लगाते हैं*

*सर्वज्ञता की सिद्धि करनेवाले अनेक ग्रन्थ और ग्रन्थाधिकार जैनश्रुत में मौजूद हैं। श्री हरिभद्रसूरि की 'सर्वज्ञसिद्धि, नंदीसूत्र की व्याख्या में श्री मलयगिरि महाराज का 'सर्वज्ञसिद्धि का निरूपण' सन्मतितर्क की विवृत्ति में श्री अभयदेव सूरि द्वारा रचित 'सर्वज्ञतावाद', कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरि द्वारा प्रमाण मीमांसा में सर्वज्ञतासिद्ध की गयी। 'सर्वज्ञसिद्धि', आदि इस विषय के लिए विशेष रूप से पठनीय हैं।

बारहवाँ व्याख्यान

आत्मज्ञान कब होता है ?

महानुभावो !

व्याख्यान प्रारम्भ करने से पहले हम श्री उत्तराध्ययनसूत्र का अभिवादन करें, क्योंकि वह अध्यात्मज्ञान से ओतप्रोत है। उसके छत्तीसवें अध्ययन से हमें अल्पससारी आत्मा के स्वरूप की जानकारी हुई है और आत्मविचार करने की प्रेरणा मिली है।

'आत्मज्ञान कब होता है ?' यह आज के व्याख्या का विषय है। अगर यह बात ठीक समझ में आ जाये तो बेड़ा पार है, वर्ना हालत नाज़ुक समझना। जीवन की सच्ची कमाई आत्मज्ञान है, न कि रुपया ! आत्मज्ञान होगा, तो पाप से बचा जा सकेगा, पुण्य उपार्जन किया जा सकेगा, और सयम धारण करके कल्याण की साधना की जा सकेगी। रुपया आपकी क्या मदद करनेवाला है ? उदारता से उसका सदुपयोग करें तो पुण्य हो, पर वह उदारता भी आत्मज्ञान के बिना नहीं आने वाली है।

आत्मज्ञान केवल सद्‌गुरु के पास से मिल सकता है।

सद्‌गुरु शब्द का प्रयोग जानबूझकर किया गया है, यह बात आप ध्यान म रखियेगा ! हर गुरु आत्मज्ञान नहीं दे सकता। अगर कुगुरु के हत्थे चढ गये, तो तुम्हारा धनमाल लूट लेगा और तुम्हारे चित्त को भ्रमित कर देगा। बाहरी दिखावे के भुलावे में न आजाना। अगर फँस गये तो उस बाँझनी गाय के खरीदनेवाले की सी हालत होगी।

बाँझनी गाय के खरीदार का दृष्टान्त

एक आदमी बड़ा भोला था। उसके बीमार पड़ने पर वैद्यों ने सलाह दी—"आप सिर्फ गाय के दूध पर रहना।" गाय का दूध हल्का और पाचक है, तथा बल-बुद्धि को बढ़ानेवाला है।

सिर्फ गाय के दूध पर रहना हो, तो रोज ६-७ सेर दूध चाहिए। इसलिए, उस आदमी ने एक गाय खरीद लेने का विचार किया। वह ढोर-बाजार पहुँचा। वहाँ उसने बहुत सी तरह-तरह के रंग की गायें देखीं। कुछ दुबली, कुछ मध्यम, कुछ मोटी-ताजी। उनमें एक हृष्ट-पुष्ट गाय के गले में घंटा बँधा हुआ था। यह देखकर उसने विचार किया—और, किसी गाय के गले में घंटा नहीं बँधा हुआ, सिर्फ इसी गाय के गले में बँधा हुआ है। इसलिए, यह सब गायों से अच्छी होनी चाहिए। दूसरे, यह शरीर से भी हृष्ट पुष्ट है, इसलिए जरूर और गायों से ज्यादा दूध देती होगी।'

चूँकि उसकी धारणा ऐसी बन गयी थी, इसलिए उसने विशेष पूछ-ताछ नहीं की। मुँहमाँगी कीमत देकर वह गाय को घर ले आया। उसकी घरवाली चतुर थी। उसने गाय को देखते ही पूछा—"यह गाय कितनी बार ब्याई है?"

वह बोला : "यह तो मैंने नहीं पूछा।"
"यह दूध कितना देती है?"
"यह भी मैंने नहीं पूछा।"
"क्या इसे दुहकर देख लिया था?"
"ना, मैंने इसे दुहकर भी नहीं देखा।"

स्त्री एक के बाद एक सवाल पूछती गयी और भोलेनाथ हर सवाल का जवाब 'ना' में देते गये। स्त्री ने अन्तिम प्रश्न किया—

"तो आपने इस गाय को क्या सोचकर खरीदा ?" वह बोला—"सब से ज्यादा हृष्ट-पुष्ट है, गले में सुन्दर घटा है, यह सोचकर।"

स्त्री ने तमक कर कहा—"सब पैसे पानी में गये! यह गाय तो वाँझनी है, यह कहाँ से दूध देगी ?"

यह सुनकर वह भोला आदमी विचार में पड़ गया। अब क्या किया जाये ? कुछ देर बाद बोला—"अगर ऐसी ही बात है, तो हम यह गाय किसी और को बेच देंगे!"

स्त्री ने कहा—"पर तुम जैसा बुद्धिहीन दूसरा कौन होगा कि जो बिना परखे इस गाय को ले लेगा ? इसलिए बस यहीं तक रहने दो।"

गरज यह कि गाय उसके मत्थे पड़ी और सब पैसे पानी में गये!

यह एक अत्यन्त अर्थपूर्ण शास्त्रीय दृष्टान्त है, तरह तरह के रंग की गायों को तरह तरह के वेशवाले साधु समझना। जो गुरु त्यागी-तपस्वी होते हैं, वे दुबले पतले होते हैं। जो विशेष तपस्या नहीं कर सकते, वे मध्यम शरीर के होते हैं। और, जो त्याग वैराग्य को धता बता कर मन-चाहा मालमलीदा उड़ाते हैं, वे शरीर से हृष्टपुष्ट होते हैं। इसके अलावा ये अन्तिम प्रकार के अल्मस्त गुरु बड़े पाखण्डी और चालबाज भी होते हैं, इसलिए बाहरी आडम्बर बहुत रखते हैं। उसे गले का सुन्दर घटा समझना। ऐसे गुरुओं के पास जाने से या उनकी शरण लेने से आत्मज्ञान-रूपी दूध नहीं मिल सकता।

सद्गुरु कैसा हो ?

सद्गुरु कैसा हो ? इसका जवाब कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य महाराज ने योगशास्त्र में दिया है—

महाव्रतधरा धीरा, भैक्ष्यमात्रोपजीविन ।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥

अर्थात् सद्गुरु वह है जो पाँच महाव्रतों को धारण करनेवाले हैं,

जो धीर हैं, सहनशील हैं, बाइस प्रकार के परीषहों को सहन करने वाले हैं, जो केवल भिक्षा से निर्वाह करते हैं, जो सामायिक में रहते हैं, समभाव धारण किये रहते हैं, किसी के प्रति रागद्वेष नहीं रखते, जो धर्म का उपदेश करनेवाले हैं, सर्वज्ञ प्रणीत दयामय दानमय धर्म की प्रभावना करनेवाले हैं।

ऐसे सत्गुरुओं को शास्त्रकारों ने गाय-जैसा, मित्र जैसा, बन्धु जैसा, पिता-जैसा, माता-जैसा और कल्पवृक्ष जैसा कहा है। वही आपको सच्चा आत्मज्ञान दे सकते हैं और इस ससार से आपका उद्धार कर सकते हैं।

आत्मज्ञान केवल पुस्तकों से नहीं मिल सकता

कुछ लोग कहते हैं—"आत्मज्ञान के लिए गुरु की क्या जरूरत है ? आध्यात्मिक पुस्तकों से आत्म ज्ञान मिल जाता है।" पर, यह बड़ी भूल है। किताबें पढ़कर प्राप्त किया हुआ ज्ञान अपूर्ण होता है। शास्त्रकारों के शब्दों में कहें तो वह जार पुरुष से उत्पन्न पुत्र की तरह शोभा धारण नहीं कर सकता। केवल पुस्तकें पढकर आत्मज्ञान कितनों को हुआ है ? इसका अर्थ कोई यह न लगावे कि हम पुस्तक-पठन का निषेध या विरोध करते हैं। अच्छी पुस्तकों का वाचन स्वाध्याय-रूप है और वह कर्मनिर्जरा का कारण है, लेकिन सिर्फ पुस्तकें पढने से आत्मज्ञान मिल जायगा, यह मानना गलत है।

पुस्तकों में अमुक बात अमुक रूप से लिखी होती है पर उसका यथार्थ स्वरूप अपने-आप नहीं समझा जा सकता। दूसरी बात यह कि, पढते पढते उठनेवाली शकाओं का समाधान भी नहीं हो सकता। इसीलिए हम कहते हैं कि सच्चा ज्ञान सद्गुरु ही दे सकते हैं। श्री इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह ब्राह्मण विद्वानों ने बहुत-सी पुस्तकें पढी थीं और उनमें वर्णित हर विषय पर वादविवाद करने में भी वे समर्थ थे, लेकिन उनके मन में बहुत-सी शकायें भरी हुई थीं। उनका समाधान किसी प्रकार नहीं हो रहा

था। इसलिए वे आत्मज्ञान से वञ्चित रहे। जब उन्हे महावीर प्रभु जैसे सद्गुरु मिले और जब उन्होंने उनकी शकाओं का निवारण कर दिया, तभी वे आत्मज्ञान पा सके।

गुरु दीपक हैं

गुरु दीपक हैं। वे आपके हृदय के मिथ्यात्वरूपी अधकार को दूर कर सकते हैं और सन्मार्ग-दर्शन करा सकते हैं। वे आपके पथ प्रदर्शक बनकर सकुशल पार पहुँचा देते है। जैसे, पारस से लोहा सोना बन जाता है वैसे ही सद्गुरु के सग से नास्तिक भी आस्तिक बन जाता है और ससार से विरक्त होकर सयम के मार्ग पर चलने लगता है।

रोहणिया का पिता पक्का चोर था। उसने अपने पुत्र को चेतावनी दी—"तू सब करना, पर महावीर के पास न जाना। शायद जाना भी पड़े तो उनके उपदेश पर कान न देना।" रोहणिया का बाप महावीर की शक्ति जानता था। उसे डर था कि रोहणिया उनके उपदेश को सुनेगा तो इस चोरी के धधे को छोड़ देगा, और शायद ससार का त्याग करके साधु भी हो जाये।"

लड़के गुरु के पास जायेंगे तो—

ढाई हजार वर्ष पहले यह बात चोर कहते थे। यही बात आज साहूकार कहने लगे हैं। उन्हें डर है कि, लड़के गुरु के पास जायेंगे तो धर्म मार्ग पर लग जायेंगे और ससारी से साधु हो जायेंगे। इसलिए, वे उन्हें अनार्यों की सगति करने देते हैं, चाहे जिसके साथ भटकने देते है और निस्सार शिक्षण दिलाने में आनन्द मानते है। फिर इन लड़कों का कल्याण किस तरह होगा?

प्राचीनकाल में क्षीरकदम्ब उपाध्याय अपने तीन शिष्यों के साथ रात में आकाशी पर सोये हुए थे। उस वक्त वहाँ से दो चारण मुनि निकले। उनमें से एक ने दूसरे से कहा—"इन तीन शिष्यों मे से एक

स्वर्ग जायेगा और दो नरक में जायेंगे।" स्वर्ग मे जानेवाला नारद था और नरक में जानेवाले वसु और पर्वत थे। क्षीरकदम्ब जाग रहे थे। उन्होंने मुनिवाणी सुनी, सुनकर बड़ा आघात लगा। वे विचार करने लगे— "अगर मेरे पास रहनेवाले नरक जायँ तो मुझे धिक्कार है!" उन्हें अपनी शिक्षण शक्ति से श्रद्धा उठ गयी और उन्होंने ससार का त्याग कर दिया, जबकि आज के शिक्षक घमडी बने फिरते हैं और मिथ्याज्ञान देते हैं। नीति, सदाचार तथा सुसस्कारों का भी समुचित पोषण नहीं करते। ऐसे शिक्षणों को पैसा देकर अपने बालकों का भविष्य क्यों खतरे में डालते हैं ?

अगर अपने बालकों का कल्याण चाहते हो तो बचपन से ही उनको त्यागी गुरु महाराज का सग कराइये। वे उनको जो ज्ञान एव सस्कार देंगे वह यह किराये के शिक्षक कदापि नहीं दे सकते। लड़कों के एक बार बिगड़ जाने के बाद शोर मचाना व्यर्थ होगा। इसलिए, चतुराई इसी म है कि जो करना हो पहले से ही सोच समझ कर करें।

आपको भीति है कि अगर बालकों को त्यागी गुरुओं का सग करायेंगे, उनके पास ज्यादा जाने देंगे, तो वे वैरागी त्यागी बन जायेंगे और हमारे काम के नहीं रहेंगे। परन्तु, दुर्लभ मनुष्यभव पाकर वे अज्ञानी बने रहें, अनाचार का सेवन करते रहें और परिग्रह में मूर्छित रहकर दुर्गति के भागी बन जायें इसकी आपको कुछ फिक्र नहीं? वैराग्य और त्याग अच्छी चीज है या खराब? अगर अच्छी है तो फिर अपने बालकों को त्यागियों से दूर क्यों रखना चाहते हैं?

आपमें बचपन से धर्म के सस्कार पड़े, बड़े होकर आप उनका महत्त्व समझ गये। अब आप नियमित देव-दर्शन और सेवा पूजा करते हैं। गुरु महाराज की व्याख्यान वाणी सुनते हैं और व्रत नियमों की यथाशक्ति आराधना करते है। लेकिन, जो बचपन में कोई धर्म-सस्कार नहीं पायेंगे उनकी क्या दशा होगी?

आत्मज्ञान के बिना सब फिजूल है

आजकल भौतिकवाद जोर पर है, इसलिए जहाँ-तहाँ आर्थिक विकास, औद्योगिक प्रगति और अधिक उत्पादन की बातें सुनायी देती हैं, लेकिन आत्मज्ञान के बगैर यह सब निरर्थक हो जानेवाला है। इनसे दुनिया को सुखशांति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

आज आर्थिक विकास के नाम पर यन्त्रवाद को बढ़ावा दिया जा रहा है। लेकिन, किसी को यह भी ख्याल आता है कि इससे कितने स्वाश्रयी लोग बेकार बन जाते हैं? बड़े बड़े कारखानों में आर्थिक विकास होता ही तो पूँजीपतियों का होता है। उससे गरीब आदमियों को कोई राहत नहीं मिलती। सौ का धंधा खत्म हो जाय और पाँच आदमियों को कारखाने में लगा दिया जाये इसे उचित व्यवस्था नहीं कह सकते। हमारी आर्थिक स्थिति यन्त्रों के आने से पहले अच्छी थी या अब? तब जितना सोना, जितना धन, देश में था उसका सौवाँ भाग भी इस समय नहीं रहा!

हुनर-उद्योग के विकास के नाम पर, अधिक उत्पादन के नाम पर आज हिंसा बहुत बढ़ती जा रही है। अनाज की दो बालें मुँह में ले लेने के लिए जानवरों को गोली मार दी जाती है। इसके लिए खास शिकारी टोलियाँ रखी गयी हैं। मत्स्य-उद्योग जैसे घोर हिंसक उद्योग को भी उत्तेजन दिया जा रहा है। यह सब आत्मविहीन शिक्षण का प्रताप है। और, अगर यही स्थिति चालू रही तो मनुष्यों पर भयंकर प्राकृतिक प्रकोप टूटे बगैर नहीं रहेगा। आज पूर्वापेक्षा कुदरती प्रकोप ज्यादा होते हैं। जहाँ-तहाँ जलप्रलय, धरती कम्प, रेल्वे और विमानी दुर्घटनाओं की बातें सुनायी देती हैं। इसका कारण यह है कि अनीति बढ़ गयी है, अनाचार बढ़ गया है। आज आत्म कल्याण का लक्ष्य बिल्कुल नहीं रहा। जहाँ आत्मज्ञान ही नहीं है, वहाँ आत्महित या आत्मकल्याण का प्रयत्न सम्भव ही कैसे हो सकता है?

जीवन के लिए आर्थिक विकास जरूरी है। लेकिन, वह जीवन का ध्येय नहीं हो सकता। जीवन का ध्येय तो केवल आत्मकल्याण है और उसके लिए आत्मज्ञान की जरूरत है।

आत्मा के विषय मे शास्त्रों म हजारों बातें बतायी गयी है। उन सबका सार यहाँ आपको थोड़े से शब्दों म मिल जाता है। किसी को यह शका हो कि उसे थोड़े से शब्दो में कैसे बताया जा सकता है, तो 'चार पण्डितों की बात' आपकी शका का समाधान कर देगी

चार पण्डितों की बात

एक नगर में चार महापण्डित रहते थे। एक आयुर्वेद का, दूसरा धर्मशास्त्र का, तीसरा नीतिशास्त्र का और चौथा कामशास्त्र का। उन्होंने अपने अपने विषय का एक एक महाग्रन्थ रचने का विचार किया। हर ग्रन्थ में एक लाख श्लोक थे। हर एक ने अपने ग्रथ मे अपना पूरा पाण्डित्य उँडेल दिया था।

उस जमाने म हमारे देश म साहित्य की बड़ी कद्र थी। एक-एक सुन्दर श्लोक रचना के लिए लाख लाख मोहर इनाम में दी जाती थी। इन पण्डितों ने सोचा कि किसी कद्रदान राजा को अपने ग्रथ दिखायें। अगर उसने प्रसन्न होकर हमें इनाम दिया, तो फिर जिन्दगीभर अर्थ-चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। पण्डितों के भी पेट होता है, यह नहीं भूलियेगा! समय पर उन्हें भी खाना चाहिए, पहनने को कपड़े चाहिए, रहने के लिए मकान चाहिए, पुस्तकादि भी काफी रखनी पड़ती हैं, कुटुम्ब परिवार का निर्वाह करना पड़ता है और व्यवहार को भी सँभालना पड़ता है।

उन दिना जितशत्रु राजा बड़ा कद्रदान माना जाता था। इसलिए ये चारों पण्डित अपने ग्रन्थों को सुन्दर रेशमी वेष्टन म बाँधकर, मजदूर के

सर पर रखकर जितशत्रु राजा के पास पहुँचे और कहने लगे—"हे राजन ! हमने सुन्दर ग्रन्थ रचना की है, इसे आप सुनिये !"

राजाने कहा—"ये ग्रथ तो बहुत मोटे हैं। इनमे कितने श्लोक हैं ?"

पण्डितों ने कहा—"हर एक ग्रथ म एक लाख श्लोक हैं।"

यह सुनकर राजा ने कहा कि—"हे पण्डितप्रवरो ! आपकी बुद्धि को धन्य है कि आपने एक-एक विषय पर लाख-लाख श्लोक की रचना की। लेकिन, आप मेरी स्थिति को जानते हैं। मुझे राज्य का बड़ा कार्य-भार रहता है। इसलिए आप इन ग्रन्थों का सक्षेप करें तो सुनूँ।"

पण्डितों ने राजा की इस सूचना पर विचार करके कहा—"आप के पास ज्यादा वक्त न हो, तो हर ग्रन्थ का समावेश पच्चीस पच्चीस हजार श्लोकों में कर दिया जायेगा।"

राजा ने कहा—"यह भी बहुत है।" इसपर पण्डितों ने हजार-हजार श्लोकों की दरख्वास्त की, पर राजा इस पर भी रजामन्द न हुआ। तब पण्डित हजार से पाँच सौ पर आये, सौ पर आये, दस पर आये, और आखिर एक श्लोक पर आये। राजा ने कहा—"अब भी इनका सक्षेप हो सकता हो तो कीजिये।" तब चारों पण्डित केवल एक एक चरण सुनाने को तैयार हो गये। राजा सुनने को तैयार हुआ तब पहले पण्डित ने कहा "जीर्णेभोजनमात्रेय" दूसरे ने कहा 'कपिल प्राणीना दया' तीसरे ने कहा 'बृहस्पतिरविश्वास' और चौथे ने कहा 'पाञ्चाल स्त्रीषुमार्दवम्।'

इसका अर्थ समझ लें। आयुर्वेद के पण्डित ने कहा—"हमारे शास्त्र में आत्रेयऋषि का मत बड़ा प्रमाणभूत माना जाता है। वह यह कहते हैं कि पहले का भोजन पच जाने के बाद ही भोजन करना चाहिए। ऐसा करनेवाला निरोगी रहेगा और दीर्घजीवी होगा।' धर्मशास्त्र के पण्डित ने कहा—'हमारे शास्त्रों में कपिल ऋषि के लिए बड़ा मान है। वह कहते हैं

कि दया से बढकर कोई धर्म नहीं है।" नीतिशास्त्र के पण्डित ने कहा—"नीतिशास्त्र तो बहुतों ने रचे है, पर उनमे बृहस्पति का स्थान बहुत ऊँचा है। वह कहते हैं कि जीवन में सफल होना हो तो किसी पर अन्धविश्वास नहीं रखना चाहिए।" कामशास्त्र के पण्डित ने कहा—"कामशास्त्र के परम विशारद पाचाल ऋषि का अभिप्राय है कि प्रीति की सच्ची रीति स्त्रियों के साथ मृदुता से वर्तन करना है।"

यह सुनकर राजा ने कहा—"हे पण्डितवर्यो ! आपने एक एक विषय पर लाख लाख श्लोक रचे। आपकी बुद्धि विषय का विस्तार करने में बड़ी निपुण है, यह बात तो शुरू में ही मैंने समझ ली थी, लेकिन मुझे यह देखना था कि आप विषय का सक्षेप कितना कर सकते हैं ? वह आपने विलक्षण रीति से कर दिखाया है। आपकी ऐसी प्रगल्भ बुद्धि से मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूँ, आपको लाख लाख मोहरें इनाम में देता हूँ।"

इस तरह पण्डितों की कद्र हुई। इससे वे बड़े आनन्दित हुए। वे इनाम लेकर, राजा को आशीर्वाद देकर प्रसन्न वदन अपने घर आये।

तात्पर्य यह है कि, हजारों श्लोकों का सार थोड़े शब्दों में कहा जा सकता है।

ऐसे सारभूत वचन सुनने को मिलें, इसे प्रबल पुण्योदय समझना चाहिए। शास्त्रकार भगवतों ने शास्त्रश्रवण के योग को भी मनुष्यत्व की तरह ही दुर्लभ बताया है। अगर आपको उन वचनों पर रुचि हो, श्रद्धा हो, अनुराग हो, तो समझना कि आप अल्पससारी है, आपके भवभ्रमण की मर्यादा बँध गयी है। अल्पससारी आत्मा का वर्णन पहले व्याख्यान मे किया गया है, वह आपको याद होगा। उसमें 'जिणवयणे अणुरत्ता' ये शब्द पहले आते हैं।

मिथ्यात्व का महारोग

अगर आपको कामिनी-कञ्चन, नाटक सिनेमा, क्रिकेट-फुटबॉल,

गपशप, निन्दा स्तुति में तो दिलचस्पी हो, परन्तु पीयूषपूर्ण हितकारी जिन वाणी में दिलचस्पी न हो तो समझ लो कि स्थिति गम्भीर है, मिथ्यात्व महारोग की जकड़ ढीली नहीं हुई है।

मिथ्यात्व की भयंकरता से आप परिचित होंगे। मिथ्यात्व के कारण असत्य सत्य लगता है और सत्य असत्य! फल यह होता है कि मिथ्यात्वी गलत रास्ता अख्तियार करता जाता है और अपने भवभ्रमण को अधिकाधिक बढ़ाता जाता है। भवभ्रमण में जन्म, जरा, मृत्यु के अतिरिक्त और भी बहुत से दुःख भोगने पड़ते हैं। ऐसे महा अनर्थकारी मिथ्यात्व को आप दिल से दूर न कर सकें तो आपकी चतुराई किस काम की? आपकी होशियारी से क्या फायदा?

हम तो आपको जिन-वचन के अनुसार पुकार पुकार कर कहते हैं—मिथ्यात्व को दूर करो! तब सम्यक्त्व का सूर्य आपके हृदय में प्रकाशमान होगा, जिसकी रोशनी में सब वस्तुएँ आपको अपने सच्चे स्वरूप में नजर आयेंगी। जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ, उसे सम्यक्ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। शास्त्रकार भगवन्त कहते हैं—

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

—जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ, उसे सम्यक्ज्ञान प्राप्त नहीं होता। जिसे सम्यक्ज्ञान प्राप्त नहीं होता, उसे सम्यक् चारित्र प्राप्त नहीं होता। जिसमें सम्यक् चारित्र के गुण नहीं प्रकटे, वह कर्मबन्धन से मुक्ति नहीं पाता, और जो कर्मबन्धन से मुक्ति नहीं पाता, उसका निर्वाण नहीं होता।

इसका अर्थ यह समझना कि जो समकिती है, जिसे देव, गुरु और धर्म पर पक्की श्रद्धा है, वही सच्चा आत्मज्ञान पा सकता है। शेष सब भटक जाते हैं। भगवद्गीता में कहा है—

श्रद्धावान्लभते ज्ञानं, तत्पर' सयतेन्द्रिय ।
ज्ञान लब्ध्वा परा शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

'श्रद्धावान ज्ञान प्राप्त करता है और ज्ञानी जितेन्द्रिय बनता है और वह (आत्म) ज्ञान पाकर तुरन्त परमशान्ति पाता है ।'

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च सशयात्मा विनश्यति ।
नाय लोकोऽस्ति न परो न सुखं सशयात्मन' ॥

—परन्तु अज्ञानी और अश्रद्धालु सशयात्मा विनाश को प्राप्त होता है । शकाशील के लिए न यह लोक है, न परलोक, और न उसे सुख ही प्राप्त होता है ।

आदमी विद्वान हो, प्रसिद्ध हो, राजदरबार म उसकी प्रशसा होती हो और अपनी कृतियों पर पुरस्कार पाता हो, पर हृदय म श्रद्धा न हो तो वह सब धूल है । वह विद्वत्ता, पाण्डित्य, सम्मान, पारितोषिक आदि उसे भवभ्रमण से नहीं बचा सकते ।

नीतिकारों ने कहा है कि—

दुर्जन परिहर्तव्यो, विद्ययालकृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषित सर्प किमसौ न भयकर. ? ॥

—विद्या से विभूषित हो तो भी दुर्जन का परित्याग कर देना चाहिए । क्या मणि से विभूषित सर्प भयकर नहीं होता ?

श्रद्धाहीन शुष्क तर्कवादी पण्डितों को दुर्जन समझना । कारण कि, वे कुतर्क करते हुए दुर्दशाग्रस्त फिरते हैं और दूसरों को भी बिगाड़ते जाते हैं ।

एक तर्कवादी पडित था । वह हर बात में तर्क किया करता था और किसी की बात नहीं मानता था । एक बार वह चला जा रहा था कि सामने से हाथी आया । ऊपर महावत बैठा था, लेकिन हाथी मस्ती में चढा हुआ होने के कारण काबू म नहीं आ रहा था । इसलिए महावत

चिल्लाकर बोला—"अरे भाई ! दूर भाग, नहीं तो यह हाथी तुझे मार डालेगा।"

यह ठहरा पंडित ! यह एक अनजान महावत की बात को यूँ ही थोड़े ही मान लेनेवाला था ! उसने अपनी आदत के मुताबिक तर्क करके कहा—"ओ महावत ! यह हाथी अड़ कर मारेगा या अड़े बगैर मारेगा ? अगर अड़कर मारता है तो तू अड़कर बैठा है, फिर भी मर क्यों नहीं गया ? और, अगर यह बिना अड़े मारता है तो मैं चाहे जितनी दूर चला जाऊँ तो भी क्या होगा ? इसलिए तेरा कहना फिजूल है।"

यह तर्कवादी रास्ते से दूर नहीं हटा। इतने में हाथी आ पहुँचा और उसने उस तर्कवादी को सूँड़ से पकड़कर अपने पैर के नीचे दबाकर मार डाला। अगर उस तर्कवादी ने अनुभवी महावत का कहना माना होता, तो उसकी ऐसी हालत कभी न होती। इसलिए अनुभवियों की बात माननी चाहिए और व्यर्थ कुतर्क नहीं करना चाहिए।

जो विद्या के मद में आकर महापुरुषों के उपदेश को झूठा ठहराने की कोशिश करते हैं या उनकी हँसी मजाक उड़ाते हैं, उनका भवभ्रमण और कई गुना ज्यादा बढ़ जायेगा और उन्हें बहुत प्रकार की भयंकर यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी। इसलिए भूलकर ऐसों की न तो संगति करनी चाहिये, न बात माननी चाहिए।

सच्चा आत्मज्ञान क्या है, यह समुचित रीति से समझ लेना चाहिए। शास्त्रकारों ने आत्मज्ञान में सहायक तीन प्रकार का ज्ञान कहा है—पहला विषयप्रतिभास, दूसरा आत्मपरिणतिमत् और तीसरा तत्त्वसंवेदन।

जिसमें विषय का निदर्शमात्र हो, पर उसके हेयोपादेय अंशों का ज्ञान न हो, उसे *विषयप्रतिभास ज्ञान* कहते हैं। उदाहरणतः बालक यह जान ले कि यह जहर है, यह काँटा है, यह रत्न है, पर वह यह नहीं जानता कि जहर क्यों त्याज्य है, काँटा क्यों परिहार्य है, और रत्न क्यों ग्रहणीय है ! अथवा तोता किसी के सिखाने से 'राम-राम' बोलता है। पर, राम कौन

थे और उनका नाम क्यों बोलना चाहिए। इस विषय में वह कुछ नहीं जानता। व्यवहार म ऐसे ज्ञान को 'तोते का ज्ञान' कहा जाता है। उसका कोई महत्त्व नहीं है। इसी तरह लोग मुँह से 'आत्मा है, आत्मा है' बोलते हैं, पर वह कैसा है? कहाँ रहता है? शरीर आदि से भिन्न है या अभिन्न? उसमें क्या-क्या शक्तियाँ हैं? आदि कुछ नहीं जानते। उनका ज्ञान विषयप्रतिभास या तोते का ज्ञान है।

जिसमें वस्तु के हेय और उपादेय अंगों का ज्ञान हो पर तथाविध निवृत्ति या प्रवृत्ति न हो, वह आत्मपरिणतिमत ज्ञान कहलाता है। जैसे पंडित लोग जानते हैं कि विषय और कषाय त्याज्य हैं, क्योंकि वे दुर्गति के कारण हैं, पर वे तदनुसारिणी निवृत्ति या प्रवृत्ति यथार्थ रूप से नहीं कर सकते। उनका ज्ञान आत्मपरिणतिमत् है।

श्रेणिक राजा सम्यक्दृष्टि थे। वे यह जानते थे कि आश्रव और बंध त्याज्य है तथा संवर और निर्जरा श्रेयस्कर है, परन्तु तथाविध निवृत्ति या प्रवृत्ति नहीं कर सकते थे। इसलिए उनकी दुर्गति रुकी नहीं। ऐसे ज्ञान का विशेष महत्त्व नहीं। व्यवहार में ऐसे ज्ञान को 'पोथी का बेंगन' कहा जाता है। 'पोथी का बेंगन' कैसा होता है अब इसे बतलाते हैं

एक शास्त्री कथा कर रहे थे। अभक्ष्य का विषय आया और बेंगन की बात निकली। शास्त्रीजी ने अनेक उदाहरण और तर्कों से सिद्ध कर दिया कि बेंगन अभक्ष्य हैं, इसलिए उसे नहीं खाना चाहिए। उनके वक्तव्य से श्रोता मुग्ध बन गये। उनमें से कइयों ने भविष्य में बेंगन न खाने का नियम लिया। यूँ कथा पूरी हुई और शास्त्रीजी पोथी बगल में दबाकर चलने लगे कि, हाथ की थैली गिर गयी और उसमें से दो-तीन बेंगन बाहर निकल पड़े। इससे श्रोता आश्चर्य में आकर पूछने लगे—"शास्त्रीजी! यह क्या! क्या आप बेंगन खाते हैं?" शास्त्रीजी ने अविचल भाव से जवाब दिया—"पोथी के बेंगन नहीं खाने चाहिए, बाकी बेंगन खाने मे हर्ज नहीं।"

ऐसा ही एक किस्सा बड़ौदा में हुआ। गायकवाड़ सरकार को विद्या के प्रति बड़ा प्रेम था। वे विभिन्न विद्वानों को आमन्त्रित करते और अपने लक्ष्मीविलास महल में राजकुटुम्ब आदि के समक्ष उनके भाषण कराते। एक बार एक विद्वान को अहिंसा पर भाषण करने के लिए बुलाया गया। उस विद्वान ने अहिंसा पर बड़ा ही सुन्दर भाषण किया और मांस, मछली, अंडे आदि खाने के महादोषों का भव्य निदर्शन किया। उन दिनों गर्मी के दिन थे और भाषण बड़े जोर-से चल रहा था, इसलिए विद्वान वक्ता को पसीना छूट रहा था। उसे पोंछने के लिए उसने जेब से रूमाल निकाला। उसी वक्त जेब का एक अंडा रूमाल के साथ बाहर निकल आया और जमीन पर गिरकर फूट गया।

उस भाषण को सुनकर तो सबको ऐसा लगा था कि, भविष्य में इन चीजों का सेवन न किया जाये, लेकिन वक्ता की जेब के अंडे ने बाहर निकल कर सारा रंग पलट दिया। गंभीरता की जगह हास्य की लहर दौड़ गयी। विद्वान वक्ता को वहाँ से जाते हुए बड़ी शर्मिन्दगी उठानी पड़ी।

तात्पर्य यह कि कोई बात समझ में आवे पर अमल में न आवे, तो ऐसे ज्ञान से कुछ कल्याण नहीं होता।

जो ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, पर पाप को छोड़कर पुण्य की वृद्धि नहीं करते, उनका ज्ञान किस काम का? शास्त्रकार ऐसे ज्ञान को सच्चा ज्ञान नहीं कहते।

जिसमें वस्तु के हेय-उपादेय अंशों के यथार्थ ज्ञान के साथ तथाविध निवृत्ति और प्रवृत्ति हो, उसे तत्त्वसंवेदनज्ञान कहते हैं। महापुरुषों में यह ज्ञान होता है, इसलिए वे जैसा जानते हैं वैसा कहते हैं और जैसा कहते हैं वैसा ही करते हैं। दिल में और, जबान पर और ऐसा व्यवहार उनमें नहीं होता। ऐसा ही सच्चा ज्ञान है और उसी से कल्याण हो सकता है।

जो जीव और अजीव की, आत्मा और अनात्मा की, पृथकता भली भाँति जानते हैं, जो यह जानते हैं कि मैं आत्मा हूँ, देह नहीं हूँ, इन्द्रिय नहीं हूँ, प्राण नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, और जो इसका सतत भान रखकर आत्मकल्याण की प्रवृत्ति में निरन्तर लगे रहते हैं, उन्हें ही सच्चा ज्ञान हुआ समझो। जिन्हें ऐसा ज्ञान हुआ होगा वे पुद्गल-पोषण की वृत्ति कदापि नहीं रखेंगे, विषय विष के निकट नहीं जायेंगे और कषाय-सर्प से सदा दूर रहेंगे।

आपको आत्मा-अनात्मा का भेद विस्तारपूर्वक बतलाया। उसका निरन्तर मनन करते रहेंगे तो देह-बुद्धि नष्ट हो जायेगी और आप अपने को सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान आत्मा मानने लगेंगे। जब यह विश्वास आप में दृढ़ हो जायेगा, तब कल्याण आपके कान में धीरे से कहेगा—"मैं आपके पास आ गया हूँ।"

*

तेरहवाँ व्याख्यान

आत्मा की शक्ति

[१]

महानुभावो !

अध्यात्म के कोश रूप श्री उत्तराध्ययन सूत्र का स्मरण आते ही, उसका छत्तीसवाँ अध्ययन सामने आ जाता है और अल्प-ससारी आत्मा का वर्णन दृष्टि के सामने घूमने लगता है। आत्मा का स्वरूप आपके दिल म उतरे इस हेतु से हमने उसे विस्तार से समझाया। अब जो कुछ बताना शेष रहा है, उसे भी समझा देना चाहते हैं।

आत्मा की शक्ति का यत्किंचित विवेचन पहले हो चुका है। आज उसका विशेष अध्ययन करें।

आत्मा की पूर्ण शक्ति का अनुमान तीर्थंकरों के जीवन से लगाया जा सकता है, कारण कि उनम आत्मा की शक्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची होती है।*

तीर्थंकर किस भूमि में होते हैं ?

जम्बू द्वीप, धातकी खड और ,अर्धपुष्करावर्त खड—ये 'ढाई द्वीप' कहलाते हैं, उनका माप पैंतालीस लाख योजन है। आज के भूगोलवाले दुनिया की परिधि बाईस हजार मील बताते हैं। पर, यह भूगोल पूरा

---

* जर्मनी के सुप्रसिद्ध तत्वचिंतक नीत्शे वगैरह ने 'सुपरमैन—अति मानव—को जो कल्पना की है, तीर्थंकर उससे भी अधिक शक्ति, ऐश्वय और सौंदर्य-सम्पन्न होते हैं। इस ससार में तीर्थंकर से बढ़कर कोई नहीं होता।

नहीं है। पहले उन्हें अमेरिका का ज्ञान नहीं था। आस्ट्रेलिया भी बाद में ही मिला। इस प्रकार वे पाँच खड की दुनिया मानने लगे। पर, पिछले कुछ वर्षों से छठे खड की बात प्रकाश में आयी है और वहाँ प्रवास भी होने लगे हैं। कुछ अर्से के बाद सातवाँ, आठवाँ और नवाँ खड भी मिल सकता है। सच तो यह है कि आज जिसे 'दुनिया' कहा जाता है, वह जम्बूद्वीप के भरत-खड का ही एक भाग है।

ढाई द्वीप में १५ कर्मभूमियों और ५६ अतरद्वीपों में मनुष्य वास करते हैं। इन क्षेत्रों में से १५ कर्मभूमियों में ही तीर्थंकरों का जन्म होता है, कारण की कृषि, वाणिज्य आदि कर्मों का व्यवहार कर्मभूमियों में ही होता है और तप, सयम आदि अनुष्ठान भी वहीं होते हैं।

१५ कर्मभूमियों में ५ भरत, ५ ऐरावत और ५ महाविदेह हैं। इनमें भरत और ऐरावत में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल होते हैं। उनके तीसरे और चौथे आरा में तीर्थंकर जन्म लेते हैं। महाविदेह में सब काल समान होता है और वहाँ तीर्थंकर सदा विद्यमान रहते हैं।

तीर्थंकरों का जन्म और दिक्कुमारियों का आगमन

तीर्थंकरों का जन्म ठीक अर्धरात्रि को विजयमुहूर्त में होता है, उनके जन्मते ही दिक्‌कुमारियों का आसन कपायमान होता है। तब वे अपने सहज अवधिज्ञान से जान लेती हैं कि, कहाँ किसके यहाँ तीर्थंकर का जन्म हुआ है। उसके बाद वे अभियोग्य देवों* को विमान बनाने और तैयारी करने का आदेश देती हैं और उस विमान द्वारा जन्मस्थान पर आ जाती हैं।

*देव दस प्रकार के होते हैं (१) इन्द्र, (२) सामानिक, (३) त्रायशित, (४) पारिषद, (५) आत्मरक्षक, (६) लोकपाल, (७) अनीक (८) प्रकीर्णक, (९) अभियोग्य और (१०) किल्बिषक। इनमें आभियोग्य देव दास स्थान पर होते हैं, यानी उन्हें सेवक का काम करना होता है।

तेरहवाँ व्याख्यान

आत्मा की शक्ति

[१]

महानुभावो !

अध्यात्म के कोश रूप श्री उत्तराध्ययन सूत्र का स्मरण आते ही, उसका छत्तीसवाँ अध्ययन सामने आ जाता है और अल्प-संसारी आत्मा का वर्णन दृष्टि के सामने घूमने लगता है। आत्मा का स्वरूप आपके दिल म उतरे इस हेतु से हमने उसे विस्तार से समझाया। अब जो कुछ बताना शेष रहा है, उसे भी समझा देना चाहते हैं।

आत्मा की शक्ति का यत्किंचित विवेचन पहले हो चुका है। आज उसका विशेष अध्ययन करें।

आत्मा की पूर्ण शक्ति का अनुमान तीर्थंकरों के जीवन से लगाया जा सकता है, कारण कि उनमे आत्मा की शक्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची होती है।*

तीर्थंकर किस भूमि में होते हैं ?

जम्बू द्वीप, धातकी खंड और अर्धपुष्करावर्त खंड—ये 'ढाई द्वीप' कहलाते हैं, उनका माप पैंतालीस लाख योजन है। आज के भूगोलवाले दुनिया की परिधि बाईस हजार मील बताते है। पर, यह भूगोल पूरा

---

* जर्मनी के सुप्रसिद्ध तत्त्वचिंतक नीत्शे वगैरह ने 'सुपरमैन—अति मानव—की जो कल्पना की है, तीर्थंकर उससे भी अधिक शक्ति, ऐश्वर्य और सौन्दर्य-सम्पन्न होते हैं। इस संसार में तीर्थंकर से बढ़कर कोई नहीं होता।

नहीं है। पहले उन्हें अमेरिका का ज्ञान नहीं था। आस्ट्रेलिया भी बाद में ही मिला। इस प्रकार वे पाँच खड की दुनिया मानने लगे। पर, पिछले कुछ वर्षों से छठे खड की बात प्रकाश में आयी है और वहाँ प्रवास भी होने लगे हैं। कुछ अर्से के बाद सातवाँ, आठवाँ और नवाँ खड भी मिल सकता है। सच तो यह है कि आज जिसे 'दुनिया' कहा जाता है, वह जम्बूद्वीप के भरत-खड का ही एक भाग है।

ढाई द्वीप में १५ कर्मभूमियों और ५६ अतरद्वीपों में मनुष्य वास करते हैं। इन क्षेत्रों में से १५ कर्मभूमियों में ही तीर्थंकरों का जन्म होता है, कारण की कृषि, वाणिज्य आदि कर्मों का व्यवहार कर्मभूमियों में ही होता है और तप, सयम आदि अनुष्ठान भी वहीं होते हैं।

१५ कर्मभूमियों में ५ भरत, ५ ऐरावत और ५ महाविदेह हैं। इनमें भरत और ऐरावत में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल होते हैं। उनके तीसरे और चौथे आरा में तीर्थंकर जन्म लेते हैं। महाविदेह में सब काल समान होता है और वहाँ तीर्थंकर सदा विद्यमान रहते हैं।

तीर्थंकरों का जन्म और दिक्कुमारियों का आगमन

तीर्थंकरों का जन्म ठीक अर्धरात्रि को विजयमुहूर्त में होता है, उनके जन्मते ही दिक्‌कुमारियों का आसन कपायमान होता है। तब वे अपने सहज अवधिज्ञान से जान लेती हैं कि, कहाँ किसके यहाँ तीर्थंकर का जन्म हुआ है। उसके बाद वे अभियोग्य देवों* को विमान बनाने और तैयारी करने का आदेश देती हैं और उस विमान द्वारा जन्मस्थान पर आ जाती

*देव दस प्रकार के होते हैं (१) इन्द्र, (२) सामानिक, (३) त्रायशित, (४) पारिषद, (५) आत्मरक्षक, (६) लोकपाल, (७) अनीक (८) प्रकीर्णक, (९) अभियाग्य और (१०) किल्विषक। इनमें आभियोग्य देव दास-स्थान पर होते हैं, यानी उन्हें सेवक का काम करना होता है।

है । तीर्थंकर की माता का प्रसूति-कर्म आदि ये दिककुमारिकायें सँभाल लेती है ।

एक प्रासंगिक घटना

देवों के आने की गति के सम्बन्ध म एक प्रासंगिक घटना कहते है । कुछ समय पहले जब हमारा चौमासा बगलोर मे था, तब मदरास की साउथ फ्लोर मिल वाला सेठ पूनमचन्द रूपचन्द हमारे पास पर्यूषण पर्व करने के लिए आये । पर्यूषण के बाद वे बेंगलोर के एक भाई के साथ मैसूर जाने के लिए मोटर में निकले । रास्ते में मोटर की दुर्घटना हो गयी । उसी वक्त उनके मुँह से 'नमो अरिहताण' निकला । जिन्हें 'नमस्कार' म श्रद्धा हो, दिल मे 'नमस्कार' की रटन हो, उन्हीं के मुख से अनी के समय 'नमो अरिहताण' का उच्चार होता है ।

फिर क्या हुआ इसकी उन्हें खबर न पड़ी । जब आँखें खोलीं तो मोटर में बैठे हुए सब लोग मोटर के बाहर खड़े हुए थे । किसी को कोई क्षति नहीं पहुँची । सिर्फ बेंगलोरवाले भाई के पैर में जरा लगा था । बगल में मोटर टूटी पड़ी थी । दरवाजा कब खुला ? वे बाहर कब निकले ? कैसे निकले ? यह कुछ नहीं जानते थे । 'नमस्कार' के स्मरण से प्रसन्न होकर अधिष्ठायक देव ने सहायता की थी । मालूम होते ही निमिषमात्र म देवता आ पहुँचते है और सब काम कर देते हैं । मुँह से कहने में देर लगती है पर देवताओ को आने में देर नहीं लगती ।

सौधर्मेन्द्र की जन्म को जानकारी और जाने की तैयारी

दिक्कुमारियों का सब काम पूरा हो जाने के बाद सौधर्मेन्द्र का सिंहासन कम्पित होता है। सौधर्मेन्द्र ३२ लाख विमानोंवाले सौधम स्वर्ग का मालिक है । सिंहासन के कम्पायमान होते ही वह अवधिज्ञान से जान लेता है कि तीर्थंकर भगवत का जन्म हुआ है, फिर वह हरिणैगमेषी देव

को बुलाकर आज्ञा करता है कि 'सब देवों को खबर दो कि तीर्थङ्कर भगवत का जन्म होने के कारण इन्द्र अभिषेक करने जा रहा है, इसलिए सब तैयार होकर इन्द्र के पास उपस्थित रहें।'

यह खबर देने की रीति भी जानने योग्य है। सौधर्म स्वर्ग में सौध र्मावतसक विमान में सौधर्म सभा में सुघोषा-नामक एक बड़ा घंटा है। उसे हरिणैगमेषी देव बजाने लगता है कि बत्तीस लाख विमानों के घंटे भी बजने लगते हैं। ये घंटे कुल तीन बार बजते हैं।

विमान में विशाल शाश्वत महल होते हैं और हर महल में आमोद-प्रमोद के साधन होते हैं। देव निरन्तर आनन्दमय क्रीड़ा करते रहते हैं। इन महलों के बाहरी भाग में घंटियाँ होती हैं। जब हरिणैगमेषी सुघोषा घंटा बजाता है, तब विमान का घंटा भी बजने लगता है और उसके साथ महल की घंटियाँ भी गूँजने लगती हैं।

आत्मा की शक्ति और उसके द्वारा देवों पर पड़नेवाले प्रभाव को दर्शाने के लिए यह बात कही गयी है। तीर्थङ्करों की पूजा करते समय इन्द्र भी उनको अपना स्वामी कहकर स्तवन करता है। इतनी बड़ी ऋद्धि-सिद्धि का मालिक इन्द्र भी उनका सेवक है।

नाम के मोह पर नरघाजी का किस्सा

गुरु महाराज के सामने श्रावक का दर्जा भी ऐसा ही है। लेकिन, आजकल अगर कोई आचार्य महाराज किसी धनिक श्रावक को नाम से बुलायें तो उसके नाम के आगे मानार्थ 'सेठ' शब्द न लगावें तो उसे बुरा लग जाता है। श्री विजयकमलसूरीश्वरजी महाराज आचार्य थे, तब की बात है। उस समय श्री वीरविजयजी महाराज उपाध्याय थे और मारवाड़ में विचरते थे। वे स्वभाव से विनोदी थे। व्याख्यान के समय उन्हें श्रावकों को नाम से बुलाने की आदत थी। व्याख्यान सुनने के लिए गाँव का नगरसेठ नरघाजी भी नियमित आता था। उस समय गुरु

महाराज उन्हें सबोधित करते हुए कहते—'क्यों नरघाजी, यह बात ठीक है न ?" लेकिन, उस वक्त नरघाजी का मुँह उतर जाता। गुरु महाराज की नजर म यह आये बगैर न रहता। उन्हे आश्चर्य होता कि इसे नाम से बुलाये जाने पर आनन्द के बजाये दु ख क्यों होता है ? इसी कारण नरघाजी व्याख्यान समाप्त होते ही चल देता।

महाराज ने जिज्ञासावश एक श्रावक से इसका कारण पूछा। उस श्रावक ने, विशेष आग्रह किये जाने पर, बताया—"गाँव के लोग उन्हें 'ठाकरा जी' कहकर बड़े मान से सबोधित करते हैं और आप उन्हें सिर्फ 'नरघाजी' कहते हैं, यह उसे अच्छा नहीं लगता। व्याख्यान-सभा में तो वह रोज विवेक के कारण हाजिर हो जाते हैं।"

दूसरे दिन व्याख्यान में प्रसग आने पर गुरु महाराज ने कहा—"क्यों ठाकराजी, ठीक बात है न ?" ये शब्द सुनते ही नरघाजी के मुख पर प्रसन्नता छा गयी और हर्ष के आवेश में वह एकदम खड़ा हो गया और अपनी अटपटी भाषा में महाराजश्री का और उनके व्याख्यान का बखान करने लगा। महाराजश्री और सारी सभा खिलखिला कर हँस पड़ी। तब से महाराजश्री उने 'ठाकरा जी' कहकर सबोधन करते और ठाकराजी व्याख्यान के बाद भी गुरु महाराज के सामने बैठकर वार्तालाप करने लगे।

जब आपको मानपूर्वक सबोधित किया जाता है तो आप प्रसन्न होते हैं। पर, मान से आपका क्या कल्याण होनेवाला है ? नाम की अपेक्षा काम पर विशेष लक्ष दीजिये। अगर आपका आत्मा शुद्ध, उच्च, परोपकारी, नीतिमान और धर्मपरायण होगा तो आपका कल्याण होकर ही रहेगा। आप गुरु महाराज के उपासक हैं, सेवक हैं, अगर वे सादा नाम से भी बुलावें तो भी आपको आनन्द ही मानना चाहिये।

हरिणैगमेषी की उद्‌घोषणा और प्रयाण

इस प्रकार घंटा बजने पर सब देव इन्द्र का हुक्म सुनने के लिए सावधान हो जाते हैं। उस समय हरिणैगमेषी देव आकाश में खूब ऊँचे जाकर बड़ी ऊँची आवाज से सब देवों को सुनाता है—"तीर्थङ्कर भगवत का जन्म हुआ है, उनका उत्सव करने इन्द्र महाराज पधारने वाले हैं, इसलिए सब देव उनके साथ जाने के लिए तैयार हो जायँ।'

फिर इन्द्र के हुक्म से पालक नामक देव सुन्दर विमान तैयार करता है। उसमें बैठकर सब मनुष्यलोक में तीर्थङ्कर के जन्मस्थलपर आते हैं।

प्रभु को मेरु पर ले जाना

उनमें से इन्द्र नीचे उतरकर तीर्थङ्कर की माता के पास जाता है और उन्हें नमन करके कहता है—"अब जरा भी न घबरायें, हम तीर्थङ्कर भगवान् का अभिषेक करने के लिए उन्हें मेरु पर्वत पर लिये जाते हैं।" यह कहकर इन्द्र भगवान् का एक हूबहू प्रतीक बनाकर माता के बगल में रख देता है।

उसके बाद इन्द्र पाँच रूप बनाता है। उनमें से एक रूप प्रभुजी को ग्रहण करता है, दो रूप चँवर डुलाने लगते हैं, एक रूप छत्र लेता है और एक रूप अंगरक्षक की तरह हाथ में वज्र लेकर आगे-आगे चलने लगता है। इन्द्र के आगे और पीछे देवगण जलूस के रूप में चलते हैं। यह जलूस कुछ ही देर म मेरु पर्वत पर पहुँच जाता है।

मेरु-पर्वत पर स्नात्राभिषेक

सौधर्मेन्द्र आदि देवों का जलूस जब मेरु-पर्वत पर पहुँचता है तब दूसरे ६३ इन्द्रों के* सिंहासन कंपित होते हैं। तब वे भी सौधर्मेन्द्र की

* सुर-असुरों के कुल ६४ इन्द्र होते हैं।

तरह तैयार होकर अपने परिवार और वैभवसहित मेरु पर्वत पर आ पहुँचते हैं।

तब बारहवें स्वर्ग का इन्द्र अच्युतेन्द्र आभियोग्य देवों को अभिषेक की सामग्री तैयार करने की आज्ञा देता है। श्री तीर्थंकर भगवान् के स्नात्राभिषेक में कुल २५० अभिषेक होते हैं।

इस अभिषेक के कलश बहुत बड़े होते हैं। सामान्य मनुष्य उनकी कल्पना नहीं कर सकता। उनमें क्षीरसमुद्र का पानी भर कर लाया जाता है, कारण कि वह अत्यन्त मीठा और दूध के समान उज्ज्वल होता है।

सौधर्मेन्द्र की शंका और प्रभु द्वारा प्रदर्शित अद्भुत शक्ति

प्रथम अभिषेक बारहवें स्वर्ग के इन्द्र का होता है। उस समय विशाल स्नात्रकलशों से तीर्थंकर भगवान् के शरीर पर धुँआधार पानी गिरता है। उसकी धारा इतनी प्रबल होती है कि उसमें हाथी भी खिंचे चले जायँ। सौधर्मेन्द्र को किसी तीर्थंकर के समय शंका नहीं हुई थी, पर महावीर प्रभु के समय शंका हुई—"भगवान् इतनी बड़ी जलधारा को कैसे सहन कर सकेंगे?" इन्द्र भक्ति परायण है और जानता है कि ये साक्षात् परमात्मा हैं, फिर भी उसे शंका हुई। उसे भगवान् ने अपने अवधिज्ञान से जान लिया और उसके निवारणार्थ अपनी शक्ति बतलाने के लिए बायें पैर के अँगूठे से सिंहासन को दबाया कि वह सिंहासन, शिलापट और सारा मेरु पर्वत प्रकम्पित हो उठा। तमाम जम्बूद्वीप में कम्पन हुआ और उसके प्रभाव से लवण-समुद्र भी खलबला उठा।

यह सब निमेष मात्र में हो गया। अभी तो बारहवें स्वर्ग के इन्द्र का अभिषेक होने को है। सौधर्मेन्द्र यह प्रकम्पन और खलबल देखकर विचारने लगा—"यह सब क्या हो रहा है?" उसे किञ्चित क्रोध भी आया कि ऐसे शुभ प्रसंग पर ऐसा उपद्रव करनेवाला कौन है? उसने अवधिज्ञान से देखा तो फक पड़ गया। वह समझ गया—"यह तो स्वयं

भगवान् ने मेरे मन का संशय दूर करने के लिए अपना अँगूठा दबाया उसका प्रताप है। सचमुच प्रभु की शक्ति अगाध है।" उसे शंका और क्रोध करने पर पश्चात्ताप हुआ और वह भगवान् के चरणों में गिर कर क्षमा याचना करने लगा। फिर सर्वत्र शान्ति हो गयी।

तर्क करनेवालो, जैनेतरो, अरे! तुम में दयानन्द सरस्वती सरीखा भी तर्क करता है—"भगवान् सहज अँगूठा दबायें और मेरु पर्वत हिल उठे, तो फिर जब वे चलते होंगे तब पृथ्वी कितनी काँपती होगी? उस वक्त जमीन में गड्ढे क्यों नहीं पड़ते जाते?" पर, ऐसा प्रश्न करनेवाले सामान्य-बुद्धि का भी उपयोग नहीं करते। पहलवान राममूर्ति चलती मोटर को रोकने की शक्ति रखता था। उस मोटर की ताकत ३० हार्स-पावर की होती थी। वह अपनी छाती पर हाथी भी खड़ा रखता था। फिर भी जब वह चलता था तब क्या जमीन में गड्ढे पड़ते जाते थे? आदमी चलता शरीर के वजन पर है, परन्तु जब बल का प्रयोग करता है तब अपनी आत्मा की शक्ति के अनुसार कार्य कर सकता है।

दियासलाई का पूरा बक्स रुई के ढेर में रह सकता है, लेकिन अगर एक ही दियासलाई घिसकर, जलाकर, रखो तो हजारों मन रुई को जला-कर खाक कर देती है—शक्ति का सच्चा अनुमान उसके प्रयोग को देखकर होता है।

स्नात्राभिषेक की पूर्णाहुति

बारहवें स्वर्ग के इन्द्र का अभिषेक पूरा होने के बाद शेष सब इन्द्र अभिषेक करते हैं। अन्त में ईशानेन्द्र भगवान् को गोदी में बिठाता है और सौधर्मेन्द्र बड़ी धूमधाम से अभिषेक करता है। इस महोत्सव में देवगण इतनी आनन्द मस्ती में आ जाते हैं कि, उन्हें स्वर्गों के आमोद-प्रमोद तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं।

उसके बाद वे प्रभु को उसी प्रकार जन्मस्थल पर वापस ले जाते है और माता की गोद मे सुलाकर सब अपने स्थानों को चले जाते हैं।

तीर्थंकर में जो अनन्त शक्ति होती है, वह आत्मा की है। जैसा तीर्थंकर की आत्मा है वैसी ही हमारी आत्मा है। आत्मा के गुणो मे या मूलभूत शक्ति में कोई अन्तर नहीं है। पर, इस समय अन्तर इसलिए दिखता है कि हमारी शक्ति कर्मों से दबी हुई है, तीर्थंकर देव मे प्रकट रूप मे है। सचमुच, हमारी हालत बकरिया सिंह जैसी है।

बकरिया सिंह का दृष्टान्त

एक गड़रिये को वन मे बकरियाँ चराते हाल का जन्मा हुआ शेर का बच्चा मिल गया। वह उसे घर ले आया और बकरी का दूध पिला पिला कर बड़ा किया। वह सिंह था, पर बकरियों के साथ ही फिरता-फिरता और उन्हीं के साथ खाता-पीता, इसलिए अपने को बकरी ही मानता और बकरी की तरह ही वर्तन करता।

एक दिन सब बकरियों के साथ वह वन म चरने गया। वहाँ एक सिंह आ पहुँचा और गर्जना करने लगा। सुनकर सब बकरियाँ भागने लगीं। उनके साथ वह बकरिया सिंह भी भागने लगा। यह देखकर वन के सिंह ने कहा—"अरे भाई! मेरे दहाड़ने से बकरियाँ भागें तो ठीक, पर तू क्यों भागता है? तू तो मुझ-जैसा शेर है।"

बकरिया सिंह बोला—"तू झूठ बोलता है। मै शेर नहीं बकरी हूँ। तेरा खाद्य होने के कारण डर के मारे भाग रहा हूँ।"

वन का शेर समझ गया—"यह बहुत दिनों से बकरियों की सगत म रहा है, इसलिए अपने को बकरी मान बैठा है।" इसका भ्रम दूर करना चाहिए। उसने कहा—"भाई! तू जरा अपने अग-प्रत्यगों को तो देख कि वे मुझसे मिलते हैं या बकरियों के अग प्रत्यांगों से? अपने पजे, अपनी पूँछ, अपनी कमर देख! तेरा मुख भी मेरे समान है, बकरियों जैसा

नहीं !" इत्यादि कहकर जब वन के शेर ने समझाया तो बकरिया सिंह का भ्रम दूर हो गया। वह उस शेर के साथ चल पड़ा और शेर की तरह जीने लगा !

इसी तरह आप भी दीर्घकाल मे देहादि पुद्गलो के साथ रहे है, इसलिए अपने को देहरूप मानते है और अपनी शक्ति को अत्यन्त मर्यादित मानते हैं। परन्तु, आप देह नहीं आत्मा हैं। अपनी अनन्त शक्ति का विकास कीजिए। उसके लिए विषय-कषाय छोड़िये। जो विषयों में लिप्त रहते हैं वे किसी-न-किसी रूप मे दुर्दशा को प्राप्त होते हैं।

रूपसेन की कथा

पृथ्वीभूषण नामक एक नगर था। उसके प्रजापालक राजा कनकध्वज को सुनन्दा-नामक एक सुन्दर पुत्री थी। वह यौवन की देहली पर कदम रख चुकी थी और उसका रूप प्रभात-कमल के समान अनेरी छटा से खिल उठा था। वह एक दिन महल के झरोखे से नगरचर्या देख रही थी कि, उसकी नजर सामने के मकान पर पड़ी। वहाँ एक पुरुष अपनी स्त्री को निर्दयता से पीट रहा था। स्त्री पैरों पड़कर कहती थी—"हे स्वामिन ! अब भूल नहीं करूँगी।" फिर भी वह उसे मारता ही जा रहा था। यह दृश्य देखकर सुनन्दा काँप उठी। उसने विचार किया कि, अगर विवाहित जीवन म ऐसी ही पराधीनता है, ऐसे ही दुःख सहने पड़ते है, तो अच्छा है कि विवाह ही न किया जाये।

सुनन्दा वयस्क थी और रूप लावण्य युक्त थी, इसलिए देश-परदेश से उसके लिए मँगनी आती। परन्तु, माता-पिता के पूछने पर वह एक ही जवाब देती—"मुझे विवाह नहीं करना है।"

उस नगर के वसुदत्त-नामक एक व्यापारी के चार पुत्र थे। उसमें सबसे छोटे का नाम रूपसेन था। छोटा पुत्र ज्यादा प्रिय होता है, उस पर कामकाज का बोझ भी कम होता है। रूपसेन भी ऐसा ही था, इसलिए

इच्छानुसार नगर उद्यान आदि में घूमता रहता और आनन्द से दिन बिताता। एक दिन वह फिरता-फिरता राजमहल के सामनेवाली पानवाले की दुकान पर आकर पान खा रहा था। सुनन्दा की नजर उसपर पड गयी। वह उसे देखकर बड़ी हर्षित हुई। उसने एक चतुर सहेली द्वारा कहलवाया—"आप यहाँ रोज आकर हमारी सखी को दर्शन दिया करें।" रूपसेन ने प्रसन्नतापूर्वक इसे स्वीकार कर लिया और वह वहाँ रोज आने लगा।

अब तक न तो रूपसेन को कोई दु ख था न सुनन्दा को कोई चिन्ता। दोनो अपने-अपने जीवन म मस्त थे और सुख चैन से रहते थे, पर अब दोनों को अपनी सुखशय्या जहर सरीखी लगने लगी, कारण कि दोनों को एक दूसरे से मिलने की प्रगाढ इच्छा लगी थी। दोनों एक दूसरे के मोह में पड़कर दु ख का अनुभव कर रहे थे। इसीलिए शास्त्रकारों ने मोह को सब दु खों का कारण बताया है।

इस तरह दिन बीतते गये और दोनों को अरस-परस मिलने की उत्कंठा तीव्र होती गयी।

इतने में राजा की तरफ से घोषित किया गया कि अमुक दिन कौमुदी उत्सव मनाने के लिए राजा-रानी नगर से बाहर पधारेंगे, उस समय सब नगरनिवासी भी उनके साथ उत्सव में सम्मिलित हों।

सुनन्दा ने सोचा—"इस अवसर पर रूपसेन से भेंट हो सकेगी। उसने रूपसेन को कहलवा दिया—"आप अमुक समय राजमहल के पिछले भाग मे आयें, वहाँ ऊपर चढने के लिए रस्सी की सीढी तैयार रहेगी।'

कौमुदी-उत्सव के दिन सुनन्दा सरदर्द का बहाना बनाकर घर पर रही। रूपसेन पेटदर्द का बहाना बनाकर घर रहा। अब कब रात हो और कब मिलें। यही विचार दोनों के मन मे घुट रहा था।

अब बनाव क्या बनना है सो देखिये।

एक जुआरी जुए मे बहुत पैसा हार गया और देनदार बन गया।

लेनदार उससे सख्त तकाजा करने लगा और न देने पर जान से मार डालने की धमकी देने लगा। वह उसे आश्वासन देते हुए कहने लगा—"कृपा करके एक दिन का वक्त दो, मैं चोरी करके भी तुम्हारे पैसे अदा कर दूँगा।" जीतनेवाले ने एक दिन की मोहलत दे दी।

अब वह जुआरी—"क्या करूँ? चोरी करूँ? कैसे करूँ?" आदि सोचता हुआ चला जा रहा था।

उसने राजमहल में चोरी का विचार किया और बचबचा कर चलते-चलते राजमहल के पीछे की गली में आ पहुँचा। वह दीवार के सहारे-सहारे चल रहा था कि उसे रस्सी की वह सीढ़ी दिखायी दी। वह उसकी मजबूती को हिलाकर देखने लगा।

संकेत सीढ़ी को हिलाने का था। दासियों ने समझा कि रूपसेन आ गया। आदेशानुसार उसे ऊपर खींच लिया गया। जुआरी के लिए तो वह कहावत चरितार्थ हुई कि, 'मनभाती चीज को वैद्य ने बता दिया।' उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि यह सब कैसे हुआ? कैसे भी हुआ हो, वह प्राप्त अवसर का पूरा लाभ उठाना चाहता था। महल में अँधेरा था, क्योंकि ऐसा काम करनेवाला रोशनी नहीं रखता। अँधेरे में यह न मालूम हो सका कि यह रूपसेन नहीं कोई और ही है।

दासियों ने उसे ले जाकर सुनन्दा के पलंग पर बिठाया। सुनन्दा ने तो यही समझा कि रूपसेन आया है, इसलिए उससे प्रेम से भेंट की। सुनन्दा का स्पर्श करते ही जुआरी को काम विकार जागा और उसके साथ भोगविलास करने लगा। सुनन्दा ने उसका कुछ निषेध नहीं किया। इतने में कुछ दासियाँ हाथ में दीपक लेकर सुनन्दा के खण्ड की तरफ आती हुई दिखायी दीं। सुनन्दा बोली—"हमें बात करने का अन्तराय होगा, इसलिए कुछ भी बात न हो सकी। अब आज तो तुम जाओ, फिर कभी मिलेंगे।" जुआरी 'न बोलने में नौगुण' मानकर, कामक्रीड़ा

के दौरान में अलग किये गये कीमती गहनों को लेकर जिस रास्ते से आया था, उसी रास्ते से चला गया।

इधर रूपसेन पर क्या गुजरी सो भी देखिये। वह निर्धारित समय पर राजमहल में पहुँचने के लिए घर से निकला और गली-कूचों को पार करता हुआ बढ़ता जा रहा था कि एक जर्जर मकान की दीवार टूट कर उसपर गिर पड़ी। वह उससे दबकर मर गया। अन्त समय जैसी मति हो वैसी गति होती है, इसलिए वह मर कर उस जुआरी के वीर्य द्वारा सुनन्दा की कुक्षि में गर्भरूप से उत्पन्न हुआ।

समय गुजरते सुनन्दा का पेट बढ़ने लगा। उससे वह घबराने लगी। माँ-बाप को खबर होगी तो वे मुझे धिक्कारेंगे और दुनिया भी फटकार बरसायेगी। इस भय से उसने विश्वस्त दासियों द्वारा दवा मँगाकर गर्भपात कर दिया।

गर्भ मे ही मरण पाना कुछ कम दुःख नहीं है, पर मोहग्रस्त आत्माओं की दशा ऐसी ही होती है। रूपसेन का आत्मा वहाँ से सर्प योनि मे जाकर सर्प बना।

अब सुनन्दा पुरुषद्वेषिणी नहीं रही थी। उसे विवाह करने की इच्छा हुई और वह एक राजा के साथ ब्याह दी गयी। वह अपने पति के साथ यथेच्छ विषय सुख भोगती दिन गुजारने लगी।

उसके महल के बगीचे में ही वह सर्प उत्पन्न हुआ। वह एक दिन चलता-फिरता महल म आ गया। वहाँ उसने सुनन्दा को देखा। पहले का राग था, इसलिए वह हर्ष म आकर डोलने लगा और सुनन्दा से मिलने के लिए उसकी ओर बढने लगा। एक भयकर साँप को अपनी तरफ आता देखकर सुनन्दा चिल्लाने लगी। सिपाहियो ने आकर तलवार से उसके टुकड़े कर दिये।

सुनन्दा के साथ भोग भोगने के विचार म रूपसेन के तीन भव पूरे हुए। चौथे भव मे वह कौआ बना। एक बार राजा रानी संगीत क

जल्से का आनन्द ले रहे थे। वहाँ वह कौआ आ पहुँचा और सुनन्दा को देखकर हर्ष के आवेश मे 'काँव-काँव' करने लगा। उसके स्वर की कर्कशता गाने में बाधा डालने लगी। राजा का इशारा पाकर सिपाहियों ने एक तीर छोड़कर उसे समाप्त कर दिया।

पाँचवें भव में रूपसेन हंस हुआ और राज-महल के बगीचे के तालाब में बड़ा होने लगा। एक बार सुनन्दा को देखकर उसके दिल में पूर्व राग उत्पन्न हुआ। वह उड़ उड़कर सुनन्दा के शरीर पर पड़ने लगा। इससे सुनन्दा उकता उठी। उसने सिपाही को बुलाया। उसने आकर हंस को मार डाला।

विषयवासना आत्मा को जन्म जन्मान्तर में कैसा रखड़ाती है और उसका क्या हाल होता है, यह इससे समझा जा सकता है।

छठें भव में वह हिरन हुआ और जंगल में रहकर अपना पेट भरता रहा। एक बार सुनन्दा राजा के साथ शिकार देखने जंगल में गयी। वहाँ शिकारियों ने बाजा बजाया। हिरन उसे सुनने आये। उनमें वह हिरन भी आ पहुँचा। वह सुनन्दा को देखकर परम हर्ष अनुभव करने लगा। वह सुनन्दा का रूप देखने में इतना लीन हो गया कि उसे और किसी की खबर न रही। इतने में राजा ने बाण मारा और वह बिंध गया। राजा ने उसका मांस पकाने का हुक्म दिया। सेवक उसे राजवाटिका में ले आये वहाँ उसका मांस पकाया गया।

राजा रानी उस हिरन का माँस खाते जा रहे थे और उसकी तारीफ करते जा रहे थे। उस समय वहाँ दो मुनि निकले। वे ज्ञानी थे। सुनन्दा और रूपसेन का चारित्र जानकर अपना सर हिलाने लगे। यह देखकर राजा विचार में पड़ गया। उसने उन मुनियों को बुलाकर सर हिलाने का कारण पूछा। मुनिवर कहने लगे—"इस बात को जानकर आपको दुःख होगा, इसलिए इसकी जानकारी रहने दो।" लेकिन, राजा और रानी का आग्रह होने पर उन्होंने अथ से इति तक सारी कहानी सुना दी। उसे

सुनकर राजा और रानी दोनों को संसार से वैराग्य हो गया। अन्त में सुनन्दा ने पूछा—"हिरन मरकर कहाँ पैदा हुआ है? उसका उद्धार होगा या नहीं?" मुनिवर बोले—"हिरन मरकर विंध्य अटवी में सुग्राम के पास हाथी हुआ है। वह आपके उपदेश से प्रतिबोध पायेगा और जाति-स्मरण से अपने पूर्व भव निहार कर, वैराग्य पाकर, तप करके, आठवें स्वर्ग में उत्पन्न होगा और वहाँ से चलकर मनुष्य भव में आकर मोक्ष पायेगा।"

राजा और रानी ने अनेक नगर-जनों के साथ दीक्षा ली। सुनन्दा साध्वी संयम का पालन करने लगी। उसने अवधि-ज्ञान से हाथी को प्रतिबोध करने का समय नजदीक आया जान अपनी गुरुणी से आज्ञा लेकर विंध्य अटवी के निकट सुग्राम में चातुर्मास किया। उसके बाद हाथी को प्रतिबोध करने उसके पास गयी।

उस हाथी के उपद्रव से सारा गाँव त्रस्त था। वह गाँव के अनेक लोगों और घरों का नाश कर चुका था। गाँववालों ने जब साध्वी को जंगल की ओर जाते देखा और हाथी के निवासस्थान की तरफ ही बढ़ते देखा, तो वे कहने लगे—"उधर न जाइये! हाथी आपको मार डालेगा!" फिर भी सुनन्दा साध्वी निर्भयतापूर्वक उस तरफ चलती गयीं। इतने में हाथी वृक्षों के झुरमुट से बाहर आया और सुनन्दा साध्वी के सामने आने लगा। फिर भी साध्वी ने हिम्मत नहीं छोड़ी। उनने तो उसका उद्धार करने का दृढ संकल्प कर ही लिया था।

हाथी नजदीक आ गया। पर, साध्वी को देखते ही ठंडा पड़ गया। पूर्व के संस्कार क्या नहीं करते? उसे साध्वी पर राग हुआ और वह अपनी सूँड ऊँची-नीची करके उस राग को प्रदर्शित करने लगा।

सुनन्दा साध्वी ने कहा—"अभी राग से तृप्त नहीं हुआ? मेरे निमित्त से तू ६-६ भव में मरा! अब तो समझ कर इस राग को दूर कर!"

उसी क्षण हाथी बिल्कुल शान्त हो गया। उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उस ज्ञान से उसने अपने पूर्व भव देखे और प्रतिबोध पाया।

यह देखकर लोगों के आश्चर्य का पार नहीं रहा। वे साध्वी के सत्व की स्तुति करने लगे। फिर साध्वी के कहने पर उस गाँव का राजा उस हाथी को अपनी हस्तिशाला में ले गया। वहाँ वह जीवन भर तप करता रहा। उस तप के प्रभाव से वह मरने पर आठवें स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से चलकर ज्ञानी मुनिवरों के कथनानुसार मनुष्य भव पाकर मोक्ष गया।

विषयवासना का यह परिणाम जानकर सुज्जन उससे दूर रहें और धर्म का आराधन कर अपने जीवन को सफल बनायें। यह महर्षियों का उपदेश है और हमारा भी यही कहना है।

सुनकर राजा और रानी दोनों को संसार से वैराग्य हो गया। अन्त में सुनन्दा ने पूछा—"हिरन मरकर कहाँ पैदा हुआ है? उसका उद्धार होगा या नहीं?" मुनिवर बोले—"हिरन मरकर विंध्य अटवी में सुग्राम के पास हाथी हुआ है। वह आपके उपदेश से प्रतिबोध पायेगा और जाति-स्मरण से अपने पूर्व भव निहार कर, वैराग्य पाकर, तप करके, आठवें स्वर्ग में उत्पन्न होगा और वहाँ से चलकर मनुष्य भव में आकर मोक्ष पायेगा।"

राजा और रानी ने अनेक नगर-जनों के साथ दीक्षा ली। सुनन्दा साध्वी संयम का पालन करने लगी। उसने अवधि ज्ञान से हाथी को प्रतिबोध करने का समय नजदीक आया जान अपनी गुरुणी से आज्ञा लेकर विंध्य अटवी के निकट सुग्राम में चातुर्मास किया। उसके बाद हाथी को प्रतिबोध करने उसके पास गयी।

उस हाथी के उपद्रव से सारा गाँव त्रस्त था। वह गाँव के अनेक लोगों और घरों का नाश कर चुका था। गाँववालों ने जब साध्वी को जंगल की ओर जाते देखा और हाथी के निवासस्थान की तरफ ही बढ़ते देखा, तो वे कहने लगे—"उधर न जाइये! हाथी आपको मार डालेगा!" फिर भी सुनन्दा साध्वी निर्भयतापूर्वक उस तरफ चलती गयीं। इतने में हाथी वृक्षों के झुरमुट से बाहर आया और सुनन्दा साध्वी के सामने आने लगा। फिर भी साध्वी ने हिम्मत नहीं छोड़ी। उनने तो उसका उद्धार करने का दृढ़ संकल्प कर ही लिया था।

हाथी नजदीक आ गया। पर, साध्वी को देखते ही ठंडा पड़ गया। पूर्व के संस्कार क्या नहीं करते? उसे साध्वी पर राग हुआ और वह अपनी सूँड़ ऊँची-नीची करके उस राग को प्रदर्शित करने लगा।

सुनन्दा साध्वी ने कहा—"अभी राग से तृप्त नहीं हुआ? मेरे निमित्त से तू ६-६ भव में मरा! अब तो समझ कर इस राग को दूर कर!"

उसी क्षण हाथी बिल्कुल शान्त हो गया। उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उस ज्ञान से उसने अपने पूर्व-भव देखे और प्रतिबोध पाया।

यह देखकर लोगों के आश्चर्य का पार नहीं रहा। वे साध्वी के सत्व की स्तुति करने लगे। फिर साध्वी के कहने पर उस गाँव का राजा उस हाथी को अपनी हस्तिशाला में ले गया। वहाँ वह जीवन भर तप करता रहा। उस तप के प्रभाव से वह मरने पर आठवें स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से चलकर ज्ञानी मुनिवरों के कथनानुसार मनुष्य भव पाकर मोक्ष गया।

विषयवासना का यह परिणाम जानकर सुज्ञजन उससे दूर रहें और धर्म का आराधन कर अपने जीवन को सफल बनायें। यह महर्षियों का उपदेश है और हमारा भी यही कहना है।

चौदहवाँ व्याख्यान

आत्मा की शक्ति

[२]

महानुभावो !

आत्मा की शक्ति कितनी होती है, यह विषय चल रहा है। उसमें तीर्थंकर की शक्ति का कुछ परिचय श्री महावीर प्रभु के विवरण से दिया। अब मनुष्यों में महाबली माने जानेवाले बलदेव, वासुदेव तथा चक्रवर्ती की शक्ति का भी कुछ परिचय करायेंगे।

एक अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी काल में जैसे २४ तीर्थंकर होते है, वैसे ही १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव, और ९ बलदेव भी अवश्य होते हैं। इन सबको समग्र रूप से तिरसठ शलाकापुरुष* कहा जाता है।

---

*इस अवसर्पिणी के २४ तीर्थंकरों के नाम प्रसिद्ध हैं।

१२ चक्रवर्तियों के नाम (१) भरत, (२) सगर, (३) मघवा (४) सनत कुमार, (५) शांति, (६) कुंथु, (७) अर, (८) सुभूम, (९) पद्म, (१०) हरिषेण, (११) जय और (१२) ब्रह्मदत्त।

९ वासुदेवों के नाम (१) त्रिपृष्ठ, (२) स्वयंभू (३) पुरुषोत्तम, (४) पुरुषसिंह, (५) पुरुषपुंडरीक, (६) दत्त, (७) लक्ष्मण और (८) कृष्ण।

९ प्रतिवासुदेवों के नाम (१) अश्वग्रीव, (२) तारक, (३) मेरक, (४) मधु, (५) निष्कुंभ, (६) बलि, (७) प्रह्लाद, (८) रावण और (९) जरासंध।

९ बलदेवों के नाम (१) अचल, (२) विजय, (३) भद्र (४) सुप्रभ, (५) सुदर्शन, [६] आनन्द, [७] नंदन, [८] पद्म, [श्री रामचन्द्र] और [९] राम [बलभद्र]।

शलाकापुरुष यानी पवित्र पुरुष, ऐसे महापुरुष जिनका मोक्षगमन सुनिश्चित है। श्री हेमचन्द्राचार्य महाराज ने ऐसे तिरसठ शलाका पुरुषों का चरित्र संस्कृत भाषा में सुन्दर श्लोकबद्ध रचना द्वारा चित्रित किया है।

आज तो कोई बलदेव, वासुदेव या चक्रवर्ती हमारे सामने नहीं है, इसलिए उनके बल का अनुमान कैसे लगा सकते हैं? परन्तु ऐसे मनुष्य देखने में आते हैं, जो कि बलवान ओखला को केहुनी मार कर गिरा देते हैं, मदोन्मत्त हाथी को मुट्ठियों से मात दे देते हैं, और भयानक बाघ तथा सिंह-जैसे भयानक पशुओं के साथ कुश्ती लड़कर उन्हें हरा देते हैं।

कुछ समय पहले बम्बई में दुनिया भर के पहलवानों की कुश्तियों का एक दंगल रखा गया था। उस समय किंगकांग ने एक पहलवान को हवा में आठ फुट ऊँचा उछाल दिया था। भ्रागधरा में रायमल नामक एक राजा हो गया है। उसमें इतना बल था कि उसने एक ही मुट्ठी मार कर दिल्ली के लालकिले का पत्थर नीचे के भाग से निकाल दिया था। उसके बारे में नीचे का दोहा प्रचलित है —

कटारी अमरेसरी, तोगारी तरवार,
हथेरी रायमल्लरी, दिल्ली रे दरबार।

(अमरसिंह राठौर के कटार चलाने के कमाल को, तोगाजी राजपूत को तलवार चलाने की कला को, और रायमल्ल राजा की हथेली के बल को दिल्ली के दरबार में अभूत प्रशंसा प्राप्त हुई थी)

बलदेव का बल

बलदेव का बल इससे बहुत ज्यादा होता है। वह अकेला हजारों योद्धाओं को भारी पड़ जाता है। एक बार अनार्यों ने मिथिला पर हमला कर दिया। राजा जनक ने अयोध्यापति राजा दशरथ को संदेश भेजा। तब दशरथ ने श्रीराम को सेना के साथ मिथिला भेजा। वह सेना

अनार्यों के साथ लड़ने लगी। लेकिन, अनार्यों ने उसे देखते देखते छिन्न-भिन्न कर दिया। उस समय अकेले श्रीराम ने सबका सामना किया और बाणवर्षा करके सबको हरा दिया। श्रीराम बलदेव थे, इसलिए उनमें इतना बल था।

वासुदेव का बल

बलदेव से वासुदेव का बल दूना होता है। प्रतिवासुदेव का बल उनसे कुछ कम होता है। लक्ष्मणजी वासुदेव थे। उन पर रावण ने शक्ति का प्रयोग किया और वे बेहोश हो गये। इससे राम घबराये और उन्होंने हनुमान जी को आज्ञा दी कि विशल्या को लेकर आये। इस विशल्या में ऐसी शक्ति थी कि, वह बेहोश आदमी को हाथ फेर कर होश में ला देता था। वह हर प्रकार के रोगी को ठीक कर सकता था।

हनुमानजी विशल्या को ले आये। उसने लक्ष्मणजी के शरीर पर हाथ फेरा और वे होश में आ गये। रामकी सेना में आनन्द फैल गया। अब वह सेना दूने जोर से लड़ने लगी। उसने कुंभकर्ण आदि कितने ही सेनापतियों को पकड़ कर कैद कर लिया। सिर्फ एक रावण बच गया। वह लड़ाई बन्द करके बहुरूपिणी विद्या साधने बैठ गया। उस विद्या की साधना कठिन है, पर सिद्ध हो जाने पर आदमी चाहे जितने रूप धारण कर सकता है और अपने कार्य में सिद्धि प्राप्त कर सकता है। रावण अपने महल के नीचे भूगर्भखण्ड में इस विद्या को साधने बैठा। मंदोदरी ने ढिंढोरा पिटवा दिया कि "कोई हिंसा न करे।"

अंगद आदि को इसकी खबर लगी। वे उसकी सिद्धि में विघ्न डालने की आज्ञा लेने के लिए राम के पास गये। राम विवेकी और उदारचरित थे। उन्होंने अनुमति नहीं दी। बोले—"जो आत्मा शांति से आराधना करता हो उसके कार्य में बाधा नहीं डालनी चाहिए। लेकिन अंगद आदि को भय लगा कि अगर रावण को यह विद्या सिद्ध हो गयी, तो सबका

नाश कर देगा। इसलिए राम भक्ति वश, आज्ञा का उल्लंघन करके, रावण की साधना में तरह तरह के विघ्न डालने लगे। पर, इससे रावण डिगा नहीं। जो रावण हजार विद्याएँ साधते वक्त देवों और देवियों के समूह से नहीं डिगा, वह इन लोगों से क्या डिगाया जा सकता था।

मंदोदरी रोज रावण के पास बैठती। अंगद आदि अन्तिम प्रयास में उस भूगर्भगृह में पहुँच गये। और, वे मंदोदरी के बाल पकड़ कर उसे रावण के सामने घसीटने लगे। एक राजा की रानी का, प्रतिवासुदेव की अर्धांगिनी का, ऐसा अपमान कौन सहन कर सकता है? ऐसे समय कोई भी तप या साधना छोड़कर क्रोध के आवेश में आ जाता और इस तरह अपमान करनेवाले का सर धड़ से पृथक कर डालता। पर, यह तो रावण था। वह जरा भी चलायमान नहीं हुआ। उसी समय उसे बहु-रूपिणी विद्या सिद्ध हो गयी। यह जानते ही अंगद आदि वहाँ से पलाय-मान हो गये।

बहुरूपिणी विद्या ने प्रसन्न होकर रावण से जो चाहिए सो माँगने के लिए कहा। रावण के हर्ष का पार न रहा। उसने कहा—"मैं बुलाऊँ तब आना" फिर रावण सीता के पास गया और अपनी शक्ति का वर्णन करके कहने लगा—"मेरी इस शक्ति से अब तेरे राम लक्ष्मण और उनकी सेना जीती नहीं बच सकती। मै तुझे अपनी बनाऊँगा, मेरे साथ विवाह कर।"

परन्तु सीता महासती थी। वह उसकी बात क्या स्वीकार करती! उसे तो ये शब्द सुनते ही मूर्छा आ गयी। उधर राम की सेना में रावण की इस सिद्धि का समाचार पहुँचते ही हाहाकार मच गया। पर, राम-लक्ष्मण का रोम भी नहीं फड़का।

जब तक रावण विद्या साधता रहा, लड़ाई बंद रही, क्योंकि यह तो नीति का युद्ध था। अब रावण लड़ाई मे फिर उतरा और जोरशोर से लड़ने लगा। रावण मदान्ध बना हुआ था। उसने लक्ष्मण के साथ युद्ध

अनार्यों के साथ लड़ने लगी। लेकिन, अनार्यों ने उसे देखते देखते छिन्न-भिन्न कर दिया। उस समय अकेले श्रीराम ने सबका सामना किया और बाणवर्षा करके सबको हरा दिया। श्रीराम बलदेव थे, इसलिए उनमें इतना बल था।

वासुदेव का बल

बलदेव से वासुदेव का बल दूना होता है। प्रतिवासुदेव का बल उनसे कुछ कम होता है। लक्ष्मणजी वासुदेव थे। उन पर रावण ने शक्ति का प्रयोग किया और वे बेहोश हो गये। इससे राम घबराये और उन्होंने हनुमान जी को आज्ञा दी कि विशल्या को लेकर आयें। इस विशल्या में ऐसी शक्ति थी कि, वह बेहोश आदमी को हाथ फेर कर होश में ला देता था। वह हर प्रकार के रोगी को ठीक कर सकता था।

हनुमानजी विशल्या को ले आये। उसने लक्ष्मणजी के शरीर पर हाथ फेरा और वे होश में आ गये। रामकी सेना में आनन्द फैल गया। अब वह सेना दूने जोर से लड़ने लगी। उसने कुंभकर्ण आदि कितने ही सेना-पतियों को पकड़ कर कैद कर लिया। सिर्फ एक रावण बच गया। वह लड़ाई बन्द करके बहुरूपिणी विद्या साधने बैठ गया। उस विद्या की साधना कठिन है, पर सिद्ध हो जाने पर आदमी चाहे जितने रूप धारण कर सकता है और अपने कार्य में सिद्धि प्राप्त कर सकता है। रावण अपने महल के नीचे भूगर्भखण्ड में इस विद्या को साधने बैठा। मंदोदरी ने ढिंढोरा पिटवा दिया कि "कोई हिंसा न करे।"

अंगद आदि को इसकी खबर लगी। वे उसकी सिद्धि में विघ्न डालने की आज्ञा लेने के लिए राम के पास गये। राम विवेकी और उदारचरित थे। उन्होंने अनुमति नहीं दी। बोले—"जो आत्मा शांति से आराधना करता हो उसके कार्य में बाधा नहीं डालनी चाहिए। लेकिन अंगद आदि को भय लगा कि अगर रावण को यह विद्या सिद्ध हो गयी, तो सबका

नाश कर देगा। इसलिए राम भक्ति वश, आज्ञा का उल्लंघन करके, रावण की साधना में तरह तरह के विघ्न डालने लगे। पर, इससे रावण डिगा नहीं। जो रावण हजार विद्याएँ साधते वक्त देवों और देवियों के समूह से नहीं डिगा, वह इन लोगों से क्या डिगाया जा सकता था।

मंदोदरी रोज रावण के पास बैठती। अगद आदि अन्तिम प्रयास में उस भूगभग्रह में पहुँच गये। और, वे मदोदरी के बाल पकड़ कर उसे रावण के सामने घसीटने लगे। एक राजा की रानी का, प्रतिवासुदेव की अर्धांगिनी का, ऐसा अपमान कौन सहन कर सकता है? ऐसे समय कोई भी तप या साधना छोड़कर क्रोध के आवेश में आ जाता और इस तरह अपमान करनेवाले का सर धड़ से पृथक कर डालता। पर, यह तो रावण था। वह जरा भी चलायमान नहीं हुआ। उसी समय उसे बहु-रूपिणी विद्या सिद्ध हो गयी। यह जानते ही अगद आदि वहाँ से पलाय-मान हो गये।

बहुरूपिणी विद्या ने प्रसन्न होकर रावण से जो चाहिए सो माँगने के लिए कहा। रावण के हर्ष का पार न रहा। उसने कहा—"मैं बुलाऊँ तब आना" फिर रावण सीता के पास गया और अपनी शक्ति का वर्णन करके कहने लगा—"मेरी इस शक्ति से अब तेरे राम लक्ष्मण और उनकी सेना जीती नहीं बच सकती। मैं तुझे अपनी बनाऊँगा, मेरे साथ विवाह कर।"

परन्तु सीता महासती थी। वह उसकी बात क्या स्वीकार करती! उसे तो ये शब्द सुनते ही मूर्छा आ गयी। उधर राम की सेना में रावण की इस सिद्धि का समाचार पहुँचते ही हाहाकार मच गया। पर, राम-लक्ष्मण का रोम भी नहीं फड़का।

जब तक रावण विद्या साधता रहा, लड़ाई बंद रही, क्योंकि यह तो नीति का युद्ध था। अब रावण लड़ाई में फिर उतरा और जोरशोर से लड़ने लगा। रावण मदान्ध बना हुआ था। उसने लक्ष्मण के साथ युद्ध

अनार्यों के साथ लड़ने लगी। लेकिन, अनार्यों ने उसे देखते देखते छिन्न-भिन्न कर दिया। उस समय अकेले श्रीराम ने सबका सामना किया और बाणवर्षा करके सबको हरा दिया। श्रीराम बलदेव थे, इसलिए उनमें इतना बल था।

वासुदेव का बल

बलदेव से वासुदेव का बल दूना होता है। प्रतिवासुदेव का बल उनसे कुछ कम होता है। लक्ष्मणजी वासुदेव थे। उन पर रावण ने शक्ति का प्रयोग किया और वे बेहोश हो गये। इससे राम घबराये और उन्होंने हनुमान जी को आज्ञा दी कि विशल्या को लेकर आयें। इस विशल्या में ऐसी शक्ति थी कि, वह बेहोश आदमी को हाथ फेर कर होश में ला देता था। वह हर प्रकार के रोगी को ठीक कर सकता था।

हनुमानजी विशल्या को ले आये। उसने लक्ष्मणजी के शरीर पर हाथ फेरा और वे होश में आ गये। रामकी सेना में आनन्द फैल गया। अब वह सेना दूने जोर से लड़ने लगी। उसने कुंभकर्ण आदि कितने ही सेना-पतियों को पकड़ कर कैद कर लिया। सिर्फ एक रावण बच गया। वह लड़ाई बन्द करके बहुरूपिणी विद्या साधने बैठ गया। उस विद्या की साधना कठिन है, पर सिद्ध हो जाने पर आदमी चाहे जितने रूप धारण कर सकता है और अपने कार्य में सिद्धि प्राप्त कर सकता है। रावण अपने महल के नीचे भूगर्भखण्ड में इस विद्या को साधने बैठा। मंदोदरी ने ढिंढोरा पिटवा दिया कि "कोई हिंसा न करे।"

अंगद आदि को इसकी खबर लगी। वे उसकी सिद्धि में विघ्न डालने की आज्ञा लेने के लिए राम के पास गये। राम विवेकी और उदारचरित थे। उन्होंने अनुमति नहीं दी। बोले—"जो आत्मा शांति से आराधना करता हो उसके कार्य में बाधा नहीं डालनी चाहिए। लेकिन अंगद आदि को भय लगा कि अगर रावण को यह विद्या सिद्ध हो गयी, तो सबका

नाश कर देगा। इसलिए राम भक्ति वश, आज्ञा का उल्लंघन करके, रावण की साधना में तरह तरह के विघ्न डालने लगे। पर, इससे रावण डिगा नहीं। जो रावण हजार विद्याएँ साधते वक्त देवों और देवियों के समूह से नहीं डिगा, वह इन लोगों से क्या डिगाया जा सकता था।

मंदोदरी रोज रावण के पास बैठती। अंगद आदि अन्तिम प्रयास में उस भूगर्भगृह में पहुँच गये। और, वे मंदोदरी के बाल पकड़ कर उसे रावण के सामने घसीटने लगे। एक राजा की रानी का, प्रतिवासुदेव की अर्धांगिनी का, ऐसा अपमान कौन सहन कर सकता है? ऐसे समय कोई भी तप या साधना छोड़कर क्रोध के आवेश में आ जाता और इस तरह अपमान करनेवाले का सर धड़ से पृथक कर डालता। पर, यह तो रावण था। वह जरा भी चलायमान नहीं हुआ। उसी समय उसे बहु-रूपिणी-विद्या सिद्ध हो गयी। यह जानते ही अंगद आदि वहाँ से पलाय-मान हो गये।

बहुरूपिणी-विद्या ने प्रसन्न होकर रावण से जो चाहिए सो माँगने के लिए कहा। रावण के हर्ष का पार न रहा। उसने कहा—"मैं बुलाऊँ तब आना" फिर रावण सीता के पास गया और अपनी शक्ति का वर्णन करके कहने लगा—"मेरी इस शक्ति से अब तेरे राम लक्ष्मण और उनकी सेना जीती नहीं बच सकती। मैं तुझे अपनी बनाऊँगा, मेरे साथ विवाह कर।"

परन्तु सीता महासती थी। वह उसकी बात क्या स्वीकार करती! उसे तो ये शब्द सुनते ही मूर्छा आ गयी। उधर राम की सेना में रावण की इस सिद्धि का समाचार पहुँचते ही हाहाकार मच गया। पर, राम-लक्ष्मण का रोम भी नहीं फड़का।

जब तक रावण विद्या साधता रहा, लड़ाई बंद रही, क्योंकि यह तो नीति का युद्ध था। अब रावण लड़ाई मे फिर उतरा और जोरशोर से लड़ने लगा। रावण मदान्ध बना हुआ था। उसने लक्ष्मण के साथ

शुरू कर दिया और बहुरूपिणी विद्या को याद किया। लक्ष्मण को चारों तरफ रावण ही रावण दिखायी देने लगे। सब रावण अकेले लक्ष्मण पर बाणवर्षा करने लगे। परन्तु लक्ष्मणजी वासुदेव थे। महाबलवान और महाधैर्यवान थे। वे जरा भी हिम्मत नहीं हारे। अपने धनुष पर विद्युत-वेग से एक के बाद एक बाण चढा कर छोडते ही गये और रावण के रूपों पर प्रहार करते गये। रावण इस मार को सहन न कर सका। वह समझ गया कि, लक्ष्मण के सामने टिकना बहुत कठिन है, इसलिए अपने मूल स्वरूप मे आकर आखिरी पासा फेंकने का निश्चय किया। उसने अपने देवाधिष्ठित चक्र को स्मरण किया। स्मरण करते ही वह चक्र रावण के हाथ में आ गया। उसने लक्ष्मण से कहा—"अब भी समझ जा और सीता को मुझे सौंप दे, अन्यथा तेरी मौत तेरी राह देख रही है।"

लक्ष्मण ने शात चित्त से हँसते हँसते जवाब दिया—"यह तेरा लोहे का टुकड़ा मेरा क्या कर सकता है? छोड़ना हो तो छोड़!" और, रावण ने जोर से चक्र छोड़ा।

उधर राम की सेना उस चक्र को तोड़ने के लिए अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग करने लगी। लेकिन, जैसे कमलपत्र मे जलबिन्दु टकराकर गिर पड़ते हैं, वैसे ही वे अस्त्र शस्त्र उस चक्र से टकराकर गिरने लगे और चक्र लक्ष्मण के पास आ पहुँचा।

यह दृश्य देखते ही राम तक की साँस चढ गयी। पर, चक्र का ऐसा नियम है कि वह वासुदेव का कुछ नहीं कर सकता। इसलिए वह लक्ष्मण की तीन प्रदक्षिणा देकर खड़ा हो गया और उनके हाथ में आ गया। अब लक्ष्मण ने रावण से शातभाव से कहा—"सीताजी को सोप कर तुम अपने राज्य में आनन्द मनाओ। मुझे तेरे राज्य की जरूरत नहीं है। नहीं तो तेरा यह चक्र तेरा ही काल बन जायेगा।"

रावण अब भी अहकार में था। वह समझता था कि, मेरा चक्र मेरा क्या करेगा? परन्तु प्रतिवासुदेव अपने ही चक्र मे मरता है। लोक के इस

शाश्वत नियम में कोई अन्तर नहीं पड़ता। रावण बोला—"इस चक्र से मेरा कुछ नहीं होगा। तुझे छोड़ना हो तो छोड़।" लक्ष्मणजी ने अपने पूर्ण बल से वह चक्र छोड़ा। वह सीधा रावण की तरफ चला। उसकी छाती से ज्यों ही टकराया कि उसके प्राण-पखेरू उड़ गये।

परस्त्री लम्पट होने से और आखिर तक अपनी भूल न सुधारने से क्या गति होती है, यह अब आप समझ सकते हैं। रावण का आत्मा चौथे नरक में गया और आज भी घोर यातना भोग रहा है।

रावण की मृत्यु से उसकी सेना में हाहाकार मच गयी और राम की सेना में हर्षध्वनियाँ होने लगी।

राम ने लंका का राज्य विभीषण को दे दिया।

तात्पर्य यह कि रावण-सरीखे एक महाबलवान राजा ने अपने लाखों रूप किये, फिर भी वासुदेव का मुकाबला न कर सका। वासुदेव की शक्ति अद्भुत् होती है।

चक्रवर्ती का बल

चक्रवर्ती का अर्थ है समस्त भरतखंड का राजा। उसके राज्य विस्तार में छोटे-बड़े ३२००० देश, ७२००० नगर* और ९६ करोड़ गाँव होते हैं। वह ९६ करोड़ पैदल सैन्य वगैरह महान ऋद्धियों का एवं १४ रत्न, ९ निधि और ६४००० स्त्रियों का स्वामी होता है।

---

* शास्त्र में नगर का लक्षण यह बतलाया है —

पण्य-प्रक्रियायादिनिपुणैश्चातुर्वर्ण्यजनैर्युतम्।
अनेक जातिसम्बद्ध, नैक-शिल्पि-समाकुलम्॥
सर्वदैवतसम्बद्ध, नगरस्त्वभिधीयते।

'जो क्रयविक्रय आदि में कुशल चारों वर्णों के लोगों से युक्त, अनेक जाति के लोगों वाला, अनेक शिल्पियों से भरपूर और सर्व प्रकार को देवत युक्त हो उसे नगर कहते हैं।

रत्न से हीरा, माणिक वगैरह न समझना, ऐसे रत्न तो उसके पास लाखों की संख्या मे होते हैं। यहाँ रत्न से तात्पर्य विशिष्ट शक्तिशाली वस्तुओं से है। वे १४ रत्न इस प्रकार हैं—१ सेनापति, २ गृहपति, ३ पुरोहित, ४ अश्व, ५ गज, ६ वर्धकि, ७ स्त्री, ८ चक्र, ९ छत्र, १० चर्म, ११ मणि, १२ काकिणी, १३ खड्ग और १४ दंड।

चक्रवर्ती का सेनापति इतना कुशल होता है कि महान सेना का समुचित संचालन कर सकता है और चक्रवर्ती की सहायता बिना भी देशों को जीत सकता है। गृहपति रत्न चक्रवर्ती की सेना को इच्छित भोजन-सामग्री तथा फल फूल की व्यवस्था करता है। पुरोहित-रत्न शांतिकर्म करता है और धार्मिक क्रियाएँ कराता है। अश्व-रत्न चक्रवर्ती के बैठने के काम आता है। ऐसा अश्व दुनिया में दूसरा नहीं मिल सकता। गज रत्न उत्तम प्रकार का हाथी होता है, वह भी चक्रवर्ती के बैठने के लिए होता है। वर्धकि रत्न इमारतें, पुल, वगैरह बनाने का काम करता है। स्त्री रत्न का अर्थ चक्रवर्ती की पटरानी होने योग्य स्त्री। वह भी विशिष्ट शक्ति सम्पन्न होती है। चक्र-रत्न शत्रु की पराजय करनेवाला शस्त्र होता है। छत्र-रत्न सर के ऊपर धारण किया जाता है। चर्म-रत्न यानी चमड़े का एक विशिष्ट साधन जो कि नदी, सरोवर, वगैरह पार करने के काम आता है। इस चर्म रत्न द्वारा सारी सेना नदी वगैरह पार कर सकती है। मणि-रत्न दूर तक प्रकाश करनेवाला एक अद्भुत रत्न होता है। काकिणी रत्न यानी पत्थर तक को छेद सकनेवाली एक विशेष वस्तु। खड्ग रत्न उत्तम प्रकार की तलवार होती है और दंडरत्न एक ऐसा यंत्र होता है जो विषम भूमि को सम कर सकता है और बड़ी ही रफ्तार से जमीन खोद सकता है। इन रत्नों के द्वारा चक्रवर्ती राज्य का विस्तार कर सकता है।

नवनिधि मे शाश्वत रूप होते हैं, उनमे अनेक प्रकार की विद्याओं और वस्तुओं का वर्णन होता है। उनसे चक्रवर्ती अपने राज्य को खूब खुशहाल बना सकता है। नवनिधियों के नाम ये हैं—१ नैसर्प, २ पांडुक,

३ पिंगलक, ४ सर्वरत्न, ५ महापद्म, ६ काल, ७ महाकाल, ८ माणवक और ९ शख।

चक्रवर्ती की ६४००० स्त्रियाँ होती हैं, इस बात से कुछ लोग भड़क उठते हैं। पर, चक्रवर्ती जिन देशों को जीतता है, वहाँ की एक राजकन्या और एक दूसरी सुन्दर स्त्री इस प्रकार दो स्त्रियाँ उसे लग्नदान में दी जाती हैं। और, सब देश चूँकि ३२००० होते है, इसलिए उनकी सख्या ६४००० होती है।

इन तमाम स्त्रियों के पास चक्रवर्ती अपने दूसरे रूप करके जा सकता है चक्रवर्ती अपनी विशिष्ट शक्ति से ६४००० रूप कर सकता है।

अब चक्रवर्ती के बल पर आयें! वह कुँवा या बावड़ी के किनारे स्नान कर रहा हो, उस समय एक हाथ से रस्सी का एक सिरा पकड़े और अगर उसका दूसरा सिरा सारी सेना अपने पूर्ण बल से खींचे तो भी उसे वहाँ से हटा न सके, उसका हाथ तक न नमा सके। वह तो रस्सी का एक सिरा पकड़े हुए दूसरे हाथ से स्नान करता रहे।

शेर के सिर सवासेर होता है। कभी चक्रवर्ती से भी ज्यादा बलवान मनुष्य निकल आता है। जैसे बाहुबली में भरत चक्रवर्ती से भी ज्यादा बल था। उसके साथ द्वन्द्व युद्ध में भरत हार गये थे। परन्तु, ऐसे उदाहरणों को अपवाद समझना चाहिए।

सयमपूर्वक कठोर तपश्चर्या करने से अनेक लब्धियाँ प्राप्त होती हैं, जिससे शक्ति आश्चर्यजनक बन जाती है। महामुनि विष्णुकुमार की कथा से आपको यह बात समझ मे आ जायेगी।

तपस्वी के बल पर महामुनि विष्णुकुमार की कथा

प्राचीनकाल म हस्तिनापुर बड़ा समृद्ध नगर था। वहाँ पद्मोत्तर-नामक राजा राज करता था। उसे ज्वालारानी से दो पुत्ररत्न पैदा हुए। उसमें बड़े का नाम विष्णुकुमार था और छोटे का नाम महापद्म था।

दोनों पुत्र तेजस्वी, पराक्रमी और बुद्धिनिधान थे। कुशल आचार्यों के पास विविध विद्याएँ और कलाएँ सीखकर विद्यावत और कलावत भी हुए थे।

एक बार ज्वालादेवी ने जिनेश्वर का एक महान् रथ तैयार कराया। तब लक्ष्मी देवी नामक दूसरी रानी ने ईर्ष्यावश ब्रह्मरथ तैयार कराया। रथयात्रा का प्रसग आया। लक्ष्मीदेवी ने राजा से माँग की—"नगर मे मेरा रथ पहले चले, नहीं तो मैं अपघात कर लूँगी।" ज्वालादेवी ने कहा, "अगर मेरा रथ पहले नहीं चला तो मैं आज से ही अन्नजल का त्याग कर दूँगी।' दोनों को आग्रही देखकर राजा ने तीसरा ही मार्ग निकाला कि 'कोई रथ न निकाले।' दोनों में से कोई न झुके तो और क्या हो?

इससे महापद्मकुमार को बड़ा बुरा लगा। राज्य के कर्ता हर्ता की माता का ही रथ इस तरह रुक जाये, यह उससे सहन न हुआ। उसने उसी समय मन में सकल्प किया—"अपनी माता का रथ इस नगर में निरकुश रूप से घुमा कर रहूँगा!" और, उसी रात को वह हस्तिनापुर से चल पड़ा।

सुबह सबको खबर लगी कि, महापद्मकुमार एकाएक चला गया है। लोगों के शोक-सताप का पार न रहा। विष्णुकुमार कुछ अनुचरों को साथ लेकर उनकी तलाश में निकल पड़े। लेकिन, कुछ पता नहीं लगा। निराश होकर वापस लौट आये। तब से उनका मन विरक्त रहने लगा और वे साधु-सन्तों का विशेष समागम करने लगे।

महापद्म चक्रवर्ती बनने के लिए सिरजा गया था। इसलिए, उसकी भुजाओं में अपूर्व बल था। उसने धीरे धीरे सेना इकट्ठी की और एक के बाद एक देश जीतने लगा। इस तरह उसने ६ खड पृथ्वी जीत ली और विजय का डका बजाता हुआ हस्तिनापुर आया। पद्मोत्तर राजा उसके पराक्रम को जान गये थे। उन्होंने बड़ी शान से उसका स्वागत

किया। महापद्म ने भी हाथी के हौदे से नीचे उतर कर माता पिता के चरणों में सर झुका कर पुत्रोचित विनय प्रकट किया।

इन्हीं दिनों श्री मुनि सुव्रत स्वामी द्वारा दीक्षित सुव्रत नामक आचार्य विशाल मुनि मंडल सहित हस्तिनापुर आये। उनकी देशना सुनकर पद्मोत्तर राजा को ससार से वैराग्य हो गया। उन्होंने राजमहल मे आकर मंत्रिमंडल की बैठक बुलायी और उनके समक्ष विष्णुकुमार को गद्दी देकर दीक्षा लेने की भावना प्रकट की। परन्तु, विष्णुकुमार ने कहा—"पिताजी, मेरा मन राज्य भोगने की ओर बिलकुल नहीं है। मैं भी इस असार संसार का त्याग कर आत्मकल्याण करना चाहता हूँ। इसलिए महापद्म को ही गद्दी पर बिठाइये।"

इसलिए महापद्मकुमार का राज्याभिषेक कर दिया गया। वह भरत-खण्ड का नवाँ चक्रवर्ती बना। उसने जिनेश्वर का एक विशाल रथ बनवा कर उसे सारे नगर में फिराया और अपनी माता की इच्छा पूर्ण की। उसने नमुचि-नामक मन्त्री को अपना प्रधान मन्त्री बनाया।

कालक्रम से पद्मोत्तर मुनि व्रतों का निरतिचार पालन करके सिद्ध-बुद्ध-निरंजन हो गये। श्री विष्णुकुमार मुनि को घोर तपश्चर्या के परिणाम स्वरूप अनेक प्रकार की लब्धियाँ उत्पन्न हुईं।

एक बार सुव्रताचार्य मुनिमंडल-सहित विहार करते हुए हस्तिनापुर पधारे और श्री संघ की विज्ञप्ति से चातुर्मास किया। उनकी वाणी मे अमृत का माधुर्य एवं अद्‌भुत् आकर्षण था। शासन की प्रभावना खूब होने लगी। नमुचि को यह नहीं रुचा। धरती जब हरीभरी होने लगती है, तब जवासा सूखने लगता है।

नमुचि का पहले एक बार इन आचार्य के साथ धर्म-सम्बन्धी वाद-विवाद हुआ था और उसमें वह हार गया था। रात को वह इन आचार्य का वध करने के लिए गया, पर उसका हाथ थम गया, इसलिए मन की मैली मुराद पूरी नहीं हुई। तब से उसके मन में वैर बँध गया। बाद में

राजकीय गड़बड़ के कारण उसे उज्जयिनी छोड़कर हस्तिनापुर में आश्रय लेना पड़ा। वहाँ उसने सिंहबल नामक एक मदोद्धत राजा को वश किया; जिससे महापद्मकुमार बहुत खुश हुए और वचन माँगने के लिए कहा। वह वचन उसने अमानत रखा। अब प्रसंग आया देखकर उसने महापद्म राजा को उस वचन की याद दिलायी। राजा ने वह वचन खुशी से माँग लेने के लिए कहा। तब नमुचि ने कहा—"मुझे एक यज्ञ करना है। वह यज्ञ पूरा होने तक अपना राज्य मुझे सौंप दो।" महापद्म राजा ने राज्य नमुचि को सौंप दिया और स्वयं अन्तःपुर का आश्रय लिया।

नमुचि ने हिंसक यज्ञ शुरू किया। उस समय राज्य के मन्त्री, सेठ-साहूकार तथा विभिन्न धर्मों के आचार्य उसकी अभिषेक-विधि करने आये। पर, सुव्रताचार्य नहीं आये। इसलिए नमुचि ने उनके सामने जाकर कृत्रिम क्रोध करते हुए बोला—"राजा के आश्रम में सब धर्मों के साधु रहते हैं। राजा के द्वारा ही सब तपोवनों की रक्षा होती है, इसीलिए तपस्वी अपने तप का छठवाँ भाग राजा को देते हैं, लेकिन तुम पाखंडी लोग मेरे निन्दक हो। अभिमान से अकड़े हुए हो। राज्यविरुद्ध और लोकविरुद्ध वर्तन करने वाले हो। तुम लोग राज्य छोड़ कर फौरन् चले जाओ, वर्ना विवश होकर मुझे तुम्हारा वध करना पड़ेगा।"

सुव्रताचार्य क्षमाश्रमण थे। उन्होंने नमुचि से उत्तर में इतना ही कहा—"तुम्हारा अभिषेक हो, उस समय आना हमारा आचार नहीं है, इसलिए हम नहीं आये। वैसे हम न किसी की निन्दा करते हैं न राज्य-विरुद्ध वर्तते हैं।"

नमुचि ने कहा—"आचार्य! मैंने तुम्हारा जवाब सुन लिया है। अब अधिक कुछ बोलने की आवश्यकता नहीं है। अगर तुम यहाँ सात दिन से अधिक रहोगे तो राजाज्ञा भंग करने के लिए तुम्हें उचित दंड दिया जायेगा।" इतना कह कर वह अपने स्थान पर चला गया।

सुव्रताचार्य ने अपने मुनिमण्डल से पूछा—"ऐसे सयोग मे क्या करना चाहिये?" तब एक मुनि ने कहा—"श्री विष्णुकुमार मुनि ने छह हजार वर्ष तक उग्र तप किया है और उससे उन्हें अनेक प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त हुई हैं। इस समय वे मदराचल पर्वत पर हैं। अगर वे यहाँ आ जायें तो शान्ति हो जाये, क्योंकि वे महाराजा पद्म के बड़े भाई हैं। इसलिए नमुचि उनके वचनों का उल्लघन नहीं कर सकेगा। इसलिए जो साधु विद्यालब्धिवाला हो, वह उन्हें बुलाने जाये। श्री सघ के काम में लब्धि का उपयोग करने मं दोष नहीं है।"

यह सुनकर दूसरे मुनि ने कहा—"मैं आकाशमार्ग से मदराचल पर्वत पर जा सकता हूँ, पर आने में समर्थ नहीं हूँ। अब इस सम्बन्ध में मेरा जो कर्तव्य हो सो बताइये।"

सुव्रताचार्य ने कहा—"तुमको विष्णुकुमार मुनि वापस लायेगा, इसलिए तुम उसे बुलाने जाओ।"

गुरु की आज्ञा होते ही वह मुनि विद्याबल से मदराचल पर्वत पर पहुँचा। उसने विष्णुकुमार मुनि की वन्दना करके सब हाल उन्हें सुनाया। वे कर्तव्य का प्रसग उपस्थित देखकर कुछ ही क्षणों में मुनि के साथ हस्तिनापुर आये और अपने गुरु सुव्रताचार्य की वन्दना की और साधुओं को साथ लेकर नमुचि के पास पहुँचे।

सारी सभा ने श्री विष्णुकुमार महामुनि की वन्दना की मगर नमुचि का मस्तक जरा भी नहीं नमा। सागरसम विशाल हृदय वाले उन महामुनि ने उस तरफ लक्ष्य न देकर शात और गभीर आवाज से कहा—"हे बुद्धिमान राजा! इतने बड़े नगर में हम-जैसे कुछ भिक्षु भिक्षुक वृत्ति से रहें, इसमें तुम्हारी क्या हानि है? दूसरे, वर्षाऋतु का समय चल रहा है, उसमें मुनियों के विहार की कल्पना नहीं की जा सकती, इसलिए सब मुनि इस नगर में खुशी से रहने दिये जायें।"

परन्तु, सत्ता का नशा बहुत बुरा है। उसमें मनुष्य मान भूल जाता है और अकार्य कर बैठता है। उत्तर में नमुचि ने कहा—"मैंने आचार्य को बतला दिया है कि तुम सात दिन के अन्दर यहाँ से चले जाओ, वर्ना उसका परिणाम भोगने के लिए तैयार रहो। अपने इन शब्दों में मैं कोई फेरफार नहीं करना चाहता।"

महामुनि विष्णुकुमार अनेक प्रकार की लब्धियों से युक्त थे, पर अपने श्रमण धर्म के अनुरूप शांत रहते हुए बोले—"हे राजन्! अगर आपको हमारा नगर-निवास किसी कारण न रुचता हो तो ये मुनि नगर के बाहर उद्यान में जाकर रहें।"

यह सुनकर नमुचि ने कहा—"मैं तुम्हारी गंध भी सहन करने के लिए तैयार नहीं हूँ। अगर तुमको अपनी जान प्यारी है तो जितनी जल्दी हो सके यहाँ से चले जाओ, वर्ना मार डाले जाओगे।"

महामुनि विष्णुकुमार ने कहा—"हे राजन्! यूँ उतावले क्यों होते हो? तुमने राजसूत्र हाथ में लिया है, इसलिए न्यायनीति का पालन करने के लिए बँधे हुए हो। किसी भी निरपराध को दंड देना एक न्यायी राजा को शोभा नहीं देता। दूसरे, साधु पुरुषों के साथ तुच्छता से वर्तना भी राज्य की स्वीकृत नीति से बिल्कुल विरुद्ध है।"

पर, नमुचि को सत्ता का मद पूरा पूरा चढा हुआ था, इसलिए उसने महामुनि के सत्य और हितकारी वचनों पर ध्यान नहीं दिया। उसने उद्दण्डता से कहा—"इसके अलावा तुमको और कुछ कहना है?"

महामुनि विष्णुकुमार ने कहा—"राजन्! साधु-महात्माओं को इस तरह बिना कसूर निकाल देना किसी प्रकार उचित नहीं है। उन्हें रहने के लिए कोई-न-कोई स्थान देना चाहिए। उन्हें तीन डग स्थान रहने के लिये दो, मुझे यही कहना है।"

नमुचि ने कहा—"अच्छा, मैं तुमको तीन डग जमीन रहने के लिये देता हूँ, उसी में रहना। लेकिन, अगर कोई भी साधु उससे बाहर रहता मालूम होगा, तो उसका तत्काल शिरच्छेद कर दिया जायगा।"

महामुनि विष्णुकुमार ने कहा—"तथास्तु" (ऐसा ही हो) तब उनने वैक्रियक लब्धि के योग से अपना शरीर बढ़ाना शुरू कर दिया और देखते देखते उसे एक लाख योजन परिमाण वाले मेरु पर्वत के बराबर बना दिया और नमुचि को जमीन पर डालकर अपना एक पैर लवण-समुद्र के पूर्वी किनारे पर और दूसरा पैर पश्चिमी किनारे पर रखकर खड़े हो गये।

इस भयकर घटना ने पृथ्वी पर हाहाकार मचा दिया। यह देखकर इन्द्र ने देवागनाओं को आज्ञा की—"महामुनि विष्णुकुमार कुपित हुए हैं। तुम सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रों का भाव गायन में उतार कर उनके सामने गाओ, तब उनका कोप शात होगा। अन्यथा यह अखिल विश्व घड़ी भर में ही अभूतपूर्व विपत्ति में पड़ जायगा।"

देवागनायें उस प्रकार का गायन गाने लगीं।

इधर नमुचि अपने सिंहासन से गिरा पड़ा था और उसके मुँह से रक्त निकल रहा था। दूसरी ओर महाराजा पद्म महामुनि विष्णुकुमार से गद्गद् कंठ से प्रार्थना कर रहे थे—"हे महर्षि! हे करुणासागर! अपना कोप शात कीजिये। यह नराधम नमुचि साधु महात्माओं को सता रहा है, इसकी मुझे अभी तक खबर नहीं हुई थी। परन्तु चूँकि नमुचि मेरा सेवक है, इसलिए यह अपराध मेरा ही है। मुझे क्षमा कीजिये।"

देवों और दानवों के राजा भी ऐसी ही स्तुति कर रहे थे और सकल सघ भी उनसे शात होने की विनती कर रहा था, इसलिए महामुनि विष्णु-कुमार ने विचार किया—"श्री सघ मुझे मान्य है और मेरा भाई तथा देव दानव सब अनुकम्पा करने योग्य हैं।" उन्होंने अपने उस रूप का

संहरण कर लिया और अपने मूल स्वरूप में आ गये। फिर संघ के आग्रह से उन्होंने नमुचि को छोड़ दिया। राजा ने उसे देश निकाला दे दिया और राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली।

इस तीन कदम की घटना से महामुनि विष्णुकुमार त्रिविक्रम कहलाये और आलोचन तपश्चर्या द्वारा शुद्ध होकर केवलज्ञान पाकर मोक्ष गये।

इससे आपको आत्मा की शक्ति का अनुमान हो जायेगा। आप अक्षय-अनन्त शक्ति के भंडार हैं, यह कभी न भूलना। अगर योग्य रीति से पुरुषार्थ करेंगे, तो इस शक्ति का पूर्ण विकास कर सकेंगे। और, अपना स्थान अनन्त शक्तिशालियों की पंक्ति में अवश्य ग्रहण कर सकेंगे।

पन्द्रहवाँ व्याख्यान

आत्मसुख

[१]

महानुभावो !

हमने पचपरमेष्ठी को नमस्कार किया, ॐकार तथा गुरुदेव की वन्दना की, अब उस श्रुतसागर को भी नमन कर लें, जिसकी प्रचड पवित्र लहरें हमारे चित्त को पावन करती हैं और हमारे जीवन को धर्माभिमुख बनाती हैं। श्रुतसागर में भी हम श्री उत्तराध्ययन-सूत्र को विशिष्ट भाव से नमस्कार करें, क्योंकि उसके छत्तीसवें अध्ययन ने हमको अल्पससारी आत्मा का सुन्दर परिचय दिया है और आत्म तत्त्व की ऊँची विचारणा करने का एक अनमोल अवसर प्रदान किया है।

आज आत्म-सुख का कुछ विवेचन करना है। वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, वह आपके जीवन को सीधा स्पर्श करनेवाला है, इसलिए उसे खूब ध्यान से सुनिए और उसकी सचाई पर पूरा विचार कीजिए। तुम कहते हो, हम सुनते हैं। इस तरह काम नहीं चलेगा, कारण कि—

निष्फल श्रोता मूढ़ यदि, वक्तावचन विलास,
हाव-भाव ज्यूँ स्त्रीतणा, पति अधानी पास।

वक्ता का वचन विलास कैसा भी सुन्दर हो, लेकिन अगर श्रोता मूढ़ हों, सारा-असार का विचार करनेवाले न हों, विवेकी न हों, उपादेय को ग्रहण करने वाले न हों, तो वह वचन विलास निष्फल जाता है। किसी स्त्री का पति अधा हो तो वह उसके सामने चाहे जैसे वह हावभाव करे, सब व्यर्थ होता है।

संहरण कर लिया और अपने मूल स्वरूप में आ गये। फिर संघ के आग्रह से उन्होंने नमुचि को छोड़ दिया। राजा ने उसे देश निकाला दे दिया और राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली।

इस तीन कदम की घटना से महामुनि विष्णुकुमार त्रिविक्रम कहलाये और आलोचन तपश्चर्या द्वारा शुद्ध होकर केवलज्ञान पाकर मोक्ष गये।

इससे आपको आत्मा की शक्ति का अनुमान हो जायेगा। आप अक्षय-अनन्त शक्ति के भंडार हैं, यह कभी न भूलना। अगर योग्य रीति से पुरुषार्थ करेंगे, तो इस शक्ति का पूर्ण विकास कर सकेंगे। और, अपना स्थान अनन्त शक्तिशालियों की पंक्ति में अवश्य ग्रहण कर सकेंगे।

पन्द्रहवाँ व्याख्यान

आत्मसुख

[१]

महानुभावो !

हमने पंचपरमेष्ठी को नमस्कार किया, ॐकार तथा गुरुदेव की वन्दना की, अब उस श्रुतसागर को भी नमन कर लें, जिसकी प्रचण्ड पवित्र लहरें हमारे चित्त को पावन करती हैं और हमारे जीवन को धर्माभिमुख बनाती हैं। श्रुतसागर में भी हम श्री उत्तराध्ययन-सूत्र को विशिष्ट भाव से नमस्कार करें, क्योंकि उसके छत्तीसवें अध्ययन ने हमको अल्पसंसारी आत्मा का सुन्दर परिचय दिया है और आत्म तत्त्व की ऊँची विचारणा करने का एक अनमोल अवसर प्रदान किया है।

आज आत्म-सुख का कुछ विवेचन करना है। वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, वह आपके जीवन को सीधा स्पर्श करनेवाला है, इसलिए उसे खूब ध्यान से सुनिए और उसकी सचाई पर पूरा विचार कीजिए। तुम कहते हो, हम सुनते हैं। इस तरह काम नहीं चलेगा, कारण कि—

निष्फल श्रोता मूढ़ यदि, वक्तावचन विलास,
हाव-भाव ज्यूँ स्त्रीतणा, पति अंधानी पास।

वक्ता का वचन विलास कैसा भी सुन्दर हो, लेकिन अगर श्रोता मूढ़ हों, सारा असार का विचार करनेवाले न हों, विवेकी न हों, उपादेय को ग्रहण करने वाले न हों, तो वह वचन विलास निष्फल जाता है। किसी स्त्री का पति अंधा हो तो वह उसके सामने चाहे जैसे वह हावभाव करे, सब व्यर्थ होता है।

इतने प्रस्ताविक के साथ हम मूल विषय पर आयें। अनादिकाल से संसार-सागर में परिभ्रमण करते हुए इस आत्मा ने सुख प्राप्त करने के लिए बहुत बहुत प्रयत्न किये, फिर भी इसे सुख नहीं मिला। उसे भौतिक सुख जरूर मिलता रहा, पर आत्मिक सुख के सामने वह किस शुमार में है!

शास्त्रकार महर्षि दुनियवी सुख और आत्मिक सुख की तुलना करते हुए बताते हैं कि 'चौदह राजलोक के हर आत्मा के भोगजन्य पौद्गलिक सुख को इकट्ठा करें और दूसरी ओर आत्मा का सच्चा सुख रखें तो भौतिक सुख आत्मिक सुख के अनन्तवें भाग के बराबर भी नहीं होगा। यहाँ प्रश्न होगा कि 'दुनियवी सुख आत्मिक सुख के अनन्तवें भाग के बराबर भी क्यों न होगा ?' इसलिए कि भौतिक सुख पीतल है, आत्मिक सुख सोना! दोनों की क्या तुलना ?

दुनियादारी का सुख भ्रमपूर्ण, काल्पनिक और तुच्छ है। वह आत्मा के अनिर्वचनीय अपार सुख का अनन्तवाँ भाग भी कैसे हो सकता है ?

बहुत से छोटे बच्चे अपना अँगूठा चूसते हैं। समझते हैं कि दूध निकल रहा है, लेकिन वास्तव में तो उन्हें अपनी ही लार मिलती रहती है।

हड्डी चबाने वाला कुत्ता नहीं समझता कि खून का मजा हड्डी में नहीं, खुद के ही क्षत विक्षत तालु से मिल रहा है।

धन, वैभव, पत्नी, परिवार, मानपान, अधिकार आदि में आदमी सुख मानता है, परन्तु इन चीजों में से किसी में सुख देने की शक्ति नहीं है। मनुष्य ने उनमें सुख की कल्पना कर रखी है, इसीलिये वे सुखदायक लगती हैं। कुछ विवेचन से यह बात अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

एक आदमी बिल्कुल निर्धन था। उसे एकाएक धन प्राप्ति होने लगा और आँकड़ा पाँच लाख तक पहुँचा। इससे वह अत्यन्त आनन्दित हुआ।

पाँच लाख से बढ़कर दस लाख हो गये, उस समय उसके आनन्द का क्या पूछना! पर, कुछ दिनों बाद धन की हानि होने लगी। घटते-घटते पाँच लाख रह गये। तब वह आदमी बड़ा दुःखी हुआ और सख्त बीमार पड़ गया। पहले जिन पाँच लाख से आनन्द हुआ, अब उन्हीं पाँच लाख से दुःख हुआ! तो फर्क कहाँ पड़ा? पहले उसे लगा कि 'मेरा धन बढ़ रहा है', अब लगा कि 'धन घट रहा है।' इसलिए अन्तर केवल कल्पना का था। सुख-दुःख उसकी कल्पना के ही थे। सुख अगर पाँच लाख में होता, तो उसे अब भी होना चाहिए था।

शादी होने पर लोग खुशियाँ मनाते हैं। वर-वधू को आनन्द की सीमा नहीं होती। एक दूसरे को सुख का कारण मानते हैं, पर कुछ दिनों बाद अकिंचन बात पर झगड़ा करने लगते हैं। बोलचाल बंद हो जाती है। एक दूसरे को देखे बुरा लगता है। अगर पति और पत्नी ही सुख का कारण हों, तो दोनों मौजूद हैं। फिर भी यह हालत क्यों? भर्तृहरि को पहले पिंगला के प्रति कितना प्रेम था! लेकिन, वही पिंगला जब अश्वपालक से आसक्त हो गयी, तो भर्तृहरि का दिल टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। उसे संसार से विरक्ति हो गयी। किसी स्त्री के प्रति रागासक्त आदमी उसे देखकर जीवन को सफल मानता है, उसके संयोग में सुख मानता है, लेकिन वही आदमी जब किसी और स्त्री पर आसक्त हो जाता है, तब पहली देखे बुरी लगती है। स्त्री वही है, पर दिल बदल गया। अब प्राणप्यारी दूसरी हो गयी। इसमें क्या बदल गया, इस पर विचार कीजिये।

पुत्र जन्मने पर अत्यन्त आनन्ददायक लगता है। वही पुत्र बड़ा होकर अविनयी और उद्धत हो जाय या अपने स्वच्छन्दीवर्तन से कुल को कलंक लगावे तो पिता को कितना दुःख होता है!

पुत्र अच्छा हो, उस पर बड़ा राग हो, उसके बिना अच्छा न लगता हो, उसे देखकर आनन्द होता हो, पर किसी कारण से दूसरी शादी हो

जाये और नयी पत्नी से पुत्र उत्पन्न हो जाये, तो राग नये पुत्र पर अधिक हो जाता है और पहली स्त्री का पुत्र अप्रिय लगने लगता है। वह देखे बुरा लगता है, उसे देखकर दु ख होता है। पुत्र वही है, तो उसमें क्या बदल गया ?

धन, सम्पत्ति, पत्नी, पुत्र आदि म सुख देने की शक्ति नहीं है, लोग उनम सुख की केवल कल्पना करते हैं। इसीलिए ज्ञानियों ने इस सुख को काल्पनिक कहा है।

सासारिक सुख चिरस्थायी आनन्द नहीं दे सकते। वे केवल क्षणिक आनन्द दे सकते हैं। आपको लाख रुपया मिला, तब कितना आनन्द होता है। उतना आनन्द एक घटे के बाद भी होगा क्या ? और, एक दिन बाद, एक हफ्ते बाद, एक महीने बाद, एक वर्ष बाद कितना होगा ? कुछ नहीं ! इसीलिए ऐसे सुख को क्षणभगुर कहा गया है। ऐसे क्षण भगुर सुख को तुच्छ समझना चाहिए।

सासारिक सुख जिनके पीछे आप पागल हुए फिरते हैं और जिनके लिए रात-दिन मेहनत करते है, राग द्वेष की पैदावार है। जिस वस्तु के प्रति आपको राग होता है, उसका सयोग हो तो उसमे सुख मानते है और उसका वियोग हो, तो उसमें दु ख मानते हैं। उसी तरह जिस वस्तु के प्रति द्वेष हो उसका वियोग हो तो सुख मानते हैं और सयोग हो तो दु ख मानते हैं। लेकिन, संयोग-वियोग आपके वश म नहीं है। आपको आशा हो लाख रुपया लाभ की, पर हो जाती है हानि। इच्छित सुन्दर कन्या को ब्याहने जा रहे हों, पर उसकी अकाल मृत्यु का समाचार मिलता है। आप बीमारी से घबराते है, पर वह आकर धर दबोचती है। शत्रु के हमले और आकस्मिक आफतो को कौन चाहता है ? फिर भी, उनका आगमन होता है और आपकी सुखविषयक तमाम कल्पनाओं को वे धूल म मिला देते है।

यह याद रखिए कि, राग द्वेष की तीव्रता जितनी ज्यादा होगी उतना ही दुःख ज्यादा होगा। युगलियों को रागद्वेष की तीव्रता नहीं होती, इसलिए वे देव के समान सुख भोगते हैं और दुःख का अनुभव तो नहीं के बराबर ही करते हैं।

आप रागद्वेष घटायें, कषायों को मंद करें, तो सुख का अनुभव अवश्य कर सकते हैं। शास्त्रकारों ने कहा है 'कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव', अर्थात् कषायों को छोड़ देनेवाले को मुक्तात्मा के बराबर सुख मिलता है। 'वीतरागी सदा सुखी' इस आर्षवचन का रहस्य भी यही है।

रागद्वेष का संसर्ग आपको अनादि काल से लगा हुआ है, इसलिए वह आपका स्वभावरूप बन गया है। लेकिन, आप अगर कुछ देर के लिए इन दोनों का त्याग कर दें, और वीतरागता का अनुभव करें तो आपको उपर्युक्त वचनों की सच्चाई प्रकट हो जायेगी।

आप चतुर व्यापारी हैं। लाभ देखकर व्यापार करते हैं। फिर भी आपने पौद्गलिक सुख के बदले में आत्मसुख बेचकर गहरी मार खायी है। आपने लाख रुपये का हीरा सेरभर गुड़ के लिए बेच मारा है। फिर भी आप अपनी चतुराई का दम भरते हैं।

जब तक आप काल्पनिक, क्षणभंगुर, तुच्छ पौद्गलिक सुखों को नहीं छोड़ेंगे, तब तक आपको सच्चे आत्मसुख का स्वाद नहीं मिल सकता। भौंरे और गुबरीले का दृष्टान्त सुनिए। आपको मेरे कथन की तथ्यता समझ में आ जायेगी।

भौंरे और गुबरीले का दृष्टान्त

एक सरोवर के किनारे एक भौंरा रहता था। कुछ दूर पर एक गुबरीला भी रहता था। उन दोनों में मैत्री हो गयी। भौंरा गुबरीला के यहाँ जाया तो करता था, पर गोबर की दुर्गन्ध उससे सहन नहीं होती थी।

एक बार भौंरे ने गुबरीले से कहा—"एक बार तुम मेरे यहाँ आओ तो देखो कि मैं कैसी सुन्दर जगह रहता हूँ।"

गुबरीले ने कहा—"इस गोबर के ढेर से भी कोई सुन्दरतर स्थान हो सकता है?"

भौंरा बोला—"क्यों नहीं? चलकर देखो, कुछ देर वहाँ बैठो, तो तुम्हें मेरे कहने का विश्वास हो जायेगा।"

भौंरे के आग्रह से गुबरीला उसके यहाँ चलने को तैयार हो गया। पर, उसे गोबर बिना घड़ी भर भी नहीं चलता था। इसलिए गोबर की एक गोली मुँह में दबा ली। जिसको जो वस्तु प्रिय होती है, उसके बिना उससे रहा नहीं जाता। एक कवि ने कहा है—

'जिसका मन जिससे मिला, उसको वही सुहाय।
द्राक्षा-गुच्छ को छोड़कर, काग निबोली खाय॥'

अथवा—

'जिसको भावे सो भला, नहिं सद्गुण-आचार।
तज गजमुक्ता भीलनी, पहरे गुंजाहार॥'

गुबरीला भौंरे के यहाँ पहुँचा। भौंरे ने उसका प्रेमपूर्वक स्वागत किया और उसे एक कमल पर बिठाया। कुछ देर बाद गुबरीले से पूछने लगा—"कहो, यहाँ कैसा लगता है?" पर गुबरीले की हालत तो अजीब हो गयी थी। कमल की सुगंध के कारण उसे गोबर की दुर्गन्ध बराबर नहीं आ रही थी और गोबर की दुर्गन्ध के कारण कमल की सुगंध नहीं मिलने पा रही थी। उसे तो यही लग रहा था—"यहाँ कहाँ आ फँसा! इससे मेरा ही स्थान हजार दर्जे बेहतर था।" इसलिए उसने कहा—"मित्र! अब मुझे अनुमति दीजिए!"

भौंरे को गुबरीले की जाने की जल्दबाजी समझ में न आयी। पर, जरा ध्यान से अवलोकन करने पर कारण समझ गया। बोला—"पहले

वह थूक दो जोकि तुमने मुँह मे दबा रखा है।" फिर उसने उसे सरोवर में कुल्ला स्नान कराया और फिर कमल पर बिठाया।

अब गुबरीले को कमल की सुगध आने लगी और उसे स्वर्गीय सुख का अनुभव होने लगा। कुछ देर बाद भौंरे ने पूछा—"क्यों मित्र? क्या अब भी घर जाना चाहते हो?" गुबरीला बोला—"ऐसा बेवकूफ कौन होगा जो ऐसे स्वर्ग को छोड़ कर नरक में जायेगा?"

सगे सम्बन्धी, साधन सम्पत्ति, अधिकार कीर्ति आदि का मोह गोबर की गोली जैसा है। वह आपको आत्मसुख रूपी कमल की सुगध नहीं लेने देता। जब आप इस गोली को दूर कर देंगे, तभी कमल की सुगन्ध ले सकेंगे।

पौद्गलिक सुख से अनासक्त हो जाने पर आपको आत्मसुख की तीव्र अनुभूति विद्युत्वेग से होने लगेगी।

नकली सुख के ध्यान में डूबे रहने के कारण, हमें असली सुख की ओर देखने की भी फुरसत नहीं मिलती। परन्तु, इस नकली सुख का परिणाम दुःख है।

'पूत के पैर पालने में दिख जाते हैं'—यह कहावत तो आप जानते ही हैं। अंग्रेजी में भी एक कहावत है कि 'आनेवाली घटनायें अपनी छाया पहले डालने लगती हैं।' सासारिक, नकली, सुख अगर वर्तमान काल में ही दु ख देता हो तो भविष्य में वह क्या क्या न करेगा?

आदमी स्वाद के वशीभूत होकर ठूँस ठूँस कर खाता है। फिर अजीर्ण के कारण खाना छोड़ना पड़ता है और रोगजन्य पीड़ा भोगनी पड़ती है। वैद्य डॉक्टर का आश्रय लेना पड़ता है। दु ख सहन करना पड़ता है और पैसा भी बिगाड़ना पड़ता है। वस्त्राभूषण का आनन्द अधिक लेने म गुडों का शिकार होना पड़ता है। सत्ता का सुख भोगने में दुश्मन की फिक्र सदा बनी रहती है और उपाधियाँ एक के बाद एक

आती ही रहती है। ऐसो को मना मन रुई की रेशमी गद्दी भी आनन्द नहीं दे पाती। अक्सर वह धगधगाती चिता-सी लगती है।

शास्त्रकारों ने सांसारिक सुख को, इस विषय-सुख को, मधुलिप्त असि धारा के समान, तलवार की धार पर लगे हुए शहद को चाटने के समान, बताया है।

आदमी अनुकूल विषय से राग करता है, प्रतिकूल विषय से द्वेष करता है। यही सारी खराबी की जड़ है। तीखा खानेवाले को अलोना मिले और अलोना खानेवाले को तीखा मिले, अथवा ठंडा चाहने वाले को गरम मिले और गरम चाहने वाले को ठंडा मिले तो दु ख होता है। पर, जिसे तीखा और अलोना, ठंडा और गरम समान है, किसी पर आसक्ति नहीं, उसे कुछ भी मिले कोई दु ख नहीं होगा।

लोग अनुकूल मानी हुई चीज को पाने के लिए और प्रतिकूल मानी हुई वस्तु को दूर करने के लिए अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ करते हैं और उसमें प्राणातिपात से लगाकर मिथ्यात्व शल्य तक के पापस्थानों का सेवन करते है। क्या यह स्थिति शोचनीय नहीं है?

अनुभवियों ने बारम्बार कहा है—"जितना भोग, उतना रोग।" फिर भी भोगासक्ति कम नहीं होती। अगर, आपको रोग-व्याधि-आतक से बचना हो, दु:खी न होना हो, तो भोग की तृष्णा को भेद डालो, छेद डालो। हम समझते हैं कि, हम भोग भोगते हैं, पर सच तो यह है कि भोग हमें भोग डालते हैं। इसीलिए भर्तृहरि-जैसे विरागी महात्मा को कहना पड़ा कि—'**भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता !**'

सांसारिक सुख का लोभी जीव ऐसे चिकने कर्म बाँधता है कि, उनका फल भोगने के लिए उसे नरक-निगोद म पैदा होना पड़ता है, तिर्यंच योनि मे भ्रमना पड़ता है और मनुष्यादि योनियों में भी बहुत प्रकार के दु ख भोगने पड़ते हैं। सांसारिक सुखों के मजे उड़ाने म 'लेने

गयी पूत और खो आयी खसम'—जैसी हालत होती है और बेहद विड म्बना होती है।

जिसे हम 'सुखी ससार' कहते हैं, उसके भीतर कितनी उलझनें और कितनी कठिनाइयाँ होती है और कितने दु ख की आग धधकती रहती है, इसका अनुमान आपको 'सेठ सेठानी की बात' से हो जायेगा।

सेठ-सेठानी की बात

एक सेठ का कारबार बहुत फैला हुआ था। वह उसमें व्यस्त रहता। उसे एक घड़ी की भी फुरसत न मिलती। उधर घर पर सेठानी को कोई खास काम नहीं। घर का सारा काम काज नौकर करते, इसलिए वही फुरसत में रहती। गुजराती में एक कहावत है, जिसका तात्पर्य यह है कि 'निठल्ला आदमी स्व-पर घाती होता है।'

निठल्ली होने के कारण सेठानी भटकने लगी। सेठ आवे दस बजे, सेठानी आवे बारह बजे। स्वभाव से सेठ नम्र था, सेठानी उग्र, इसलिए बेचारा कुछ कह न सके। झगड़े से घर के दोष जाहिर हो जाने और इज्जत आबरू धूल म मिल जाने का भी डर था ही। सेठ कभी-कभी परोक्ष रूप से उसे समझाता, पर वह स्वेच्छाचार से ऐसी उद्धत हो गयी थी कि समझाने का कोई असर न पड़ता। एक दिन हिम्मत करके सेठ ने दरवाजे की साँकल लगा दी और स्वय अन्दर सो गया।

अपने वक्त पर सेठानी आयी। दरवाजे को धक्का मारा, पर दरवाजा नहीं खुला। सोचने लगी—"आज यह क्या? धनी की तो हिम्मत नहीं हो सकती थी। मालूम होता है किसी ने उसे चढा दिया। लेकिन, कुछ फिक्र नहीं, मै सब देख लूँगी।" उसने बुलन्द आवाज से कहा—"दरवाजा खोलो।" सेठ ने जवाब दिया—"दरवाजा नहीं खुलेगा। ऐसे घूमना-फिरना बन्द कर और लिखकर दे कि अब कभी घूमने-फिरने नहीं जाऊँगी तभी दरवाजा खुलेगा।"

सेठानी को स्वच्छन्द विहार का चटखारा लगा हुआ था, दूसरे सिर-फिरी, शर्त क्या कबूल करती !

इधर सेठ भी आन पर आ गया था। बड़ी रकझक के बाद भी उसने दरवाजा नहीं खोला। तब सेठानी ने कहा—"दरवाजा खोलो, नहीं तो मैं कुँए में गिर मरूँगी, लेकिन तुम्हे लिखकर तो दूँगी नहीं।'

पास ही कुँआ था। सेठ यह सोचकर कि कहीं सचमुच अपघात न कर बैठे, ढीला पड़ गया। उधर सेठानी ने एक बड़ा पत्थर उठा कर कुँए में पटका। उसका आवाज कान में पड़ते ही सेठ ने समझा कि सचमुच गिर गयी, इसलिए दरवाजा खोलकर कुँए की तरफ लपका।

इधर सेठानी कुँए में पत्थर डालकर छुपे-छुपे घर के पास आ गयी थी और दीवार की आड़ में खड़ी हो गयी थी। दरवाजा खुला देखकर वह अन्दर घुस ही गयी और उसने अंदर से दरवाजा बन्द कर लिया। उसकी आवाज कान में पड़ते ही सेठ दौड़ता हुआ वापस आया। उसने सेठानी से दरवाजा खोलने के लिए कहा। पर, अब सेठानी का हाथ ऊपर था। बोली—"सारी रात घूमते हो और जागरण कराते हो ! शर्म नहीं आती !! अब तो लिखकर दोगे कि इस तरह कभी बाहर नहीं फिरोगे, तभी दरवाजा खुलेगा !"

इसे कहते हैं—"चोरी और सीनाजोरी !" अपराधी स्वय है और दबाती जा रही है सेठ को ! "उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे !"

सेठ ने बड़ी अनुनय-विनय की, पर सेठानी न मानी। इतनी रात गये कोई सुन न ले इस ख्याल से सेठ धीमे बोलता है तो सेठानी का स्वर ऊँचा होता जाता है। यह हालत देखकर सेठ ने कहा—"तूने कुँए में गिरने का ढोल करके मुझे चकमा दिया, पर मैं सचमुच कुँए म गिरता हूँ। ऐसी जिन्दगी से तो मर जाना अच्छा !" यह कहकर वह कुँए की तरफ बढ़ने लगा।

सेठानी का विचार सेठ को नमाने का था, पर विधवा होने का नहीं था, इसलिए उसने दरवाजा खोल दिया और दौड़कर सेठ को कुँए की तरफ जाने से रोका। फिर हाथ-पैर पड़कर सेठ को घर म ले आयी। लेकिन, रस्सी जल जाये तो भी उसकी ऐंठन नहीं जाती। वह सेठ से कहने लगी—"तुम्हें लिखकर देने म क्या ऐतराज है? सिर्फ इतना लिख दो कि भविष्य म मैं रात को नहीं घूमा करूँगा!"

सेठ बड़ा सरल था, स्वभाव से नम्र था, इसीलिए सेठानी ने यूँ कहने की हिम्मत की। लेकिन, सेठ को तो अब यह झगड़ा किसी तरह शात करना था, इसलिए उसने लिखकर सेठानी को दे दिया।

सेठ की इस भलमनसाहत से सेठानी के दिल पर बड़ा असर पड़ा। उसने तुरन्त वह कागज फाड़ डाला और सेठ के पैर पकड़ लिये। अपनी भूल की माफी माँगी। फिर दोनों ने गुरु महाराज के पास जाकर सदाचार के व्रत लिये।

उसके बाद सेठानी कभी स्वच्छन्द विचरने नहीं गयी, और पति की भलीभाँति सेवा करने लगी।

तथाकथित 'सुखी ससार' का भीतरी दृश्य क्या है, यह हम इस बात से जान सकते हैं।

सासारिक सुखों की सब से बड़ी खराबी यह है कि उसकी लालसा में लिपटे हुए जीव को बारबार आर्तध्यान होता रहता है और उससे रौद्रध्यान भी उत्पन्न होता है। ये दोनों ध्यान दुर्गति के कारण हैं। भगवत श्री हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र के नवें प्रकाश में कहा है कि—

नाऽसद् ध्यानानि सेव्यानि, कौतुकेनाऽपि किंत्विह।
स्वनाशायैव जायन्ते, सेव्यमानानि तानि यत्॥

—कौतुक के लिए भी असद् ध्यानों का आलम्बन नहीं लेना चाहिये, क्योंकि उनके सेवन से अपना ही विनाश होता है।

सेठानी को स्वच्छन्द-विहार का चटखारा लगा हुआ था, दूसरे सिर-फिरी, शर्त क्या कबूल करती !

इधर सेठ भी आन पर आ गया था। बड़ी रकझक के बाद भी उसने दरवाजा नहीं खोला। तब सेठानी ने कहा—"दरवाजा खोलो, नहीं तो मैं कुँए में गिर मरूँगी, लेकिन तुम्हें लिखकर तो दूँगी नहीं।'

पास ही कुँआ था। सेठ यह सोचकर कि कहीं सचमुच अपघात न कर बैठे, ढीला पड़ गया। उधर सेठानी ने एक बड़ा पत्थर उठा कर कुँए में पटका। उसका आवाज कान में पड़ते ही सेठ ने समझा कि सचमुच गिर गयी, इसलिए दरवाजा खोलकर कुँए की तरफ लपका।

इधर सेठानी कुँए में पत्थर डालकर छुपे-छुपे घर के पास आ गयी थी और दीवार की आड़ में खड़ी हो गयी थी। दरवाजा खुला देखकर वह अन्दर घुस ही गयी और उसने अंदर से दरवाजा बन्द कर लिया। उसकी आवाज कान में पड़ते ही सेठ दौड़ता हुआ वापस आया। उसने सेठानी से दरवाजा खोलने के लिए कहा। पर, अब सेठानी का हाथ ऊपर था। बोली—"सारी रात घूमते हो और जागरण कराते हो ! शर्म नहीं आती !! अब तो लिखकर दोगे कि इस तरह कभी बाहर नहीं फिरोगे, तभी दरवाजा खुलेगा !"

इसे कहते हैं—"चोरी और सीनाजोरी !" अपराधी स्वयं है और दबाती जा रही है सेठ को ! "उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे !"

सेठ ने बड़ी अनुनय-विनय की, पर सेठानी न मानी। इतनी रात गये कोई सुन न ले इस ख्याल से सेठ धीमे बोलता है तो सेठानी का स्वर ऊँचा होता जाता है। यह हालत देखकर सेठ ने कहा—"तूने कुँए में गिरने का ढोंग करके मुझे चकमा दिया, पर मैं सचमुच कुँए में गिरता हूँ। ऐसी जिन्दगी से तो मर जाना अच्छा !" यह कहकर वह कुँए की तरफ बढ़ने लगा।

सेठानी का विचार सेठ को नमाने का था, पर विधवा होने का नहीं था, इसलिए उसने दरवाजा खोल दिया और दौड़कर सेठ को कुँए की तरफ जाने से रोका। फिर हाथ-पैर पड़कर सेठ को घर में ले आयी। लेकिन, रस्सी जल जाये तो भी उसकी ऐंठन नहीं जाती। वह सेठ से कहने लगी—"तुम्हें लिखकर देने में क्या ऐतराज है? सिर्फ इतना लिख दो कि भविष्य में मैं रात को नहीं घूमा करूँगा!"

सेठ बड़ा सरल था, स्वभाव से नम्र था, इसीलिए सेठानी ने यूँ कहने की हिम्मत की। लेकिन, सेठ को तो अब यह झगड़ा किसी तरह शांत करना था, इसलिए उसने लिखकर सेठानी को दे दिया।

सेठ की इस भलमनसाहत से सेठानी के दिल पर बड़ा असर पड़ा। उसने तुरन्त वह कागज फाड़ डाला और सेठ के पैर पकड़ लिये। अपनी भूल की माफी माँगी। फिर दोनों ने गुरु महाराज के पास जाकर सदाचार के व्रत लिये।

उसके बाद सेठानी कभी स्वच्छन्द विचरने नहीं गयी, और पति की भलीभाँति सेवा करने लगी।

तथाकथित 'सुखी संसार' का भीतरी दृश्य क्या है, यह हम इस बात से जान सकते हैं।

सांसारिक सुखों की सब से बड़ी खराबी यह है कि उसकी लालसा में लिपटे हुए जीव को बारबार आर्तध्यान होता रहता है और उससे रौद्रध्यान भी उत्पन्न होता है। ये दोनों ध्यान दुर्गति के कारण हैं। भगवत श्री हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र के नवें प्रकाश में कहा है कि—

नाऽसद् ध्यानानि सेव्यानि, कौतुकेनाऽपि किंत्विह।
स्वनाशायैव जायन्ते, सेव्यमानानि तानि यत्॥

—कौतुक के लिए भी असद् ध्यानों का आलम्बन नहीं लेना चाहिये, क्योंकि उनके सेवन से अपना ही विनाश होता है।

उसके राज्य के हर घर से हम दोनों को एक दिन का भोजन और एक मोहर दक्षिणा मिले ।'

ब्राह्मण पत्नी की इस बुद्धि से खुश हुआ और उसने वहाँ जाकर यही माँगा। इसपे ब्रह्मदत्त को हँसी आ गयी—"इस ब्राह्मण ने माँगा भी तो क्या माँगा !" उसने ब्राह्मण की माँग स्वीकार कर ली।

पहले दिन ब्राह्मण और उसकी पत्नी चक्रवर्ती के यहाँ जीमे। विविध प्रकार के अत्यन्त स्वादिष्ट व्यञ्जन थे। इस प्रकार का भी दुनिया में भोजन होता है, यह उन्होंने पहली ही बार जाना। ऐसे आरोग्यकर भोजन से उनके बत्तीस कोठे रोशन हो गये ! भोजन के बाद एक मोहर दक्षिणा लेकर वे घर आये।

दूसरे दिन प्रधान मन्त्री का नम्बर आया, फिर मन्त्रियों का, अमलदारों का, श्रीमतों का नम्बर आया और, अन्त में सामान्य नागरिकों का नम्बर आया। पर, ब्राह्मण दम्पति को ये सब भोजन फीके लगे, क्योंकि उनकी डाढ में चक्रवर्ती के भोजन का स्वाद रह गया था।

आत्मा का ऐसा सुख कैसे प्राप्त होता है, हमें यह आपको समझना है। उसका जो मार्ग ज्ञानी महाराज ने दिखाया है, उसे बाद में समझायेंगे।

***

सोलहवाँ व्याख्यान

आत्मसुख

[२]

महानुभावो !

सर्व अरिहत देव, सर्व सिद्ध परमात्मा, सर्व आचार्य भगवत, सर्व उपाध्याय भगवत और सर्व साधु भगवत हमारा कल्याण करें। उनके अचिन्त्य प्रभाव से ही इस जगत् में सब प्राणियों को सुख देनेवाला धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन और सचालन हो रहा है।

धर्मतीर्थ में प्रवचन की प्रधानता है, कारण कि उसके पुष्ट आलम्बन से ही साधु-साध्वी-श्रावक श्राविका-रूप चतुर्विध-सघ इस ससार-पारावार को पार करने के लिए शक्तिमान होता है।

इस प्रवचन-रूपी महावृक्ष की बहुत-सी शाखा प्रशाखाएँ हैं। उनमें से एक शाखा है, श्रीउत्तराध्ययनसूत्र। उसकी छत्तीस प्रशाखाओं में छत्तीसवीं प्रशाखा ने हमें अल्पससारी आतमा का वर्णन रूप सुन्दर फल प्रदान किया और हमने उसका आत्म-तत्त्व विचार रूपी मधुर रस चखा। आज के मगल अवसर पर हम उसका अभिवादन करें!

आत्मा के विषय म यह व्याख्यान अन्तिम है। इसमें मुख्यत आत्म-सुख प्राप्ति की विचारणा है, इसलिए आप अपनी चित्तवृत्ति का प्रवाह इसी तरफ प्रवाहित करें।

शास्त्रकार भगवत ने चार दुर्लभ वस्तुओं में श्रुति यानी शास्त्रश्रवण की भी गणना की है, इसलिए आप शास्त्रश्रवण के योग को कोई साधा-रण वस्तु न समझें। जब रागादि दोषों की परिणति मद होती है, कषायों

का जोर ढीला पड़ा होता है और कल्याण की कामना प्रकटित होती है; तभी सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रों के सुनने की जिज्ञासा होती है और प्रबल पुण्य के उदय से ही सुनानेवाले सद्गुरु का योग प्राप्त होता है।

अल्प-ससारी आत्मा का प्रथम लक्षण जिनवचन की अनुरक्तता है। आपको जिनवचन प्रवचन मे रस आता हो और उसे सुनने की आकांक्षा सदैव रहती हो तो आप अवश्य ही अल्प ससारी हैं, आपका समरण बहुत थोड़ा बाकी रहा है, आपके आत्मविकास का अरुणोदय हो गया है। पौद्गलिक सुख काल्पनिक हैं, नकली हैं, क्षणिक है, तुच्छ हैं, निकृष्ट हैं, निस्सार हैं, यह बात कल हमने विस्तार से समझायी थी। उन्हें छोड़े बिना सच्चे आत्मसुख की प्राप्ति नहीं होनेवाली, यह मैंने भलीभाँति समझाने की चेष्टा की थी।

आत्म-सुख प्राप्त करने के लिए पहली आवश्यकता मानसिक शांति की है। लेकिन, आजकल तो ऐसी स्थिति नजर आती है, मानो उसका दुष्काल पड़ गया हो। मन्त्री से लेकर चपरासी तक और सेठ से लेकर मजदूर तक किसी को शांति नहीं है। जो दस हजार रुपये महीने कमा रहा है, वह भी हाय-हाय कर रहा है और जो पाँच सौ कमा रहा है उसके पीछे भी बलायें लगी हुई हैं। दस हजार की आमदनी वाला भी दौड़ा दौड़ी कर रहा है और लाखों के वारे न्यारे करनेवाला भी चिन्ता से मुक्त नहीं है। लोग झखना करते हैं शांति की, पर जीवन का सरजाम इस तरह कर रखा है कि, जिसमें शांति के दर्शन हों ही नहीं। इस सारी परिस्थिति को सुधारना आवश्यक है।

जब हमें किसी वस्तु के पाने की इच्छा हो जाती है, तो जब तक वह वस्तु मिल नहीं जाती हमें शांति नहीं मिलती, और उस वस्तु के मिलते ही तुरत दूसरी चीज पाने की इच्छा पैदा हो जाती है, इसलिए मिली हुई शांति नहीं टिकती। इस प्रकार इच्छा और पूर्ति, पूर्ति और इच्छा का चक्र सदा चलता रहता है, इसलिए शाश्वत शांति मिल ही नहीं पाती।

आपका लड़का स्कूल जाता हो, तो फिक्र रहती है कि मैट्रिक कब पास होगा ? पास हो गया कि फौरन चिन्ता होने लगती है कि इसे किसी अच्छे कॉलेज में दाखिला कैसे मिले ? अच्छे कॉलेज म दाखिल हो गया और पढाई चलने लगी तो यह फिक्र छाई रहती है कि ग्रेज्युएट कब होगा ? ग्रेज्युएट हो गया कि चिन्ता होने लगी कि इसे नौकरी कहाँ मिलेगी ? या, व्यापार म स्थिर कब होगा ? नौकरी धन्धे में जम गया तो फिक्र आयी कि इसे अच्छे घर की सुशील कन्या कब मिलेगी ? अच्छे घर की सुशील कन्या मिल गयी और विवाह धूमधाम से हो गया तो तुरन्त यह चिन्ता लग जाती है कि इसका गृहसंसार कैसा चलेगा ? संसार अच्छा चलने लगा तो फिक्र होती है कि इसके यहाँ लड़का कब होगा ? यूँ एक के बाद एक चिन्ता लगी ही रहती है।

आप यह मानते हैं कि अब यह सुख मिला, वह सुख मिला, पर वहाँ आपके दूसरे कल्पित सुख चले जाते हैं और आपकी स्थिति मेंढकों से धड़ा करनेवाले बनिये की-सी हो जाती है।

मेंढकों से धड़ा करनेवाले बनिये का दृष्टान्त

एक बनिया ग्वारी वालों की बस्ती से घी लेने गया। उसे पाँच सेर घी लाना था, इसलिए साथ पसेरी ले ली, पर कोई छोटे-बड़े बाट नहीं लिए। घी तपेली म लेना था, इसलिए उसका धड़ा करना था। लेकिन, वहाँ धड़ा करने के लिए कोई चीज नजर नहीं पड़ी। उसकी तलाश में वह ग्वाड़ीवाड़े मे कुछ ही दूर गया था कि, उसे एक पोखर के किनारे मेंढक कूदते हुए दिखायी दिये। बनिया कुछ मेंढक पकड़कर कपड़े में बाँधकर ले आया और उनसे तपेली का धड़ा करने लगा। तपेली के वजन का अन्दाजा लगाकर उसने ६ मेंढक रखे। पर, वह कम पड़े। उसने तराजू नीचे रखकर दो मेंढक और निकाले। लेकिन, इतनी देर में तो तराजू से तीन मेढक कूदकर बाहर निकल कर छिप गये।

बनिया उन तीन मेंढकों को लेने दौड़ा, तो वहाँ दूसरे दो तीन मेंढक भाग निकले। इस तरह बनिया भागे हुए मेंढकों को लाता जाये और लाये हुए भागते जायें। यही क्रम चलता रहा। आखिरकार उसे मेंढकों से घड़ा करने का विचार उठाकर ताक पर रख देना पड़ा और रोड़े पत्थर लाकर अपना काम करना पड़ा।

तात्पर्य यह है कि, ससार के सुख मेंढक के घड़े के समान हैं। वे पर्याप्त परिमाण में कभी मिल नहीं पाते। दो सुख मिलते हैं, तो एक चला जाता है, एक मिलता है तो दो चले जाते हैं। इसी तरह चलता रहता है। इसीलिए सासारिक सुखों म सलग्न चित्त को शाति नहीं मिल पाती।

परन्तु ऐसे सयोगों में शाति का अनुभव किस प्रकार हो, यह हम आपको बताना चाहते हैं। आपको जो शरीर, रूप, स्थिति, सयोग मिले हों, उनमें सन्तोष मानना सीखो।

कर्म-सिद्धान्त बतलाता है कि आत्मा को पूर्वकृत कर्मानुसार गति (नरकादि), शरीर, इन्द्रियाँ, रूप, रग, कुल-कुटुम्ब (गोत्र) प्राप्त होते हैं। अर्थात् अपने किये हुए कर्म भोगने पड़ते हैं। कर्मफल को शाति मे सह लेना ही हितकर है।

मनुष्य को अपना जीवन चलाने के लिए किसी-न किसी प्रकार का पुरुषार्थ तो करना ही पड़ता है, लेकिन बहुत बार उसमे निर्धारित फल नहीं मिलता। इससे लोग हताश-निराश हो जाते हैं और बड़ी अशान्ति भोगते हैं। उन्हें सोचना चाहिए कि, योग्य पुरुषार्थ करना तो हमारा फर्ज है ही, परन्तु फल प्राप्ति में भाग्य (पूर्वकृत कर्मों) का भी हाथ रहता है। इसलिए अगर फल मे कमी या आधिक्य हो, तो विषाद-हर्ष नहीं होना चाहिए।

नित नयी इच्छायें करते रहना, अनेक प्रकार की लालसाएँ रखना, तृष्णा का तार झनझनाता रखना और वह पूर्ण न हो तो हायतोबा मचाना, इससे तो अच्छा यह है कि तृष्णा को तिलाञ्जलि ही दे दी जाये।

आर्य महापुरुषों ने हमें इच्छानिरोध, तृष्णात्याग और सन्तोष का सन्देश दिया है। तदनुसार जीवन व्यवहार चलायें तो दुःख या अशांति का अनुभव कभी न हो। लेकिन, आज इस सन्देश की अवगणना हो रही और भौतिकवादी सिद्धान्त 'खूब कमाओ और खूब खाओ', 'इच्छाओं को बढाओ और उनकी तृप्ति करो' की ओर लोकप्रवाह मुड़ता जा रहा है। उसी का फल है कि अशांति बढती जा रही है। एक ओर धन का अति सञ्चय और दूसरी तरफ धन का अत्यन्त अभाव देखा जाता है। बेकारी और गरीबी के कारण हड़ताल, प्रदर्शन, उपद्रव आदि बढ़ते जा रहे हैं। समाज का एक भाग परिग्रह महापाप और अतिभोग से पीड़ित है तो दूसरा भाग अभाव, गरीबी और दरिद्रता से पिसता जा रहा है।

ज्यादा पैसा मिलने से आदमी सुखी होगा यह मानना सरासर भ्रान्ति है। नासमझ लोगों के हाथ में अधिक धन आ जाने पर उसका कैसा दुरुपयोग होता है यह सब जानते हैं। जरूरत तो समझदारी और सन्तोष प्राप्त करने की है। अगर सन्तोष हो तो आदमी किसी भी परिस्थिति म आनन्द मना सकता है। एक कवि ने कहा है कि—

सर्पा पिबन्ति पवन न च दुर्बलास्ते,
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिना भवन्ति।
वन्यै· फलैर्मुनिवरा गमयन्ति कालं,
सन्तोष एव पुरुषस्य पर निधानम्॥

—(सर्प मात्र पवन का भक्षण करके रहते हुए भी दुर्बल नहीं होते, वन के हाथी मात्र सूखी घास खाते रहने पर भी बलवान होते हैं और ऋषिमुनि मात्र कन्द और फूल खाकर समय गुजारते हैं, फिर भी

बनिया उन तीन मेंढकों को लेने दौड़ा, तो वहाँ दूसरे दो तीन मेंढक भाग निकले। इस तरह बनिया भागे हुए मेंढकों को लाता जाये और लाये हुए भागते जायँ। यही क्रम चलता रहा। आखिरकार उसे मेंढकों से घड़ा करने का विचार उठाकर ताक पर रख देना पड़ा और रोड़े पत्थर लाकर अपना काम करना पड़ा।

तात्पर्य यह है कि, संसार के सुख मेंढक के घड़े के समान हैं। वे पर्याप्त परिमाण में कभी मिल नहीं पाते। दो सुख मिलते हैं, तो एक चला जाता है, एक मिलता है तो दो चले जाते हैं। इसी तरह चलता रहता है। इसीलिए सांसारिक सुखों में संलग्न चित्त को शांति नहीं मिल पाती।

परन्तु ऐसे संयोगों में शांति का अनुभव किस प्रकार हो, यह हम आपको बताना चाहते हैं। आपको जो शरीर, रूप, स्थिति, संयोग मिले हों, उनमें सन्तोष मानना सीखो।

कर्म-सिद्धान्त बतलाता है कि आत्मा को पूर्वकृत कर्मानुसार गति (नरकादि), शरीर, इन्द्रियाँ, रूप, रंग, कुल-कुटुम्ब (गोत्र) प्राप्त होते हैं। अर्थात् अपने किये हुए कर्म भोगने पड़ते हैं। कर्मफल को शांति से सह लेना ही हितकर है।

मनुष्य को अपना जीवन चलाने के लिए किसी-न किसी प्रकार का पुरुषार्थ तो करना ही पड़ता है, लेकिन बहुत बार उससे निर्धारित फल नहीं मिलता। इससे लोग हताश-निराश हो जाते हैं और बड़ी अशान्ति भोगते हैं। उन्हें सोचना चाहिए कि, योग्य पुरुषार्थ करना तो हमारा फर्ज है ही, परन्तु फल प्राप्ति में भाग्य (पूर्वकृत कर्मों) का भी हाथ रहता है। इसलिए अगर फल में कमी या आधिक्य हो, तो विषाद-हर्ष नहीं होना चाहिए।

नित नयी इच्छायें करते रहना, अनेक प्रकार की लालसाएँ रखना, तृष्णा का तार झनझनाता रखना और वह पूर्ण न हो तो हायतोबा मचाना, इससे तो अच्छा यह है कि तृष्णा को तिलाञ्जलि ही दे दी जाये।

आर्य महापुरुषों ने हमें इच्छानिरोध, तृष्णात्याग और सन्तोष का सन्देश दिया है। तदनुसार जीवन व्यवहार चलायें तो दुःख या अशांति का अनुभव कभी न हो। लेकिन, आज इस सन्देश की अवगणना हो रही और भौतिकवादी सिद्धान्त 'खूब कमाओ और खूब खाओ', 'इच्छाओं को बढ़ाओ और उनकी तृप्ति करो' की ओर लोकप्रवाह मुड़ता जा रहा है। उसी का फल है कि अशांति बढ़ती जा रही है। एक ओर धन का अति सचय और दूसरी तरफ धन का अत्यन्त अभाव देखा जाता है। बेकारी और गरीबी के कारण हड़ताल, प्रदर्शन, उपद्रव आदि बढ़ते जा रहे हैं। समाज का एक भाग परिग्रह महापाप और अतिभोग से पीड़ित है तो दूसरा भाग अभाव, गरीबी और दरिद्रता से पिसता जा रहा है।

ज्यादा पैसा मिलने से आदमी सुखी होगा यह मानना सरासर भ्रान्ति है। नासमझ लोगों के हाथ में अधिक धन आ जाने पर उसका कैसा दुरुपयोग होता है यह सब जानते हैं। जरूरत तो समझदारी और सन्तोष प्राप्त करने की है। अगर सन्तोष हो तो आदमी किसी भी परिस्थिति म आनन्द मना सकता है। एक कवि ने कहा है कि—

सर्पा पिबन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते,
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिना भवन्ति।
वन्यै फलैर्मुनिवरा गमयन्ति कालं,
सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ॥

—(सर्प मात्र पवन का भक्षण करके रहते हुए भी दुर्बल नहीं होते, वन के हाथी मात्र सूखी घास खाते रहने पर भी बलवान होते हैं और ऋषिमुनि मात्र कन्द और फूल खाकर समय गुजारते हैं, फिर भी

सुखी रहते हैं। इस प्रकार सन्तोष ही पुरुष का परम निधान है, महान पूँजी है।

मनुमहाराज, जिन्होंने स्मृति अर्थात् हिन्दूधर्म का कानून लिखा, कहते हैं कि—

सन्तोषं परमास्थाय, सुखार्थी संयतो भवेत्।
सुखं सन्तोषमूलं हि, दुःखमूलं विपर्ययः॥

—सुख का मूल सन्तोष है और दुःख का मूल तृष्णा है। इसलिए सुख चाहनेवालों को सन्तोष का आश्रय लेकर संयमी बनना चाहिए।

सन्तोषी रोज का रोज कमाये तो भी सुखी होता है, लेकिन असन्तोषी धन का ढेर रखे हुए भी दुःखी होता है। सन्तोषी अकेला हो, कोई सगासम्बन्धी न हो तो भी मस्त होता है और असन्तोषी बहुत से सगे-सम्बन्धी और मित्रों के होते हुए भी दुःखी होता है।

किसी दुःख, कष्ट या आपत्ति के आने पर आप घबरा जाते हैं और आपका मन अस्वस्थ बन जाता है। लेकिन, उस वक्त आप ऐसा विचार करें—"हे जीव! यह दुःख, कष्ट या आपत्ति बिना बुलाये नहीं आयी। तूने अपने पूर्व कर्मों द्वारा उसे आमन्त्रण दे रखा था, इसीलिए आयी है। तो अब उसका स्वागत कर, घबराकर दूर न भाग। दुःख तो वासुदेव, चक्रवर्ती और तीर्थंकरों को भी आते हैं, तू क्या चीज है? तू इन सब दुःखों को शान्ति से सहन कर ले, ताकि नया कर्मबन्धन न हो।"

ऐसा विचार करने से आपका मन शान्त रहेगा और दुःख दुःखरूप नहीं लगेगा।

पुद्गल की ओर आप क्यों आकृष्ट होते हैं? वह आपका सगा नहीं, पक्का विरोधी है, घोर शत्रु है। उसने आपको इतना भटकाया है, इतना दुःख दिया है, फिर भी आप उसका संग क्यों नहीं छोड़ते?

कामवासना कामसेवन से बढ़ती है, घटती नहीं। शास्त्रकारों ने कामवासना को अग्नि की उपमा दी है। उसमें भोगरूपी घी

डालते रहोगे तो यह भड़कती रहेगी। उसे ठंडी करने के लिए वैराग्यजल छिड़कना चाहिए। वैराग्य अभयदाता है, इसलिए सब महापुरुषों ने वैराग्य पर अत्यन्त बल दिया है।

पुद्गल का संग छूटते ही मुक्ति मिल जाती है। मुक्ति का अर्थ है—महासुख, परमसुख, अनन्य और अनिर्वचनीय सुख! आत्मा के अन्दर सुख का जो रहस्यपूर्ण अनन्त भंडार छिपा हुआ है, वह उस समय प्रकट हो जाता है। जैसे सूर्य के उदय होने पर उल्लू अपना मुँह छिपा लेते है, उसी प्रकार आत्मा का सच्चा सुख प्रकट हो जाने पर दुःख, कष्ट, कठिनाइयाँ, उलझनें अपना मुँह छिपा लेती हैं और बिलकुल नजर नहीं आतीं। लेकिन, आपको मुक्ति का या मुक्ति के सुख का कोई अनुमान नहीं, इसीलिए उसके विषय में चित्रविचित्र कल्पनायें किया करते हैं।

पंडित और रबारी

एक बार एक पंडित एक रबारी के पास आया। वह रबारी सहज आड़ा पड़ा हुआ, हुक्का पी रहा था। पंडित ने उससे कहा—"भाई! यूँ पड़ा न रह, कुछ धर्म कर।" रबारी ने पूछा—"धर्म क्या चीज होती है? धर्म करने से क्या होता है?" पंडित ने कहा—"धर्म माने अच्छा काम! धर्म करने से मुक्ति मिलती है।" रबारी को मुक्ति का क्या ज्ञान? उसने पूछा—"वहाँ हुक्का मिलेगा?" पंडित ने कहा—"वहाँ हुक्का नहीं मिलेगा पर दूसरा सुख बहुत मिलेगा।" तब रबारी बोला—"भाइ! यह मुक्ति मेरे काम की नहीं! मेरा तो हुक्का बिना एक घड़ी भी नहीं चलता!"

यह तो रबारी था, अशिक्षित था, इसलिए उसने ऐसा जवाब दिया। पर कितने ही पठित पंडित भी यह कहते हैं कि, "जिस मुक्ति में खाने पीने का सुख नहीं, मौज शौक नहीं, भोगविलास नहीं, उस मुक्ति को

लेकर हम क्या करेंगे ? ऐसी मुक्ति मे जाने से तो वृन्दावन मे गीदड़ बनना अच्छा ताकि सुन्दर ग्वालिनों का मुँह तो देखने को मिले।''

कामभोग की चरम आसक्ति उससे ऐसे शब्द कहलवाती है। लेकिन, जो जगत् और जीवन का तमाम रहस्य जान गये हैं, ऐसे महापुरुष कहते हैं कि—

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गई॥

कामभोग शल्यरूप हैं, विषरूप हैं, विषधर सर्प के समान अत्यन्त भयकर है। कामभोग की लालसा रखने वाले प्राणी उन्हें प्राप्त किये बिना ही अतृप्त दशा में एक दिन दुर्गति को प्राप्त होते है।

खणमेत्त सोक्खा बहुकाल दुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगाम सोक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्ख भूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा॥

'कामभोग क्षणमात्र सुख देनेवाले हैं और चिरकाल दुःख देनेवाले हैं। उनमें सुख बहुत कम है और दुःख बहुत अधिक हैं। वे मोक्षसुख के शत्रु हैं और अनर्थों की खान हैं।

तात्पर्य यह है कि भोग की आसक्ति छूटने पर ही मुक्ति का अनन्त सुख भोगने की पात्रता प्राप्त होती है।

इस विश्व में मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण ही एक ऐसी अवस्था है, जहाँ किसी प्रकार का दुःख नहीं है। आप पूछेंगे कि सर्वत्र दुःख है तो वहाँ क्यों नहीं है ? इसका जवाब यह है कि 'इस विश्व में दुःख के कारण हैं— भूख, प्यास, रोग, शोक, भय, खेद, उपद्रव, आक्रमण, पराधीनता, परतन्त्रता, जन्म, जरा, मृत्यु आदि, इनमें से एक भी कारण वहाँ विद्यमान नहीं है।'

जब किसी चीज की इच्छा हो और वह न मिले तो दुःख, कष्ट, अशांति होती है। लेकिन, मोक्ष की अवस्था में तो किसी भी प्रकार की इच्छा ही नहीं होती, कारण कि वहाँ सर्व अर्थ सिद्ध हुए होते हैं। फिर वहाँ दुःख, कष्ट या अशांति कहाँ से हो ? यह तो आप जानते ही होंगे कि, इच्छायें वासना के कारण उत्पन्न होती हैं, पर मुक्तावस्था में तो सर्व वासनाओं का क्षय हो चुका होता है, इसलिए वहाँ किसी प्रकार की इच्छा ही नहीं होती। दूसरे, इच्छा होने में एक प्रकार का मोहजन्य मनोव्यापार निमित्त भूत होता है, लेकिन मुक्तावस्था म न तो कोई मोहजन्य व्यापार होता है, न इन्द्रियाँ होती हैं और न किसी प्रकार का शरीर होता है। उसमें मात्र आत्मा ही शुद्ध स्वरूप से विराजमान रहता है, इसलिए वहाँ मनोव्यापार होने का या इच्छा पैदा होने का सवाल ही नहीं है।

'शरीर और इंद्रियों के बिना आत्मा अकेला कैसे रहता होगा ?'—यह प्रश्न भी कुछ लोग करते हैं। इसका समाधान यह है कि, आत्मा एक स्वतंत्र द्रव्य है, इसलिए दूसरे द्रव्यों की तरह वह भी आकाश में अकेला रह सकता है।

'शरीर-रहित आत्मा आकाश के किस भाग में रहता है ?' इसका जवाब यह है कि, आत्मा की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है। इसलिए, जब वह सकल कर्मों से रहित हो जाता है तब सीधी ऊर्ध्व गति करता है और लोक के अग्र भाग में जाकर ठहर जाता है। जैसे कि तूम्बी, अगर अन्य वजनी वस्तुओं से भारी नहीं कर दी गयी हो तो सीधी पानी की ऊपरी सतह पर आ जाती है।

आत्मा अलोकाकाश में इसलिए नहीं चला जाता कि, वहाँ गति सहायक धर्मास्तिकाय द्रव्य की और स्थिति सहायक अधर्मास्तिकाय द्रव्य की विद्यमानता नहीं है।

कर्मरहित शुद्ध आत्मा को हम सिद्ध भगवत या सिद्ध परमात्मा कहते हैं। ऐसे सिद्ध परमात्मा आज तक अनन्त हो गये हैं। वे सब सिद्धशिला के ऊपर लोक के अग्र भाग म स्थिर हो गये है।

सिद्धों को दु ख का अत्यन्ताभाव होता है और विशुद्ध आत्मिक सुख का अनन्त सद्भाव रहता है। उनका सुख वस्तु-सयोगजन्य नहीं है, इसलिए उन्हें अपने सुख के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती। सुख आत्मा का स्वभाव है, इसलिए प्रतिबन्धक कारणों के दूर हो जाने पर वह सुख का अनुभव करने लगता है और अनन्त काल तक उस सुख का अनुभव करता रहता है।

कोई आदमी दीर्घकाल से कैदखाने में पड़ा हो और विविध यातनाएँ भोगता हो, लेकिन अगर उसे एकाएक छोड़ दिया जाये तो कितना आनन्दित होता है। उसी प्रकार जो आत्मा अनन्त भवों से कर्म-बन्धन म पड़ा हुआ असख्य यातनाएँ भोगता आया हो, वह कर्मबन्धन से सर्वथा छूट जाने पर कितना आनन्द पाता होगा। आपकी कल्पना के परम सुखी मनुष्य से भी मुक्तात्मा अनन्तगुना सुखी होता है।

शास्त्रकारों ने चक्रवर्ती को भोगपुरुष कहा है, कारण कि मानुषिक भोगों म वह इन्द्र के समान होता है। सारा भरतक्षेत्र उसके अधीन होता है, सोलह हजार देव उसकी सेवा में रहते है, चौंसठ हजार स्त्रियाँ उसके अन्त पुर मे रहती हैं, वैक्रियक लब्धि से वह चोंसठ हजार रूप लेकर सब रानियों से एक साथ भोगविलास करता है, उसका शरीर निरोगी और तेजस्वी होता है, जीवन निश्चिन्त होता है, सब राजा प्रजा-और सेना उसके प्रति वफादार होते हैं। ऐसे चक्रवर्ती को भी जो सुख होता है उससे मुक्तात्मा का सुख अनन्त गुना होता है।

इन्द्र असख्यात देवों का मालिक है, लाखो वर्षों तक जवान रहता है, अगणित सुन्दर देवागनाएँ उसकी सेवा में रहती हैं, अनुपम रूपवती

इन्द्राणियों के साथ भोग करता है। उसके सुख से भी मुक्तात्मा का सुख अनन्त गुना होता है।

शास्त्रकार कहते हैं कि—

सुरगणसुह सम्मत्त, सवद्धा पिण्डिअ अणतगुण।
न य पावइ मुत्तिसुहं, णताहिं वि वग्गवग्गूहिं॥

देवों के सर्वकाल के समस्त सुखों को एकत्र करके उन्हें अनन्त गुना कर दिया और उसके वर्ग का वर्ग अनन्त बार किया जाये तो भी वह मुक्ति सुख की बराबरी नहीं कर सकता।

मुक्तावस्था में, सिद्धावस्था में, आत्मा के ज्ञान, दर्शन, शक्ति और सुख का चरम विकास होता है। उसमे श्रेष्ठतर अवस्था और कोई नहीं है। इसलिए, सुज्ञ पुरुषों के सर्वप्रयत्न उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए ही होते हैं। उन प्रयत्नों का एक नाम धर्म है। आत्मा का सच्चा सुख प्राप्त करने के लिए आपको उस धर्म का ही आचरण करना है।

धर्म का विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा, लेकिन इतना अभी जान लीजिए कि, दान-शील-तप भाव का समुचित आराधन करते रहना चाहिए और दिन प्रति दिन उसकी अभिवृद्धि करते रहना चाहिए।

आप धन-वृद्धि से सन्तोष मानते रहते हैं, लेकिन उस धन में केवल उतना ही आपका है, जो धर्म-मार्ग म खर्च किया जावे, शेष आपका नहीं है! नहीं है!! नहीं है!!!

दान में दिया हुआ धन ही आपका है, इस पर नगरसेठ का दृष्टान्त

कर्मरहित शुद्ध आत्मा को हम सिद्ध भगवत या सिद्ध परमात्मा कहते है। ऐसे सिद्ध परमात्मा आज तक अनन्त हो गये हैं। वे सब सिद्धशिला के ऊपर लोक के अग्र भाग म स्थिर हो गये है।

सिद्धों को दु ख का अत्यन्ताभाव होता है और विशुद्ध आत्मिक सुख का अनन्त सद्भाव रहता है। उनका सुख वस्तु सयोगजन्य नहीं है, इसलिए उन्हें अपने सुख के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती। सुख आत्मा का स्वभाव है, इसलिए प्रतिबन्धक कारणों के दूर हो जाने पर वह सुख का अनुभव करने लगता है और अनन्त काल तक उस सुख का अनुभव करता रहता है।

कोई आदमी दीर्घकाल से कैदखाने में पड़ा हो और विविध यातनाएँ भोगता हो, लेकिन अगर उसे एकाएक छोड़ दिया जाये तो कितना आनन्दित होता है! उसी प्रकार जो आत्मा अनन्त भवों से कर्म बन्धन म पड़ा हुआ असख्य यातनाएँ भोगता आया हो, वह कर्मबन्धन से सर्वथा छूट जाने पर कितना आनन्द पाता होगा। आपकी कल्पना के परम सुखी मनुष्य से भी मुक्तात्मा अनन्तगुना सुखी होता है।

शास्त्रकारों ने चक्रवर्ती को भोगपुरुष कहा है, कारण कि मानुषिक भोगों म वह इन्द्र के समान होता है। सारा भरतक्षेत्र उसके अधीन होता है, सोलह हजार देव उसकी सेवा में रहते हैं, चौंसठ हजार स्त्रियाँ उसके अन्त पुर मे रहती हैं, वैक्रियक लब्धि से वह चौंसठ हजार रूप लेकर सब रानियों से एक साथ भोगविलास करता है, उसका शरीर निरोगी और तेजस्वी होता है, जीवन निश्चिन्त होता है, सब राजा प्रजा-और सेना उसके प्रति वफादार होते हैं। ऐसे चक्रवर्ती को भी जो सुख होता है उससे मुक्तात्मा का सुख अनन्त गुना होता है।

इन्द्र असख्यात देवों का मालिक है, लाखों वर्षों तक जवान रहता है, अगणित सुन्दर देवागनाएँ उसकी सेवा म रहती है, अनुपम रूपवती

इन्द्राणियों के साथ भोग करता है। उसके सुख से भी मुक्तात्मा का सुख अनन्त गुना होता है।

शास्त्रकार कहते हैं कि—

सुरगणसुह समग्गं, सव्वद्धा पिंडिअ अणंतगुणं।
न य पावइ मुत्तिसुहं, णंताहिं वि वग्गवग्गूहिं॥

देवों के सर्वकाल के समस्त सुखों को एकत्र करके उन्हें अनन्त गुना कर दिया और उसके वर्ग का वर्ग अनन्त बार किया जाये तो भी वह मुक्ति सुख की बराबरी नहीं कर सकता।

मुक्तावस्था में, सिद्धावस्था म, आत्मा के ज्ञान, दर्शन, शक्ति और सुख का चरम विकास होता है। उससे श्रेष्ठतर अवस्था और कोई नहीं है। इसलिए, सुज्ञ पुरुषों के सर्वप्रयत्न उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए ही होते हैं। उन प्रयत्नों का एक नाम धर्म है। आत्मा का सच्चा सुख प्राप्त करने के लिए आपको उस धर्म का ही आचरण करना है।

धर्म का विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा, लेकिन इतना अभी जान लीजिए कि, दान-शील-तप भाव का समुचित आराधन करते रहना चाहिए और दिन प्रति दिन उसकी अभिवृद्धि करते रहना चाहिए।

आप धन-वृद्धि से सन्तोष मानते रहते हैं, लेकिन उस धन में केवल उतना ही आपका है, जो धर्म मार्ग में खर्च किया जावे, शेष आपका नहीं है! नहीं है!! नहीं है!!!

दान में दिया हुआ धन ही आपका है, इस पर नगरसेठ का दृष्टान्त

एक गाँव म गुरु महाराज पधारे। उस गाँव के लोग भाविक थे। वे चाहते थे कि गुरुमहाराज अपने गाँव मे चौमासा करें तो अच्छा। इसलिए उन्होंने नगरसेठ को आगे किया और सब की ओर से गुरुमहाराज से चौमासे की विनती की।

व्याख्यान पूरा होने के बाद नगरसेठ और दूसरे कुछ लोग गुरुमहाराज के पास बैठे। उस समय बातों बातों में गुरुमहाराज ने सेठ से पूछा—"क्यों सेठ! आनन्द में हो न? आपके पास कितनी सम्पत्ति है?" गुरुमहाराज प्रश्न पूछें तो जवाब तो देना ही चाहिए। सेठ बोला—"महाराज! एक लाख मोहरें हैं।"

पर, गुरुमहाराज ने सुन रखा था कि सेठ के पास तीन लाख मोहरें हैं। उन्हें लगा कि "यह सेठ कृपण है। यह धर्ममार्ग में क्या पैसा खर्च करेगा?" फिर भी सेठ की सत्यप्रियता की परीक्षा करने के लिए दूसरा प्रश्न पूछा—"सेठ! आपके कितने लड़के हैं?" सेठ ने कहा—"महाराज! मेरे एक लड़का है।" सेठ के तीन लड़के हैं, यह सारा गाँव जानता था और उन्हीं से गुरुमहाराज को भी मालूम हो गया था। इसलिए अब उन्हें ऐसा लगा कि यह गाँव चौमासा करने लायक नहीं है, और वे विहार की तैयारी करने लगे।

शाम को सब प्रतिक्रमण करने के लिए आये। विहार की तैयारियाँ देखकर उन्होंने सेठ को खबर दी। सेठ गुरुमहाराज के पास आया। उस समय यकायक दौरा आने से वह बेहोश होकर जा पड़ा। लोगों ने सेठ के लड़कों को खबर दी। सुनकर सेठ का सब से छोटा लड़का दवा लेकर दौड़ता आया। कुछ देर में सेठ ने होश में आते ही लोगों से पूछा—"आपने मेरी इस हालत की खबर सब लड़कों को दी थी?"

लोग—"हाँ, आपके तीनों लड़कों को खबर दी थी।"

सेठ—"उन्होंने क्या जवाब दिया?"

लोग—"हमने आपके सबसे बड़े लड़के को खबर दी, तो बोला कि ऐसा तो उन्हें अक्सर होता ही रहता है, सारे दिन उनके पीछे कहाँ तक दौड़ते फिरें। फिर दूसरे लड़के को खबर दी तो बोला कि इस वक्त मुझे काम है, आप लोग जरा देखभाल कीजिये, मैं आता हूँ। फिर आपके

सबसे छोटे लड़के के पास गये। वहाँ ग्राहकों की धमाल मची हुई थी। सुनकर वह सब काम छोड़कर दवा लेकर यहाँ दौड़ा आया।"

यह सब गुरु महाराज सुन रहे थे। उन्हें उद्देश कर सेठ बोला—"सुबह मैंने आपसे कहा था कि मेरे एक ही लड़का है। तब आपको लगा होगा कि मैं झूठ बोल रहा हूँ, पर अब आपको विश्वास हो गया होगा कि मेरे वास्तव में एक ही लड़का है। उसी तरह मेरे पास तीन लाख मोहरें हैं, लेकिन उनमें से एक लाख ही धर्ममार्ग मे लगी हैं, इसलिए वे मरी हैं, शेष मेरी नहीं हैं। अगर आप यहाँ चौमासा करने की कृपा करेंगे तो एक लाख की जरूर दो लाख हो जायेंगी।"

सेठ के ये वचन सुनकर गुरुमहाराज सच्ची परिस्थिति समझ गये और बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने चौमासा करने की विनती स्वीकार कर ली। उस चौमासे में धर्माराधन खूब अच्छी तरह हुआ और उसमें सेठ अग्रणी रहा।

कहने का तात्पर्य यह कि धर्म म जितना धन लगाओ, उतना आप का, बाकी नहीं। आप अपनी मौज-शौक या ऐश-आराम के लिए ही धन खर्च करेंगे, तो उससे कर्म-बन्धन होगा और उसका कटुफल आपको अवश्य भोगना पड़ेगा।

वस्तु की लालच से अशांति होती है, लालच न हो तो शांति रहती है। धर्मक्रिया में वस्तु की लालच नहीं होती, इसलिए उसमें शांति है।

आत्मसुख का अनुभव कब होता है ?

शांत दशा न हो तब तक आत्मा का सुख नहीं मिलता। जैसे उद्वेलित गन्दे पानी में चेहरा नहीं दीखता, स्थिर स्वच्छ जल में दीखता है, उसी प्रकार क्षयोपशम भाव से कर्म मल के बैठ जाने पर और मन के स्थिर होने पर आभ्यान्तरिक आत्मसुख, आत्मानन्द का अनुभव होता है। यद्यपि यह आनन्द वीतरागी आत्मा के आनन्द का अनन्तवाँ भाग है,

फिर भी एक बार उसका अनुभव हो जाने पर बारबार अनुभव करने का मन होता है।

'मैं आत्मा हूँ, मैं अजर अमर हूँ, मैं अनन्त शक्ति, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त आनन्द का भंडार हूँ', ऐसी भावनाएँ भाते रहने से आत्मा का पूर्ण विकास किया जा सकता है। उस समय जो शांति सुख-आनन्द का अनुभव होता है, वह अपूर्व होता है। उसकी उपमा जगत् की किसी वस्तु से नहीं दी जा सकती।

इस मार्ग में प्रगति के लिए परमात्मा की अनन्य अन्तरंग भक्ति चाहिए, संयम की साधना चाहिए और तप का आराधन चाहिए। आत्मा ही संयम और तप के द्वारा अपना शुद्ध स्वरूप प्राप्त करके परमात्मा होकर अनन्त आनन्द भोगने लगती है। वह परम सुख ही हमारी सच्ची सम्पत्ति है, हमारा सच्चा स्वरूप है।

हमारा मन बन्दर-सरीखा है। उसे कभी कुछ, कभी कुछ लेने की इच्छा होती रहती है। इस तरह वह हमें नचाता रहता है। उसे वश करना सहल नहीं है, लेकिन अभ्यास से सब कुछ सिद्ध हो सकता है। महापुरुषों ने कहा है—**'अभ्यासेन स्थिरं चित्त'** इसलिए आवश्यकता अभ्यास की है।

धर्मक्रियाएँ कषायों को नष्ट करने के लिए हैं, राग-द्वेष कम करने के लिए हैं। धर्मक्रियाएँ अगर छल, कपट, दंभ, मायाचार से हों या सांसारिक सुख प्राप्त करने की इच्छा से हों तो भव-भ्रमण बढ़ जाता है, अनन्त बार जन्म मरण भोगना पड़ता है। आत्मा परभाव में रमण करे तो उसका बल क्षीण होता है, स्वरूप में रमण करे तो उसकी शक्ति बढ़ती जाती है।

इतनी बात तो सदा याद रखिए कि आत्मा ज्यों ज्यों वीतराग बनती जाती है, त्यों त्यों आनन्द बढ़ता जाता है। वीतरागता में ही आत्मा का सच्चा सुख प्रकट होता है। आप वीतरागता को अपना ध्येय बना लेंगे तो सच्चा सुख प्राप्त कर लेंगे।

○

आत्मतत्त्व-विचार

दूसरा खण्ड

कर्म

सतरहवाँ व्याख्यान

कर्म की पहचान

महानुभावो !

अब तक हमने आत्मा के स्वरूप का विवेचन किया। हमने जान लिया कि आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है, वह देहादि से भिन्न है, अजर-अमर-अखण्ड है और अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख आदि गुणों से युक्त है। लेकिन, कर्मावरण के कारण, कर्म-सम्बन्ध के कारण, उसके ये गुण मर्यादित रूप म ही प्रकट होते हैं।

यह समझा जाता है कि, सम्बन्ध जितना पुराना हो उतना ही मीठा और लाभदायक होता है, लेकिन कर्मों ने आत्मा को न तो कोई मिठास नहीं दिखलायी न कोई लाभ कराया। बल्कि, जैसे चूहे के साथ बिल्ली या साँप के साथ न्यौला पेश आता है, वैसा व्यवहार कर्मों ने आत्मा के साथ किया है और उसे परीशान और दुःखी करने में कोई कसर नहीं रखा। कर्म आत्मा के घोर शत्रु रहे हैं। आत्मा जो इस ससार में अनादिकाल से भ्रमण करता रहा है, उसका कारण कर्मों का कुटिल सम्बन्ध ही है।

बहुत से लोग ऐसे हैं कि, जिन्होंने भूतकाल में कैसे भी दुष्कर्म किये हों, पर सुधर कर सद्वर्तन करने लगते हैं, लेकिन जो दुर्जन हैं वे अपनी दुर्जनता नहीं छोड़ते। एक कवि ने कहा है—

'दुष्ट न छोड़े दुष्टता, लाख सिखावन देत,
चाहे जितना धोइये, काजल होत न श्वेत।'

—काजल को चाहे जितना धोइये, सफेद नहीं हो सकता, उसी प्रकार दुष्ट को चाहे जितनी सीख दीजिये, वह अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता।

इन ६ द्रव्यो मे आकाश क्षेत्र है और शेप क्षेत्री है, अर्थात् उसके अन्दर निवास करते ह ।

इनमे पहला चैतन्ययुक्त है और शेप पाँच जड़ है । कुछ लोग पुद्गल के सयोजन से भी चैतन्य की उत्पत्ति मानते हैं और आत्मतत्त्व की स्वतन्त्रता उड़ा देते है, परन्तु पुद्गल में चैतन्य का एक अश भी नहीं है । चाहे जितने पुद्गलों को चाहे जिस तरह से इकट्ठा किया जाये, उनसे चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

इन ६ द्रव्यो मे पुद्गल रूपी है । शेप सब अरूपी है । रूपी के गुण रूपी ह, अरूपी के अरूपी । फिर भी, अरूपी पदार्थ अपने कार्यों द्वारा जाने जा सकते है, जैसे काल दिखता नहीं है, पर अपने कार्य से जाना जाता है, आत्मा दिखता नहीं है, पर अपने कार्य से जाना जाता है । इसी तरह अन्य द्रव्य अपने कार्यों से जाने जाते है ।

जितना माप लोकाकाश का है, उतना ही धर्मास्तिकाय का है । जितने प्रदेश लोकाकाश के है, उतने ही प्रदेश धर्मास्तिकाय के है । आकाश के एक प्रदेश में धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश होता है । अधर्मास्तिकाय के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए ।

आधुनिक विज्ञान में भौतिक विज्ञान (फिजिक्स) की मुख्यता है । परन्तु, इस विषय में जैन-दर्शन ने भी बहुत-कुछ दिया है । जैन-दर्शन म पुद्गलों के स्थूल से स्थूल स्वरूप से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप तक का विवेचन हुआ है । जबकि भारत के अन्य दर्शन, शब्द को आकाश का गुण मानते थे तब जैन-दर्शन ने उसे पुद्गल का धर्म माना था । और, यह बतलाया था कि वह क्षण मात्र में लोक के एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुँच सकता है, जो कि आज 'रेडियो' के आविष्कार से सिद्ध हो गया है । इस प्रकार जैन दर्शन अत्यन्त सूक्ष्म और सत्य है और दिन-प्रति दिन विद्वान् उसकी ओर आकृष्ट होते जा रहे हैं ।

कर्म की जानकारी प्राप्त करने से पहले, पुद्गल की जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए, क्योंकि कर्म पौद्गलिक वस्तु है।

पुद्गल अणु-रूप मे भी होता है और स्कन्ध रूप मे भी। हमने प्रकाश मे उड़ते हुए अत्यन्त सूक्ष्म रजकण देखे ही है, पर उनसे भी अत्यन्त सूक्ष्मतर पुद्गल-कण होते हैं, जो नगी आँखों से तो क्या अत्यन्त प्रबल सूक्ष्मदर्शक यत्र (माइक्रॉसकोप) से भी नहीं देखे जा सकते। पुद्गल के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अश को, जिसके कि किसी प्रकार भी आगे टुकड़े नहीं हो सकते, 'अणु' कहते हैं। जिससे अधिक छोटी कोई चीज नहीं उसे ही 'परमाणु' कहते हैं। वह किसी भी सूक्ष्मदर्शक से नहीं देखा जा सकता है।

एक परमाणु जब दूसरे परमाणु से मिल जाता है, तब 'स्कध' बनता है। दो परमाणुओं का द्वयणक, तीन परमाणुओं का त्र्यणक, चार परमाणुओं का चतुरणक, असख्यात परमाणुओं का असख्याताणक और अनन्त परमाणुओं का अनन्ताणक स्कन्ध बनता है। इस प्रकार स्कन्धों की सख्या अनन्तानन्त है।

स्कन्ध के बने रहने का जघन्य काल एक समय है, मध्यम काल लाख-करोड़-अरब वर्ष, उत्कृष्ट काल असख्यात वर्ष है। उसके बाद वह नष्ट हो जाता है और टूटकर अणु-परमाणु के रूप में आ जाता है। ये परमाणु मिलकर फिर 'स्कन्ध' बन जाते हैं। इस प्रकार पुद्गल में टूटने-जुड़ने की क्रिया होती ही रहती है। इसलिए शास्त्रकारों ने उसको गुणनिष्पन्न नाम—'पुद्गल'—दिया है।

बड़े स्कन्ध टूट कर छोटे स्कन्ध बनते हैं। छोटे स्कन्धों से मिल कर बड़े स्कन्ध बनते रहते हैं। जितनी वस्तुएँ दिखलायी देती है वे सब परमाणुओं के मिलने से ही बनी हैं और इसी कारण वस्तुओं में परिवर्तन-शीलता नजर आती है।

यह उत्पत्ति और विनाश केवल आकृति या पर्याय का होता है, मूल द्रव्य तो ध्रुव नित्य शाश्वत होता है।

इस जगत् में ६ द्रव्य हैं, वे हमेशा ६ ही रहते है। उनकी सख्या में कमी बेशी नहीं होती। लेकिन, उनके पर्याय बदलते रहते हैं। इसलिए जब यह कहा जाता है कि किसी वस्तु का आविष्कार हुआ तो इसका तात्पर्य केवल यह होता है कि उस द्रव्य का एक नया पर्याय हमारे सामने आया है। इसी प्रकार, यह कहा जाता है कि 'कोलम्बस ने अमेरिका की खोज की', इसका मतलब भी यही कि वह मुल्क तो करोड़ों वर्ष से वहीं था, पर कोलम्बस आदि के देखने मे नहीं आया था। जब देखने मे आया तो उसे 'नया देश' कहा। मूल वस्तु पहले से हो तो उसके केवल रूपान्तर को 'बिल्कुल नयी वस्तु' नहीं कह सकते।

आज के वैज्ञानिक जिसे अणु (एटम) कहते हैं, वह जैन दृष्टि से 'अणु' नहीं बल्कि 'स्कन्ध' है, क्योंकि उसका स्फोट होता है। स्फोट 'स्कन्ध' का ही हो सकता है, 'अणु' का नहीं।

जो स्कन्ध सूक्ष्मपरिणामी होते हैं वे आँखों से नहीं देखे जा सकते, बादरपरिणामी देखे जा सकते हैं। छ द्रव्यों मे केवल पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है, जो आँखों से देखा जा सकता है और दूसरी इन्द्रियों का भी विषय बन सकता है। इस जगत् में हम जो कुछ देखते हैं, वह सब पुद्गल की ही रचना है।

सजातीय अनन्त 'स्कन्धों' के समूह को 'वर्गणा' कहते हैं—सजातीय माने समान जाति वाला। यहाँ जाति का मतलब 'समान लक्षणों वाली वस्तुएँ' हैं। 'अ' परमाणु वाले' स्कन्ध' सजातीय है, उसी प्रकार 'ब' परमाणु वाले स्कन्ध सजातीय हैं। सजातीय स्कन्ध अनन्त प्रकार के हैं, इसलिए वर्गणाएँ भी अनन्त प्रकार की हैं।

पहले वस्तु का सामान्य वर्णन किया जाता है, फिर उसकी विशेषताओं का वर्णन किया जाता है।

तत्त्वों का बोध कराने के लिए भी यही क्रम अपनाया जाता है। पहले उसका निर्देश होता है, फिर उसका विशेष वर्णन किया जाता है और अन्त में उसके हर एक अंगोपांग का सूक्ष्म विवेचन किया जाता है।

अनन्त वर्गणाओं में से सोलह विशेष रूप से जानने योग्य हैं। पहले उनका नामनिर्देश किया जाता है, फिर उनका परिचय दिया जायेगा। उन सोलह वर्गणाओं के नाम यह हैं —

(१) औदारिक शरीर के लिए अग्रहणयोग्य महावर्गणा।
(२) औदारिक शरीर के लिए ग्रहणयोग्य महावर्गणा।
(३) औदारिक वैक्रियक शरीर के लिए अग्रहणयोग्य महावर्गणा।
(४) वैक्रियक शरीर के लिए ग्रहणयोग्य वर्गणा।
(५) वैक्रियक-आहारक शरीर के लिए अग्रहणयोग्य महावर्गणा।
(६) आहारक शरीर के लिए ग्रहणयोग्य महावर्गणा।
(७) आहारक तैजस शरीर के लिए अग्रहणयोग्य महावर्गणा।
(८) तैजस शरीर के लिए ग्रहणयोग्य महावर्गणा।
(९) तैजस शरीर और भाषा के लिए अग्रहणयोग्य महावर्गणा।
(१०) भाषा के लिए ग्रहणयोग्य महावर्गणा।
(११) भाषा और श्वासोच्छ्वास के लिए अग्रहणयोग्य महावर्गणा।
(१२) श्वासोच्छ्वास के लिए ग्रहणयोग्य महावर्गणा।
(१३) श्वासोच्छ्वास और मन के लिए अग्रहणयोग्य महावर्गणा।
(१४) मन के लिए ग्रहणयोग्य महावर्गणा।
(१५) मन और कर्म के लिए अग्रहणयोग्य महावर्गणा।
(१६) कर्म के लिए ग्रहणयोग्य महावर्गणा।

इस सोलहवीं वर्गणा को 'कार्माण-वर्गणा' कहा जाता है।

'महावर्गणाओं' में बहुत सी अनु-वर्गणाएँ होती हैं। इन महावर्गणाओं में से कुछ को अग्रहणयोग्य और कुछ को ग्रहणयोग्य कहा है। अब उनका तात्पर्य समझाया जाता है।

'स्कधों' का समूह बड़ा हो, लेकिन उसम 'परमाणु' कम हो,* तो उनका औदारिक शरीर नहीं बन सकता। ऐसे 'स्कन्ध' भी जगत् मे अनन्त है। उन्हें औदारिक शरीर के लिए 'अग्रहणयोग्य' कहते है।

ऐसे 'स्कन्धों' का रूप छोटा हो और उसमे 'परमाणुओ' की संख्या बड़ी हो तो वे औदारिक शरीर के योग्य होते है। उन्हें औदारिक शरीर के लिए 'ग्रहणयोग्य' कहते है।

औदारिक शरीर के लिए योग्य 'वर्गणाओं' के 'स्कन्धो' का कलेवर छोटा हो और उसमे 'परमाणु' ज्यादा हों तो उनका 'औदारिक' या 'वैक्रियक' शरीर नहीं बन सकता, इसलिए वे 'वर्गणाएँ' औदारिक तथा वैक्रियक शरीर के लिए 'अग्रहणयोग्य' कही जाती है। उनका आकार छोटा हो और परमाणुओं की सख्या ज्यादा हो तब वे वैक्रियक शरीर के लिए ग्रहणयोग्य होती है।

आहारक-शरीर, तैजस शरीर, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कर्म की वर्गणाओं के विषय में भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

सब वर्गणाएँ एक ही स्थान पर कैसे रह सकती हैं? एक दूसरे मे मिल क्यों नहीं जातीं? जैसे, आत्मा औदारिक शरीर के लिए योग्य वर्गणाओं को इकठा करके औदारिक शरीर बना रहा हो, उस समय उसमें वैक्रियक शरीर की वर्गणाएँ क्यो नहीं आ जातीं? इसका जवाब यह है कि, 'परमाणुओं' और उनके 'स्कन्धों' में ऐसी शक्ति है कि, वे आकाश में एक, दो, असख्यात या अनन्त भी साथ रह सकते हैं। जैसे एक कमरे मे चाहे जितने दीपकों का प्रकाश रह सकता है। और, उसी कमरे में उन प्रकाशों के अतिरिक्त अनेक व्यक्ति और अनेक वस्तुएँ भी रह सकती हैं।

---

* रुई और सोने के बराबर के ढेर लें, तो उनमें रुई के ढेर म कम 'परमाणु' होंगे, सोने के ढेर में ज्यादा। 'स्कन्ध' का घनत्व जितना अधिक होना है, उतना ही उसका परिणाम सूक्ष्म होता है।

समस्त लोक में 'पुद्गल' और 'कार्मण वर्गणाएँ' सर्वत्र व्याप्त है, इसलिए चौदह राजलोक के किसी भी भाग में रहनेवाली आत्मा इन 'कार्मण-वर्गणाओं' के पुद्गलों को तुरन्त ग्रहण कर सकती है। ग्रहण किये जाने के बाद वे जब आत्मप्रदेशों में ओतप्रोत हो जाते हैं, तब वे 'कर्म' कहलाते हैं।

'इसे कर्म ही क्यों कहते है? और कोई नाम क्यों नहीं दिया!' इसका उत्तर यह है कि दुनिया में कुछ नाम 'गुणनिष्पन्न' होते हैं, कुछ 'रूढ'। कुरूप आदमी का नाम भी रूपचन्द्र हो सकता है। झगड़ालू आदमी का नाम भी शांतिलाल हो सकता है। ये नाम 'रूढ' हैं। पर, नाम में क्या रखा है? नाम कुछ भी दिया जा सकता है। आप ठनठन पाल की वार्ता सुनें तो नाम विषयक आपकी शंका दूर हो जायेगी।

ठनठनपाल की बात

एक सेठ सब प्रकार से सुखी था, लेकिन उसका कोई लड़का बारह महीने से अधिक नहीं जीता था। उसे ६ लड़के हुए, मगर सब इसी प्रकार मर गये। जब सातवाँ लड़का पैदा हुआ तो उसका नाम ठनठनपाल रखा। योगानुयोग से यह लड़का बालमरण से बच गया और बालक्रम से जवान हुआ।

लोग उसके नाम का तरह-तरह से मजाक उड़ाते। कहते—"तेरा नाम ठनठनपाल क्यों रखा गया है? यह तो बड़ा शर्मनाक नाम है। और, कुछ नहीं तो ठन ठन पाल!" चिढ़कर एक दिन अपने पिता से वह कहने लगा—"पिताजी! दुनिया में नामों की क्या कमी थी कि आपने मेरा नाम ठनठनपाल रखा? यह नाम बड़ा खराब लगता है। मेरा नाम बदल दीजिये।"

पिता ने कहा—"बेटा! आदमी का नाम तो जिन्दगी में एक ही

धार रखा जाता है। दूसरे, जो नाम लोकजिह्वा पर चढ़ गया हो, उसे कैसे बदला जा सकता है? इसलिए कोई कुछ कहे, तू ध्यान न दिया कर।"

ठनठनपाल—"मगर पिताजी! यह नाम सुनने में बहुत खराब लगता है। मुझे यह जरा भी अच्छा नहीं लगता।"

सेठ—"बेटा! किसी को यह नाम सुनने में खराब लगता हो, पर हमें तो यह बहुत मीठा लगता है। जब हम 'ठनठनपाल' सुनते हैं तो हमारे अन्तर में आनन्द उमड़ने लगता है, हमारा हृदय हर्षित हो उठता है। बेटा! सब नाम सार्थक नहीं होते। हम नाम की अपेक्षा काम पर ही विशेष ध्यान देना चाहिए। जो अच्छा काम करे उसी का नाम अच्छा है।"

लेकिन जब पिता की इस सिखावन से ठनठनपाल का समाधान नहीं हुआ, तो पिता ने कहा—"अच्छा, कोई सुन्दर नाम खोज ला।"

एक दिन ठनठनपाल किसी काम से बाहर गया। वहाँ उसने एक अधेड़ उम्र की स्त्री देखी। उसके कपड़े फटे पुराने थे। वह एक गरीब मजदूरनी थी। गोबर बीन रही थी। ठनठनपाल ने उसका नाम पूछा। बोली—"लक्ष्मी!" ठनठनपाल को यह सुनकर आश्चर्य हुआ!

कुछ दूर आगे जाने पर एक भिखारी मिला। नाम पूछा तो बोला—"धनपाल!"

ठनठनपाल कुछ और आगे गया तो उसने देखा कि लोग किसी मृतक की अर्थी श्मशान की ओर लिये जा रहे हैं। मालूम हुआ कि, 'अमरसिंह मर गया है।"

ठनठनपाल सोचने लगा—"नाम लक्ष्मी और बीनती है गोबर! धनपाल और भिखारी!! नाम अमरसिंह फिर भी मर जाय!!!"

एक दिन पिता ने पूछा—"क्यों बेटा? खोजा तूने कोई सुन्दर नाम?" ठनठनपाल बोला

'लक्ष्मी गोबर बीनती, भिक्षुक है धनपाल,
अमरसिंह मरता दिखा, भला मैं ठनठनपाल !'

यह सुनकर पिता को बड़ा आनन्द हुआ।

यह बात तो प्रसंगवश सुनायी। लेकिन, 'कर्म' नाम गुणसम्पन्न है। नामानुसार ही उसका अर्थ है। कर्म क्रियाजन्य है, वह आत्मा की क्रिया से उत्पन्न होता है। इसलिए उसका नाम सार्थक है।

कर्म काल्पनिक नहीं, वास्तविक है। वह एक प्रकार का पुद्गल है, जड़ है, और आत्मा के विरोधी तत्त्व की तरह काम करता है। इस जगत् में प्राणियों पर जो कुछ दुःख-सुख गुजरते हैं, वे सब कर्मों के ही कारण। कर्म हमारा मित्र नहीं शत्रु है। उसका सम्बन्ध किस तरह छूटे इसी कोशिश में रहना चाहिए।

विशेष विवेचन अवसर आने पर किया जायेगा।

अठारहवाँ व्याख्यान

कर्म की शक्ति

महानुभावो !

जैसे वैद्यक के साथ रसायन का निकट सम्बन्ध है, वैसे ही आत्मा का कर्म के साथ अत्यन्त निकट सम्बन्ध है। परन्तु, यह विषय सूक्ष्म है—सुई की छिद्र के समान सूक्ष्म है, लेकिन कोशिश करेंगे तो अपना मन रूपी डोरा उसमें पिरो सकेंगे।

शुरू में क, ख लिखना कितना कठिन लगता था, लेकिन प्रयत्न जारी रखने से आप सब वर्ण लिखना सीख गये। आज तो आप सारी वर्ण माला एक मिनट में लिख सकते हैं।

प्रयत्न को कायम रखनेवाली श्रद्धा है, इसलिए आपका हृदय श्रद्धा से ओतप्रोत होना चाहिए। निपट मूर्ख भी श्रद्धापूर्वक प्रयास करते रहने से पण्डित बन गये, तो आप-सरीखे उच्च शिक्षा प्राप्त सज्जन श्रद्धा पूर्वक प्रयत्न करने से क्या नहीं कर सकते ?

प्रारम्भ में बालकों को दूध नहीं पचता, इसलिए उसमें पानी मिला-कर दिया जाता है। बाद में शुद्ध दूध भी उन्हें पचने लगता है। हम भी आपको ठोस ज्ञानरूपी दूध को युक्ति, अनुभव और दृष्टान्तों का जल मिलाकर देते हैं, ताकि उसे पचाने में आपको कठिनाई न हो।

यहाँ जो-कुछ कहा जाये, उसे आप एकाग्रचित्त से सुनें और समय मिलने पर गहरा विचार करें। इससे आपको आनन्द आयेगा। आपकी आत्मा प्रसन्न होगी। ज्ञान मे आनन्द देने का विलक्षण गुण है। ज्ञानी मनुष्य साधनरहित अवस्था में भी अपूर्व आनन्द लेता रह सकता है।

कर्म पुद्‌गल है, 'जड़ है', इसलिए उसमें क्या शक्ति होगी ? ऐसा न मानिये। जड़ रेशों की बनी रस्सी बड़े-बड़े हाथियों को भी बाँध सकती है। जड़ वस्तुओं से बनी हुई शराब आदमी को मदहोश कर देती है। जड़ बम का धड़ाका कितनी बरबादी करता है! 'क्रिकेट' की गेंद के आकार वाले एटम बमों ने हिरोशिमा और नागासाकी को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था! अब तो उससे भी पाँच सौ गुनी शक्ति वाला हाइड्रोजन-बम निकला है। तात्पर्य यह है कि 'जड़' में अनन्त शक्ति होती है और इसीलिए वह आत्मा की शक्ति को, आत्मा के गुणों को, दबा सकने में समर्थ है।

शायद आपको शंका होगी कि "जब 'आत्मा' और 'कर्म' दोनों की शक्ति अनन्त है, दोनों समान शक्ति वाले हैं, तो फिर कर्म आत्मा की शक्ति को, आत्मा के गुणों को, कैसे दबा सकते हैं?" इसका समाधान यह है कि, आत्मा की शक्ति पूर्ण विकास पाने पर अनन्त होती है—अर्थात् निश्चय नय से 'आत्मा की शक्ति अनन्त है', लेकिन अगर व्यवहार नय से देखें तो 'उस शक्ति में बड़ी तरतमता है'। इसलिए, प्रारम्भ में वह अति अल्पशक्ति वाला होता है। पीछे धीरे धीरे शक्ति का विकास करता जाता है। और, अन्त में अनन्त तक पहुँचता है। इन परिस्थितियों में अति बलवान कर्मसत्ता उसे दबा सकती है। लेकिन, यह ध्यान रखना चाहिए कि, आत्मा की अन्तिम अनन्त शक्ति कर्म की अनन्त-शक्ति से कहीं अधिक होती है, इसलिए वह कर्म शक्ति को हराकर उसका सम्पूर्ण नाश कर सकने में समर्थ होती है। जैसे दो मनुष्य, दो घोड़ा, दो हाथी में अन्तर होता है, उसी प्रकार दो अनन्तों में भी अन्तर होता है, यानी एक अनन्त बड़ा बलिष्ठ और दूसरा छोटा और कमजोर हो सकता है।

दूसरा विश्व युद्ध प्रारम्भ हुआ तब ब्रिटेन और फ्रांस के सैनिकों को बुरी तरह हार मिली और चारों ओर हिटलर का जयजयकार हो रहा था। ऐसा लगता था कि, हिटलर की सेना सब देशों को बहुत जल्दी

जीत लेगी और हिटलर विश्व-विजेता के रूप में प्रकट होगा। किन्तु, युद्ध दीर्घकाल तक चला और परिस्थिति बदली। इस हद तक परिस्थिति बदली कि हिटलर हार गया और उसे आत्महत्या करनी पड़ी। आत्मा और कर्म के युद्ध में भी ठीक ऐसी ही स्थिति दिखलायी पड़ती है।

पहले कर्म बड़ा जोर दिखाते हैं, लेकिन धीरे-धीरे आत्मा बलवान होता जाता है और आखिर वह कर्मसत्ता को सर्वथा नष्ट कर देता है। पर, यह तो अन्त की बात है। फिलहाल तो कर्मसत्ता को बलवान मान कर ही चलना है।

शास्त्रकारों ने कर्मसत्ता के विषय में निम्न श्लोक कहा है —

नीचैर्गोत्रावतारश्चरमजिनपतेर्मल्लिनाथेऽबलात्व।
मान्ध्य श्रीब्रह्मदत्ते भरतनृपजय. सर्वनाशश्च कृष्णे।
निर्वाणं नारदेऽपि प्रशमपरिणति' स्याच्चिलातीसुतेवा,
त्रैलोक्याश्चर्यहेतुर्जयति विजयिनी कर्मनिर्माणशक्ति' ॥

सब पदों में जिनपति अर्थात् तीर्थंकर का पद श्रेष्ठ होता है। वे ऊँचे क्षत्रियकुल में जन्म धारण करते हैं, ऐसी परापूर्व की रीति है। फिर भी चरम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी दसवें प्राणत स्वर्ग से च्यव कर ऋषभ दत्त ब्राह्मण की भार्या देवानन्दा की कुक्षि में अवतरे। तीर्थंकर होते हुए भी निम्न कुल में क्यों अवतीर्ण हुए ? इसका कारण यह था कि, मरीचि के तीसरे भव में कुल-मद से बाँधा हुआ उनका नीच गोत्र कर्म था। "मेरे दादा तीर्थंकरों में प्रथम, मेरे पिता चक्रवर्तियों म प्रथम और मैं वासुदेवों में प्रथम हूँगा। अहा! मेरा कुल कैसा उत्तम है।" ऐसा कहकर उन्होंने जातिमद किया था। यह कर्म अनेक भवों के भोगने पर भी बाकी बचा हुआ उनके अन्तिम भव में उदय में आया। इसलिए निम्न कुल में जन्म हुआ। यह एक आश्चर्य माना जायेगा, पर कर्मसत्ता के प्राबल्य के कारण ऐसा हुआ था।

सब तीर्थङ्कर पुरुष रूप से जन्मते हैं, यह भी परापूर्व की रीति है।

नमोत्थुण सूत्र में आप उनकी स्तुति करते हुए **'पुरिसुत्तमाण पुरिस सीहाण पुरिसवरपुंडरी आण, पुरिसवर गंधहत्थीण'** आदि कहते हैं। इसका अर्थ है कि, तीर्थङ्कर सब पुरुषों में उत्तम होते हैं। तीर्थङ्करों का उत्तम पुरुषत्व सिद्ध होते हुए भी, उन्नीसवें तीर्थङ्कर श्री मल्लिनाथ ने अबला का अवतार पाया। यह भी क्या कम आश्चर्य की बात है? महाबल कुमार के भव में उन्होंने बड़ी तपश्चर्या की थी, लेकिन उसमें कुछ मायाका सेवन हुआ था। इसलिए इस भव में उन्हें स्त्री-वेद का कर्म उदय में हुआ।

चक्रवर्तियों का शरीर उत्तम लक्षणों से युक्त और अत्यन्त सुन्दर होता है। वे सर्वांग सुन्दर होते हैं। फिर भी ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को अन्धापन प्राप्त हुआ और वह उन्हें सोलह वर्ष तक भोगना पड़ा। यह कर्मजनित आश्चर्य नहीं तो क्या है? ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती अन्धे क्यों हुए, यह भी यहाँ प्रसंगवश बता दें।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की कथा

एक बार एक ब्राह्मण मित्र ने ब्रह्मदत्त से आग्रह किया—"कल अपने कुटुम्ब-सहित आपके यहाँ भोजन करूँगा।" ब्रह्मदत्त ने कहा—"भाई! मेरा भोजन ऐसा है कि मुझे ही पच सकता है, इसलिए मेरे यहाँ जीमने की बात रहने दो!" लेकिन, ब्राह्मण मित्र ने हठ की, इसलिए ब्रह्मदत्त ने उसका कहना स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन ब्राह्मण सपरिवार राजमहल में जीमने गया। वहाँ उन्होंने अत्यन्त तीव्र मादक पदार्थों से बनाया हुआ भोजन किया। उससे उनके होश हवास ठिकाने न रहे, मनोवृत्ति अत्यन्त चंचल हो गयी और वे भान भूल कर अकल्प्य, अभोग्य, अयोग्य क्रीड़ा करने लगे। सुबह जब नशा उतरी, तो अयोग्य क्रीड़ा करने पर अत्यन्त लज्जित हुए। ब्राह्मण ने समझा कि ब्रह्मदत्त ने जानबूझकर मुझे कुछ खिला दिया कि मेरी हालत ऐसी हो गयी। इसलिए देख लेना चाहिए। एक ब्राह्मण चक्रवर्ती का क्या कर सकता है—ऐसा आपको

लगेगा, पर जरा सा मच्छर हाथी के कान में घुस जाये, तो उससे तोबा बुलवा दे। एक जरा सी चिनगारी घास के ढेर को भस्म कर देती है। वह ब्राह्मण बदला लेने के इरादा लेकर वहाँ से लौटा।

जब वह ब्राह्मण एक जगल में होकर जा रहा था, तब उसने एक भरवाड़ को गुलेल से पीपल के पत्तों में छेद करते हुए देखा। ब्राह्मण ने उसके पास जाकर मोहरों का ढेर रख दिया। भरवाड़ बोला—"मेरे लायक कोई कामकाज हो तो बतलाइए।" ब्राह्मण ने कहा—"तुम्हारे लिए यह काम है कि मैं तुम्हें जो आदमी बताऊँ उसकी दोनों आँखें गुलेल से फोड़ दो।" भरवाड़ ने स्वीकार कर लिया। ब्राह्मण भरवाड़ को लेकर कांपिल्य पुर आया, जोकि ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की राजधानी थी। वहाँ ब्राह्मण ने ब्रह्म दत्त को बताया और भरवाड़ ने एक बार मौका देखकर गुलेल से निशाने लगाकर ब्रह्मदत्त की दोनों आँखें फोड़ कर उसे अन्धा कर दिया।

अत मे भरवाड़ पकड़ा गया। उसने सारी बात बता दी। राजा की आज्ञा से नित्य एक थाल भर ब्राह्मणों की आँखें निकाल कर राजा के सामने पेश की जातीं। राजा उन्हें स्पर्श कर तृप्ति का अनुभव करता। ऐसा १६ वर्षों तक चलता रहा। और, मरकर ब्रह्मदत्त ७-वें नरक में गया।

सचमुच, किये हुए कर्म किसी को छोड़ते नहीं। किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि—

आकाशमुत्पततु गच्छतु वा दिगन्त-
मम्भोनिधि विशतु तिष्ठतु वा यथेष्टम्।
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभ कृन्नराणा,
छायेव न त्यजति कर्म फलानुबन्धि॥

—'आप आकाश में उड़ जायें, दिशाओं के परली पार चले जायें, सागर की तली में जाकर बैठ जायें या जहाँ चाहें वहाँ पहुँच जायें, लेकिन जन्मान्तर में जो शुभाशुभ कर्म किये होंगे वे आपकी छाया की तरह आपके साथ रहेंगे। वे अपना फल अवश्य देंगे।'

महाबलवान् भरत चक्रवर्ती अपने भाई बाहुबली से द्वन्द्व युद्ध में हार गये। इसे भी कर्मप्रभाव के सिवा क्या कहें?

श्रीकृष्ण वासुदेव थे। वह अपूर्व ऋद्धि सिद्धि के स्वामी थे और विलक्षण शक्तिशाली थे। धातकी खंड की अपरकका नगरी से द्रौपदी को वापस लाते समय वे ६२॥ योजन पटवाली गंगा नदी को भुजाओं से तैर गये। परन्तु, अन्तिम दिनों में द्वारका में आग लगी, उनका सारा परिवार और सगे-सम्बन्धी उसमें नाश को प्राप्त हुए। माता-पिता को उस सर्वनाश से बचा लेने का उन्होंने भगीरथ प्रयत्न किया, फिर भी सफल नहीं हुए। वसुदेव और देवकी दरवाजे की शिला के गिरने से मृत्यु को प्राप्त हुए। सिर्फ वे और उनके बड़े भाई बलभद्र बचे। वहाँ से जंगल में जाते हुए, बड़ी प्यास लगी। बलभद्र पानी लेने गये और इधर जराकुमार के बाण से उनकी जान गयी। यह कर्मगति नहीं तो क्या है?

चिलातीपुत्र का चमत्कारिक चरित्र

चिलातीपुत्र का चरित्र सुनिये। इसमें आपको कर्म का अद्भुत् चमत्कार दिखायी देगा। पुण्य, शुभ कर्म का प्रबल उदय होने पर ही मनुष्य भव मिलता है। उसमें भी विशेष पुण्यशाली का जन्म आर्यदेश में और उच्चकुल में होता है। चिलातीपुत्र का जन्म मगध देश की राजधानी राजगृही में हुआ था, परन्तु उच्चकुल में नहीं हुआ था। वह धनदत्त सेठ की चिलाती-नामक एक गरीब दासी के पेट से जन्मा था।

एक का जन्म होने पर, बारह प्रकार के बाजे बजें और मिठाइयाँ बँटें और दूसरे के जन्म-समय काँसे की थाली भी न बजे और गुड़ की ककरी भी न बँटे, इसे भी कर्म का चमत्कार मानना ही होगा। अमीर ऐश भोगता है, गरीब कष्ट में रहता है, इसलिए कुल-कुटुम्ब का असर मनुष्य के जीवन पर बहुत गहरा पड़ता है। इसे भी कर्म का ही प्रभाव माना गया है।

कहने लगा—"साधु जी ! मुझे थोड़े मे धर्म बताइये। अगर नहीं कहेंगे तो आपका हाल इस सुषमा जैसा होगा।"

महापुरुष ऐसी धमकी से नहीं डरते। डरें तो घोर जगलों में जाकर तप-ध्यान क्यो करें ? हर प्रकार का भय जीतना उनका विशेष लक्ष्य होता है। उनका हृदय परोपकार भावना से भरा होता है, इसलिए किसी को लाभ होता हो तो धर्म अवश्य सुनाते हैं। यह साधु बड़ी उच्चकोटि के थे। उन्हें चारणलब्धि प्राप्त थी, उन्हें उड़ने की शक्ति प्राप्त थी। उन्होंने चिलातीपुत्र से कहा—"उपशम, विवेक, सवर।" और वे आकाश में गमन कर गये।

चिलातीपुत्र ने इन शब्दों का मतलब कुछ न समझा। लेकिन, यह बात उसके मन में बस गयी थी कि, साधु चमत्कारिक शक्तिधारी थे और उनके कहे हुए शब्द अत्यन्त कल्याणकारी हैं। इसलिए, वह उन शब्दों के अर्थ पर विचार करने लगा।

ज्ञान बाहर से नहीं आता, अन्दर से प्रकट होता है। उसमें चिन्तन-मनन निमित्त भूत बनता है। इसलिए कुछ ही देर में 'उपशम' का अर्थ उसकी समझ में आने लगा कि "उपशम माने शात होना, क्रोध छोड़ देना।' यह जानकर उसने क्रोध की प्रतीकरूप अपनी तलवार छोड़ दी।

इसी प्रकार 'विवेक' का अर्थ प्रकट हुआ कि 'तन, धन और स्वजन का मोह त्याज्य समझने का नाम विवेक है।' यह जानकर उसने मोह-प्रतीक सुषमा का सर दूर फेंक दिया।

तीसरे पद 'सवर' का भी अर्थ जाना कि 'इन्द्रियों तथा मन की प्रवृत्तियो को रोकना सवर है।' यह जानकर वह तन और मन को स्थिर करके उसी जगह शात होकर खड़ा रहा।

सवर आया कि साधुता आयी। चिलातीपुत्र भाव मे साधु बना। यह घटना साधारण चमत्कारी नहीं है। लोग जिन्दगी भर साधु-सन्तों के व्याख्यान सुनते रहते है, अच्छी-अच्छी पुस्तकें पढते हैं, फिर भी इन्द्रियों

और मन को वश मे नहीं रख पाते। चिलातीपुत्र का तो सारा जीवन अधमता में बीता था। उसने न कभी सत्सग किया था न धर्मोपदेश सुना था। परन्तु, पुण्योदय मे भरे जगल म साधु के दर्शन हुए, उपदेश सुना, श्रद्धा लाया, ज्ञान पाया और जानी हुई बात पर फौरन् अमल शुरू कर दिया। यह कोई सहल बात नहीं है। शास्त्रकार भगवतों ने कहा है कि —

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्त सुइ सद्धा सजमम्मिय वीरिय॥

—इस ससार में प्राणियों को इन चार वस्तुओं की प्राप्ति कठिन है, मनुष्यत्व, श्रुति (शास्त्र श्रवण), श्रद्धा और सयम म पुरुषार्थ।

चिलातीपुत्र भाव साधु की कोटि में पहुँच गये और ध्यानमग्न हो गये। लेकिन, उनकी देह अभी तक ताजे लोहू से सनी हुई थी, इस-लिए उसकी गध से खिचकर बहुत-सी वनकीड़ियाँ आकर चिलातीपुत्र के शरीर पर चढकर चटकियाँ ले लेकर लोहू का आस्वादन करने लगीं। इतनी कीड़ियों के काटने का कष्ट सामान्य नहीं था, पर चिलातीपुत्र 'उपशम' का रहस्य समझ गये थे, इसलिए उन्होंने कीड़ियों पर क्रोध नहीं किया, 'विवेक' का रहस्य समझ गये थे, इसलिए उन्होंने शरीर पर ममता नहीं दिखायी, और 'सवर' का रहस्य समझ गये थे, इसलिए दु ख का कोई प्रतिकार नहीं किया।

धर्ममार्ग पर चलनेवालों की कठिन परीक्षा भी होती है, पर उस परीक्षा में से पार उतरनेवालों का बेड़ा पार हो जाता है, यह कभी न भूलिये। कीड़ियों का उपद्रव घड़ी दो-घड़ी नहीं, प्रहर-दो-प्रहर नहीं, पूरे ढाई दिन तक जारी रहा। फिर भी चिलातीपुत्र ने अपने मन को जरा भी डिगने न दिया। जब उन्होंने देहत्याग किया, तब उनके चित्त में

समता थी, शांति थी, इसलिए वे स्वर्ग पहुँचे और देवोपम सुखभोग करने लगे।

कर्मसत्ता मनुष्य के जीवन मे कैसा आकस्मिक परिवर्तन लाती है, इसका यह ज्वलन्त उदाहरण है। एक समय चिलातीपुत्र का नाम लेना भी पाप था, आज वे वन्दनीय हैं।

इस प्रकार कर्मशक्ति त्रिलोक में असख्य आश्चर्य उत्पन्न करती है।

लौकिक शास्त्रों में भी कर्म की शक्ति के विषय में ऐसा ही एक श्लोक कहा है —

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं सेवते,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नम कर्मणे॥

—उस कर्मशक्ति को नमस्कार हो कि, जिसने ब्रह्मा जैसे महान देव को सृष्टि रचने का कुभार का-सा काम सौंपा। विष्णु को सृष्टि के पालन करने का गहन कार्य सौंपा और उसे दस अवतार लेने का कर्त्तव्य देकर बड़े ही सकट में डाल दिया। महेश को सृष्टि के सहार का कार्य दिया और उसके हाथ म भिक्षा का पात्र दे दिया कि भिक्षा मे अपना निर्वाह करता रहे। सूर्य को नित्यप्रति आकाश में परिभ्रमण करते रहने का काम दे दिया।'

बौद्ध शास्त्रों में नीचे का श्लोक आता है —

इत एकनवतितमे कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हत।
तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षव॥

—विहार करते हुए बुद्ध के पैर में काँटा लग गया। तब वे भिक्षुओ से कहने लगे—"हे भिक्षुओ! आज मे इक्यानवें कल्प मे, जब कि म

राजा था, मैंने भाले से एक पुरुष को मारा था। उस कर्मविपाक से मैं आज काँटे से बिद्ध हुआ हूँ।"

तात्पर्य यह कि दीर्घकाल के पश्चात् भी कर्म अपना फल देते हैं। उनकी शक्ति अमोघ है।

अब कर्म की शक्ति को किस तरह तोड़ा जाये ? यह आपको बतलाते हैं। दुश्मन का दुश्मन अपना दोस्त होता है, यह नीति व्यवहार में प्रचलित है। आत्मा का दुश्मन कर्म है और कर्म का दुश्मन धर्म है, इसलिए वह हमारा मित्र है। धर्माराधन करने से हमारा उद्धार हो सकता है।

जैसे लोहे को सोने में परिणत करने के लिए उसका पारसमणि से स्पर्श कराना पड़ता है, उसी प्रकार आत्मा के लिए धर्माराधन करना अनिवार्य है।

जैसे आग पर रखे हुए बरतन का पानी कम होता जाता है, वैसे ही धर्म की आराधना से कर्म की शक्ति कम होती जाती है और अन्त में समाप्त हो जाती है। धर्माराधन से कर्मों की चिकनाहट हटा दो, तो फिर वे आप से नहीं चिपट सकेंगे।

आप अनादिकाल से भौतिक सुखों की आराधना करते आये हैं, अब धर्म की आराधना करें, देवगुरु की भक्ति करें और कर्मों को तोड़ने की चेष्टा करें। कर्मबन्धन टूट जाने पर धर्माराधन की आवश्यकता नहीं रहती। जैसे लाख रुपये की इच्छा वाले को लाख की प्राप्ति हो जाने पर परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं रहती। पानी का घड़ा भरना है, तो उसके भरने तक ही मेहनत करनी है। इसी प्रकार कर्मों के नष्ट हो जाने तक ही धर्म की आराधना करनी है।

हम इस भव में कर्मों को पूर्णतया न काट सके, तो उन्हें ढीला तो कर ही देंगे। ढीले कर्मों का फल कम भोगना पड़ता है। ढीले किये हुए

कर्म अधिक काल तक नहीं टिकते, जैसे जड़ से उखाड़ा हुआ वृक्ष अधिक समय नहीं टिकता।

आप कर्मरूपी खड्डे को जान गये हैं। अब जानबूझकर उसमें न पड़ें।

अक्सर लोग कहते है कि, हम धर्म की आराधना तो करना चाहते हैं, पर नानाविध अन्तरायों के कारण कर नहीं पाते। परन्तु, दृढ इच्छा-शक्ति से काम लें तो अवश्य कर सकते हैं।

विशेष फिर कहा जायगा।
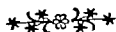
उन्नीसवाँ व्याख्यान

कर्मबन्ध

महानुभावो !

आत्मतत्त्व का विवेचन करते हुए, कर्म का विषय आ उपस्थित हुआ। उसी का वर्णन चल रहा है। रामायण पढ़ते समय रावण का और महावीर-चरित्र पढ़ते हुए गोशाला का वर्णन आवे यह स्वाभाविक है।

'कर्म' किसे कहते हैं और उसकी शक्ति कितनी है, यह हमने पिछले व्याख्यान में विस्तार से बतलाया। फिर भी विषय इतना गहन है कि अभी हमें इस पर बहुत-कुछ और कहना है।

रङ्गभूमि पर खेले जाने वाले नाटकों में सज्जन और खल दोनों प्रकार के पात्र होते हैं। खल का काम सज्जन को तरह-तरह से सताना होता है। इस कार्य में वह अक्सर सफल भी होता है। पर, अन्तत. उसकी शक्ति कुंठित हो जाती है और वह बुरे हाल से मरता है। ससार रूपी-नाटक में भी ठीक ऐसा ही होता है। उसमें सज्जन की जगह आत्मा है और खल की जगह कर्म! कर्मों का मुख्य कार्य, आत्मा को सताना है। इसमें वे अक्सर सफल हो जाते हैं, पर आत्मा की शक्ति ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों 'कर्म' दुर्बल पड़ते जाते हैं और अंत में नाश को प्राप्त होते हैं।

अगर आत्मा अकेला होता, तो शुद्ध स्वरूपी होता, चिदानन्द अवस्था में होता और अनन्तानन्त सुख का उपभोग करता होता। पर, वह अकेला नहीं है, कर्म से युक्त है। कर्मबन्धन के कारण उसे एक गति से दूसरी गति में ससरण करना पड़ता है और जन्म, जरा, व्याधि तथा मृत्यु के विभिन्न दु ख भोगने पड़ते हैं।

एक महानुभाव प्रश्न करते हैं—"आत्मा को कर्मबन्धन कब प्राप्त हुआ ?" इसका यहाँ उत्तर देंगे। यह बात नहीं है कि आत्मा पहले शुद्ध था और बाद मे उससे कर्म चिपट गये। कारण कि शुद्ध आत्मा को भी कर्म लग जाते हों तब तो मुक्तावस्था या सिद्धावस्था प्राप्त हो जाने के बाद भी कर्मबन्धन का प्रसग आ जायेगा। और, सिद्धों को पुन ससार मे भ्रमण करना पड़ जायेगा।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि, सिद्ध जीव भी जगत् के लोगों को दु खी देख कर उनका उद्धार करने के लिए मृत्युलोक में जन्म लेते हैं। पर, यह मान्यता सिद्धान्तसिद्ध नहीं है, युक्तिसगत भी नहीं है। श्री विशेषावश्यक भाष्य म 'सिद्ध' का अर्थ इस प्रकार किया है

"दीहकाल-रय ज तु, कम्मं से सियमट्ठा।
सियं धंतं ति सिद्धस्स, सिद्धत्तमुवजायइ ॥३०२६॥"

—कर्म प्रवाह की अपेक्षा दीर्घकाल की स्थिति वाला है और स्वभाव से आत्मा को मलिन करने वाला है। वह आठ प्रकार से बँधता है। इस अष्टविध बद्धकर्म को जला डाले, उसका क्षय कर डाले, वह 'सिद्ध' कहलाता है, कारण कि वह सिद्ध की सिद्धि है।

शास्त्रों में ११ प्रकार के सिद्धों का वर्णन आता है, (१) कर्मसिद्ध (क्रियासिद्ध), (२) शिल्पसिद्ध, (३) विद्यासिद्ध, (४) मत्रसिद्ध, (५) योगसिद्ध, (६) आगमसिद्ध, (७) अर्थसिद्ध, (८) यात्रासिद्ध, (९) अभिप्रायसिद्ध, (१०) तप सिद्ध और (११) कर्मक्षयसिद्ध। इनमें से केवल अन्तिम कर्मक्षयसिद्ध को ही हम यहाँ 'सिद्ध' कह रहे हैं। णमोकार मत्र म ऐसे ही 'सिद्धों' को नमस्कार किया गया है।

विचार, आसक्ति या इच्छा कर्मजन्य वस्तुएँ हैं। ये ऐसे सकल कर्म रहित सिद्धात्माओं को कैसे हो सकती है ? इसलिए जगत के लोगों को दुखी देखकर उनका उद्धार करने की भावना से यहाँ आना और जन्म लेना असभव है। जन्म, जरा और मृत्यु भी कर्मजन्य अवस्थाएँ है, और

सिद्ध परमात्मा कर्मरहित होते हैं। इसलिए सिद्धात्मा मृत्युलोक में आकर किसी स्त्री के पेट से जन्म लें, यह भी असम्भव है, शास्त्रकारों ने स्पष्ट कहा है कि—

नित्थिन्न-सव्वदुक्खा, जाई-जरा-मरण-बंध विमुक्का।
अव्वाबाहं सुक्खं, अणुहवंति सासयं सिद्धा॥

—जो सर्व दुःखों को सर्वथा तर गये हैं तथा जन्म-जरा मृत्यु के बंधन से छूट गये हैं, ऐसे सिद्ध शाश्वत और अव्याबाध सुख का अनुभव करते हैं।

आप रोज 'नमोत्थुणं-सूत्र' पढते हैं। उसके पदों का बड़ा गम्भीर अर्थ है। उसे समझ लेंगे तभी उसका पाठ भावपूर्वक कर सकेंगे। उसका अर्थ सूरिपुरंदर श्री हरिभद्रसूरिजी ने 'ललितविस्तरा' चैत्यवंदनवृत्ति में समझाया है। उस वृत्ति को पढ़कर श्री सिद्धर्षिगणि की डगमगाती हुई श्रद्धा स्थिर हुई थी। दूसरे भी बहुत-से जीव उस वृत्ति को पढ़कर श्री जिनेश्वर देवकी श्रद्धा-भक्ति में दृढ़ हुए हैं।

नमोत्थुणं सूत्र में श्री अरिहंत देवों को 'सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं' कहा है। अर्थात् जो-जो अरिहंत देव हुए हैं, वे सब सिद्धिगति को प्राप्त हुए हैं। सिद्धिगइ आदि पदों से पूर्व 'सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्ति' शब्द आये हैं। ये सिद्धगति के विशेषण हैं। 'अयल' अर्थात् वह अचल, स्थिर है। 'अरुअ' अर्थात् वह व्याधि और वेदना से रहित है। व्याधि का मूल शरीर है और वेदना का मूल अशुद्ध मन है। शरीर और मन का वहाँ अभाव है, इसलिए व्याधि और वेदना भी नहीं है। 'अणंत' यानी वह अनन्त है, अन्तरहित है। 'अक्खय' यानी वह अक्षय है। 'अव्वाबाह' यानी वह अव्याबाध है, व्याबाधा से रहित है, वहाँ कोई कर्मजन्य पीड़ा नहीं होती। 'अपुणरावित्ति' यानी वहाँ जाने के बाद उसका वापस आना नहीं होता।

अगर शुद्ध यानी कर्मरहित आत्मा को भी कर्म का बन्ध माना जाये तो मुक्ति शाश्वत सुख का धाम नहीं बन सकती, क्योंकि मुक्त आत्माओं को भी चाहे जब कर्मबन्ध होने लगेगा और परिणामत दुःख भोगना पड़ेगा। अगर मुक्ति शाश्वत सुख का धाम नहीं है, तो उसके प्राप्त करने से भी क्या लाभ? कोई बुद्धिमान पुरुष उसके लिए प्रयत्न नहीं करेगा। धर्म भी मुक्ति के लिए ही किया जाता है। इसलिए उसकी भी आराधना निरर्थक ठहरेगी। इस प्रकार शुद्ध आत्मा को कर्मबन्ध मानने से अनेक दोष आते हैं। इसलिए यह मानना उचित नहीं है कि, आत्मा पहले शुद्ध था और बाद में कर्मों से लिप्त हो गया।'

सत्य तो यह है कि आत्मा अनादिकाल से कर्मयुक्त है और कर्म-बाँधना और कर्मफल भोगना निरन्तर चालू रहता है, इसलिए वह कभी सर्वथा कर्मरहित नहीं हुआ। अगर वह कभी सर्वथा कर्मरहित हो गया होता तो अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से लोक के अग्रभाग में पहुँचकर सिद्धशिला पर विराज रहा होता, चार गति और चौरासी लाख जीव योनिरूप ससार में भटक कर विविध दुःखों का अनुभव न करता होता।

"आत्मा पहले से कर्मयुक्त किस प्रकार होता है?" यह प्रश्न कितनों के मन में उठता है। पर, उसका समाधान सरल है। प्रारम्भ में सोना खान में होता है। वहाँ वह मिट्टी मिश्र होता है। सोना खान में से बाहर निकाला जाने के पश्चात् अनेक प्रकार के औषधि-प्रयोग से शुद्ध किया जाता है। उसके बाद वह पीले रग की धातु के रूप में हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। उसी प्रकार आत्मा धर्म के साधन प्राप्त करके ज्यों-ज्यों शुद्ध होता जाता है, त्यों-त्यों उसका प्रकाश बढ़ता जाता है और अन्त में शुभ ध्यान की धारा से चढ़कर सभी कर्मों का नाश करता है। तब वह प्रकाश की पूर्ण कला से खिल उठता है।

आत्मा कर्म-बंधनयुक्त है

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि आत्मा को कर्म का बंधन न हो तो सभी आत्माओं की समान अवस्था हो, क्योंकि आत्मत्व सभी में समान है। लेकिन, हम देखते हैं कि, कितनी ही आत्माएँ स्वर्ग में उत्पन्न होकर देवता का सुख भोग रही है और कितनी ही आत्माएँ नरक मे उत्पन्न होकर नारकी-रूप में घोर वेदना का अनुभव कर रही है, कितनी आत्माएँ तिर्यंच रूप उत्पन्न होकर अनेक प्रकार के दुःख भोग रही है, कितनी आत्माएँ मानव कुल में उत्पन्न होकर मनुष्य रूप में जीवन व्यतीत कर रही हैं। मनुष्यत्व में सब के समान होने पर भी सब की अवस्था समान नहीं है। उनमें कोई राजा है, तो कोई रंक है, कोई श्रीमत है तो कोई भिखारी है, कोई पण्डित है तो कोई मूर्ख है, कोई स्वरूपवान है तो कोई कुरूप है, कोई निरोगी है तो कोई रोगी है। जगत के समस्त वैचित्र्य के पीछे कारण कर्म है।

मूर्त कर्मों का अमूर्त आत्मा पर असर होता है

'क्या मूर्तकर्मों का अमूर्त आत्मा पर असर हो सकता है?'—यह प्रश्न अक्सर पूछा जाता है, इसलिए इसका भी निराकरण कर दें। मूर्त वस्तु अमूर्त वस्तु पर असर डाल ही न सकती हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। ज्ञान अमूर्त है, फिर भी मदिरा आदि का उस पर बुरा असर होता है, दूध आदि का अच्छा असर होता है। लेकिन, यह समझ रखना चाहिए कि, संसारी आत्मा सर्वथा अमूर्त नहीं है, वह कदाचित मूर्त भी है। जैसे आग में डालने से लोहा अग्निमय हो जाता है, वैसे ही संसारी आत्मा का कर्मों से अनादिकाल से सम्बन्ध होने के कारण, वह कर्मरूप बन जाती है, इसलिए वह कदाचित मूर्त भी है, और मूर्त वस्तु का मूर्त वस्तु पर असर हो ही सकता है। इसलिए, कर्म का आत्मा पर असर होता है, ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है।

कितने लोग कर्म को भवितव्यता मानकर कर्मवाद की निन्दा करते हैं। पर जैनधर्म तो विश्व के अनेक रहस्यों को उद्घाटित करने वाला महाविज्ञान है और अंत में वह पुरुषार्थ का प्रशस्त संदेश देने वाला है।

जैन तत्त्वज्ञान में कर्मवाद ओतप्रोत है, यह बात ध्यान में रखनी आपको आवश्यक है। नवतत्त्व पर एक दृष्टि रख कर देखें, इससे ये सभी बातें आपके ध्यान में आ जायेंगी।

नवतत्त्व और कर्मवाद

जिन लोगों ने प्रकरण ग्रंथ का अभ्यास किया है, वे नवतत्त्व के नाम से पूर्णतः परिचित हैं। नवतत्त्व प्रकरण के प्रारम्भ में कहा गया है—

जीवाऽजीवा पुण्णं, पावासवसंवरो य निज्जरणा।
बंधो मुक्खो य तहा, नवतत्ता हुंति नायव्वा॥

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ तत्त्व जानने योग्य हैं।

इस लोक में जितनी वस्तुएँ हैं, उन सब का समावेश जीव और अजीव में हो जाता है, इसलिए ये दोनों विशेष प्रकार से जानने योग्य हैं।

जीव—अर्थात् चेतनायुक्त द्रव्य, आत्मा।

अजीव—यानी चेतनारहित द्रव्य। वह पाँच प्रकार का है—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। कर्म पुद्गल का ही परिणाम है। यह बात मैं पहले समझा चुका हूँ।

फल की अपेक्षा से कर्म के दो प्रकार हैं। १ शुभ फल देने वाले और २ अशुभ फल देने वाले कर्म। शुभ फल देने वाले कर्म पुण्य कहलाते हैं, अशुभ फल देनेवाले पाप। कुछ लोग कर्म का शुक्ल और कृष्ण दो भेद बताते हैं तो कितने ही कुशल और अकुशल दो प्रकार के कर्मों का वर्णन

करते हैं। पर, बात एक ही है। पुण्य कर्मों को शुक्ल और कुशल कर्म भी कहते हैं, पाप कर्मों को कृष्ण और अकुशल कर्म भी कहा गया है। वास्तविक रूप में इनमें कोई अन्तर नहीं है।

यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है ही कि अच्छे काम का फल अच्छा होता है, बुरे काम का फल बुरा होता है। जो जैसा बोयेगा वैसा काटेगा।

किसी ने आम बोया हो और नीम उगी हो अथवा नीम बोयी हो और आम उगा हो, तो कह दे! एक अपढ व्यक्ति से भी पूछो तो कह देगा जो बोया जायेगा, वही काटा जायेगा। गेहूँ बोने पर गेहूँ काटने को मिलेगा, बाजरी बोने पर बाजरी काटने को मिलेगी। इसमें कोई अतर नहीं आने वाला है। पर, आश्चर्य तथा खेद की बात यह है कि यह सीधी-साधी बात भी बहुतों के गले नहीं उतरती। वास्तव में वे पाप-पुण्य की विचारणा ही नहीं करते और इच्छानुसार जीवन व्यतीत करके मनुष्य भव पूरा कर रहे हैं। ऐसे व्यक्ति किस गति में जाने वाले हैं? यह बात आप अपने हृदय में निश्चित रखें कि ऐसे व्यक्ति का अन्त बड़ा करुण होता है और जब उसे अनुभव होता है कि अब जाना ही पड़ेगा तब उसकी हाय-तोबा की कोई सीमा नहीं रहती। उनकी आँखों से बेर के बराबर आकार के आँसू टपकते हैं। वे विचारते हैं—"हमने कुछ पुण्य किया होता तो अच्छा होता।" किन्तु, चिड़िया के खेत चुँग जाने के बाद विचार किस काम का?

कुछ समय पहले, भारत के प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने भी कहा था—"धर्म के बारे में मेरी जानकारी गहरी नहीं है, लेकिन 'अच्छे काम का नतीजा अच्छा होता है, बुरे काम का बुरा'—इसमें मुझे जरा भी शका नहीं है।" इन शब्दों को उन्होंने बड़े अनुभव के बाद कहा है। अत शुभाशुभ कर्म के शुभाशुभ फल में किंचित् मात्र शका नहीं रखनी चाहिए।

आश्रव—कर्म का आत्मा की ओर आना, जैसे तालाब में पानी आने का साधन नाली है, वैसे ही आश्रव आत्मा में कर्म के प्रवेश का साधन है।

संवर—आत्मा की ओर आते हुए कर्मों की रोक। जैसे नाली बंद कर देने से तालाब में नया जल नहीं आता वैसे ही संवर धारण करने से आत्मा में नये कर्मों का प्रवेश नहीं होता।

निर्जरा—कर्मों का खिर जाना। जो कर्म आत्मा को चिपके हुए हैं आत्मा मे तादात्म्य भाव प्राप्त किये हुए हैं, वे कर्म आत्म प्रदेश से (जब) पृथक होते है, तब कर्म निर्जरा हो जाता है।

बंध—कार्मण-वर्गणा के पुद्गलों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना और तादात्म्य भाव प्राप्त करना। कर्म का बंध किस हेतु से होता है, और उनके कितने प्रकार हैं आदि बातें हम बाद में विस्तारपूर्वक समझाएँगे। अत. हम उनका विशेष विवेचन नहीं कर रहे हैं।

मोक्ष—कर्म के सर्व बंधनों में से आत्मा की मुक्ति, शुद्धि, शिवपद, परमपद, पंचमगति, निर्वाण ये उसके पर्याय हैं।

इन नौ तत्त्वों में से कर्मवाद को निकाल लें, तो बाकी क्या रहेगा? इसीलिए हम कहते हैं कि, जैन-तत्त्वज्ञान में कर्मवाद ओतप्रोत है।

जैनधर्म के कर्मवाद को समझ लेने पर पुण्य पाप का विवेक सरलता से किया जा सकता है, और मुमुक्षु पाप को छोड़कर पुण्य मार्ग अपना सकते हैं। लेकिन, जो पाप और पुण्य में भेद नहीं समझते या पाप को पुण्य मानते हैं, वे पापों से कैसे बच सकते हैं? लेकिन दुनिया का ढंग ऐसा है कि, यहाँ पापी भी पुण्यात्माओं की पंक्ति में विराजमान हो जाते हैं!

यहाँ हमें प्राचीनकाल की एक बात याद आती है।

धर्मी कितने हैं ?

मगधपति महाराज श्रेणिक अपनी सभा में बैठे हुए थे। विविध प्रश्नों की चर्चा चल रही थी। वहाँ एक प्रश्न उठा कि—"हमारे नगर मे धर्मी अधिक हैं या अधर्मी ?" सबने एक ही जवाब दिया—"धर्मी"। लेकिन, अभयकुमार को इस उत्तर से सन्तोष नहीं हुआ। उनने कहा—"इस दुनिया में निर्दयी अधिक हैं, दयावान् कम, असत्यवादी अधिक हैं सत्यवादी कम, चोर वृत्ति वाले अधिक हैं प्रामाणिक कम, विषयी अधिक हैं, ब्रह्मचारी कम हैं। हम भी इस दुनिया के एक भाग हैं, इसलिए हमारे यहाँ भी धर्मियों की अपेक्षा अधर्मी अधिक होने चाहिए।" लेकिन, उनकी यह बात किसी को मान्य न हुई।

मन्त्रीश्वर अभयकुमार बुद्धिनिधान थे और समयज्ञ थे, इसलिए उन्होंने उस वक्त विवाद करना फिजूल समझा। सोचा—यह बात समय आने पर सिद्ध करके बता देनी चाहिए। बाद में उन्होंने राजगृही नगरी के बाहर दो बड़े महल तैयार कराये। एक बिलकुल सफेद, दूसरा बिलकुल काला। इन दोनों महलों के बीच में एक सुन्दर बगीचा बनवाया उसमें ऐसा प्रबंध रखा जिसमें कि हजारों आदमी बैठ सकें।

एक दिन मन्त्रीश्वर अभयकुमार ने वहाँ एक उत्सव रखा जिसमें भाग लेने के लिए बहुत से स्त्री-पुरुष आये। अभयकुमार ने उन्हें उद्देश कर कहा—"आप मे से जो धर्मी हों, वे सफेद महल में जायें और जो अधर्मी हों वे काले महल में चले जायें।" वहाँ उत्सव की समस्त व्यवस्था है।

सफेद महल लोगों से खचाखच भर गया। काले महल में सिर्फ इने-गिने लोग पहुँचे। थोड़ी देर बाद वहाँ जाकर अभयकुमार ने पूछा—"आप क्या धर्म करते हैं कि इस सफेद महल म आये हैं ?" उस समय कसाई ने कहा—"मै जीव न मारूँ और उसका मांस न बेचूँ, तो मास खाने वाला क्या खाये ? इस प्रकार नियमित मास की पूर्ति करके मै अपने धर्म का

(२) अविरति, (३) कषाय और (४) योग। इन चारों कारणों का स्वरूप समझ कर कर्मबन्धन से बचा जा सकता है।

मिथ्यात्व

शास्त्रकारों ने कहा है—"इस जगत् में शत्रु बहुत होते है, पर मिथ्यात्व-जैसा कोई शत्रु नहीं है। विष अनेक प्रकार के होते हैं, पर मिथ्यात्व-जैसा कोई विष नहीं है। रोग अनेक प्रकार के होते हैं, पर मिथ्यात्व जैसा कोई रोग नहीं है। अधकार अनेक प्रकार का होता है, पर मिथ्यात्व-जैसा कोई अधकार नहीं है।" इससे आप समझ गये होंगे कि मिथ्यात्व कैसी भयकर वस्तु है!

आभिग्गहियं अणभिग्गहिय तह अभिनिवेसिय चेव।
संसइयमणाभोगं, मिच्छत्तं पंचहा भणिय ॥

'मिथ्यात्व पाँच प्रकार का कहा गया है—१ आभिग्रहिक, २ अनभिग्रहिक, ३ आभिनिवेशिक, ४ साशयिक और ५ अनाभोगिक। खरे-खोटे की परीक्षा किये बगैर ही, अपनी मति में जो आया उसे ही सच मान लेना **आभिग्रहिक मिथ्यात्व** है। सब धर्मों को अच्छा मानना, सब दर्शनों को सुन्दर मानना, सब का वन्दन करना, सबको पूजना और यूँ अमृत और विष को समान गिनना **अनभिग्रहिक मिथ्यात्व** है। सत्य मार्ग जानने पर भी किसी प्रकार का आग्रह हो जाने से असत्य मार्ग की प्ररूपणा करना **आभिनिवेशिक मिथ्यात्व** है, जो निह्नव हुए हैं, वे इस प्रकार के मिथ्यात्व वाले थे। अपने अज्ञान के कारण जिनवाणी का अर्थ न समझ कर, उसमें डगमगाते रहना **साशयिक मिथ्यात्व** है। और, अनजान होने के कारण कुछ समझ न सकना **अनाभोगिक मिथ्यात्व** है। अव्यक्त एकेन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय तक सब जीवों को इस प्रकार का मिथ्यात्व होता है।

मिथ्यात्व एक प्रकार का दृष्टिविपर्यास है। इसके कारण जीव अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म समझता है, अमार्ग को मार्ग और मार्ग को अमार्ग समझता है, अजीव को जीव और जीव को अजीव समझता है, असाधु को साधु और साधु को असाधु समझता है तथा अमुक्त को मुक्त और मुक्त को अमुक्त समझता है। वह लौकिक अर्थात् सामान्य कोटि के देव, गुरु और पर्वों में अनुरक्त रहता है, और जो देव, गुरु और पर्व लोकोत्तर यानी उत्तम कोटि के हैं, उनके द्वारा श्रेय की साधना करने के बजाय प्रेय की प्रियता में पड़ा रहता है। इससे उसका कर्मबन्धन और भवभ्रमण जारी रहता है।

मिथ्यात्व का प्रतिपक्षी सम्यक्त्व है। उसकी प्राप्ति होने पर ही मिथ्यात्व हटता है। इसलिए सब मुमुक्षुओं को सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। आप 'लोगस्स उज्जोअगरे' आदि पदों में तीर्थंकरों की स्तुति करने के बाद कहते हैं—

कित्तिय वंदिय-महिया, जेए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्ग-बोहिलाभ, समाहिवरमुत्तमं दिंतु॥

—जो लोकोत्तम हैं, सिद्ध हैं और मन, वचन, काय से जिनका स्तवन हुआ है, वे मुझे आरोग्य (यानी मुक्ति का सुख) दें, बोधिलाभ (यानी सम्यक्त्व) दें और मरण समय की समाधि दें।*

अविरति

जिसमें विरति न हो वह अविरति कहलाती है। विरति का अर्थ है—व्रत, नियम, त्याग या प्रत्याख्यान। जो आत्मा किसी प्रकार का व्रत

---

* कीर्तन से वाचिक स्तुति वन्दन से कायिक स्तुति और पूजन से मानसिक स्तुति होती है, उत्तम माने मरणसम्बन्धी और वर माने श्रेष्ठ, इस प्रकार यहाँ तात्पर्य मरण सम्बन्धी श्रेष्ठ समाधि से है।

लेता है, नियम धारण करता है, त्याग का आचरण करता है या प्रत्याख्यान करता है वह विरति में है। और जिसे कोई व्रत, नियम, त्याग या प्रत्याख्यान नहीं है, वह अविरति में है।

अविरति के कारण आत्मा ५ इन्द्रियों और ६ ठें मन के द्वारा विषय सुख मे तल्लीन रहता है और ६ काय के जीवो की हिंसा करता है, इसलिए अविरति को कर्मबन्ध का कारण माना गया है। अगर किसी प्रकार का विरति-भाव धारण न किया जाये तो कर्मबन्ध होता ही रहता है।

यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी है कि, आत्मा स्वय कर्मों को ग्रहण करता है, फिर भी 'कर्म लगे' ऐसा कहा जाता है। यह एक प्रकार का भाषा-व्यवहार है। हम गोंद लगाकर डाक की टिकिट चिपकाते हैं, फिर भी 'टिकिट चिपक गयी' कहते हैं।

साधु महात्मा आपको प्रवचन सुनाकर कुछ व्रत नियम-त्याग प्रत्याख्यान करने के लिए कहते हैं, उसका रहस्य यही है कि आप कर्मबन्धन से बच सकें और अपने आत्मा का उद्धार कर सकें।

कषाय

जीव के शुद्ध स्वरूप को जो कलुषित कर दे, उसे 'कषाय' कहते हैं। अथवा जिससे 'कष' यानी ससार की आय यानी आमदनी हो, अर्थात् ससार बढे उसे कषाय कहते हैं। अथवा जो आत्मा को कषे, कसे यानी दु ख दे उसे कषाय कहते हैं, ये कषाय चार प्रकार के है—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ। शास्त्रकारो ने इन्हें भयकर अध्यात्म दोष कहा है।

कोहं च माण च तहेव मायं, लोभं चउत्थ अज्झत्थदोसा।

—क्रोध अर्थात् गुस्सा, द्वेष या वैर-वृत्ति। मान यानी अभिमान, अहकार या मद, माया यानी कपट, दगा अन्य को धोखा देने की वृत्ति और, लोभ अर्थात् तृष्णा, लालसा, या अधिकाधिक लेने की वृत्ति।

इनमें से हर कषाय के—१ अनतानुबधी, २ अप्रत्याख्यानीय, ३ प्रत्याख्यानीय और ४ सज्वलन—इस प्रकार चार-चार भेद हैं, जिनका वर्णन हम आगे करेंगे।

इन सोलह प्रकार की कषायों को जन्म देने वाली नौ प्रकार की नोकषायें हैं। उनके नाम हैं—(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) भय, (५) शोक, (६) जुगुप्सा, (७) पुरुषवेद, (८) स्त्रीवेद और (९) नपुसकवेद। यहाँ वेद शब्द से काम सज्ञा समझनी चाहिए।

कषाय कर्मबन्ध का प्रबल कारण है, इसीलिए शास्त्रकारों ने उनसे दूर रहने का बारबार उपदेश दिया है।

योग

चूल्हे पर पानी की देगची रख दी गयी हो और पानी गरम होने लगे तब उसके प्रदेशों में स्पन्दन होता है, उद्वेलन होता है, चंचलता प्रकट होती है, उसी प्रकार बाह्य और आभ्यन्तरिक निमित्तों के मिलने पर आत्म प्रदेशों में जो स्पदन, उद्वेलन या चचलता आती है, उसे शास्त्रीय परिभाषा में योग कहते हैं। ये योग तीन प्रकार के हैं—(१) मनोयोग, (२) वचनयोग और (३) काययोग। मन के विविध व्यापार मनोयोग हैं, वाणी या वचन के व्यापार वचनयोग हैं और शरीर या काया के व्यापार काययोग है। कर्मबन्ध होने में योगों का महत्त्वपूर्ण भाग होता है, यह याद रखना चाहिए।

कर्मबन्ध के प्रकार

कर्मबन्ध के कारण समझ लेने के बाद कर्मबन्ध के प्रकार भी समझ लेने चाहिए। कर्मबन्ध के चार प्रकार हैं—(१) प्रकृतिबध, (२) स्थिति बध, (३) रसबध और (४) प्रदेश बध।

प्रकृति यानी स्वभाव, स्थिति यानी काल की मर्यादा, रस यानी अनुभव और प्रदेश यानी परमाणु।

जैसे किसी को लड्डू वायु करता है, किसी को पित्त करता है और किसी को कफ करता है। ये उस व्यक्ति के स्वभाव कहे जाते हैं। स्वभावानुसार कोई कर्म ज्ञान को रोके, कोई कर्म दर्शना को रोके और कोई कर्म' शक्ति को रोके, तो यह भी उसका स्वभाव कहलात है। कर्मों के बँधते वक्त इस स्वभाव का निश्चय हो जाता है।

जैसे वृक्ष को फल लगने का समय होता है, वैसे ही कर्म को फल देने का काल होता है। यह काल कम-से कम अन्तर्मुहूर्त का और ज्यादा-से-ज्यादा सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम होता है। कर्मों के बँधते समय यह काल नियत हो जाता है।

कर्म बाँधते समय तीव्र या मद जैसे परिणाम हों, वैसा रस पड़ता है और जैसा रस पड़ा हो वैसा अतितीव्र, तीव्र, मद या मदतर फल भोगना पड़ता है।

आत्मा अपने निकटस्थ कर्मस्कन्धों को योग द्वारा अपनी ओर खींचता है और अपने प्रदेशों में ओतप्रोत कर लेता है। इसे शास्त्री परिभाषा में प्रदेश-बन्ध कहते हैं।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि, जिन आकाश-प्रदेशों में आत्म-प्रदेश अवगहन कर रहे हैं, उन्हीं आकाश-प्रदेशों में कर्मयोग्य पुद्गल स्कन्ध भी अवगाहन रह रहे हैं। ऐसे ही पुद्गल-स्कन्धों को जीव ग्रहण कर सकता है। जिन आकाश प्रदेशों में आत्मा ने अवगाहन नहीं किया और जो कर्मस्कन्ध आत्मप्रदेशों से दूर है उनका कर्मरूप म ग्रहण या परिणमन नहीं होता। आत्मा के प्रदेशों के साथ अवगाढ कर्मस्कन्धो म से भी जीव उन्हें ही ग्रहण कर सकता है जो स्थित यानी स्थिर हों, अस्थिर यानी चचल कर्मस्कन्धों को ग्रहण नहीं कर सकना।

जीव कर्मबध दो प्रकार से करना है—निकाचित और अनिकाचित। कर्म बाँधते वक्त जीव अगर कषाय के तीव्र परिणाम और लेश्या वाला हो, तो उसे निकाचित कर्मबन्ध होता है, और अगर मन्द परिणाम और

लेश्यावाला हो, तो उसे अनिकाचित कर्मबन्ध होता है। अनिकाचित रूप से कर्म-बन्धन किया हो और बाद में जीव के परिणाम बदल जायँ, तो व्रत, नियम, तप, ध्यान आदि द्वारा पहले बाँधे हुए अनिकाचित कर्मों की निर्जरा भी हो जाती है।

अनिकाचित कर्मबन्ध भी तीन प्रकार का होता है—स्पृष्ट, बद्ध और निधत्त। जो कर्मबन्ध अति शिथिल हो वह स्पृष्ट, शिथिल हो वह बद्ध और कुछ गाढ हो वह निधत्त कहलाता है। सुइयों के दृष्टान्त से यह बात अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

सुइयों का ढेर पड़ा हो, उस पर हाथ रखें तो वे बिखर जाती हैं। इसी प्रकार कर्मों का बन्धन अति-शिथिल हो और सामान्य पश्चात्ताप आदि से टूट जाय, उसे स्पृष्ट कर्मबन्ध जानना चाहिए।

सुइयाँ डोरे में पिरोई हुई हों तो उनके निकलने में कुछ देर लगती है। इस तरह जिस कर्मबन्धन के तोड़ने में कुछ देर लगे विशेष आलोचना आदि से टूटे, बद्ध कर्मबन्ध जानना चाहिए।

जो सुइयाँ डोरे में पिरोई हों मगर उलझ गयी हों, उन्हें अलग करने में श्रम करना पड़ता है, उसी तरह जो कर्मबन्धन गाढ हो और जिसे तोड़ने में तदापि विशिष्ट अनुष्ठान करना पड़े, उसे निधत्त कर्म जानना चाहिए।

जिन सुइयों को कस कस कर बाँध कर गट्ठा बना दिया गया हो तो वे किसी तरह अलग नहीं हो सकतीं, उसी प्रकार जो कर्मबन्धन अति गाढ़ हो और जिनका फल भोगे बिना छुटकारा ही न हो, उसे निकाचित-कर्मबन्ध जानना चाहिए।

अशुभ कर्मों का निकाचित बंध हो, तो जीव को बहुत प्रकार की यातनाएँ सहन करनी पड़ती है। इसलिए उससे बचना चाहिए। यह याद रखना चाहिए कि जो कर्म हँसते हँसते बाँध लिए जाते हैं, वे रोते रोते भी नहीं छूटते। धर्मधारण करने से पूर्व श्रेणिक

महाराज ने एक हिरनी का शिकार किया था। हिरनी गर्भवती थी। राजा श्रेणिक के बाण से दोनों के प्राण चले गये। राजा श्रेणिक ने विचार किया—"मैं कैसा पराक्रमी हूँ। कैसा बलवान हूँ कि एक ही बाण से दोनों को बींध डाला!" ऐसे तीव्र अध्यवसाय से उन्हें कर्म का निकाचित-बन्ध हुआ और नरक में जाना ही पड़ा।

अनिकाचित कर्मबन्ध में शुभ अध्यवसायों द्वारा परिवर्तन हो सकता है, पर निकाचित कर्मबन्ध में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। इसीलिए ज्ञानीजन ऐसा कर्मबन्ध न करने के लिए बारबार चेतावनी देते हैं।

विशेष फिर कहा जायगा।

बीसवाँ व्याख्यान

योगबल

महानुभावो !

हम कर्म के विषय म आगे बढ़े, उससे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि, हर एक शास्त्र के अपने पारिभाषिक शब्द होते हैं। उन्हें बराबर ध्यान में रखना चाहिए, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो जाता है। कोई कहे कि 'सैंधव लाओ' तो वहाँ अगर भोजन का प्रसग हो तो, सैंधा नमक लाना चाहिए। और अगर लड़ाई का प्रसग हो तो घोड़ा लाना चाहिए।

गत व्याख्यान में हमने कर्मबध के विषय में कुछ विवेचन किया था और उसमें कर्मबन्ध के कारण बतलाये थे। उन कारणों में चौथा कारण 'योग' था। शास्त्रों में 'योग' शब्द का प्रयोग बहुत-सी जगह होता है। वहाँ यह भी कहा गया है कि 'योग से कर्मबधन टूटता है।' लेकिन, हम यहाँ यह कहना चाहते हैं कि 'योग से कर्मबन्धन होता है।' इन दोनों कथनों में परस्पर विरोध दिखता है, लेकिन वास्तव में परस्पर विरोध है नहीं। सर्वज्ञ वीतराग भगवत प्रणीत शास्त्रों में परस्पर विरोध होता ही नहीं है। यह दोष आपकी समझ का है। उसे आप शास्त्रों पर थोपते है। थोड़ा स्पष्टीकरण से यह बात समझ म आ जायगी। जहाँ यह कहा

है कि 'योग से कर्मबन्धन टूटता है,' वहाँ योग का अर्थ 'प्राणिधान से अत्यन्त शुद्धीकृत धर्मव्यापार' है।*

इस धर्म-व्यापार से कर्मबंधन टूटता है, इसमें आश्चर्य क्या है? जिन-जिन महापुरुषों का कर्मबंधन टूटा है, वह प्राणिधान से अत्यन्त शुद्ध हुए धर्मव्यापार से ही टूटा है।

पर, मैं यहाँ यह कहने वाला हूँ कि 'योग से कर्मबंधन होता है।' यह बात भी उतनी ही सच है। यहाँ 'योग' शब्द प्राणिधान से शुद्ध हुए धर्म-व्यापार के अर्थ में नहीं है।

यहाँ 'योग' शब्द का अर्थ आत्म प्रदेशों का आन्दोलन या स्पन्दन है। ऐसे योग यानी स्पन्दन से आत्मा कार्माण-वर्गणाओं को अपने में मिला लेता है और वही कर्मबन्ध है। यह याद रखना चाहिये कि कार्माण वर्गणाएँ जब आत्मा के साथ मिल जाती हैं तभी वे कर्म कहलाती हैं, उससे पहले नहीं।

योग अर्थात् प्रवृत्ति

'योग' शब्द का एक अर्थ 'व्यापार' या 'प्रवृत्ति' है और आत्मप्रदेशों का आन्दोलन या स्पन्दन आत्मा का व्यापार या प्रवृत्ति है, इसलिए उसे योग संज्ञा दी गयी है। सामायिक ग्रहण करते समय आप 'करेमि भंते! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' ये शब्द बोलते हैं। वहाँ 'जोग' यानी योग का अर्थ 'व्यापार' या 'प्रवृत्ति' ही है।

---

*मुक्खेण जोयणाओ, जोगो सव्वोवि धम्मवावारो।
परिसुद्धो विन्नेओ ठाणाइगओ विसेसेण॥

—श्री हरिभद्र सूरिकृत योगविंशिका

'प्रणिधान से अत्यन्त शुद्ध किया हुआ सर्व धर्मव्यापार मोक्ष में जोड़नेवाला होने के कारण योग जानना चाहिए और विशेषतः स्थानादिगत जो धर्म व्यापार हो उसे योग जानना चाहिए।

आत्मप्रदेश में आन्दोलन किससे होता है ?

आत्मा का स्वभाव सयोग अर्थात् कारण मिलने पर आन्दोलित होने का है। कारण न हो तो वह बिल्कुल स्थिर रहता है। उदाहरण के लिए, सिद्धभगवतों के आत्मप्रदेश बिलकुल स्थिर है, कारण कि वहाँ आत्मप्रदेशों को आन्दोलित करनेवाला कारण विद्यमान नहीं है।

यहाँ यह स्पष्ट कर दें कि, आत्मा के समस्त प्रदेश आन्दोलित होते हैं। लेकिन, उनके मध्य मे जो आठ रुचक प्रदेश हैं, वे आन्दोलित नहीं होते। वे आठ प्रदेश स्थिर रहते है। इसका कारण उनका स्वभाव है।

आत्मप्रदेशों को आन्दोलित करने का कारण दो प्रकार का होता है—एक बाह्य और दूसरा अभ्यन्तर। बाह्य कारण को 'अभिसधि' कहते हैं और उससे होनेवाले योग को 'अभिसधिज-योग' कहते हैं। अभ्यतर कारण को अनभिसधि कहते है और उससे होने वाले योग को 'अनभिसधिज-योग' कहते हैं।

खाना, पीना, हिलना, चलना, दौड़ना आदि बाह्य कारण हैं। उनसे आत्मप्रदेशों मे जो आन्दोलन होता है, वह अभिसधिज योग है। उसमें प्रयत्न की मुख्यता होती है।

आप शात बैठे हों या सो रहे हों, तब भी आपके आत्मप्रदेश में आन्दोलन चलता रहता है। आपकी नाड़ी उस समय भी चलती रहती है, आपका हृदय उस समय भी धड़कता रहता है। यह अनभिसधिज-योग है। उसमे प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती।

योगस्थानक

योग का बल हर समय समान नहीं होता। उसमे सयोगवशात् कमी-बेशी होती रहती है। इस कमी बेशी को ही 'योगस्थानक' शब्द से सूचित किया जाता है। यदि किसी मशीन की शक्ति बताना होता है तो 'हार्स-

पावर' की संज्ञा का उपयोग होता है—जैसे अमुक मशीन में ५० हार्सपावर का बल है, अमुक में १०० हार्सपावर का। बिजली की शक्ति बताने के लिए 'वोल्ट' शब्द प्रयोग में आता है। उसी प्रकार 'योगस्थानक' योग का बल बतलाने वाली संज्ञा है। योगबल का प्रमाण अनंत होने के कारण योग स्थानक असंख्य प्रकार के सम्भव हैं।

प्रदेशबंध

इससे बताने का उद्देश्य यह है कि, आत्मा में हर समय कोई न-कोई एक प्रकार का योगस्थानक अवश्य होता है और आत्मा उस योगस्थानक के परिमाण के अनुसार ही कार्माण वर्गणाएँ ग्रहण करता है। अगर योग स्थानक मंद हो तो आत्मा कम कार्माण-वर्गणाएँ ग्रहण करता है, और अगर वह तीव्रतर, तीव्रतम हो तो उसीके अनुरूप अधिक—जैसे करघा धीमे चलता हो तो कम कपड़ा बुनता है और तेज चलता हो तो ज्यादा।

कार्मण-वर्गणाएँ ग्रहण किये जाते ही आत्मप्रदेशों के साथ मिल जाती हैं तथा पहले के कर्मों के साथ चिमट जाती हैं। आप पूछेंगे कि, नये कर्म पुराने कर्मों से किस तरह चिमट जाती है। यहाँ यह जानना चाहिए कि नये कर्मों के परमाणुओं में चिकनाहट होती है। इसी कारण वह पुराने कर्मों से चिमट जाती हैं।

इस क्रिया में कार्माण-वर्गणाओं के परमाणुओं का समूह आत्मप्रदेशों के साथ मिश्र होता है, इसलिए उसे प्रदेशबंध कहा जाता है।

प्रकृतिबंध भी योगबल से ही होता है

चार प्रकार के कर्मबंध में से प्रदेशबंध की चर्चा हो गयी। बाकी रहे तीन कर्मबंध—प्रकृतिबंध, स्थितिबंध और रसबंध। इनमें से प्रकृतिबंध भी योगबल से ही होता है।

एक साथ दो बंध किस रूप में पड़ते हैं? यह प्रश्न कदाचित् आपके मन में उठता हो। पर, एक साथ अनेक क्रियाएँ हो सकती हैं। एक

ही समय में इंजिन में कोयला पड़ता हो, पानी डाला जाता हो, ईंधन जलता हो, उसका धक्का लगने से दंड ऊँचा-नीचा होता हो, और उसकी पहिया चलती हो जैसे सम्भव है, उसी प्रकार यहाँ भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

जिस समय कार्माण-वर्गणाएँ आत्मप्रदेशों के साथ मिश्रित होती हैं उसी समय योगस्थानक के बल के अनुसार उसके भेद हो जाते हैं और हर भेद के कार्य का नियमन हो जाना ही प्रकृतिबंध है।

जिस कर्म का भाग न होता हो, और उसका पृथक पृथक स्वभाव निश्चित न होता हो, तो कर्म एक प्रकार का ही रहता है। और, उसका परिणाम एक प्रकार का होता है। पर, अपने को जानना चाहिए कि, कर्म का परिणाम विचित्र होता है। इस कारण कर्म का स्वभाव एक समान न होकर विविधतावाला होता है। और, वह प्रदेशबंध पड़ते समय निर्मित होता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि कार्मण-वर्गणा का भाग होता है। इस कारण वह अपने-अपने जत्थे में चिमट जाता है। एक बड़ी बजार में विभिन्न तरह की चीजें आती हैं, पर अपने अपने समूह में रखी जाती हैं।

कर्मों की मूल प्रकृतियाँ

कर्मों के स्वभाव कुल आठ प्रकार के हैं (१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्त और (८) अन्तराय।

यहाँ एक महानुभाव प्रश्न करते हैं—'कर्म की प्रकृति के साथ 'मूल' विशेषण लगाने का कारण क्या है?' इसका उत्तर यह है कि, हर एक कर्म की उत्तर प्रकृति है। उससे भिन्नता दर्शाने के लिए यहाँ 'मूल' विशेषण लगाया गया है।

आपने 'अष्टकर्म' शब्द का प्रयोग तो बहुत बार सुना होगा। चैत्यवंदन,

कार्मण वर्गणाएँ ग्रहण किये जाते ही आत्मप्रदेशों के साथ मिल जाती हैं तथा पहले के कर्मों के साथ चिपट जाती हैं। आप पूछेंगे कि, नये कर्म पुराने कर्मों से किस तरह चिपट जाती है। यहाँ यह जानना चाहिए कि नये कर्मों के परमाणुओं में चिकनाहट होती है। इसी कारण वह पुराने कर्मों से चिपट जाती है।

इस क्रिया में कार्मण-वर्गणाओं के परमाणुओं का समूह आत्मप्रदेशों के साथ मिश्र होता है, इसलिए उसे प्रदेशबंध कहा जाता है।

प्रकृतिबंध भी योगबल से ही होता है

चार प्रकार के कर्मबंध में से प्रदेशबंध की चर्चा हो गयी। बाकी रहे तीन कर्मबंध—प्रकृतिबंध, स्थितिबंध और रसबंध। इनमें से प्रकृतिबंध भी योगबल से ही होता है।

एक साथ दो बंध किस रूप में पड़ते हैं? यह प्रश्न कदाचित् आपके मन में उठता हो। पर, एक साथ अनेक क्रियाएँ हो सकती हैं। एक

ही समय में इंजिन में कोयला पड़ता हो, पानी डाला जाता हो, ईंधन जलता हो, उसका धक्का लगने से दंड ऊँचा-नीचा होता हो, और उसकी पहिया चलती हो जैसे सम्भव है, उसी प्रकार यहाँ भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

जिस समय कार्माण-वर्गणाएँ आत्मप्रदेशों के साथ मिश्रित होती है उसी समय योगस्थानक के बल के अनुसार उसके भेद हो जाते हैं और हर भेद के कार्य का नियमन हो जाना ही प्रकृतिबंध है।

जिस कर्म का भाग न होता हो, और उसका पृथक पृथक स्वभाव निश्चित न होता हो, तो कर्म एक प्रकार का ही रहता है। और, उसका परिणाम एक प्रकार का होता है। पर, अपने को जानना चाहिए कि, कर्म का परिणाम विचित्र होता है। इस कारण कर्म का स्वभाव एक समान न होकर विविधतावाला होता है। और, वह प्रदेशबंध पड़ते समय निर्मित होता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि कार्मण-वर्गणा का भाग होता है। इस कारण वह अपने-अपने जत्थे में चिमट जाता है। एक बड़ी बखार में विभिन्न तरह की चीजें आती हैं, पर अपने अपने समूह में रखी जाती हैं।

कर्मों की मूल प्रकृतियाँ

कर्मों के स्वभाव कुल आठ प्रकार के हैं (१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्त और (८) अन्तराय।

यहाँ एक महानुभाव प्रश्न करते है—'कर्म की प्रकृति के साथ 'मूल' विशेषण लगाने का कारण क्या है?' इसका उत्तर यह है कि, हर एक कर्म की उत्तर प्रकृति है। उससे भिन्नता दर्शाने के लिए यहाँ 'मूल' विशेषण लगाया गया है।

आपने 'अष्टकर्म' शब्द का प्रयोग तो बहुत बार सुना होगा। चैत्यवंदन,

पावर' की संज्ञा का उपयोग होता है—जैसे अमुक मशीन में ५० हार्सपावर का बल है, अमुक में १०० हार्सपावर का। बिजली की शक्ति बताने के लिए 'वोल्ट' शब्द प्रयोग में आता है। उसी प्रकार 'योगस्थानक' योग का बल बतलाने वाली संज्ञा है। योगबल का प्रमाण अनंत होने के कारण योग-स्थानक असंख्य प्रकार के सम्भव हैं।

प्रदेशबंध

इसमें बताने का उद्देश्य यह है कि, आत्मा में हर समय कोई-न-कोई एक प्रकार का योगस्थानक अवश्य होता है और आत्मा उस योगस्थानक के परिमाण के अनुसार ही कार्माण वर्गणाएँ ग्रहण करता है। अगर योग स्थानक मंद हो तो आत्मा कम कार्माण-वर्गणाएँ ग्रहण करता है, और अगर वह तीव्रतर, तीव्रतम हो तो उसीके अनुरूप अधिक—जैसे करघा धीमे चलता हो तो कम कपड़ा बुनता है और तेज चलता हो तो ज्यादा।

कार्मण-वर्गणाएँ ग्रहण किये जाते ही आत्मप्रदेशों के साथ मिल जाती हैं तथा पहले के कर्मों के साथ चिमट जाती हैं। आप पूछेंगे कि, नये कर्म पुराने कर्मों से किस तरह चिमट जाती हैं। यहाँ यह जानना चाहिए कि नये कर्मों के परमाणुओं में चिकनाहट होती है। इसी कारण वह पुराने कर्मों से चिमट जाती है।

इस क्रिया में कार्माण-वर्गणाओं के परमाणुओं का समूह आत्मप्रदेशों के साथ मिश्र होता है, इसलिए उसे प्रदेशबंध कहा जाता है।

प्रकृतिबंध भी योगबल से ही होता है

चार प्रकार के कर्मबंध में से प्रदेशबंध की चर्चा हो गयी। बाकी रहे तीन कर्मबंध—प्रकृतिबंध, स्थितिबंध और रसबंध। इनमें से प्रकृति-बंध भी योगबल से ही होता है।

एक साथ दो बंध किस रूप में पड़ते हैं? यह प्रश्न कदाचित् आपके मन में उठता हो। पर, एक साथ अनेक क्रियाएँ हो सकती हैं। एक

ही समय में इंजिन में कोयला पड़ता हो, पानी डाला जाता हो, ईंधन जलता हो, उसका धक्का लगने से दंड ऊँचा नीचा होता हो, और उसकी पहिया चलती हो जैसे सम्भव है, उसी प्रकार यहाँ भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

जिस समय कार्माण-वर्गणाएँ आत्मप्रदेशों के साथ मिश्रित होती हैं उसी समय योगस्थानक के बल के अनुसार उसके भेद हो जाते हैं और हर भेद के कार्य का नियमन हो जाना ही प्रकृतिबंध है।

जिस कर्म का भाग न होता हो, और उसका पृथक्-पृथक् स्वभाव निश्चित न होता हो, तो कर्म एक प्रकार का ही रहता है। और, उसका परिणाम एक प्रकार का होता है। पर, अपने को जानना चाहिए कि, कर्म का परिणाम विचित्र होता है। इस कारण कर्म का स्वभाव एक समान न होकर विविधतावाला होता है। और, वह प्रदेशबंध पड़ते समय निर्मित होता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि कार्मण-वर्गणा का भाग होता है। इस कारण वह अपने-अपने जत्थे में चिमट जाता है। एक बड़ी बखार में विभिन्न तरह की चीजें आती हैं, पर अपने अपने समूह में रखी जाती हैं।

कर्मों की मूल प्रकृतियाँ

कर्मों के स्वभाव कुल आठ प्रकार के हैं (१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्त और (८) अन्तराय।

यहाँ एक महानुभाव प्रश्न करते हैं—'कर्म की प्रकृति के साथ 'मूल' विशेषण लगाने का कारण क्या है?' इसका उत्तर यह है कि, हर एक कर्म की उत्तर प्रकृति है। उससे भिन्नता दर्शाने के लिए यहाँ 'मूल' विशेषण लगाया गया है।

आपने 'अष्टकर्म' शब्द का प्रयोग तो बहुत बार सुना होगा। चैत्यवंदन,

स्तवन, सज्झाय, आदि में यह अनेक बार आया है। वहाँ अष्टकर्म में कर्म की इन मूल आठ प्रकृतियों को ही समझना चाहिए।

आयुष्य-कर्म का बंध कब और कैसे होता है ?

कर्म की आठ प्रकृतियों में से आयुष्य-कर्म का बंध एक ही बार होता है। शेष सात प्रकृतियों का बंध समय-समय पर होता रहता है। कोई भी संसारी आत्मा ऐसी नहीं होती जो कि अपने भव में आयुष्य कर्म बाँधे बगैर रहे।

आयुष्य कर्म की अवधि तक ही जीया जा सकता है, उसके पूरा होते ही देह छोड़नी पड़ती है और नयी देह धारण करनी पड़ती है। आपने बम्बई से सूरत तक टिकट निकाला हो तो बम्बई से सूरत तक ही यात्रा करनी पड़ती है। सूरत स्टेशन पर नीचे उतरना ही पड़ता है। इससे आप बात भली प्रकार समझ गये होंगे।

पिछले जन्म में आप जो आयुष्य-कर्म बाँधकर आये, उसे इस जन्म में भोगेंगे और वर्तमान जन्म में जो आयुष्य कर्म बाँधेंगे उसे अगले जन्म में भोगेंगे। जब तक आपका आयुष्य हो तब तक जिन्दा रह सकते हैं और जीवन का सदुपयोग करें तो आत्महित कर सकते हैं। अगर, यह जीवन यूँ ही बरबाद कर दिया, तो भारी कर्मबंध होगा और उसके फल भोगने के लिए विविध योनियों में परिभ्रमण करना पड़ेगा। वहाँ कैसे-कैसे दुःख भोगने पड़ते हैं, यह आप अच्छी तरह जानते हैं।

इस जन्म में कैसा आयुष्य बाँधना यह आप के हाथ में है। अगर दान, शील, तप, भाव आदि का आराधन करेंगे तो मनुष्य या देव का आयुष्य बाँध सकेंगे और अगर भोग विलास या दुराचार में पड़ेंगे तो तिर्यंच या नारकी का आयुष्य बँधेगा।

आप मानते हैं कि ज्यों-ज्यों दिन बीतते हैं, त्यों-त्यों आपकी आयु बढ़ती है। लेकिन, यह एक प्रकार का भ्रम है एक दिन गया कि उतनी

उम्र घट गयी। भाषा के कितने ही प्रयोग कुछ का कुछ अर्थ दर्शाते है। जैसे रोग से जब आँखें लाल बन जाती है। तो कहते हैं 'आँखें आ गयीं', परन्तु तथ्य तो यह है आँखें जाने को तैयार होती हैं। किसी के पेट में पीड़ा होती है, तो पुराने विचार वाले पौने को गरम करके उससे दाग देते है। और, उसे नाम देते हैं कि—'ठंडा कर दिया।' एक मनुष्य की दो पत्नियाँ हों। एक दूसरी को शोक्य माने और एक दूसरी से भयकर ईर्ष्या करे, पर दोनों बहन कहलाती है। अपने देश में गोला नाम की एक जाति है। वह दलने, कूटने आदि की मेहनत मजदूरी का काम करती है। पर वे लोग कहलाते हैं—'राणा'। इसी प्रकार आप कहते हैं कि 'मेरी उम्र बढी।' पर, यह एक प्रकार का भ्रामक भाषा-प्रयोग है। सच बात तो यह है कि उम्र बढती नहीं घटती है।

किसी ने एक विद्वान से पूछा—'क्यों भाई, सकुशल हो?' उसने जवाब दिया—'जहाँ हर रोज उम्र कम होती जा रही हो, वहाँ कुशल कैसी?' पर, आपको उसकी कोई चिन्ता नहीं है। इसलिए आप इसे अपना कुशल माने बैठे हैं और आयुष्य को ऊँटपटाग रूप में गँवा रहे हैं।

महापुरुष कहते हैं —

उत्थायोत्थाय बोधव्य, किमद्य सुकृत कृतम्।
आयुष खण्डमादाय, रविरस्तमय गत.॥

—उठ-उठ कर विचार करो कि, आयुष्य का एक टुकड़ा लेकर सूर्य तो अस्ताचल के समीप गया, इस बीच मैंने क्या सुकृत किया?

लेकिन, जो प्रमाद या मूढ़तावश गहरी नींद ले रहे हैं, वे न तो उठते है, न जागते है और यदि जागते भी हैं तो विचार नहीं करते।

आयुष्य कर्म जीवन में एक बार बँधता है और वह भावना, मनोवृत्ति या क्रिया के अनुसार बँधता है। वह शुभ हुई तो आयुष्य सद्गति का बँधता है और अगर अशुभ हुई तो दुर्गति का बँधता

है। इसलिए हमें चाहिए कि हमेशा शुभ भावना, शुभ मनोवृत्ति रखें और ज्ञानियों की बतायी हुई सत् क्रियाओं में लगे रहें। जिसने सारा जीवन पापमय प्रवृत्तियों में बिताया हो, खराब काम किये हों, तुच्छ भावनाएँ रखी हों, वह आयुष्य कर्म बाँधते समय दुर्गति का आयुष्य बाँधता है। यद्यपि इसमें भी अपवाद है। बहुत से लोग सारी जिन्दगी अच्छी तरह बिताते हैं, मगर जब आयुष्य कर्म बँधने का समय आता है, तभी उनकी भावना या मति बिगड़ जाती है, जिससे कि वे दुर्गति का आयुष्य बाँधते हैं। उसी तरह बहुत से लोग ऐसे होते हैं कि सारा जीवन खराब बिताते हों, लेकिन जब आयुष्य बाँधने का समय आये तभी उनकी मति सुधर जाती है और वे सद्गति का आयुष्य बाँधते हैं। परन्तु ये अपवाद हैं। राजमार्ग तो वही है, जो ऊपर बतला दिया गया है।

हमें अपने जन्म की तिथि मालूम है, मगर अपने मरण की तारीख नहीं मालूम। इसलिए, हमें सदैव सावधान रहना चाहिए और अच्छे काम करते रहना चाहिए।

संख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच अपने जीवन के तीसरे भाग में आयुष्य बाँधते हैं, जैसे अगर किसी की आयु ६० वर्ष की है, तो वह ४० वर्ष पूरा होते ही आयुष्य बाँधेगा। उस समय उसकी उम्र का तीसरा भाग बाकी रहता है। अगर वह उस समय आयुष्य न बाँधे, तो जितने वर्ष बाकी रहे हैं, उनके तीसरे भाग में बाँधेगा; अर्थात् १३ वर्ष और ४ महीना और व्यतीत कर बाँधेगा, और अगर उस वक्त न बाँधे तो बाकी बचे ६ वर्ष और ८ महीने के तीसरे भाग में बाँधेगा। इसी तरह आयुष्य का तीसरा भाग करते जायें। अगर इनमें से किसी समय आयुष्य-कर्म न बाँधे, तो आखिर मरण के समय अन्त मुहूर्त में बाँधेगा। लेकिन, बाँधेगा जरूर।

ज्ञानीजन कहते हैं कि, आयुष्य का बंध बहुत करके पर्व तिथियों के दिनों में होता है, इसलिए उन दिनों धर्माराधन विशेष परिमाण में करना

चाहिए। हमारे यहाँ पर्व तिथियों के दिनो में पोषध करने का रिवाज है। अगर वह न बन सके तो यथाशक्ति तपश्चर्या तथा धर्म ध्यान करने का विधान है। अभक्ष्य का त्याग, हरी चीजों का त्याग, और रात्रिभोजन का त्याग तो करना ही चाहिए।

पर्व अनादि काल मे चले आये है। उन दिनों उल्लास बढता है और भावना जागती है, जिससे गुरुकर्मी आत्मा लघुकर्मी बन जाती है। इस प्रकार काल भी कभी कभी कारण बन जाता है।

तीर्थक्षेत्रों में भी, पवित्र वातावरण के कारण धर्म करने की भावना विशेष जाग्रत होती है। आमतौर पर कजूस कहे जाने वाले लोग भी वहाँ जाकर उदारतापूर्वक पैसा खर्च करते देखे जाते हैं। इसलिए तीर्थ-क्षेत्रों में बारबार जाना चाहिए और यथाशक्ति धर्माराधन करना चाहिए। इस प्रकार क्षेत्र भी भावोल्लास का कारण बनता है।

इसका अर्थ कोई यह न करे कि, धर्म तो पर्व के दिनों में या तीर्थक्षेत्रों में जाने पर ही करना चाहिए। वह तो हर रोज करना चाहिए, हर घड़ी और हर पल करना चाहिए। जो हर रोज धर्म करते हों उन्हें पर्व-तिथि के रोज या तीर्थक्षेत्र में जाने पर विशेष धर्म करना चाहिए। उस समय उल्लास बढ़ाना चाहिए।

भावना या उल्लासरहित धर्मक्रिया धीमे-धीमे फल देती है और अल्प मात्रा में देती है, लेकिन भावना या उल्लास पूर्वक की हुई धर्म-क्रिया खूब फल देती है।

अग्नि मन्द हो तो प्रसग आने पर तीव्र या उग्र बन सकती है, लेकिन जहाँ आग ही न हो वहाँ तीव्र या उग्र होने का प्रसग कैसे आयेगा? इसलिये, प्रतिदिन यथाशक्ति धर्म करते रहें तो ऐसा समय भी आ सकता है जबकि भावोल्लास खूब बढ़ जाये और हमारा काम बन जाये। मात्र भोगविलास में रहने से तो सार्थवाह के पुत्रों की सी हालत होगी।

र वनखण्डों में मन बहलाना, मगर दक्षिण दिशा में मत जाना, क्योंकि वहाँ एक दृष्टिविष सर्प है। वहाँ जाने में जान का खतरा है।" इस तरह दो-तीन बार समझा कर, रयणा देवी अपने काम पर चली गयी।

देवी के चले जाने पर दोनों भाई बेचैन रहने लगे। मन बहलाने के लिए उत्तर, पूर्व और पश्चिम के वनखण्डों में गये, लेकिन उनका मन प्रमुदित नहीं हुआ। अन्त में वे विचार करने लगे कि "देवी ने हमें दक्षिण दिशा में जाने के लिए मना किया है, लेकिन हो न-हो उसमें कुछ रहस्य अवश्य है। उसका पता लगाना चाहिए।"

वे दक्षिण के वनखण्ड में प्रविष्ट होकर बड़ी सावधानी से चलने लगे। कुछ दूर गये होंगे कि घोर दुर्गंध आने लगी। कुतूहलवश उसका पता लगाने लगे। वहाँ उन्होंने एक शूली देखी जिस पर एक आदमी चढ़ा हुआ था। उसके पास के कुएँ से असह्य दुर्गन्ध आ रही थी। उसमें झाँककर देखा तो सड़ता हुआ लाशों का ढेर दिखायी दिया। उन्हें यह समझने में देर न लगी कि, लोगों को शूली पर चढ़ाकर कुएँ में फेंक दिया गया है।

शूली पर चढ़ा हुआ आदमी अभी जीवित मालूम होता था। दोनों भाई उसके पास गये और पूछने लगे—"भाई! तुम कौन हो? यहाँ क्यों आये? और तुम्हारी यह दुर्दशा किसने की?" उस आदमी ने उत्तर दिया—"मैं काकदी-नगरी में रहनेवाला घोड़ों का व्यापारी हूँ। एक बार अनेक जाति के घोड़े आदि लेकर लवण समुद्र की यात्रा पर निकला था। वहाँ तूफान में जहाज टूट गया। तख्ते के सहारे इस द्वीप पर आया। यहाँ रयणादेवी के आमन्त्रण से उसके साथ रहकर भोग भोगता रहा। एक बार एक अत्यन्त अकिंचन कारण से वह कोपायमान हुई और उसने मेरी यह दशा कर डाली। तुम्हारी भी ऐसी हालत न कर दे इसका खयाल रखना।"

यह सुनकर दोनों भाई भयभीत हुए। रयणादेवी ऐसी क्रूर-घातकी-निष्ठुर होगी, इसकी उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी। उन्होंने उस आदमी से पूछा—"रयणा देवी के पजे से छूटने का कोई उपाय भी है ?" वह आदमी बोला—"पूर्व दिशा के वनखड मे एक यक्ष का मदिर है। उसम सेलक नामक यक्ष रहता है। वह अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन प्रकट होकर कहा करता है 'किसका रक्षण करूँ ? किसको तारूँ ?' तब तुम लोग कहना 'हमारा रक्षण करो।' हमें तारो। हे देवानुप्रियो ! तुम दोनों वहाँ जाओ और उसकी विविध प्रकार के पुष्पों स बहुमानपूर्वक पूजा करो। इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है।"

दोनों भाई पूर्व दिशा के वनखड म गये। वहाँ एक मनोहर जलाशय में स्नान किया। पास के सरोवर से कमल के फूल तोड़े और यक्षमूर्ति को भावपूर्वक प्रणाम करके उसकी कमल पुष्पों से पूजा की। फिर, उसकी पर्युपासना करते हुए सामने बैठे रहे। अनुक्रम से सेलक-यक्ष प्रकट हुआ और बोला—"किसका रक्षण करूँ ? किसको तारूँ ?" तब दोनों भाइयों ने कहा—"हमारा रक्षण करो। हमें तारो !"

सेलक यक्ष ने कहा—"हे देवानुप्रियो ! तुम्हें बचाने के लिये मैं तैयार हूँ, लेकिन मेरी एक बात सुन लो। मैं अश्व का रूप धारण करके तुम्हें अपनी पीठ पर बिठाकर लवण समुद्र पार करके तुम जहाँ जाना चाहोगे पहुँचा दूँगा। परन्तु, इस तरह जब मैं लवण-समुद्र के मध्यमें आऊँगा, तब रयणादेवी तुम्हारा पीछा करती हुई आ पहुँचेगी और प्रतिकूल और अनुकूल उपसर्गों द्वारा तुम्हें चलायमान करने का प्रयत्न करेगी। इस समय अगर तुम चलित हो गये और उसके प्रति आकृष्ट हो गये तो उसी क्षण मैं तुम्हें अपनी पीठ से फेंक दूँगा। इसलिए सोच कर उत्तर दो।"

सार्थवाह के पुत्र किसी तरह रयणादेवी के पजे से छूटना चाहते थे, इसलिए उन्होंने यह शर्त स्वीकार कर ली। यक्ष ने अश्व का रूप धारण किया और उन्हें पीठ पर बिठाकर लवण-समुद्र लाँघने लगा।

रयणादेवी को मालूम हो गया कि, सार्थवाह के दोनों पुत्र रत्नद्वीप छोड़ कर अपने देश की ओर जा रहे हैं। वह अत्यन्त कुपित होकर हाथ में ढाल-तलवार लेकर उनका पीछा करती हुई लवण समुद्र के बीच उनके पास आ पहुँची और कहने लगी—"अरे माकंदी पुत्रो! तुमने यह क्या किया? मेरी अनुमति के बिना रत्नद्वीप कैसे छोड़ा? अब भी भलमनसाहत से वापस चलो, वर्ना तुम्हारे टुकड़े टुकड़े कर दूँगी।"

परन्तु, सार्थवाह के पुत्रों ने उसकी ओर न देखा। सेलक यक्ष आगे बढ़ता गया। इस तरह प्रतिकूल उपसर्ग निष्फल जाते देखकर रयणादेवी ने अनुकूल उपसर्ग करने का निर्णय किया। वह कहने लगी—"तुमने मेरे साथ अनेक बार हास्य विनोद और कुतूहलपूर्ण काम क्रीड़ा की है, वन-उपवन में साथ सैर की है, क्या वह सब बिल्कुल भूल गये? ऐसे निष्ठुर होकर मेरा त्याग क्यों कर रहे हो? तुम्हारी सज्जनता कहाँ गयी? तुम्हारा औदार्य कहाँ गया? तुम्हारी कुलीनता कहाँ गयी? तुम्हारा स्नेह कहाँ गया?"

इन वचनों से जिनरक्षित कुछ ढीला पड़ा, इसलिए रयणा देवी उसे लक्ष्य करके बोली—"मैं जिनपालित को अप्रिय थी और मुझे भी वह अप्रिय था। लेकिन, हे जिनरक्षित! तू तो मुझे अत्यन्त प्रिय था और मैं भी तुझे अत्यन्त प्रिय थी। तू मेरे वचनों की उपेक्षा कैसे कर रहा है? तू मुझे अकेली अनाथ छोड़ कर क्यों चला जा रहा है? तेरे बिना मैं एक पल भी नहीं रह सकती, इसलिए भला होकर लौट चल। अगर मेरा कोई कसूर हुआ हो तो मैं तुझसे बारबार क्षमा माँगती हूँ। ओ हृदयवल्लभ! तू एक बार मेरी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टिपात कर, जिससे कि तेरा सुन्दर मुख-कमल देखकर अपने सन्तप्त हृदय को शांत करूँ।"

इन प्रेमपूर्ण मधुर वचनों से जिनरक्षित का चित्त चलित हो गया और वह पहले से भी ज्यादा प्रेम से रयणा देवी की ओर आकृष्ट हुआ और उसे विकारयुक्त दृष्टि से देखने लगा। यह बात सेलक यक्ष ने अपने

ज्ञानबल से तुरन्त जान ली और उसे अपनी पीठ से फेंक दिया। वह समुद्र के अगाध जल में गिरे उससे पहले रयणादेवी ने उसे खड्ग की अनी पर लेकर बींध डाला।

इस तरह जिनरक्षित का बुरा हाल करने के बाद, वह जिनपालित के पीछे पड़ी और उसे विचलित करने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न करने लगी। लेकिन, वह चलायमान नहीं हुआ। आखिर रयणादेवी अत्यन्त निराश होकर जिधर से आयी थी उधर चली गयी।

सेलक यक्ष ने चम्पा नगरी के पास एक मनोहर उद्यान में पहुँचकर जिनपालित को अपनी पीठ से उतारा और लौटने की इच्छा प्रकट की। जिनपालित ने उसका बड़ा आभार माना और विदा दी।

जिनपालित अपने घर पहुँचा और प्रारम्भ से अन्त तक सारी कथा सुनायी। माता पिता ने जिनरक्षित का बड़ा शोक किया और सगे-सम्बन्धियों के साथ मिलकर उसकी लौकिक क्रिया की।

एक बार महावीर प्रभु चपा नगरी के पूर्णभद्र चैत्य में पधारे। जिनपालित उनका उपदेश सुनने गया और वैराग्य पाकर प्रव्रजित हुआ। अनुक्रम से उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और अन्त समय एक मास का अनशन करके सौधर्मकल्प में देव रूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्यव कर वह महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और सर्व कर्मों को काट कर सिद्ध, बुद्ध, निरंजन होगा।

इस जगत में बहुत से मनुष्यों की स्थिति सार्थवाह के पुत्र-जैसी ही होती है। वे धन लोभ को काबू में नहीं रखते और अधिकाधिक धन पाने के लिए चाहे-जैसे साहस दुःसाहस करने के लिए प्रेरित होते हैं। ऐसा करते हुए वे सकट में फँस जाते हैं और मरण की शरण होते हैं। उस समय न तो अन्त समय की आराधना हो सकती है, और न पूर्वकृत् पापों का पर्यालोचन हो सकता है। परिणामत वे दुर्गति के भागी होते हैं और

उसी प्रकार कर्म का स्वरूप पूरा-पूरा जाने बिना कर्म का नाश नहीं हो हो सकता। भिन्न भिन्न स्वरूपों का फल क्या मिलता है, इसे जानने के लिए कर्म का भेद जानना आवश्यक है।

आठ कर्मों का यह क्रम क्यों?

रवि के बाद सोम, सोम के बाद मंगल, मंगल के बाद बुध इस रीति से दिनों का एक क्रम होने के पीछे एक आधारपूर्ण हेतु है अथवा कार्तिक के बाद मार्गशीर्ष, मार्गशीर्ष के बाद पोष और पौष के पीछे माघ, इस प्रकार के क्रम के पीछे एक हेतु है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय के बाद दर्शनावरणीय, दर्शनावरणीय के बाद वेदनीय, वेदनीय के बाद मोहनीय, मोहनीय के बाद आयुष्य, आयुष्य के पीछे नाम, नाम के पीछे गोत्र, गोत्र के पीछे अन्तराय। इस प्रकार आठ कर्मों के क्रम मे भी आधारपूर्ण हेतु है।*

आत्मा के सब गुणों में ज्ञान की मुख्यता है, इसलिए उसका रोध करनेवाले कर्म को पहले रखा गया है। ज्ञान के बाद का स्थान दर्शन को प्राप्त होता है, इसलिए ज्ञानावरणीय के बाद का स्थान दर्शनावरणीय को दिया गया है। ये दोनों कर्म अपना फल दिखलाते समय सुख-दुःख-रूप वेदनीय विपाक के हेतु हैं, इसलिए दर्शनावरणीय के बाद वेदनीय कर्म रखा गया है। वेदनीय-कर्म के उदय होने पर जीव को कषायादि अवश्य

---

*नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य॥
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ॥

—श्री उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३३।

इसी प्रकार का क्रम कर्मग्रन्थों में भी दिया है।

होते हैं, इसलिए वेदनीय के बाद मोहनीय है। मोहनीय कर्म से पीड़ित जीव अनेक प्रकार के आरंभ समारंभ करता है और नरकादि आयुष्य बाँधता है, इसलिए मोहनीय के बाद आयुष्य कर्म को रखा गया है। आयुष्य-कर्म शरीर के बिना नहीं भोगा जा सकता, इसलिए आयुष्य कर्म के बाद नाम-कर्म रखा गया है। नाम-कर्म के उदय होने पर उच्च नीच गोत्र का उदय अवश्य होता है, इसलिए नाम-कर्म के बाद का स्थान गोत्र-कर्म को प्राप्त हुआ है। और, उच्च-नीच गोत्र के उदय होने पर अनुक्रम से दान, लाभ, आदि का उदय तथा नाश होता है, इसलिए गोत्र कर्म के बाद अन्तराय-कर्म को रखा गया है।

ज्ञानावरणीय-कर्म

जो कर्म ज्ञान को ढके, ज्ञान का प्रकाश कम करे, ज्ञान पर आवरण डाले, वह ज्ञानावरणीय-कर्म कहलाता है। जैसे आँखों में देखने की शक्ति है, लेकिन उन पर पट्टी बाँध दी जाये, तो वे नहीं देख सकतीं, उसी प्रकार आत्मा में सब कुछ जानने की शक्ति होते हुए भी वह ज्ञानावरणी कर्म के कारण जान नहीं सकता।

ज्ञानावरणीय कर्म का जितना क्षयोपशम* होगा, उतना ही आत्मा को ज्ञान होगा, उससे अधिक नहीं। जिनके ज्ञानावरणीय-कर्म का क्षयोपशम कम होगा वे कम जान सकेंगे और जिनका अधिक होगा वे अधिक जान सकेंगे। केवली भगवंत के ज्ञानावरणीय-कर्म का सम्पूर्ण क्षय हो चुका होता है, इसलिए वे सब जान सकते हैं। मनुष्यों में ज्ञान की जो बड़ी तरतमता दिखायी देती है, वह इस ज्ञानावरणीय कर्म के ही कारण है।

किसी वस्तु का आपको पहले ज्ञान था और अब स्मरण करना चाहते

---

* क्षय और उपचय की क्रिया क्षयोपशम है पानी में रहता कचरा नाश को प्राप्त हो तो वह क्षय है और कचरा का नीचे बैठ जाये तो वह उपशम है।

है, लेकिन स्मरण नहीं आती। कुछ देर बाद वह स्मरण आ जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि, विस्मृति के समय भी ज्ञान तो था ही, अन्यथा कुछ देर बाद याद कैसे आती? ज्ञान था और विस्मृत हो गया—इसका क्या कारण? कारण यही है कि, स्मरण न आते समय ज्ञान पर आवरण था, ज्ञान को रोकनेवाली कोई वस्तु वहाँ मौजूद थी। वह हट गयी कि, याद आ गयी। जैसे अगर दीपक कपड़े में ढका हो तो प्रकाश नहीं आता। उसको हटा दें तो तुरत प्रकाश आ जाता है। इसी रूप में ज्ञान को भी समझना चाहिए।

ज्ञान पाँच प्रकार का है (१) मतिज्ञान, (२) श्रुतिज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्ययज्ञान और (५) केवलज्ञान* इसलिए ज्ञानावरणीय की उत्तर प्रकृतियाँ भी पाँच प्रकार की हैं। मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान का आवरण करने वाले कर्म क्रमशः मतिज्ञानावरणीय, श्रुतिज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्ययज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय कहलाते हैं।

जीव ६ कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म का उपार्जन करते हैं:

(१) ज्ञान, ज्ञानी तथा ज्ञान के साधनों के प्रति शत्रुता रखना, विरोधभाव दर्शाना, यहाँ ज्ञान से मति आदि ज्ञान, ज्ञानी से ज्ञानवान अर्थात् साधु, पंडित, आदि और ज्ञान के साधनों से पुस्तक, लेखनी, आदि समझना चाहिए।

(२) ज्ञानदाता गुरु का नाम छिपाना।

(३) ज्ञान, ज्ञानी या ज्ञान के साधनों का नाश करना।

(४) ज्ञान, ज्ञानी या ज्ञान के साधनों के प्रति द्वेष करना।

---

* इन ज्ञानों के विशेष परिचय के लिए देखिये आठवाँ, नौवाँ और ग्यारहवाँ व्याख्यान।

(५) ज्ञान, ज्ञानी या ज्ञान के साधनों की आशातना करना।
(६) कोई ज्ञान प्राप्त करता हो, तो उसमें अन्तराय डालना।

शास्त्रकारों ने कहा है कि—

विराधयन्ति ये ज्ञान, मनसा ते भवान्तरे।
स्यु: शून्यमनसो मर्त्या, विवेकपरिवर्जिता ॥

—जो मनके द्वारा ज्ञान की विराधना करता है, वह परभव में शून्य मनवाला और विवेक रहित होता है।

विराधयन्ति ये ज्ञान, वचसापि हि दुर्धियः।
मूकत्व मुखरोगित्व-दोषास्तेषाम सशयम् ॥

—जो दुष्टबुद्धि वाले वचन द्वारा ज्ञान की विराधना करते हैं, उन्हें निश्चित गूँगापन तथा मुख के रोग आदि दोष होते हैं।

विराधयन्ति ये ज्ञान, कायेनायत्नवर्तिनी।
दुष्ट कुष्ठादिरोगा: स्युतेषा देहे विगर्हिते ॥

जो उपयोगहीन काया द्वारा ज्ञान की विराधना करते हैं, उनके निन्दनीय शरीर में कोढ़ आदि दुष्ट रोग होते हैं।

मनोवाक्काययोगैर्ये, ज्ञानस्याशातना सदा।
कुर्वते मूढमतयः, कारयन्ति परानपि ॥
तेषा परभवे पुत्र कलत्रसुहृदा क्षय:।
धनधान्यविनाशश्च तथाधिव्याधि सम्भव ॥

जो मूढमति मन, वचन और काया के योगों द्वारा सदा ज्ञान की आशातना करते हैं और दूसरों से कराते है, उन्हें परभव में बहुत सहन करना पड़ता है। उनके पुत्र, स्त्री और मित्रों का क्षय होता है, धनधान्य का विनाश होता है तथा आधि व्याधि की उत्पत्ति होती है।

आपने वरदत्त और गुणमजरी की कथा सुनी होगी। गुणमजरी जन्म

से ही रुग्णा और गूँगी हुई, कारण कि उसने सुन्दरी के पूर्वभव में बालकों के पढने के साधन जला डाले थे।

कितने ही व्यक्तियो को पढना अच्छा नहीं लगता। पढ़ने बिठाइए तो ऊँघ आती है और पन्द्रह दिन म भी एक गाथा नहीं होती। इसे ज्ञानावरणीय का उदय समझना चाहिए। इसलिए महानुभावों! ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनो की आशातना कभी नहीं करनी चाहिए।

दर्शनावरणीय-कर्म

जो कर्म आत्मा के दर्शनगुण का आवरण करे, दर्शनगुण को ढके, वह दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है*। दर्शन अर्थात् वस्तु का सामान्य बोध, जैसे राजा से भेंट करनी हो तो दरवान बाधक बन जाये, उसी तरह यह कर्म वस्तु का सामान्य बोध नहीं होने देता। इस कर्म का जितने परिणाम म क्षयोपशम होगा, उतने ही परिणाम मे आत्मा वस्तु का सामान्य बोध कर सकती है, उससे अधिक नहीं। जब आत्मा इस कर्म का सपूर्ण क्षय कर देती है, तब केवल-दर्शन की प्राप्ति हो जाती है।

दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ नौ हैं —

(१) चक्षुदर्शनावरणीय, (२) अचक्षुदर्शनावरणीय, (३) अवधिदर्शनावरणीय, (४) केवलदर्शनावरणीय, (५) निद्रा, (६) निद्रानिद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचलाप्रचला और (९) स्त्यानर्द्धि (थीणद्धी)

जो चक्षुरिन्द्रिय द्वारा होनेवाले वस्तु के सामान्य बोध को रोके, वह चक्षुदर्शनावरणीय, जो चक्षु को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों तथा पाँचवें मन के द्वारा होने वाले सामान्य बोध को रोके वह अचक्षुदर्शनावरणीय, जो आत्मा को होनेवाले रूपी द्रव्य के सामान्य बोध को रोके वह अवधिदर्शनावरणीय, और जो केवलदर्शन द्वारा होनेवाले वस्तुमात्र के सामान्य बोध रूप के केवलदर्शन को रोके वह केवलदर्शनावरणीय।

---

* दर्शन सम्बन्धी विशेष विवेचन आठवें व्याख्यान में हुआ है।

निद्रा में जीव उपयोग लगाने की स्थिति म नहीं होता, इसलिए निद्रा के पाँचों प्रकार दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ माने गये है।

जिस नींद से आसानी से उठाया जा सके वह निद्रा है। जिससे कठिनाई से उठाया जा सके वह निद्रानिद्रा है। बैठे बैठे या खड़े-खड़े आने वाली जिस नींद से आसानी से जगाया जा सके वह प्रचला है। चलते चलते आने वाली जिस नींद से कठिनाई से जगाया जा सके वह प्रचला प्रचला है। और, जिसमें दिन में सोचा हुआ कार्य कर डाला जाये और जागने पर खबर न पड़े ऐसी गाढ़ निद्रा को स्त्यानर्द्धि कहते हैं। इस निद्रा के समय बड़ा बल उत्पन्न होता है।

एक राजपूत साधु हो गया। वह पूर्वजीवन में मांसाहारी था। लेकिन-साधु हो जाने के बाद तो मास का त्याग होता ही है। इस साधु को स्त्यानर्द्धि निद्रा आती थी। एक बार उसने रास्ते में एक भैंसा देखा। उसे देखकर साधु को विचार आया "ऐसे मस्त भैंसे का मास खाने को मिले तो कैसा अच्छा हो।" लेकिन, साधुजीवन के कारण वह विचार विचार ही रहा।

अब रात हुई और उसे स्त्यनर्द्धि निद्रा का उदय हुआ। वह नींद ही नींद में उठा, उसने उस भैंसे को पकड़ा और उसे किसी तीक्ष्ण शस्त्र से मारकर उसका मांस खाया और बाकी बचे हुए मास को आकाशी पर सूखने के लिए डाल दिया और आकर अपने स्थान पर सो गया।

सुबह कुछ साधु आकाशी में गये, वहाँ मास देखकर स्तब्ध रह गये। ऐसी पवित्र जगह में मास कहाँ से आया? उन्होंने देखभाल की तो उस राजपूत-साधु के कपड़े खून मे सने हुए देखे। उससे इस बारे में पूछा गया तो जवाब मिला "मुझे कुछ पता नहीं है।" बाद म मालूम हुआ कि उस राजपूत साधु को स्त्यानर्द्धि-निद्रा आती है और उसी ने निद्रा में भैंसे का वध करके यह मास यहाँ रखा है। तब उस साधु को निकाल दिया गया, क्योंकि स्त्यानर्द्धि-निद्रावाला चारित्र के योग्य नहीं होता।

वर्तमान काल मे भी स्त्यानर्द्धि निद्रा के अनेक उदाहरण मिलते है। आज के मानसविज्ञान ने उसे 'विचित्र प्रकार की निद्रा' कहा है।

शास्त्रकार कहते है कि जिसे इसका उदय होता है, वह मरकर अवश्य नरक जाता है।

जिन ६ कारणो से जीव ज्ञानावरणीय कर्म बाँधता है, उन्हीं ६ कारणों से दर्शनावरणीय-कर्म बाँधता है। अन्तर इतना ही है कि, ज्ञान और ज्ञानी की आशातना से ज्ञानावरणीय कर्म बाँधता है और दर्शन और दर्शक की आशातना से दर्शनावरणीय कर्म बाँधता है।

वेदनीय-कर्म

जो कर्म आत्मा को सुख दुःख का वेदन कराये, अनुभव कराये, वह वेदनीय-कर्म कहलाता है। आत्मा स्वरूप मे आनन्दघन है, फिर भी इस कर्म के कारण वह काल्पनिक सुख-दुःख का अनुभव करता है। शहद से लिपटी हुई तलवार की धार को चाटने से सुख का अनुभव होता है और जीभ कटने से दुःख का अनुभव होता है।

इस कर्म की उत्तर प्रकृत्तियाँ दो हैं—(१) शातावेदनीय और (२) अशातावेदनीय। आधि, व्याधि और उपाधि इनमें से किसी एक या दो या तीनों से घिरे हुए जीव को जो दुःख का अनुभव होता है, वह अशाता वेदनीय का उदय है। और शरीर निरोगी हो, पास पैसा हो, विशेष चिन्ता करने का कारण न हो, कुटुम्ब की अनुकूलता हो, ऐसे अनुकूल सयोगों के कारण जो सुख का अनुभव होता है, वह शातावेदनीय का उदय है।

शातावेदनीय और अशातावेदनीय के बन्धन के कारण बताते हुए शास्त्रकारों ने कहा है कि—

गुरुभत्ति-खति-करुणा-वय जोग-कसायविजय-दाणजुओ।
दृढ धम्माइ अज्जइ, सायमसाय विवज्जयओ॥

यहाँ थोड़े शब्दों म बहुत सी बातें कह दी गयी है —

(१) **गुरुभक्ति** अर्थात् माता, पिता तथा धर्माचार्य आदि पूज्य वर्ग की सेवा भक्ति करने वाला शातावेदनीय कर्म का उपार्जन करता है।

(२) **खंति** अर्थात् क्षमा को धारण करने वाला शातावेदनीय कर्म का उपार्जन करता है।

(३) **करुणा** अर्थात् जगत के सब प्राणियों के प्रति दया भाव रखने वाला शातावेदनीय-कर्म का उपार्जन करता है।

(४) **वय** अर्थात् साधु या श्रावक के व्रत पालनेवाला शातावेदनीय कर्म का उपार्जन करता है (पच महाव्रत साधु के व्रत है और सम्यक्त्व सहित पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये श्रावक के व्रत हैं)।

(५) **जोग** अर्थात् सयमयोग का पालन करने वाला शातावेदनीय-कम का उपार्जन करता है।

(६) **कषाय-विजय** अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ को वश में रखने वाला शातावेदनीय-कर्म का उपार्जन करता है।

(७) **दान** यानी अपनी न्यायोपार्जित वस्तु का दूसरों के हितार्थ उपयोग करने वाला शातावेदनीय-कर्म का उपार्जन करता है।

(८) **दढ धम्माह** यानी दृढ़ धर्मी भी शातावेदनीय कर्म का उपार्जन करता है।

जिनका वर्तन इससे विपरीत हो, वे सब अशातावेदनीय-कर्म का उपार्जन करते हैं।

आज आप के जीवन म धमाल हाय-तोबा-अशाता बहुत मालूम देती है, इसका कारण यह है कि आप गुरुभक्ति भूले हुए हैं, क्षमावान् नहीं रहे, दयालु कम हो गये हैं, व्रत, सयम और कषायविजय में पिछड़ गये हैं, शुद्ध दान नहीं कर पाते, थोड़ा दान करते हैं फिर भी कीर्ति की आशा

रखते है और जिसका दान करते है, वह प्राय न्यायोपार्जित नहीं होता, और धर्म म दृढ नहीं रहे । कोई टेढा बोले, अधिकारी आँखें दिखाये या कुछ नुकसान सहन करने का प्रसग आये तो ढीले पड़ जाते हैं और धर्म को छोड़ देते हैं । इस वस्तुस्थिति म सुधार हो, तो शाता का परिमाण बढे और आपके जीवन म किसी तरह की हाय-तोबा न रहे ।

मोहनीय-कर्म

जिस कर्म के कारण जीव मोहग्रस्त होकर ससार मे फँसता है, उसे मोहनीयकर्म कहते है । यह कर्म मदिरापान की तरह है । मदिरापान करने से जैसे आदमी को अपना भान नहीं रहता, उसी तरह इस कर्म के कारण मनुष्य की विवेकबुद्धि तथा वर्तन ठिकाने नहीं रहता ।

आत्मा को ससारी बनाने म, उसकी शक्तियों को दबाने में मोहनीय-कर्म का हिस्सा सबसे बड़ा होता है । इसलिए उसे कर्मों का राजा कहा जाता है । जब तक यह राजा बलवान रहता है, तब तक सब कर्म बलवान रहते है और जब यह राजा ढीला पड़ा कि सब कर्म ढीले पड़ जाते हैं ।

आत्मा ज्ञानी हो तो मोह ढीला पड़े । अज्ञान में मोह जोर पर रहता है । इसलिए ज्ञान प्राप्त करने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए । यहाँ 'ज्ञान' शब्द से धार्मिक ज्ञान या आत्मज्ञान समझना चाहिए । कारण कि व्यावहारिक ज्ञान से मोह कम नहीं होता । मोहनीय-कर्म का नाश हो जाने पर अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है ।

मोहनीय कर्म के दो विभाग हैं—(१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय । दर्शनमोहनीय मान्यता, विश्वास, श्रद्धाको उलझन में डालता है और देवगुरु धर्म के प्रति अश्रद्धा पैदा करता है । चारित्रमोहनीय वर्तन को विकृत बनाता है ।

मनुष्य समझदार हो फिर भी सत्य पदार्थ को मानने में पसोपेश करता है, या सत्य वस्तु पर विश्वास नहीं ला पाता । इसलिए, मानना

पड़ेगा कि मान्यता को उलझन में डालने वाला कोई कर्म है। आप रेल म सफर कर रहे हों तो आपकी गाड़ी चलती होते हुए भी स्थिर दिखती है और सामने की गाड़ी स्थिर होते हुए भी चलती दिखती है। इसी तरह दर्शनमोहनीय-कर्म के कारण आत्मा को भ्रम होता है, इसलिए असत्य को वह सत्य समझता है और सत्य को असत्य समझता है। परिणामस्वरूप वह अपने दर्शन, ज्ञान और चारित्र-गुण की शक्ति को पहचान नहीं सकता एवं अपने मूल स्वरूप सत्, चित् और आनन्द का दर्शन नहीं कर सकता।

दर्शन-मोहनीय कर्म तीन प्रकार का है—(१) सम्यक्त्वमोहनीय, (२) मिश्रमोहनीय और (३) मिथ्यात्वमोहनीय।

आत्मा अपने अध्यवसाय से मिथ्यात्व के पुद्गलों को शुद्ध करे और उसमें से मिथ्यात्व चला जाये, उसे सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं। शुद्ध हुआ मिथ्यात्व का दलिया प्रदेश से वेदे तब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। जब यह दलिया प्रदेश से भी न वेदे तब आत्मा को औपशमिकसम्यक्त्व का लाभ होता है। उसे ऐसे निर्मलजल के समान समझना जिसका कचरा नीचे बैठ गया है। मिथ्यात्व के शुद्ध, अर्द्धशुद्ध और अशुद्ध ये तीनों दलिये सर्वथा नष्ट हो जायें तब जीव को क्षायिक सम्यक्त्व* का लाभ होता है। क्षायिक सम्यक्त्व आत्मा का मूल गुण है। इससे यह समझना कि, सम्यक्त्व मोहनीय क्षायिक सम्यक्त्व का रोध करता है।

मिथ्यात्व आधा ही जाये और आधा रहे, उसे मिश्रमोहनीय कहते हैं। ऐसे मनुष्य अनिश्चित दशा में रहते हैं। वे दूध और दही में

---

* दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं।
सुद्धं अद्धविसुद्धं असुद्धं तं हवइ कमसो॥

प्रथम कर्मग्रन्थ गाथा १४।

दोनों में पैर रखे होते हैं और सब धर्मों को अच्छा मानते हैं। तात्पर्य यह कि वे सत्य-असत्य का विवेक नहीं करते, सत्य का आग्रह नहीं रखते।

जिसके कारण आत्मा मिथ्यात्व मे रहे उसे मिथ्यात्वमोहनीय कहते हैं।

जिस धर्म में विषयों से वैराग्य है, कषाय का त्याग है, आत्मा के गुणो के साथ अनुराग है एव सिद्धान्तानुसार चारित्र है, उससे किसी को हानि नहीं पहुँच सकती। ऐसा ही धर्म सच्चा है और वही मुक्तिदायक हो सकता है। जिस धर्म का देव वीतरागी हो और जिसके साधु सन्त त्यागी हों उसी का आराधन करना चाहिए। कुछ लोग साधु होकर हिंसा करते है, झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं, चोरी कराते हैं, उनकी सेवा-भक्ति करने से भला क्या लाभ होगा ?

बाबाजी की बात

एक बाबाजी अपने चेले के साथ चले जा रहे थे। रास्ते में गन्ने का एक खेत आया। उसे देखकर उसके मुँह में पानी आ गया। उसने चेले से कहा—"यह थैला लेकर खेत म जा और उसमें जितनी भरी जा सकें गन्ने भरकर ला।" मालिक की अनुमति के बिना कुछ भी लेना चोरी है, लेकिन स्वाद का रसिया इस बात का विचार कहाँ करता है ?

चेला होशियार था। वह गुरु की आज्ञानुसार खेत में घुस गया और अपना काम करने लगा। बाबाजी बाहर खड़े रहकर पहरा देने लगे। इतने में उन्होंने चार किसानो को हाथ में भाले लेकर आते देखा। बाबाजी घबराये। उन्हें लगा कि अगर चेला गन्ने तोड़ता हुआ पकड़ा गया तो अच्छी तरह पीटा जायेगा और गुरु होने के कारण मुझ पर भी मार पड़ेगी, इसलिए कोई ऐसी तरकीब करनी चाहिए कि किसान आगे न बढ़ें और चेला सही सलामत बाहर निकल आये।

उन्होंने सुरीले गले से गाना शुरू किया **'संत पकड़ लो सत पकड़ लो आ गये गर्भधारी।'** बाबाजी का कठ मधुर था, गाने की

छटा सुन्दर थी। इसलिए किसान खड़े हो गये और यह पद सुनने लगे। इसमें युक्ति यह थी कि किसान एक अर्थ समझें और चेला दूसरा अर्थ समझे। इस पक्ति से किसानों से कहा "तुम दीर्घकाल से मोहमाया म फँसे हुए हो और इसलिए लखचौरासी का फेरा फिरते आये हो, उसम से छूटना हो तो किसी सन्त को पकड़ लो, अर्थात् सन्त समागम करो। अन्यथा गर्भाधारी अर्थात् यमराज के दूतों को आन पहुँचा समझो।' चेला से कहा "इस खेत के मालिक आ रहे है, इसलिए गन्ने जल्दी-जल्दी भर ले।"

भजन यहीं खतम हो जाये तो किसान आगे बढे और चेला फँस जाये, इसलिए उन्होंने दूसरी पक्ति ललकारी—"**लम्बे हो तो छोटे कर लो, करलो गुसाधारी**।" उन्होंने किसानों से कहा—"तुम्हारा जन्म-जन्मान्तर का पन्थ लम्बा हो तो सतसमागम मे छोटा कर डालो। छोटे जीवन में बहुत से काम भर रखे हैं, जिसकी वजह से धर्म करने के लिए फुरसत नहीं मिलती, इसलिए इन कामों को छोटा करो और धर्म के लिए परमात्मा के भजन के लिए फुरसत निकालो।" दूसरे अर्थ में चेला के लिए चेतावनी थी "गन्ने बहुत बड़े हों तो उनके टुकड़े करके छोटे कर डाल और थैले में छिपा ले, जिससे कि किसी को मालूम न पड़े।"

बाबाजी ने तो कमाल ही करना शुरू कर दिया। एक तरफ किसानों को अध्यात्म उपदेश का देना शुरू कर दिया और दूसरी ओर चेले को आफत से निकालने की कोशिश करने लगे। उन्होंने भजन को आगे लम्बा किया

'चरमदास की मार पड़ेगी, पूजा होशी थारी।'

• इसमे किसानों से कहा गया "अगर तुम सन्तसमागम नहीं करोगे तो जानवरों का जन्म धारण करना पड़ेगा और चाबुक आदि की मार खानी पड़ेगी।" और, शिष्य को चेतावनी दी कि, "अब तू ज्यादा देर

करेगा तो किसान आ पहुँचेंगे और तेरी जूतों से मरम्मत होगी और दूसरी तरह भी पूजा करेंगे।"

बाबाजी सोच रहे थे कि इन शब्दों के सुनते ही चेला सारी परिस्थिति समझ जायेगा और खेत म से जल्दी निकल आयेगा। लेकिन, चेला बाहर नहीं आया, इसलिए भजन की एक विशेष पंक्ति उच्चारी

'अन्दर पूजा थारी होशी, बाहर होशी म्हारी'

इन शब्दों मे किसानों को यह बोध दिया कि 'अगर तुम सन्त-समागम नहीं करोगे और पाप नहीं छोड़ोगे तो अन्दर से तुम्हारी पूजा होगी, अर्थात् नरक जैसे भयकर स्थानों में परमाधामी के हाथों मारपीट-रूपी पूजा होगी और 'हमारी' यानी तुम्हें उपदेश न दें तो तुम्हारी रोटियाँ खानेवालों की 'बाहर' यानी तिर्यञ्च-गति में तुम-जैसों के हाथों मारपीट रूपी पूजा होगी।" चेले के लिए तो यह साफ चेतावनी ही थी कि 'अब तू जरा भी देर लगायेगा तो किसान आकर तुझे मारेंगे और तेरे गुरु के तौर पर मुझे भी मारेंगे।"

चेला होशियार था। उसने दस बारह गन्ने उखाड़ लिये थे और उसके टुकड़े कर डाले थे। वह उन्हें थैली में भर रहा था। यह काम पूरा करते ही वह बाहर निकल आना चाहता था, पर यहाँ गुरुजी के धैर्य का अन्त आ गया था, इसलिए उन्होंने एक और पंक्ति ललकारी

'रामनाम को रट कर चेले, टपजा परली क्यारी'

इन शब्दों से किसानों को यह बोध था "मेरे प्यारो! तुम राम का नाम लेकर ससार की परली पार पहुँच जाओ।" और शिष्य को यह चेतावनी थी कि "अब खतरा बहुत बढ गया है, इसलिए राम का नाम लेता हुआ परली तरफ की क्यारी से बाहर निकल जा। इस तरफ आयेगा तो किसानों की नजर पड़ जायेगा।"

इस वक्त शिष्य का काम पूरा हो गया था, इसलिए वह थैला लेकर

दूसरी तरफ के खेत में होकर बाहर निकला। बाबाजी ने उसे देखते ही संतोष की साँस ली और आगे चलने लगे। किसान तो भजन सुनने में इतने लीन हो गये थे कि, उन्हें मालूम ही न पड़ सका कि क्या हो गया।

लेकिन, इस तरह चोरी करनेवाले और करानेवाले की गति कैसी होगी?

सद्गुरु तो स्वयं भी तरता है और शिष्य को भी तारता है। वह शिष्य के लिए अहितकर उपदेश कभी नहीं करेगा। इसलिए, गुरु त्यागी और निःस्पृही मिलेगा तभी शिष्य का उद्धार कर सकेगा, इसलिए ऐसे त्यागी गुरु को खोजकर उसकी तन, मन और धन से खूब सेवा करके अपना कल्याण करना चाहिए।

हम आपको कर्म का स्वरूप आपके हित के लिए ही समझा रहे हैं। आज तक कर्मों ने आपका बड़ा ही अहित किया है, फिर भी आप उनकी दोस्ती नहीं छोड़ते! 'नादान की दोस्ती, जी का जंजाल', यह कहावत आपने सुनी होगी। लेकिन, नादान दोस्त की सुहबत छोड़ते कहाँ हैं? हम चाहते हैं कि, आप यह दोस्ती छोड़ें और इसीलिए उनकी दुष्ट प्रकृति से, उनके दुष्ट स्वभाव से आपको परिचित करा रहे हैं।

जिसके कारण आत्मा का मूल गुण-रूप चारित्र का रोध हो वह चारित्रमोहनीय-कर्म कहलाता है। एक वस्तु जान लेने पर भी आचरण में नहीं लायी जा सकती, इसलिए मानना पड़ेगा कि चारित्र का रोध करने वाली कोई वस्तु है।

चारित्र मोहनीय कर्म की कुल २५ प्रकृतियाँ हैं। उनमें १६ प्रकृतियाँ 'कषाय' कहलाती हैं और ९ प्रकृतियाँ 'नोकषाय' कहलाती हैं। दर्शनमोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियाँ और चारित्रमोहनीय कर्म की कुल उत्तरप्रकृतियाँ २८ होती हैं।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार मुख्य कषाय हैं। उनमें से हर

एक के चार प्रकार हैं—तीव्रातितीव्र, तीव्र, मध्यम और गौण। इस तरह कषाय के १६ भेद हैं। शास्त्रीय परिभाषा में तीव्रातितीव्र कषाय को 'अनन्तानुबन्धी', तीव्र कषाय को 'अप्रत्याख्यानीय', मध्यम कषाय को 'प्रत्याख्यानीय' और गौण कषाय को 'संज्वलन' कहा जाता है।

इन सोलह कषायों का स्वरूप समझने के लिए शास्त्र में उदाहरण दिये है।

क्रोध

संज्वलन[+]—पानी मे खींची गयी रेखा के समान, जल्द मिट जाने वाला।

प्रत्याख्यानीय—रेत मे खींची गयी रेखा के समान। रेत म रेखा पड़ती तो है, पर पवन का झोंका लगते ही स्वत मिट जाती है।

अप्रत्याख्यानीय—जमीन पर पड़ी हुई रेखा के समान। जमीन पर पड़ी रेखा बरसात आने पर समाप्त हो जाती है।

अनन्तानुबन्धी—पर्वत पर पड़ी हुई रेखा के समान। वह नष्ट नहीं होता उसी प्रकार ऐसा क्रोध जीवन भर रहता है।

मान

संज्वलन—बेंत के समान, आसानी से झुक जानेवाला।

प्रतयाख्यानीय—काष्ठ के समान, जो उपाय से झुके।

अप्रत्याख्यानीय—हड्डी के समान, जो बड़े कष्ट से झुके।

अनन्तानुबन्धी—पत्थर के खमे के समान, जो झुकता ही नहीं।

माया

संज्वलन—बाँस की छील्न-जैसी, जो कि आसानी से अपनी वक्रता छोड़ देती है।

[+]शास्त्र में संज्वलन की समय मर्यादा पन्द्रह दिन की, प्रत्याख्यान की चार मास की, अप्रत्याख्यान की एक वर्ष की और अनन्तानुबंधी की यावज्जीवन बतायी है। देखिये कर्मग्रन्थ पहला, गाथा १८।

प्रत्याख्यानीय—बैल की मूत्रधारा जैसी जो हवा लगते दूर चली जाती है।

अप्रत्याख्यानीय—भेड़ के सींग-जैसी जो बड़े प्रयत्न से अपनी वक्रता छोड़ती है

अनन्तानुबन्धी—बाँस की कठिन जड़ जैसी, जो किसी प्रकार अपनी वक्रता न छोड़े ।

लोभ

सज्वलन—हल्दी के रग जैसा, कि धूप लगने से दूर हो जाये।

प्रत्याख्यानीय—गाड़ी की मैल जैसा जो कपड़ा लगाते साफ हो जाये।

अप्रत्याख्यानीय—कीचड़-जैसा जो बड़े प्रयत्न से मिटे।

अनन्तानुबन्धी—किरमिज के रग-जैसा, जो दूर ही न हो।

आत्मा को क्रोध मोहनीय कर्म के उदय से आता है। यह मादक वस्तु है। जैसे नशे में आदमी मान भूल जाता है और अकरणीय कर बैठता है, उसी तरह क्रोधाभिभूत आदमी विवेक, सम्बन्ध, परिणाम, वगैरह सब भूल कर न करने योग्य काम कर बैठता है। क्रोध से आदमी स्वय अशात हो जाता है और दूसरे को भी अशात कर डालता है।

मान, माया और लोभ भी आत्मा में अशाति पैदा करने का ही काम करते हैं। क्रोध और मान गर्म अशाति है, माया और लोभ ठडी अशाति है। लोभ में झगड़ा या बैर नहीं है, लेकिन उसके कारण आत्मा को अधिकाधिक पाने की इच्छा होती है और असन्तोष में से अशाति जन्मती है। लालच के कारण लोग झूठ बोलते हैं, कपट करते हैं और अनीति करने के लिए प्रेरित होते हैं। इन सब वस्तुओं से आत्मा व्याकुल हो जाती है, उसे चैन नहीं पड़ता। जिन्हें शात दशा का सच्चा अनुभव होता है, वे ही शाति का सच्चा मूल्याकन कर सकते हैं। लेकिन, हरदम अशात रहने वाला शाति का मूल्य क्या समझ सकता है? जिसके जीवन में क्रोध, मान, माया और लोभ न हो, वही सच्ची शात दशा का अनुभव कर सकता है।

इस दुनिया में धमाल मचाने वाली, लड़ाई झगड़ा कराने वाली कषायें हैं। हर लड़ाई-झगड़े में मोहनीय-कर्म का ही कोई-न कोई रूप कारण होता है—कहीं क्रोध, कहीं मान, कहीं माया, कहीं लोभ।

नरक में गये हुए आत्मा को परमाधामी मारता है, काटता है, उसके शरीर के टुकड़े करता है और उसे नाना प्रकार के कष्ट देता है। इस तरह परमाधामी एक आत्मा को असख्यात वर्ष तक सता सकता है, उससे ज्यादा नहीं। लेकिन, मोहनीय कर्मजन्य कषायें इस परमाधामी से भी बुरी हैं। ये आत्मा को अनादि काल से अशात करती आयी हैं, सताती आयी हैं, फिर भी हमें परमाधामी का जितना भय है, उतना कषायों का नहीं है। इसके कारण पर शांति से विचार करें तो कषायों की बुराई समझ में आ सकती है और कषायों को घटाने की बुद्धि पैदा हो सकती है और पुरुषार्थ करने से कषायें धीरे-धीरे मद और बन्द भी हो सकती हैं।

कषायें मोहनीय कर्म के कारण हैं, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ आकर जल्दी नहीं जाते, दीर्घ काल तक रहते हैं। उनके उदय में सम्यक्त्व नहीं होता, होता भी है तो चला जाता है, क्योंकि वह कषाय उसे टिकने ही नहीं देती। अगर इस कषाय में आत्मा आयुष्य बाँधे तो नरक का ही बाँध सकता है। इस कषाय के आवेश में एक अन्तर्मुहूर्त में, दो घड़ी में, एक करोड़ पूर्व का पुण्य नष्ट हो जाता है। (एक पूर्व=८४ लाख×८४ लाख वर्ष)

अनन्तानुबन्धीय कषायें सम्यक्त्व का घात करती है, अर्थात् उनके उदय में सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। अप्रत्याख्यानीय कषायें देश विरति का घात करती हैं, इसलिए उनके उदय में श्रावक धर्म की प्राप्ति नहीं होती। प्रत्याख्यानीय कषायें सर्व विरति का घात करती है, इसलिए उनके उदय में साधु धर्म की, सयम की, प्राप्ति नहीं होती। और, सज्वलन कषायें यथाख्यात चारित्र का घात करती हैं, इसलिए उनके उदय में वीत-रागता की प्राप्ति नहीं होती।

कषायों को उद्दीप्त करने वाली नौ प्रकार की नोकषायें हैं—(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) भय, (५) शोक, (६) जगुप्सा, (७) पुरुषवेद, (८) स्त्री-वेद और (९) नपुसकवेद।

जीव को हँसी आती है, उसे हास्य मोहनीय कर्म का प्रभाव जानना चाहिए। विषय सामग्री मिलने से रति अर्थात् प्रीति होती है, उसे रति-मोहनीय-कर्म का प्रभाव जानना चाहिए। जीव को इष्ट की अप्राप्ति और अनिष्ट की प्राप्ति के कारण अरति अर्थात् अप्रीति होती है, यह अरति-मोहनीय-कर्म का प्रभाव जानना। उसी प्रकार भय, शोक, जुगुप्सा, घृणा, भी उस प्रकार के मोहनीय कर्म के कारण होते हैं।

जीव को स्त्री-ससर्ग की लाल्सा करानेवाला पुरुषवेद-मोहनीय-कर्म है, पुरुष ससर्ग की लाल्सा करानेवाला स्त्रीवेद-मोहनीय कर्म है, और स्त्री तथा पुरुष दोनों के ससर्ग की लाल्सा करानेवाला नपुसक वेद मोहनीय-कर्म है।

जैसे चपल बन्दर कभी एक जगह शात होकर नहीं बैठता, वैसे ही मोहनीयकर्म के कारण आत्मा चचल बन जाती है और अनेक प्रकार के सावद्य कार्य करती रहती है। इसलिए मोहनीय कर्म को आत्मा का कट्टर शत्रु समझना चाहिए।

मोहराजा का चार अक्षर का मत्र है 'अह मम' यानी 'मै और मेरा अभिमान-अहकार मोह की मिल्कियत है, वह आत्मा को दबाती है, फिर भी आदमी नित्य इस मत्र को रटता रहता है। ज्ञानी पुरुष इस मत्र में फक्त एक अक्षर बढाने के लिये कहते हैं—"नाह, न मम' 'मैं कुछ नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है।" इस मत्र का जप करने से मोह को जीता जा सकता है और भयंकर भवसागर को पार किया जा सकता है।

उन्मार्ग की मार्गरूप से देशना देनेवाला, सन्मार्ग का नाश करनेवाला, देवद्रव्य का हरण करनेवाला तथा जिन, मुनि, चैत्य और संघ का विरोध करनेवाला दर्शनमोहनीय कर्म बाँधता है और कषाय तथा नोकषाय करने वाला-करानेवाला चारित्रमोहनीय कर्म बाँधता है।

आठ कर्मों में से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय कर्म का आपको परिचय कराया। शेष कर्मों का परिचय अवसर दिया जायगा।

बाईसवाँ व्याख्यान

आठ कर्म

महानुभावो !

'अप्पा सो परमप्पा' यह महापुरुषों का टकसाली वचन है। इसका अर्थ यह है कि, जिस आत्मा की समस्त शक्तियाँ पूर्णरूप से प्रकट हो गयी हैं, वही परमात्मा है। परमात्मा आत्मा से अतिरिक्त कोई भिन्न वस्तु नहीं है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि, आत्मा की शक्ति पूर्णरूप से क्यों नहीं प्रकट होती ? इसका उत्तर यह है कि, उन पर जड़ कर्मों का प्रभाव है, जड़ कर्म का दबाव है। इस कारण वह पूर्ण प्रकट नहीं होती।

कर्म क्या हैं ? उनकी क्या शक्ति है ? आत्मा उनका बन्ध किस प्रकार करता है ? यह आपको पहले समझाया जा चुका है। चार कर्मों का वर्णन हो चुका है, शेष चार कर्मों का वर्णन शेष है। वह आज किया जाता है।

आयुष्य-कर्म

जिस कर्म के कारण आत्मा को एक शरीर में अमुक समय तक रहना पड़े, उसे आयुष्य-कर्म कहते हैं। यह कर्म कारावास के समान है। अपराधी को मुद्दत पूरी होने तक कारावास में रहना पड़ता है, उसी तरह आत्मा को आयुष्य पूरा होने तक एक शरीर में रहना पड़ता है।

आयुष्य कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ चार हैं—(१) देवता का आयुष्य, (२) मनुष्य का आयुष्य, (३) तिर्यंच का आयुष्य और (४) नरक का आयुष्य। देवता के आयुष्य के कारण से जीव देवलोक में उत्पन्न होता

है और देवता का जीवन भोगता है। मनुष्य के आयुष्य के कारण मनुष्य-लोक में उत्पन्न होता है और मनुष्य का जीवन भोगता है। तिर्यंच के आयुष्य के कारण तिर्यन्च-गति मे उत्पन्न होता है और तिर्यन्च का जीवन भोगता है। (तिर्यञ्च शब्द से जलचर, खेचर, भूचर तिर्यञ्च ही नहीं बल्कि एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय जीव भी समझने चाहिएँ)। नरक का आयुष्य बाँधने से मनुष्य नरक में उत्पन्न होता है और नारकी जीवन व्यतीत करता है।

देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सब को अपना-अपना जीवन प्रिय होता है, इसलिए इन तीनों प्रकार के आयुष्य को शुभ समझना चाहिये। नारकी जीव मरण चाहते हैं, इसलिए उनके आयुष्य को अशुभ समझना चाहिये।

आप कहेंगे कि 'मनुष्यों में भी बहुत से मर जाने की इच्छा करते है, तो इस आयुष्य को भी अशुभ क्यों न समझें ?' पर, ऐसे लोग बहुत कम होते हैं और वे भी अत्यन्त दुखी दशा में हों तभी मर जाना चाहते हैं। दु ख का नाश होते ही और सुख का समय आते ही वह विचार बदल जाता है अर्थात् उन्हें जीवन अति प्रिय हो जाता है। नारकी को तो जीवन अच्छा ही नहीं लगता।

मौत चाहनेवाले लकड़हारे की कथा

एक लकड़हारा था। वह सारे दिन मेहनत करके लकड़ियाँ इकट्ठी करता, बाजार में बेचता और अपना पेट पालता। उसके पास पहनने के पूरे कपड़े भी नहीं थे। दो लगोटियों से अपना काम चलाता। वह गाँव के बाहर एक टूटी फूटी झोंपड़ी में रहता था।

उसकी उम्र करीब अस्सी बरस की थी। शारीरिक दुर्बलता के कारण वह अधिक परिश्रम नहीं कर सकता था। एक दिन दु खी होकर वह जंगल में भगवान् से मौत माँगने लगा—"हे भगवान! अब तो तू मौत भेज देता तो अच्छा था।"

उस जंगल म एक इमली के पेड़ पर एक भूत रहता था। (भूत को हम व्यतर जाति का देव मानते है) भूत ने उसकी प्रार्थना सुनी। सुनकर उसकी परीक्षा लेनी चाही। वह पिशाच का भयकर रूप धारण करके सामने आया और बोला—"मै मौत हूं। मुझे भगवान् ने भेजा है।"

लकड़हारा उसे देखकर बड़ा घबराया। अपनी इतनी दु खी और दरिद्रावस्था में भी वह सचमुच मरना नहीं चाहता था। बोला—"मैंने तुझे इसलिए याद किया था कि यह लकड़ियों का बोझा उठाकर मेरे सर पर रख दे।"

तात्पर्य यह कि दु ख में भी आदमी मरना नहीं चाहता।

आयुष्य दो प्रकार का है—(१) सोपक्रम और (२) निरूपक्रम शस्त्र, विष, अग्नि तथा दूसरे अकस्मातों के कारण जिसकी कालमर्यादा हीन हो जाये, वह सोपक्रम आयुष्य है और हीन न हो सके वह निरूपक्रम है।

तिर्यञ्च और मनुष्य सोपक्रम आयुष्यवाले होते हैं। लेकिन, उसम कुछ अपवाद हैं। असख्यात वर्ष के आयुष्य वाले तिर्यञ्च, युगलिक मनुष्य चरम शरीरी (यानी उसी भव से मोक्ष जाने वाले) तथा शलाकापुरुष (अर्थात् तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव) निरूपक्रम आयुष्य वाले होते हैं।

आत्मा चार प्रकार का आयुष्य किस प्रकार बाँधता है? वह आपको बताते है। जो आत्मा अधिक आरभ करे, बहुत परिग्रह रखे और रुद्र-परिणामी हो वह नरक का आयुष्य बाँधता है। दूसरे प्राणियों को दु ख देने की कषाययुक्त प्रवृत्ति को आरभ कहते हैं। भोग उपयोग की वस्तुओं के समह की काषाय युक्त प्रवृत्ति परिग्रह कहलाती है। आज आरभ और परिग्रह दोनों की वृत्ति जोर पकड़ रही है, यह क्या जाहिर करती है?

जो आत्मा माया का सेवन करती है, वह तिर्यंचका आयुष्य बाँधती

है। माया अर्थात् छल प्रपच, कपट, ठगा, कुटिलता, दभ, पाखण्ड, धूर्तता, स्वार्थ।

जो आत्मा अल्पारभी, अल्पपरिग्रही, ऋजु और मृदु स्वभाव वाली होती है, वह मनुष्य का आयुष्य बाँधती है—अल्पारभी अर्थात् कम हिंसा करनेवाली अल्पपरिग्रही अर्थात् कम परिग्रह रखनेवाली ऋजु और मृदुस्वभाववाली अर्थात् सरलता और दया के परिणाम रखनेवाली।

जो आत्मा सरागसयम या सयमासयम पालती है, अकाम निर्जरा करती है, बालतप करती है वह देवका आयुष्य बाँधती है। सम्पूर्ण कषाय छूटने से पहले का चरित्रसरागसयम है। आशिक विरति यानी देश-विरति सयमासयम है। इच्छारहित त्याग से जो कर्म निर्जरा होती है, वह अकामनिर्जरा है। अज्ञान पूर्वक किया जाने वाला तप बालतप है। इसका अर्थ यह हुआ कि व्रतनियम और जपतप बिना समझे भी करनेवाला देवताका आयुष्य बाँधता है।

नामकर्म

जिस कर्म के कारण आत्मा शुभ-अशुभ शरीरादि धारण करती है, उसे नामकर्म कहते हैं। चित्रकार की तरह यह कर्म आत्माके लिए अच्छा-बुरा रूप, रग, अवयव, यश, अपयश, सौभाग्य, दुर्भाग्य आदि का निर्माण करता है।

नामकर्म की मूल उत्तर प्रकृतियाँ ४२ हैं। १४ पिंटप्रकृति, ८ प्रत्येक प्रकृति, १० स्थावरदशक और १० त्रसदशक। इनमे पिंडप्रकृति के उपभेद ७५ हैं। इनके अलावा प्रत्येक प्रकृति के ८, स्थावरदशक के १० और त्रसदशक के १० भेद मिलकर नामकर्म की कुल १०३ उत्तर प्रकृतियाँ होती हैं।

जिनमें दो, तीन या अधिक प्रकृतियाँ साथ हों वे पिंड प्रकृतियाँ कहलाती हैं। उनके १४ प्रकार हैं (१) गति, (२) जाति, (३)

शरीर, (४) उपाग (५) बधन, (६) सघात, (७) सहनन, (८) सस्थान, (९) वर्ण, (१०) रस, (११) गध (१२) स्पर्श, (१३) आनुपूर्वी, और (१४) विहायोगति ।

गति शब्द का सामान्य अर्थ है—जाना । लेकिन, यहाँ एक भव से दूसरे भव म जाने की क्रिया के लिए उसका प्रयोग हुआ है । उदाहरण के रूप में जब कोई आत्मा मनुष्य भव का आयुष्य पूरा करके देवता के भव में जाने के लिए प्रस्थान करे, तो उस क्षण मे लेकर वह जब तक देवता के भव में रहे, तब तक देवगति कहलायेगी । दूसरी गतियों के लिए भी इसी प्रकार समझना ।

गति चार हैं—(१) नरक, (२) तिर्यंच, (३) मनुष्य और (४) देव । शास्त्रों में पचमगति शब्द का भी प्रयोग हुआ है । उस गति को केवल कर्मरहित आत्मा ही प्राप्त करती हैं—कर्म वाले नहीं । कर्म वाली आत्मा तो इन चार गतियों में ही भ्रमण करते रहते हैं और अपने कर्मों का फल भोगते है । इनमे से किसी गति में उत्पन्न करानेवाला कर्म गतिनाम कर्म है ।

जाति पाँच हैं—(१) एकेन्द्रिय, (२) बेइन्द्रिय, (३) तेइन्द्रिय, (४) चौइन्द्रिय और (५) पचेन्द्रिय । इन पाँच जातियों में से किसी भी एक जाति में उत्पन्न कराने वाला कर्म जाति नामकर्म है । ससार के सब जीव इन पाँच जातियों में समा जाते हैं ।

शरीर जीव के लिए क्रिया करने का साधन है । उसके पाँच प्रकार हैं—(१) औदारिक, (२) वैक्रियक, (३) आहारक, (४) तैजस और (५) कार्माण ।*

---

*पंच सरीरा पण्णत्ता त जहा ओरालिए वेउव्विए आहारए तेयए कम्मए पन्नवणा सूत्र १७६ ।

है। माया अर्थात् छल प्रपच, कपट, ठगा, कुटिलता, दभ, पाखण्ड, धूर्तता, स्वार्थ।

जो आत्मा अल्पारभी, अल्पपरिग्रही, ऋजु और मृदु स्वभाव वाली होती है, वह मनुष्य का आयुष्य बाँधती है—अल्पारभी अर्थात् कम हिंसा करनेवाली अल्पपरिग्रही अर्थात् कम परिग्रह रखनेवाली ऋजु और मृदुस्वभाववाली अर्थात् सरलता और दया के परिणाम रखनेवाली।

जो आत्मा सरागसयम या सयमासयम पालती है, अकाम निर्जरा करती है, बालतप करती है वह देवका आयुष्य बाँधती है। सम्पूर्ण कषाय छूटने से पहले का चरित्रसरागसयम है। आशिक विरति यानी देश-विरति सयमासयम है। इच्छारहित त्याग से जो कर्म निर्जरा होती है, वह अकामनिर्जरा है। अज्ञान पूर्वक किया जाने वाला तप बालतप है। इसका अर्थ यह हुआ कि व्रतनियम और जपतप बिना समझे भी करनेवाला देवताका आयुष्य बाँधता है।

नामकर्म

जिस कर्म के कारण आत्मा शुभ-अशुभ शरीरादि धारण करती है, उसे नामकर्म कहते हैं। चित्रकार की तरह यह कर्म आत्माके लिए अच्छा-बुरा रूप, रग, अवयव, यश, अपयश, सौभाग्य, दुर्भाग्य आदि का निर्माण करता है।

नामकर्म की मूल उत्तर प्रकृतियाँ ४२ हैं। १४ पिंडप्रकृति, ८ प्रत्येक प्रकृति, १० स्थावरदशक और १० त्रसदशक। इनमे पिंडप्रकृति के उपभेद ७५ हैं। इनके अलावा प्रत्येक प्रकृति के ८, स्थावरदशक के १० और त्रसदशक के १० भेद मिलकर नामकर्म की कुल १०३ उत्तर प्रकृतियाँ होती हैं।

जिनमे दो, तीन या अधिक प्रकृतियाँ साथ हों वे पिंड प्रकृतियाँ कहलाती हैं। उनके १४ प्रकार हैं (१) गति, (२) जाति, (३)

शरीर, (४) उपाग (५) बधन, (६) मघात, (७) सहनन, (८) सस्थान, (९) वर्ण, (१०) रस, (११) गध (१२) स्पर्श, (१३) आनुपूर्वी, और (१४) विहायोगति ।

गति शब्द का सामान्य अर्थ है—जाना । लेकिन, यहाँ एक भव से दूसरे भव म जाने की क्रिया के लिए उसका प्रयोग हुआ है । उदाहरण के रूप में जब कोई आत्मा मनुष्य भव का आयुष्य पूरा करके देवता के भव में जाने के लिए प्रस्थान करे, तो उस क्षण मे लेकर वह जब तक देवता के भव में रहे, तब तक देवगति कहलायेगी । दूसरी गतियों के लिए भी इसी प्रकार समझना ।

गति चार हैं—(१) नरक, (२) तिर्यंच, (३) मनुष्य और (४) देव । शास्त्रों में पचमगति शब्द का भी प्रयोग हुआ है । उस गति को केवल कर्मरहित आत्मा ही प्राप्त करती है—कर्म वाले नहीं । कर्म वाली आत्मा तो इन चार गतियों में ही भ्रमण करते रहते हैं और अपने कर्मों का फल भोगते हैं । इनम से किसी गति में उत्पन्न करानेवाला कर्म गतिनाम कर्म है ।

जाति पाँच हैं—(१) एकेन्द्रिय, (२) बेइन्द्रिय, (३) तेइन्द्रिय, (४) चौइन्द्रिय और (५) पचेन्द्रिय । इन पाँच जातियों में से किसी भी एक जाति में उत्पन्न कराने वाला कर्म जाति नामकर्म है । ससार के सब जीव इन पाँच जातियों में समा जाते हैं ।

शरीर जीव के लिए क्रिया करने का साधन है । उसके पाँच प्रकार हैं—(१) औदारिक, (२) वैक्रियक, (३) आहारक, (४) तैजस और (५) कार्माण ।*

---

*पंच सरीरा पण्णत्ता तं जहा ओरालिए वेउव्विए आहारए तेयए कम्मए पन्नवणा सूत्र १७६ ।

इन पाँच शरीरों में से किसी भी शरीर की प्राप्ति कराने वाला शरीरनाम कर्म है।

उपांग मस्तक, दो हाथ, दो पैर, उदर, पीठ, जाँघ, आदि अंग और उँगली, नाक, आँख, कान, जीभ, आदि उपांग और नख, रेखा, बाल, रोम आदि अंगोपांग पहले तीन शरीरों को होते है। इसलिए उपांग के तीन भेद माने गये हैं। औदारिक उपांग, वैक्रियक उपांग और आहारक उपांग। यहाँ उपांग शब्द से अंग, उपांग और अंगोपांग समझना चाहिए।

बंधन—पहले बाँधे हुए और नये बँधते हुए कर्मों को साथ जोड़े, एकमेक करे, सो बन्धन नामकर्म कहलाता है। उसके पाँच प्रकार हैं—(१) औदारिक बन्धन, (२) वैक्रियक बन्धन, (३) आहारक बन्धन, (४) तैजस बन्धन और (५) कार्माण बन्धन।

कर्म की सत्ता के आश्रित १५ बन्धन हैं। वे यह हैं—(१) औदारिक औदारिक-मिश्र, (२) औदारिक तैजस, (३) औदारिक कार्मण, (४) औदारिक तैजस-कार्मण, (५) वैक्रियक वैक्रियक-मिश्र, (६) वैक्रियक तैजस, (७) वैक्रियक कार्मण, (८) वैक्रियक-तैजस-कार्मण, (९) आहारक आहारक मिश्र, (१०) आहारक तैजस, (११) आहारक कार्मण, (१२) आहारक-तैजस-कार्मण, (१३) तैजस-तैजस-मिश्र, (१४) तैजस कार्मण और (१५) कार्मण-कार्मण।

संघात—दराँती जैसे घास के समूह को इकट्ठा करती है, वैसे ही संघात नामकर्म औदारिक आदि पुद्गलों को इकट्ठा करता है। उसके पाँच प्रकार हैं—(१) औदारिक-संघात नामकर्म, (२) वैक्रिय-संघात नामकर्म, (३) आहारक-संघात नामकर्म, (४) तैजस संघात-नामकर्म और (५) कार्मण-संघात-नामकर्म।

संहनन अर्थात् शरीर का बन्धन, वह ६ प्रकार का है वज्रऋषभ-नाराच आदि।

सस्थान अर्थात् आकृति। यह भी ६ प्रकार की होती है समय तुरस्त्रादि।*

वर्ण—शरीर, अग, उपाग, अगोपाग, आदि के वर्ण का कारण वर्णनामकर्म है। वर्ण पाँच हैं—(१) लाल, (२) पीला, (३) सफेद, (४) नील और (५) श्याम।

रस—शरीर आदि के रस का कारण रसनामकर्म है। रस पाँच हैं—(१) मीठा, (२) खट्टा, (३) कषाय (कसैला), (४) कड़वा और (५) चरपरा।

गध—गध के दो प्रकार हैं (१) सुगध और (२) दुर्गन्ध।

स्पर्श—शरीर आदि के स्पर्श का कारण स्पर्श नामकर्म है। स्पर्श आठ हैं (१) शीत, (२) उष्ण, (३) स्निग्ध, (४) रुक्ष, (५) मृदु, (६) कठिन, (७) हल्का और (८) भारी।

आनुपूर्वी—देह छोड़ने के बाद जीव, बाँधी हुई गति के अनुसार, नयी गति में पहुँचता है। उसे इस गति में पहुँचाने वाला कर्म आनुपूर्वी नामकर्म है। उसके चार प्रकार हैं (१) देवानुपूर्वी, (२) मनुष्यानुपूर्वी, (३) तिर्यञ्चानुपूर्वी और (४) नरकानुपूर्वी।

विहायोगति—जीव की गमनागमन प्रवृत्ति में नियामक होनेवाला कर्मविहायोगति नामकम है। उसके दो प्रकार हैं शुभ विहायोगति और अशुभ विहायोगति। हस और हाथी की गति शुभ गिनी जाती है और ऊँट और कौवे की अशुभ गिनी जाती है।

---

* छह सहनन तथा छह सस्थान के लिए देखिए तीसरा व्याख्यान।

इस तरह १४ पिंडप्रकृतियों की ७५ उप-प्रकृतियाँ हुई * जो प्रकृति अकेली हो, पिंडरूप न हो वह प्रत्येकप्रकृति कहलाती है। उसके आठ प्रकार हैं : (१) अगुरुलघु, (२) उपघात, (३) पराघात, (४) आतप, (५) उद्योत, (६) श्वासोच्छ्वास, (७) निर्माण और (८) तीर्थङ्कर।

अगुरुलघुनामकर्म इस कर्म के उदय से जीव को ऐसा सम शरीर प्राप्त होता है, जो न अति भारी होता है, न अति हल्का।

उपघातनामकर्म : इस कर्म के उदय से जीव चोरदाँत, रसोली अधिक उँगली, कम उँगली, आदि से उपघात या दुःख पाता है।

पराघातनामकर्म : इस कर्म के उदय से जीव अपनी उपस्थिति या वचनबल से दूसरे पर अपना प्रभाव डाल सकता है।

आतपनामकर्म इस कर्म के उदय से जीव का शरीर तापयुक्त होता है। सूर्य के विमान में पृथ्वीकाय के जीव हैं। उनका शरीर शीतल होते हुए भी दूर से वे दूसरों को ताप देते हैं। उन्हें आतपनामकर्म का उदय समझना चाहिए। उनके सिवाय और किन्हीं जीवों को आतपनामकर्म का उदय नहीं होता। अग्नि में रहनेवाले जीव को आतपनामकर्म का उदय होता है या नहीं? इसका उत्तर यह है कि उन्हें आतपनामकर्म का उदय नहीं होता वरन् उष्णस्पर्श और लालवर्ण का उदय होता है।

---

* पाठक की सुविधा के लिए उसकी तालिका नीचे दी जाती है —

१ गति ४	८ संस्थान ६
२ जाति ५	९ वर्ण ५
३ शरीर ५	१० रस ५
४ उपांग ३	११ गंध २
५ बंधन १५	१२ स्पर्श ८
६ संघात ५	१३ आनुपूर्वी ४
७ संहनन ६	१४ विहायोगति २
	कुल ७५

उद्योतनामकर्म : इस कर्म के उदय से जीव का शरीर शीतप्रकाश-रूप उद्योत करता है। ज्योतिषी के विमान के जीव इस प्रकार के होते हैं। जुगनू और कितनी ही वनस्पति आदि के जीव भी इस प्रकार के होते हैं। यति और देव के उत्तरवैक्रिय शरीर में भी उद्योतनामकर्म का उदय होता है।

श्वासोच्छ्वासनामकर्म : इस कर्म के उदय से जीव को श्वासोच्छ्वास (ऊँचा श्वास और नीचाश्वास) लेने की लब्धि प्राप्त होती है।

निर्माणनामकर्म इस कर्म के उदय से जीव अंगोपांग का निर्माण करता है।

तीर्थंकरनामकर्म इस कर्म के उदय से जीव तीनों भुवन में पूज्य-नीय होता है, तथा चौंतीस अतिशय, पैंतीस गुणवाली वाणी और अष्ट महाप्रातिहार्य युक्त बनता है। तीर्थङ्कर नामकर्म का उदय केवलज्ञान पाने पर ही होता है, उससे पहले नहीं।

स्थावरदशक और त्रसदशक ये दोनों प्रतिपक्षी हैं, इसलिए इनका विचार साथ ही करेंगे। स्थावरनामकर्म से प्रारम्भ होनेवाली १० प्रकृतियाँ स्थावरदशक हैं और त्रसनामकर्म से शुरू होनेवाली १० प्रकृतियाँ त्रसदशक हैं। दोनों की मिलकर कुल २० प्रकृतियाँ होती हैं।

स्थावरनामकर्म से जीव को स्थावरपन प्राप्त होता है। वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमनागमन नहीं कर सकता।

त्रसनामकर्म से जीव को त्रसपन प्राप्त होता है। वह एक स्थान से दूसरे स्थान को गमनागमन कर सकता है। पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउ काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीव स्थावर हैं। बेइन्द्रिय और उनके आगे के जीव त्रस हैं।

सूक्ष्मनामकर्मसे जीव को अति सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है जो कि किसी भी इन्द्रिय से नहीं जाना जा सकता और **बादरनामकर्म** से जीव को स्थूल शरीर प्राप्त होता है जो कि इन्द्रियों से जाना जा सकता है।

अपर्याप्तनामकर्म से जीव अपने लिए प्राप्त करने योग्य पर्याप्ति पूरी नहीं कर सकता। **पर्याप्तनामकर्म** से जीव अपने लिए प्राप्त करने योग्य पर्याप्ति पूरी कर सकता है। पर्याप्ति ६ है। उनकी जानकारी पहले दी जा चुकी है। हर जीव आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति और इन्द्रियपर्याप्ति तो सम्पूर्णत पूरी करता ही है। उसकी शेष पर्याप्तियों में भजना होती है। इसीलिए जीव के पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो भेद होते हैं।

साधारणनामकर्म से अनत जीवों का एक साधारण शरीर होता है और **प्रत्येकनामकर्म** से हर एक जीव को अपना स्वतत्र शरीर होता है।

अस्थिरनामकर्म से अपने स्थान पर रहनेवाले अवयव अस्थिर होते हैं, जैसे कि जीभ, उँगलियाँ, हाथ, पैर, आदि। और **स्थिरनामकर्म** से अपने स्थान पर रहनेवाले अवयव स्थिर होते है, जैसे कि दाँत हड्डियाँ आदि।

अशुभनामकर्म से नाभि के नीचे का शरीर अप्रशस्त होता है, अर्थात् उसके स्पर्श से दूसरे को अप्रीति होती है। और, **शुभनामकर्म** से नभि के ऊपर का शरीर प्रशस्त होता है अर्थात् उसके स्पर्श मे दूसरे को प्रीति होती है।

दु स्वरनामकर्म से स्वर कर्कश और अरुचिकर होता है और **सुस्वरनामकर्म** से स्वर मधुर और सुखदायी होता है।

दुर्भगनामकर्म से जीव सबको अप्रिय लगता है और **सुभगनाम कर्म** से सबको प्रिय लगता है।

अनादेयनामकर्म से जीव के वचन दूसरे को मान्य नहीं होते और **आदेयनामकर्म** से जीव के वचन दूसरे को मान्य होते ह।

अयश कीर्तिनामकर्म मे जीव चाहे जितना काम करने पर भी यश या कीर्ति नहीं पाता। और **यश कीर्तिनामकर्म** मे जीव थोड़ा काम

करने पर भी यश या कीर्ति पाता है। यहाँ यश शब्द से अमर्यादित क्षेत्र में प्राप्त हुई ख्याति समझनी चाहिए।

नामकर्म के शुभ और अशुभ ये दो सामान्य भेद हैं। शुभनामकर्म से शुभ वस्तुएँ मिलती हैं, अशुभनामकर्म से अशुभ। जो जीव मन, वचन, काया की प्रवृत्ति में एकसूत्रता नहीं रखते, दाम्भिक प्रवृत्ति करते हैं, उन्हें अशुभनामकर्म बँधता है और इसके विपरीत प्रवृत्ति करनेवाले को शुभ-नामकर्म बँधता है।

दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, आदि बीस स्थानकों में से एक दो या अधिक स्थानकों को स्पर्श करनेवाला तीर्थंङ्कर नाम कर्म बाँधता है।

गोत्रकर्म

जिसके कारण जीव को उच्चता-नीचता प्राप्त होती है, वह गोत्रकर्म कहलाता है। उसके दो प्रकार हैं (१) उच्चगोत्र और (२) नीच-गोत्र। प्रख्यात कुलवान कुल में जन्म दिलानेवाला उच्चगोत्र कहलाता है। और अख्यात या निंद्य कुल में जन्म दिलाने वाला नीच गोत्र कहलाता है।

स्वनिंदा, परप्रशसा, सद्गुणों का उद्भावन और असद्गुणों का आच्छादन एवं विनय तथा नम्रता द्वारा तथा मदरहित पठन-पाठन की प्रवृत्ति द्वारा जीव उच्चगोत्र बाँधता है। परनिन्दा, आत्मप्रशसा, असद्-गुणों के उद्भावन, सद्गुणों के आच्छादन और मद वगैरह से नीच-गोत्र बाँधता है।

अपनी भूलें देखना और आत्मा को ठपका देना स्वनिन्दा है, और दूसरों की बुराई करना, दूसरों के दोष गिनना परनिन्दा है। दूसरों के अच्छे गुणों की प्रशसा करना परप्रशसा है और अपनी बड़ाई खुद करना आत्मप्रशसा है। दूसरों के सद्गुणों को प्रकाशित करना सद्गुणों का उद्भावन है। और, दूसरों के दुर्गुणों को कहते फिरना असद्गुणों का उद्भावन है। किसी के दुर्गुणों को ढकना असद्गुणों का आच्छादन है और किसी के गुण ढकना सद्गुणों का आच्छादन है।

अन्तरायकर्म

जिस कर्म के कारण आत्मा की लब्धि (शक्ति) में अन्तराय पड़े, विघ्न आये वह अन्तरायकर्म कहलाता है। उसकी उत्तर प्रकृतियाँ पाँच है (१) दानातराय, (२) लाभातराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगातराय और (५) वीर्यातराय।

हम किसी के पास कुछ लेने गये। देनेवाला सुयोग्य है, देने का मन है, देने की सामग्री मौजूद है, फिर भी देने का उत्साह नहीं होता। वहाँ देनेवाले के लिए दानातराय और लेने वाले के लिए लाभातराय है। लाभातराय टूटता है तो लाभ होता है, अन्यथा नहीं होता।

रोज नयी वस्तु भोगने में आवे वह भोग है। और एक ही बारबार भोगी जाये वह उपभोग है। भोग्य वस्तु तैयार हो मगर उसका भोग न किया जा सके तो वह भोगातराय है।

उपभोग की वस्तु (जैसे पत्नी, आदि) मौजूद हो मगर उसका उपभोग न हो सके, तो वह उपभोगान्तराय है।

कोई कहे कि 'ऐसा पाप का साधन न मिले, उसमे अन्तराय आये, तो हम पाप से बच जायेंगे।' ऐसा कहना ठीक नहीं है, कारण कि वहाँ भोगोपभोग की इच्छा है फिर भी भोग नहीं सकते, इसलिए दुःख होता है। अगर आप समझबूझकर भोग-उपभोग न करें तो पाप से बच सकते है और आपकी आत्मा को सुख-शाति का अनुभव हो।

मनुष्य जवान है, कसरत करता है, खाता पीता है, फिर भी शक्ति न आवे तो उसका कारण वीर्यातराय है। व्रतनियम स्वीकारने में, एव त्याग-वृत्ति विकसित करने मे जो उत्साह प्रकट करना चाहिए वह प्रकट न कर सकने का कारण भी वीर्यातराय है।

जिनपूजा का निषेध, हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह, रात्रि भोजन, आदि म तत्परता, मोक्षमार्ग म दोष बताकर विघ्न डालना, साधुओं को भात पानी, उपाश्रय उपकरण, औषध, आदि देने का निषेध

करना, दूसरे जीवों का दान लाभ-भोग-उपभोग में अन्तराय करना, मन्त्रादिक के प्रयोग से दूसरे का वीर्य हनना, छेदन भेदनादि से दूसरे की इन्द्रियों की शक्तियों का नाश करना, आदि कारणों से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है।

इस तरह आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ १५८ हुई। उनकी तालिका यहाँ दी जाती है—

ज्ञानावरणी	कर्म	की उत्तर	प्रकृति	५
दर्शनावरणी	,,	,,	,,	९
वेदनीय	,,	,,	,,	२
मोहनीय	,,	,,	,,	२८
आयुष्य	,,	,,	,,	४
नाम	,,	,,	,,	१०३
गोत्र	,,	,,	,,	२
अन्तराय	,,	,,	,,	५
			कुल	१५८

आठ कर्मों में से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घाती कहलाते हैं, कारण कि वे आत्मा के मूल गुणों—ज्ञान, दर्शन, क्षायक सम्यक्त्व तथा चारित्र और वीर्य का घात करते हैं। शेष चार कर्म—वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र अघाती कहलाते हैं, कारण कि वे आत्मा के मूल गुणों का घात नहीं करते।

आत्मा की सच्ची लड़ाई घाती कर्मों के साथ ही है। घाती कर्म दूर हो जायँ तो केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रकट हो जायँ तथा वह आत्मा अवश्य मोक्ष जाये। शेष चार कर्मों का अन्त समय पर नाश हो जाय।

कर्मों के सम्बन्ध में अभी बहुत कहना है, वह अवसर पर कहा जायगा।

***

तेईसवाँ व्याख्यान

अध्यवसाय

महानुभावो !

कर्म के विषय में हम आगे बढ़ते जा रहे हैं और उसकी परिभाषा से क्रमशः परिचित होते जा रहे हैं। आज कर्म-साहित्य म बारबार प्रयोग होनेवाले 'अध्यवसाय' शब्द से आपको परिचित कराना है।

अध्यवसाय का अर्थ

किसी साहित्यकार से पूछिए—"अध्यवसाय का अर्थ क्या है ?" तो, वह तुरत कहेगा—"प्रयत्न, मेहनत या उत्साह।" यह प्रश्न किसी दार्शनिक से पूछें तो उनसे भिन्न उत्तर मिलेगा। नैयायिक उसका अर्थ 'निश्चय' करते हैं। वेदान्ती उसका अर्थ 'बुद्धि-धर्म' करेंगे। साख्यमत वाले कहेंगे कि, अध्यवसाय का अर्थ 'वृत्ति' या 'ज्ञान' है। लेकिन, हम जैन 'आत्मा के परिणाम' की सूचना के लिए उसका उपयोग करते हैं। अध्यवसाय अर्थात् आत्मा का परिणाम !

अध्यवसाय की महत्ता

विचार, लगन, इच्छा ये सब आत्मा के परिणाम पर अवलम्बित हैं, इसलिए अध्यवसाय का स्थान जीवन-निर्माण मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अगर, अध्यवसाय शुभ हों तो जीवन उत्तम बनेगा और अशुभ अध्यवसाय खराबी पैदा करने में कोई कसर नहीं रखते। प्रगति और अवनति अध्यवसायों पर ही निर्भर है, यह बात आपके मन में बराबर बैठ जानी चाहिए।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की कथा सुनिए, आपको इस कथन की प्रतीति हो जायगी।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की कथा

एक बार त्रिभुवन तारक जगद्वद्य चरम तीर्थङ्कर श्री महावीर प्रभु राजगृही-नगरी के बाहर उद्यान में समवसरे। उनके साथ तपस्वी, ज्ञानी और ध्यानी मुनिवरों का विशाल समुदाय था। उनमें प्रसन्नचन्द्र-नामक राजर्षि ध्यान के अभ्यासी थे। वे अपना अधिकांश समय ध्यान में ही व्यतीत करते थे। उद्यान के एक सिरे पर वे ध्याननिष्ठ थे। ध्यान में वे एक पैर पर खड़े थे, उनके दोनों हाथ ऊँचे थे और उनकी दृष्टि सूर्य के सामने स्थापित थी। पहले ऐसे उग्र ध्यान बहुत किये जाते थे। आजकल वह प्रवृत्ति मद, बल्कि अतिमन्द है।

श्रेणिक राजा को उद्यानपालक द्वारा समाचार मिला कि सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर नगर के बाहर उद्यान में समवसरे हैं। यह जानकर उन्होंने अपने पुत्रपरिवार के साथ दर्शन के लिये जाने की तैयारी की। देव या गुरु के दर्शन को जाना हो तो हृदय में उल्लास धारण करना चाहिए और वस्त्रालंकार भी सुन्दर रीति से पहनना चाहिए। गृहस्थों का यह आचार है। राजा जाये तो पूरे ठाठ से जाये ताकि दूसरे लोगों को भी दर्शन की भावना जाग्रत हो।

श्रेणिक राजा एक जुलूस के साथ प्रभु के दर्शन को चले। उसमें बहुत से हाथी थे, बहुत से घोड़े थे, रथ और पैदल भी बहुत-से थे। इस जुलूस के आगे-आगे दो सिपाही चल रहे थे। उनमें से एक का नाम सुमुख और दूसरे का नाम दुर्मुख था। कदाचित्, उनके बोलने की रीति पर से ही ये नाम पड़े थे।

उन्होंने उद्यान के सिरे पर ध्यानावस्थित प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को देखा। सुमुख बोला—"देखा इन मुनिवर को? कैसा उग्र ध्यान धर रहे हैं! बिरले ही ऐसी उग्र तपस्या कर सकते हैं। बारबार धन्यवाद है, इनको।"

यह सुनकर दुर्मुख ने कहा—"हाँ, देखा इन मुनिवर को! इन्हें मैं बराबर पहचानता हूँ। ये हैं, पोतनपुर के राजा प्रसन्नचन्द्र! इन्होंने अपने दूध पीते बालक पर राज्य का भार डाल कर यह रास्ता लिया है। लेकिन, इनके पीछे राज्य की क्या हालत हो रही है उसकी इनको क्या खबर! जिन मन्त्रियों को इन्होंने कार्य भार सौंपा था, उनकी नीयत बिगड़ गयी है और वे लोग राज्य को हथियाने के अनेक षड्यत्र कर रहे हैं। इनके अन्तःपुर की सब रानियाँ इसी कारण नाश को प्राप्त हैं और बाल राजा उनके शिकजे में आ गया है, आजकल में ही उस बेचारे का कचूमर निकल जायेगा। जो पिता अपने पुत्र के हित में बेदरकार रहे, उसे मैं अधर्मी और पापी समझता हूँ और उसे हजार बार धिक्कारता हूँ।"

इस तरह बातें करते हुए वे वहाँ से निकल गये। कुछ देर में श्रेणिक राजा वहाँ आये और ध्यान मग्न मुनिवर को वन्दन किया। फिर, वे प्रभु महावीर के समीप पहुँच कर उनकी धर्मदेशना सुनने लगे। वहाँ अवसर देखकर उन्होंने पूछा—"हे प्रभो! मैंने रास्ते में ध्यान-मग्न प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की वन्दना की। अगर वे उस स्थिति में कालधर्म पाते तो किस गति में जाते?" प्रभु ने कहा—"सातवें नरक में।"

यह जवाब सुनकर श्रेणिक राजा विचार में पड़ गये। मुनि को नरक गमन नहीं हो सकता और यह मुनि तो ध्यानमग्न हैं, फिर भी प्रभु ने ऐसा कैसे कहा? मेरे सुनने में तो गलती नहीं हो गयी? शायद ऐसा ही हो, इसलिए उन्होंने फिर प्रश्न किया—"हे प्रभो! प्रसन्नचन्द्र राजर्षि यदि अभी काल धर्म पायें तो किस गति में जायेंगे?" प्रभु ने कहा—"वे सर्वार्थसिद्धि विमान में देव बनेंगे।"

यह उत्तर सुनकर श्रेणिक को बड़ा आश्चर्य हुआ—प्रभु ने क्षण भर पहले सातवाँ नरक कहा और अब सर्वार्थसिद्धि-विमान कहते हैं! उनके मन में कुछ मनोमथन चला कि, दुदुंभि बजने लगी और जयनाद होने लगे। श्रेणिक राजा ने पूछा—"हे प्रभु! यह दुंदुभि क्यों बज रही है? और, जयनाद कैसा हो रहा है?"

प्रभु ने कहा—"हे राजन्! प्रसन्नचन्द्र-राजर्षि को केवलज्ञान प्रकट हुआ है, इसलिए देव-दुंदुभि बजा रहे हैं और जयनाद कर रहे हैं!"

यह उत्तर सुनकर राजा श्रेणिक को और भी आश्चर्य हुआ। समाधान प्राप्त करने के लिए उन्होंने प्रभु से कहा—"प्रभो! ये आश्चर्यभरी घटनाएँ मेरी समझ में नहीं आयीं, कृपाकर इनका रहस्य समझाइए!"

प्रभु महावीर बोले—"राजन्! जब तुम यहाँ आ रहे थे, तब तुम्हारे जुलूस के आगे चलने वाले दो सिपाही प्रसन्नचन्द्र ऋषि के विषय में जो बातें करते आ रहे थे, वह उन्होंने सुनीं तो ध्यान से विचलित हो गये। उस समय उन्हें ऐसा विचार आया—"आज तक मैंने जिनका सम्मान किया, जिनपर पूरा विश्वास रखा, वे ऐसे कृतघ्न निकले! क्या वे मेरे बाल कुँवर को मार डालेंगे? नहीं-नहीं, मैं ऐसा नहीं होने दूँगा। मैं इन दुष्टों की शान ठिकाने लगा दूँगा!" ऐसा विचार करते हुए वे क्रोधायमान हुए और वह क्रोध बढ़ता ही गया। ऐसा करने से वे अपना सामायिक-व्रत चूक गये। वे उनके साथ भयंकर काल्पनिक युद्ध करने लगे। शस्त्रों से उनका मुकाबला करते रहे। यहाँ तक कि उनके सब शस्त्र समाप्त हो गये और दुश्मन भी खत्म हो गये। लेकिन, एक बाकी रह गया। तब उनको विचार आया—"अपनी लोहे की टोपी से इसका भी नाश कर दूँ।" ऐसा सोचकर वे अत्यन्त क्रोधायमान हुए। उसी समय हे श्रेणिक! तुमने उन्हें प्रणाम किया था। इसलिए, तुम्हारे पहले प्रश्न का उत्तर मैंने यह दिया कि वह सातवें नरक जायेंगे।

"उसके बाद उन्होने जैसे ही सर पर हाथ रखा कि, उन्हें लोच किया हुआ मस्तक याद आया और उनका क्रोध उतर गया। वे विचारने लगे— "मैने तो सदा के लिए सामायिक-व्रत (चरित्र) ले रखा है, चारित्र-धारण किया है, मन, वचन, काय से किसी भी जीव की हिंसा न करने की प्रतिज्ञा ले रक्खी है। लेकिन, यह क्या किया ? सचमुच! मैं धर्म-ध्यान चूक गया और रौद्र-ध्यान में चढ गया! जहाँ सब जीवों के प्रति मैत्री-भाव रखना है, वहाँ पुत्र के प्रति राग कैसा और मन्त्रियों के प्रति द्वेष कैसा ? हा! हा! मेरे इस दुष्ट कृत्य को धिक्कार है। मैं इस दुष्कृत्य की निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और इन दुष्ट अध्यवसायों में से अपने आत्मा को खींचे लेता हूँ।" हे राजन्! जब वे ऐसा विचार कर रहे थे, तब तुमने दूसरा प्रश्न किया, तो मैंने कहा कि वे सर्वार्थसिद्धि-विमान मे देव बनेंगे।

"बाद में भी उनके अध्यवसायों की शुद्धि चालू रही और वे उत्तरोत्तर आगे बढते हुए क्षपकश्रेणी पर आरूढ हुए। वहाँ उन्होंने चारों घाती कर्मों का नाश किया और उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।"

प्रभु से ऐसा उत्तर सुनकर, राजा श्रेणिक का समाधान हुआ। आत्मा शुभ अध्यवसायों से चढ़ता है और अशुभ अध्यवसायों से गिरता है, यह इस कथा का मुख्य बोध है। उपरात इसम से हम तीन निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

(१) आत्मा का अध्यवसाय हमेशा एक सा नहीं रहता, पर वह बदलता रहता है।

(२) आत्मा शुभ अध्यवसाय से अशुभ अध्यवसाय में और अशुभ अध्यवसाय से शुभ अध्यवसाय में आता रहता है।

(३) अध्यवसायों के परिवर्तन मे निमित्त काम करते है। अशुभ निमित्त से अशुभ अध्यवसाय और शुभ निमित्त से शुभ अध्यवसाय शुरू हो जाते है।

अध्यवसायों की संख्या

आत्मा के अध्यवसाय बदलते रहते है और नये नये पैदा होते रहते हैं, इसलिए उनकी संख्या का बहुत बड़ी होनी स्वाभाविक है। आकाश के तारों और पृथ्वी के रजकणों की तरह वे गिने नहीं जा सकते। उनके भेद और स्थानक असंख्यात माने गये हैं।

अध्यवसाय न बदलते रहते, तो उन्नति तथा अवनति का अनुभव न होता, कर्मों की स्थिति का वैचित्र्य भी दिखलायी न देता।

अध्यवसाय किसको होते हैं !

प्रश्न—आत्मा निगोद में जड़प्राय अवस्था म होता है, तब उसे अध्यवसाय होते हैं क्या ?

उत्तर—आत्मा निगोद में जड़प्राय अवस्था में होता है, तब भी उसे अध्यवसाय होते है। अगर उसको अध्यवसाय न हों तो उसमें और जड़ में अतर ही क्या रहे ? अध्यवसायों के कारण तो उसका कर्मबन्धन चालू रहता है। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवों में भी अध्यवसाय होते ही हैं। केवल वीतराग आत्मा को सकल्प विकल्परूप अध्यवसाय नहीं होते।

प्रश्न—वनस्पति को भी अध्यवसाय होते हैं, इसका कोई प्रमाण ?

उत्तर—वनस्पति को भी अध्यवसाय होते हैं, ऐसा हमारे शास्त्र कहते है। यही बड़ा प्रमाण है। आप लौकिक प्रमाण चाहते हों तो वह भी प्राप्त हो सकता है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बोस ने प्रयोगों से सिद्ध करके दिखला दिया है कि, वनस्पति को भी, हमारी तरह हर्ष, शोक, भय, चिन्ता, आदि होती हैं और उनका उनके जीवन-व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है। व्यान अध्यवसायों के बिना सभव नहीं हैं, इसलिए यह निश्चित है कि वनस्पति को भी अध्यवसाय होते हैं।

प्रश्न—क्या तिर्यंचों को शुभ अध्यवसाय होते हैं ?

उत्तर—हाँ, निमित्त मिलने पर तिर्यंचों को भी शुभ अध्यवसाय जाग्रत होते हैं। शास्त्रों में इसके अनेक उदाहरण दिये हैं। उनमें से एक यहाँ दिया जाता है।

नंद मणियार पहले समकिती था। बाद में निर्ग्रंथ-गुरुओ के परिचय में न रहने के कारण और मिथ्यात्वियो के विशेष संसर्ग के कारण वह मिथ्यात्वी हो गया। उसने कुँवा-बावड़ी बनवाने में और लोगों को अन्न-जल-दान करने मे आत्मा का उद्धार माना। भूखे को अन्न और प्यासे को पानी देना पुण्य का काम है, लेकिन अगर आत्मा का उद्धार करना हो, आत्मा को कर्मों की कुटिल जंजीरों म से मुक्त करना हो तो संवर और निर्जरा अर्थात् संयम और तप का मार्ग ग्रहण करना चाहिए। लेकिन, इस बात में उसकी श्रद्धा नहीं रही। उसने अपनी मान्यतानुसार एक सुन्दर बावड़ी बनवायी और उसके इर्द गिर्द अन्नछत्र, आरामगृह, आदि बनवाये। धीरे-धीरे उसे उस बावड़ी पर आसक्ति हो गयी और अन्त समय भी उसका मन उस बावड़ी में डूबा रहा। इसलिए, मरने पर वह उसी बावड़ी में मेंढ़क बनकर उत्पन्न हुआ।

वह मेंढक पानी के मल आदि पर जीकर अपना काल-यापन करता रहा। एक दिन उसने बावड़ी में पानी भरने आनेवाली पनिहारियों के मुख से सुना कि श्रमण भगवान् महावीर निकट में पधारे हैं और उनके दर्शन करने हजारो आदमी जा रहे हैं। ये शब्द सुनते ही उसके मन में अध्यवसाय उत्पन्न हुआ—"मैंने यह नाम कहीं सुना है।" इस पर बारबार ऊहापोह करते हुए उसे जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ और उसे याद आया कि उसने महावीर प्रभु से व्रत ग्रहण किया था, उसमें शिथिलता आ गयी थी, बावड़ी बनवाने का मनोरथ उत्पन्न हुआ था और उसकी आसक्ति से उसकी यह दशा हुई है। अब उसने यह विचार किया—"मै भी महावीरप्रभु के दर्शन करूँगा।"

देव-गुरु के दर्शन-समागम का विचार शुभ अध्यवसाय है। इसमे शुभ कर्म का बन्ध होता है और फलस्वरूप शुभ वस्तुओं की प्राप्ति होती है।

अब वह मेंढक बड़े प्रयत्न से बावड़ी से बाहर निकला। वह फुदकता-फुदकता महावीर-प्रभु की ओर जा रहा था कि, श्रेणिक राजा के जुलूस के एक घोड़े के पैर के नीचे आकर बहुत जख्मी हो गया।

आप किसी गाड़ी या मोटर की चपेट में आ जायें और आप को क्षति पहुँच जाये तो आप मोटर वाले को पकड़ें, मारें, पुलिस के हवाले कर दें, मुकदमा चलायें, लेकिन उस मेंढक ने घुड़सवार या घोड़े पर क्रोध नहीं किया। वह धीरे से रास्ते के एक ओर होकर विचार करने लगा "हा! हा! मैं कैसा हतभागी हूँ कि, भगवान् के इतने निकट होने पर भी मैं उनके दर्शन न कर सका! अब इस भग्न शरीर से तो उनके पास पहुँच नहीं सकता, इसलिए यहीं से उनको वन्दन करता हूँ। हे प्रभो! भवोभव मुझे आपकी ही शरण मिले।"

ऐसे शुभ अध्यवसाय में उसने देह त्याग किया, इसलिए मरकर वह दर्दुराक-नामक वैमानिक महर्द्धिक देव हुआ।

अध्यवसायों में परिवर्तन

आत्मा शुभ अध्यवसाय से अशुभ मे और अशुभ से शुभ अध्यवसाय में आ जाता है, इसका अनुभव तो आप ने भी किया होगा। आप यहाँ आकर व्याख्यान सुनते हैं तब आपको ऐसा अध्यवसाय होता है कि अब क्रोध नहीं करेंगे, अभिमान नहीं करेंगे, छल-कपट नहीं करेंगे, लोभ बिल्कुल नहीं रखेंगे, लेकिन यहाँ से बाहर जाने के बाद और व्यवहार या व्यापार में पड़ने के बाद क्या वे अध्यवसाय रहते हैं? वहाँ कोई आप का अपमान करे या गाली दे, तो तुरन्त लड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं और अपवचन बकने लगते हैं।

आपको कितनी ही बार शुभ अध्यवसाय होते हैं, लेकिन टिकते नहीं, इसीलिए आत्मविकास नहीं होने पाता।

आप कभी गुस्से में आये हुए हों और अशुभ अध्यवसायों में चढ़े जा रहे हों, लेकिन अगर कोई प्रिय व्यक्ति अथवा कोई सज्जन आकर आपको दो शब्द हित के कहे, तो शांत हो जाते हैं और शुभ अध्यवसाय मे आ जाते हैं।

अध्यवसायों के बदलने में निमित्त काम करते है, यह भूलना न चाहिए। आप अभिमान में आ गये हों और दूसरे को तुच्छ गिन रहे हों, इतने में बाहुबली जी की ध्यानस्थ मूर्ति का चित्र देखने में आ जाये तो आपका अध्यवसाय तुरन्त बदल जाता है। और, आपके मन में यह प्रश्न जरूर खड़ा हो जाता है—"हे जीव! तू क्या कर रहा है? बाहुबली सर्वस्व त्याग करके ध्यान में खड़े रहे, लेकिन अभिमान का जरा-सा अंश रह जाने के कारण केवलज्ञान प्राप्त न कर सके। जब भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी और सुन्दरी को भेजा और उन्होंने बाहुबली को समझाया और बाहुबली महामुनि ने अभिमान छोड़ा तो अध्यवसायों के परम शुद्ध होते ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया। पर, हे जीव! तू तो अभिमान से ओत-प्रोत है, तेरा क्या हाल होगा?"

तीर्थ, मंदिर, उपाश्रय, सद्गुरु समागम, उत्सव महोत्सव यह सब अध्यवसायों के शुद्ध करने के प्रबल निमित्त हैं और इसीलिए महापुरुषों ने उनकी जोरदार सिफारिश की है, यह हमेशा याद रखना चाहिए। शुभ निमित्त कमजोर पड़े कि अशुभ अध्यवसाय आप पर जोरदार हमला कर देंगे और आपके जीवन की बाजी बिगाड़ डालेंगे।

आत्मा के परिणामों या अध्यवसायों की शुद्धि ही भाव धर्म है। भगवान् ने उसे दान, शील और तप से भी उत्तम माना है, कारण कि भाव न हो तो यह कोई क्रिया न तो शोभा देती है न अपना पूरा फल

दे सकती है। हजार रुपये की आशा रखी हो और दस रुपये मिलें यह कोई पूरा फल नहीं है।

स्थितिबन्ध में अध्यवसाय कारणभूत है

कर्मका प्रदेशबध और प्रकृतिबध होने में योगबल कारणभूत है। कर्म के स्थितिबध होने में अध्यवसाय कारणभूत हैं। आत्मा जिस अध्यवसायावस्था का वर्तन करता हो, उसी के अनुसार कर्म का स्थितिबध पड़ता है।

स्थिति के प्रकार

स्थिति अर्थात् कालमर्यादा तीन प्रकार की है—(१) जघन्य, (२) मध्यम, और (३) उत्कृष्ट। जो स्थिति छोटी-से छोटी हो वह जघन्य कहलाती है, जो बड़ी से बड़ी हो वह उत्कृष्ट, और जो बीच की हो वह मध्यम कहलाती है।

आठ कर्मों की स्थिति

यहाँ आठ कर्मों की स्थिति दर्शायी जाती है —

नबर	कर्म	जघन्यस्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१	ज्ञानावरणीय	अन्तर्मुहूर्त	३० कोटाकोटि सागरोपम
२	दर्शनावरणीय	,,	,,
३	वेदनीय	बारह मुहूर्त	,,
४	मोहनीय	अन्तर्मुहूर्त	७० कोटाकोटि सागरोपम
५	आयुष्य	,,	३३ सागरोपम
६	नाम	आठ मुहूर्त	२० कोटाकोटि सागरोपम
७	गोत्र	,,	,,
८	अन्तराय	अन्तर्मुहूर्त	३० कोटाकोटि सागरोपम

आपको कितनी ही बार शुभ अध्यवसाय होते हैं, लेकिन टिकते नहीं, इसीलिए आत्मविकास नहीं होने पाता।

आप कभी गुस्से मे आये हुए हों और अशुभ अध्यवसायों में चढ़े जा रहे हों, लेकिन अगर कोई प्रिय व्यक्ति अथवा कोई सज्जन आकर आपको दो शब्द हित के कहे, तो शात हो जाते हैं और शुभ अध्यवसाय मे आ जाते हैं।

अध्यवसायों के बदलने में निमित्त काम करते है, यह भूलना न चाहिए। आप अभिमान में आ गये हों और दूसरे को तुच्छ गिन रहे हों, इतने में बाहुबली जी की ध्यानस्थ मूर्ति का चित्र देखने में आ जाये तो आपका अध्यवसाय तुरन्त बदल जाता है। और, आपके मन में यह प्रश्न जरूर खड़ा हो जाता है—"हे जीव! तू क्या कर रहा है? बाहुबली सर्वस्व त्याग करके ध्यान में खड़े रहे, लेकिन अभिमान का जरा-सा अश रह जाने के कारण केवलज्ञान प्राप्त न कर सके। जब भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी और सुन्दरी को भेजा और उन्होंने बाहुबली को समझाया और बाहुबली महामुनि ने अभिमान छोड़ा तो अध्यवसायों के परम शुद्ध होते ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया। पर, हे जीव! तू तो अभिमान से ओत-प्रोत है, तेरा क्या हाल होगा?"

तीर्थ, मदिर, उपाश्रय, सद्गुरु समागम, उत्सव महोत्सव यह सब अध्यवसायों के शुद्ध करने के प्रबल निमित्त हैं और इसीलिए महापुरुषों ने उनकी जोरदार सिफारिश की है, यह हमेशा याद रखना चाहिए। शुभ निमित्त कमजोर पड़े कि अशुभ अध्यवसाय आप पर जोरदार हमला कर देंगे और आपके जीवन की बाजी बिगाड़ डालेंगे।

आत्मा के परिणामों या अध्यवसायों की शुद्धि ही भाव धर्म है। भगवान् ने उसे दान, शील और तप से भी उत्तम माना है, कारण कि भाव न हो तो यह कोई क्रिया न तो शोभा देती है न अपना पूरा फल

दे सकती है। हजार रुपये की आशा रखी हो और दस रुपये मिले यह कोई पूरा फल नहीं है।

स्थितिबन्ध में अध्यवसाय कारणभूत है

कर्मका प्रदेशबंध और प्रकृतिबंध होने में योगबल कारणभूत है। कर्म के स्थितिबंध होने में अध्यवसाय कारणभूत हैं। आत्मा जिस अध्यवसायावस्था का वर्तन करता हो, उसी के अनुसार कर्म का स्थितिबंध पड़ता है।

स्थिति के प्रकार

स्थिति अर्थात् कालमर्यादा तीन प्रकार की है—(१) जघन्य, (२) मध्यम, और (३) उत्कृष्ट। जो स्थिति छोटी से-छोटी हो वह जघन्य कहलाती है, जो बड़ी-से बड़ी हो वह उत्कृष्ट, और जो बीच की हो वह मध्यम कहलाती है।

आठ कर्मों की स्थिति

यहाँ आठ कर्मों की स्थिति दर्शायी जाती है —

नंबर	कर्म	जघन्यस्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१	ज्ञानावरणीय	अन्तर्मुहूर्त	३० कोटाकोटि सागरोपम
२	दर्शनावरणीय	,,	,,
३	वेदनीय	बारह मुहूर्त	,,
४	मोहनीय	अन्तर्मुहूर्त	७० कोटाकोटि सागरोपम
५	आयुष्य	,,	३३ सागरोपम
६	नाम	आठ मुहूर्त	२० कोटाकोटि सागरोपम
७	गोत्र	,,	,,
८	अन्तराय	अन्तर्मुहूर्त	३० कोटाकोटि सागरोपम

जघन्य स्थिति से एक समय अधिक और उत्कृष्ट स्थिति से एक समय कम हो, वहाँ तक मध्यम स्थिति समझनी चाहिए।

जहाँ विज्ञान है, वहाँ गणित है। आजके विज्ञान ने सेकेंड के भी हजारों भाग कर दिये हैं और उनका उपयोग भी किया जाता है। लेकिन, हमारा कालमान उससे भी बहुत सूक्ष्म है।

कल्पना से भी जिसके दो भाग न हो सकें काल के ऐसे सूक्ष्म भाग को 'समय' कहते हैं। ऐसे असख्य समय एक अवलिका के बराबर हैं। असख्य अवलिका एक श्वास के बराबर हैं। दो श्वास का एक प्राण कहलाता है, और सात प्राण का एक स्तोक होता है। सात स्तोक का एक लव, ७७ लवका एक मुहूर्त, ३२ मुहूर्त का एक अहोरात्र होता है। (दिन और रात मिलकर एक अहोरात्र कहलाते हैं।)

इन शब्दों को ध्यान म रखना चाहिए, कारण कि शास्त्रों में उनका उपयोग हुआ है, इसलिए वस्तुस्थिति समझने में आसानी रहेगी।

पन्द्रह अहोरात्र = एक पक्ष
दो पक्ष = एक मास
बारह मास = एक वर्ष

यह गणना जगत में प्रसिद्ध है। और, अपने को भी स्वीकार्य है।

पाँच वर्ष = एक युग
बीस युग = एक शताब्दि

आजकल युग की गणना बड़ी लम्बी चौड़ी बतायी जाती है, पर उसे इससे भिन्न समझना चाहिए।

दस शताब्दि = एक सहस्राब्दि

८४०० सहस्राब्दि = एक पूर्वांग (यानी ८४ लाख वर्ष)। पूर्व का माप इतना विशाल है कि, उसकी कल्पना भी कठिन है। एक पूर्व में ७०५६० अरब वर्ष होते हैं।

उसके बाद त्रुटितांग, त्रुटित, अटटांग, अटट, आदि अनेक प्रकार के माप हैं। उनमें १९४ अंक की एक संख्या को शीर्ष-प्रहेलिका कहते हैं।

इस प्रकार जब संख्यात की गणना रुक जाती है, तब असंख्यात की गणना शुरू होती है। पल्योपम और सागरोपम इसी जाति के माप हैं। एक योजन लम्बा, एक योजन चौड़ा, और एक योजन गहरा गड्ढा बालों के छोटे से-छोटे टुकड़ों से ऐसा ठसाठस भर दिया जाये कि अगर उसपर से चक्रवर्ती की सेना भी चली जाये, तो भी दबे नहीं, फिर उसमें से सौ वर्ष पर एक टुकड़ा निकालते जायें तो जितने वर्षों में वह गड्ढा खाली हो उतने काल को पल्योपम कहते हैं। और, ऐसे दस कोड़ाकोड़ी (यानी १०करोड़ × करोड़) पल्योपम काल को सागरोपम कहते हैं।

किसको कैसा स्थितिबंध होता है ?

आपको सागरोपम का ख्याल बराबर आ गया होगा।

यहाँ आयुष्य का उत्कृष्ट स्थितिबंध ३३ सागरोपम का बतलाया है, वे सर्वार्थसिद्धि विमानवासी जीव को तथा सातवें नरक के जीव को होता है। शेष सात प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध मिथ्यादृष्टि पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को होता है।

अन्तर्मुहूर्त के आयुष्य की जघन्य स्थिति तिर्यंच और मनुष्य इन दो प्रकार के जीवों को होती है और शेष प्रकृतियों की जघन्य स्थिति सूक्ष्म-सांपराय अर्थात् दसवें गुणस्थान पर वर्तते जीव को, मनुष्य को, होती है। गुणस्थानक का विचार आगे आयेगा, अभी तो उसका नामोल्लेख ही किया गया है।

अध्यवसायों की तरतमता—लेश्या

अध्यवसायों की तरतमता को लेश्या कहते हैं और वह रसबंध का मुख्य कारण है। कर्म बाँधते समय जैसा तीव्र-मंद रस बाँधा हो, और फिर फेरफार हुआ हो तो तदनुसार उसका तीव्र मंद फल भोगना पड़ता है।

अध्यवसायों की तरतमता समझाने के लिए शास्त्र में जम्बूवृक्ष और ६ पुरुषों का दृष्टान्त दिया गया है, उसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

जम्बूवृक्ष और ६ पुरुष

६ यात्री एक जम्बूवृक्ष के नीचे आये, उनमें से पहले ने कहा—"इस पेड़ को तोड़ कर गिरा लें तो मनमाने फल खाये जा सकते हैं।" दूसरे ने कहा—"सारे पेड़ को तोड़ कर गिराने की क्या जरूरत है? उसकी एक बड़ी डाली तोड़ लें तो भी अपना काम चल जायेगा।" तीसरे ने कहा—"अरे भाइयों! बड़ी डाली तोडने की जरूरत नहीं है, उसकी एक छोटी डाली भी तोड़ लें तो काफी है।" चौथे ने कहा—"बड़ी या छोटी डाली तोड़ने की क्या जरूरत है? हम उनमें से फल वाले गुच्छे ही न तोड़ लें?" पाँचवें ने कहा—"मुझे तो यह भी उचित नहीं लगता, अगर हमें जामुन ही खानी है, तो उनमें से जामुन ही क्यों न तोड़ लें?" छठे ने कहा—"भाइयों! अगर सिर्फ भूख मिटाना ही अपना प्रयोजन हो तो यहाँ जो ताजी जामुन गिरी पड़ी हैं, उन्हें ही क्यों न बीन लें? उन्हीं से अपनी भूख मिट जायेगी।"

यहाँ पहले आदमी के अध्यवसाय बड़े अशुभ तीव्रतम हैं, उसे **कृष्ण-लेश्या** समझनी चाहिए। दूसरे पुरुष के अध्यवसाय तीव्रतर हैं, उसे **नील लेश्या** समझनी चाहिए। तीसरे पुरुष के अध्यवसाय तीव्र हैं, वह **कापोत-लेश्या** है। कृष्ण, नील और कापोत इन तीन लेश्याओं की गणना अशुद्ध लेश्याओं में होती है। इनमें पूर्व-पूर्व की अधिक अशुद्ध है।

चौथे पुरुष के अध्यवसाय मंद हैं, उनकी **पीत लेश्या** (तेजो लेश्या) है। पाँचवें पुरुष के अध्यवसाय मंदतर हैं, उनकी **पद्म-लेश्या** है और छठे पुरुष के अध्यवसाय मंदतम हैं, उनको **शुक्ल-लेश्या** समझना चाहिए। पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओं की गणना शुद्ध लेश्याओं में होती है और वे उत्तरोत्तर अधिक शुद्ध हैं।

इतना याद रखिये

इतनी बात याद रखिए कि, जितना रस ज्यादा, उतना कर्मबंध तीव्र और जितना रस कम उतना कर्मबंध ढीला ! पुण्य कार्य यदि वीर्योल्लास से किये जायेंगे, तो उससे तीव्र पुण्यबंध होगा और उनका फल बहुत शुभ मिलेगा। उसी प्रकार सिद्धान्तानुसार धर्मक्रिया करने से पुण्यानुबन्धी पुण्य मिलेगा। लेकिन, रस लिए बिना यदि उत्साह से या निरुत्साह होकर किया जायेगा तो फल साधारण मिलेगा। इसलिए जब भी धर्मक्रिया करें, तो आनन्द-उत्साह-रसपूर्वक करें, ताकि उसका फल सुन्दर मिले। और, सांसारिक या पापमय कार्य करने पड़ें तो दुःखी दिल से करें, तो कर्मबंध मंद होगा और उसका विशेष दुःख फल न भोगना पड़ेगा।

लेश्या के विषय में कुछ प्रश्न

प्रश्न—लेश्याओं के नाम रंगों के अनुसार रखे गये हैं, इसमें कोई हेतु है ?

उत्तर—आत्मा द्वारा ग्रहण किये गये जो पुद्‌गल लेश्या रूप से परिणमते हैं, वह द्रव्य लेश्या कहलाते हैं और आत्मा के अध्यवसाय भावलेश्या कहलाते हैं। द्रव्य लेश्या को वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते हैं। उसमें जिस लेश्या का जैसा वर्ण, यानी रंग हो, उसे उसी नाम से कहा है। रंगवाले नामों के क्रम से लेश्याओं का शुद्धता-क्रम भी परिलक्षित हो रही है। जिसके अध्यवसाय अधमाधम हों, उसकी द्रव्यलेश्या कृष्ण यानी काले रंग की होगी। इसी प्रकार सब लेश्याओं के विषय में समझ लेना चाहिए।

प्रश्न—क्या इससे यह समझना चाहिए कि अध्यवसायों का भी रंग होता है ?

उत्तर—अध्यवसायों का रग नहीं होता, पर उस वक्त जो द्रव्यलेश्या होती है उसका रग होता है।

प्रश्न—लेश्याओं का विचार और किसी ने भी किया है क्या ?

उत्तर—गोशालक के मत में जीवों की ६ अभिजातियाँ बतलायी है—कृष्ण, नील, लोहित, पीत, शुक्ल और अतिशुक्ल। पतजलि मुनि ने योगदर्शन में कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण, शुक्ल और अशुक्ल कृष्ण ऐसे चार भेद बतलाये हैं। थियोसोफी वाले यह मानते हैं कि मनुष्य में से भिन्न भिन्न प्रकार की रगधारायें बहती हैं और इसे वे विभिन्न अध्यवसायों का परिणाम मानते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान ने भी विचारों के प्रकारानुसार रग की धारा बहने के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की है। जो 'क्लेर वोयेण्ट' हैं, वे इन रगों को देख सकते हैं और उससे मनुष्य के विचार बता सकते हैं। कुछ लोग 'क्लेरवोयेण्ट' का अर्थ अवधिज्ञानी करते हैं, पर वह गलत है। ऐसे पुरुषों की इन्द्रियशक्ति विशेष विकसित होती है।

प्रश्न—आपने कहा है कि लेश्याओं की गध भी होती है। किस लेश्या की कैसी गध होती है ?

उत्तर—कृष्ण, नील और कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं की गध मरी हुई गाय या मरे हुए कुत्ते की दुर्गंध से बुरी होती है। पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओं की गध केवड़ा आदि फूलों की सुगध से भी ज्यादा अच्छी होती है।

प्रश्न—लेश्याओं का रस कैसा होता है ?

उत्तर—कृष्ण लेश्या का रस अत्यन्त कड़वा होता है। नील लेश्या का रस अति तीखा होता है। कापोत लेश्या का रस अत्यन्त कसैला होता है।

पीत-लेश्या का रस खट-मिट्ठा होता है। पद्म-लेश्या का रस मीठा होता है। और, शुक्ल-लेश्या का रस मधुर होता है।

प्रश्न—लेश्याओं का स्पर्श कैसा होता है?

उत्तर—पहली तीन लेश्याओं का स्पर्श अति कर्कश, खरखरा, होता है और बाद की तीन लेश्याओं का स्पर्श अत्यन्त कोमल होता है।

जैन दर्शन के अतिरिक्त ऐसा सूक्ष्म विवेचन अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता।

विशेष अवसर पर कहा जायेगा।

उत्तर—अध्यवसायो का रग नहीं होता, पर उस वक्त जो द्रव्यलेश्या होती है उसका रग होता है।

प्रश्न—लेश्याओ का विचार और किसी ने भी किया है क्या ?

उत्तर—गोशालक के मत में जीवों की ६ अभिजातियाँ बतलायी हैं—कृष्ण, नील, लोहित, पीत, शुक्ल और अतिशुक्ल। पतजलि मुनि ने योगदर्शन मे कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण, शुक्ल और अशुक्ल कृष्ण ऐसे चार भेद बतलाये हैं। थिओसोफी वाले यह मानते हैं कि मनुष्य में से भिन्न भिन्न प्रकार की रगधारायें बहती हैं और इसे वे विभिन्न अध्यवसायों का परिणाम मानते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान ने भी विचारों के प्रकारानुसार रग की धारा बहने के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की है। जो 'क्लेर वोयेण्ट' हैं, वे इन रगों को देख सकते हैं और उससे मनुष्य के विचार बता सकते हैं। कुछ लोग 'क्लेरवोयेण्ट' का अर्थ अवधिज्ञानी करते हैं, पर वह गलत है। ऐसे पुरुषों की इन्द्रियशक्ति विशेष विकसित होती है।

प्रश्न—आपने कहा है कि लेश्याओं की गंध भी होती है। किस लेश्या की कैसी गध होती है ?

उत्तर—कृष्ण, नील और कापोत इन तीन अशुम लेश्याओं की गध मरी हुई गाय या मरे हुए कुत्ते की दुर्गंध से बुरी होती है। पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओं की गध केवड़ा आदि फूलों की सुगध से भी ज्यादा अच्छी होती है।

प्रश्न—लेश्याओं का रस कैसा होता है ?

उत्तर—कृष्ण लेश्या का रस अत्यन्त कड़वा होता है। नील लेश्या का रस अति तीखा होता है। कापोत लेश्या का रस अत्यन्त कसैला होता है।

पीत-लेश्या का रस खट मिट्ठा होता है। पद्म-लेश्या का रस मीठा होता है। और, शुक्ल-लेश्या का रस मधुर होता है।

प्रश्न—लेश्याओं का स्पर्श कैसा होता है?

उत्तर—पहली तीन लेश्याओं का स्पर्श अति कर्कश, खरखरा, होता है और बाद की तीन लेश्याओं का स्पर्श अत्यन्त कोमल होता है।

जैन-दर्शन के अतिरिक्त ऐसा सूक्ष्म विवेचन अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता।

विशेष अवसर पर कहा जायेगा।

चौबीसवाँ व्याख्यान

कर्म का उदय

महानुभावो !

आत्मविकास के लिए आत्मज्ञान की तरह कर्मज्ञान की भी आवश्यकता है। कर्म के विशद ज्ञान के बिना आत्मा कर्म बन्धन से बच नहीं सकता। कर्म-ज्ञान हो जाने पर ही आत्मा विकास के मार्ग पर प्रगति कर सकता है। इसी दृष्टि से हम कर्मों की इतनी विस्तृत चर्चा कर रहे हैं।

कर्मबन्धन होता ही रहता है

निमिषमात्र में असख्यात समय व्यतीत हो जाते हैं। उनमें एक भी समय ऐसा नहीं जाता, जिसमें आत्मा कर्मबन्ध न बाँधता हो। खाते पीते, चलते-फिरते, सोते-बैठते, यहाँ तक कि मूर्छा की दशा में भी कर्म-बन्ध होता ही रहता है। उसमें प्रकृति, स्थिति तथा रस का निर्माण होता ही रहता है, कारण कि, उस समय भी आत्मा के योग और अध्यवसाय तो चालू रहते ही हैं।

कर्म तुरन्त उदय में नहीं आता

आत्मा कर्मबन्ध के समय जो स्थिति बाँधता है, उस स्थिति वाला कर्म तुरन्त उदय में नहीं आता, बल्कि अवसर आने पर उदय में आकर अपना विपाक अर्थात् फल देता है। अवसर न आने तक, वह सत्ता में पड़ा रहता है—आत्मा से चिमटा रहता है। और, भोगे जाने पर ही वह कर्म आत्मा से अलग होता है।

आत्मा को आठों कर्मों का उदय होता है

यह स्मरण रखिए कि, आत्मा प्रत्येक समय सात कर्म बाँधता है, आठ कर्म सत्ता में होते हैं और आठ कर्मों का उदय होता है। आप प्रश्न करेंगे कि, आठ कर्म एक साथ उदय में आकर अपना फल किस प्रकार देते हैं? अत इसका समाधान किये देता हूँ। हर समय ज्ञानावरणीय कर्म का उदय चालू है, क्योंकि हमें केवलज्ञान नहीं है। अगर, ज्ञानावरणीय कर्म का उदय चालू न रहता, तो हमें केवलज्ञान हो जाता। अत सिद्ध हुआ कि, ज्ञानावरणीय कर्म का उदय हर समय चालू रहता है। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम-भाव भी चालू रहता है, जिससे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, मति-अज्ञान, तथा श्रुत अज्ञान, आदि संभव होते हैं। जिन्हें अवधिज्ञान तथा मन -पर्ययज्ञान होता है, वह भी ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम-भाव के कारण ही होता है।

हर समय दर्शनावरणीय कर्म का उदय भी चालू है, क्योंकि हमें केवलदर्शन नहीं है। दर्शनावरणीय कर्म का भी क्षयोपशम भाव चालू रहता है। उसी से चक्षु-दर्शन, अचक्षु दर्शन, आदि होते हैं।

हर समय वेदनीय कर्म का उदय भी चालू रहता है, कारण कि, आत्मा साता असाता का निरन्तर अनुभव करता है।

हर समय मोहनीय कर्म का उदय भी चालू रहता है, क्योंकि हमारी आत्मा वीतराग दशा को प्राप्त नहीं हुई है। मोहनीय कर्म में भी क्षयोपशम भाव होता है, कारण कि कषायें कभी बढती हैं, कभी घटती हैं। मोहनीय कर्म के उदय के कारण आत्मा रागी, द्वेषी, क्रोधी, मानी, कपटी, लोभी आदि बनती है और हास्य, रति, अरति आदि सब चालू रहते हैं।

आयुष्य कर्म का उदय भी हर समय चालू रहता है, कारण कि देव,

मनुष्य, तिर्यंच और नरक इन चार मे से एक आयुष्य अवश्य उदय में होता है।

नाम-कर्म का उदय भी हर समय चालू रहता है, कारण कि शरीर, जाति, वर्ण, गध, रस, स्पर्श, स्वर, उपघात, पराघात ये सब हमें होते हैं।

गोत्र कर्म का उदय भी चालू है, क्योंकि हमे उच्च-गोत्र और नीच-गोत्र में एक अवश्य होता ही है।

और, अन्तराय कर्म का उदय भी चालू रहता है, कारण कि आत्मा के अनन्तदान, अनन्त लाभ अनन्तवीर्य, आदि गुण हमें नहीं होते। हमें जो दान-लाभ-भोग उपभोग वीर्य का अनुभव होता है, वह अन्तराय कर्म के क्षयोपशम भाव के कारण होता है।

इस प्रकार आठों कर्म का उदय सदा चालू रहता है।

अबाधाकाल

जब तक कर्म उदय में आकार फल न दे, तब तक का समय अबाधाकाल कहलाता है। अबाधाकाल का अर्थ कर्म की बाधा—पीड़ा—न उत्पन्न करनेवाला काल! सातवें नरक का आयुष्य बाँधा हो, तो भी तत्काल उसका कोई फल नहीं मिलनेवाला है। उदय में आने पर ही वह फल दे सकता है।

आप पूछेंगे कि, निश्चित् काल के बाद ही कर्म का उदय क्यों होता है? इसके लिए बड़ा अच्छा उदाहरण है कि, जैसे भाँग, गाँजा, चरस, अफीम, शराब आदि नशीली चीजों का नशा कुछ समय के बाद ही चढ़ता है, उसी प्रकार कर्मों के पुद्गलों का प्रभाव भी एक निश्चित् समय बाद ही होता है।

अबाधाकाल मुद्दतिया हुडी-सा है। शुभ या अशुभ कर्म कालके पकने पर

ही उदय में आता है। उत्कृष्ट अबाधाकाल ७००० वर्ष का[1] होता है, जघन्य अन्तर्मुहूर्त का होता है। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में यह भी नहीं है, क्योंकि वहाँ एक सातावेदनीय कर्म का बन्ध है और कषायें नहीं है, इसलिए कर्म की स्थिति भी नहीं है। पहले समय बन्ध, दूसरे समय उदय (भोग) और तीसरे समय क्षय!

सत्ता में पड़े हुए कर्मों में परिवर्तन होता है!

यह स्मरण रखिए कि, सत्ता में पड़े हुए कर्मों में परिवर्तन होते रहते है और वे परिपक्व होने के बाद ही उदय में आते हैं। कर्म एक बार फल देकर खिर जाते है। खिरे हुए कर्म आत्मा को न तो लगते हैं और न कष्ट देते हैं। इस तरह अबाधाकाल में उनमें परिवर्तन होते ही रहते हैं, लेकिन यदि कर्म निकाचित बाँधा हो, तो उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, शेष में होता है। जो कर्मबद्ध हो, वह स्पृष्ट या निधत्त बन सकता है, निधत्त हो तो निकाचित बने या स्पृष्ट हो तो बद्ध बन सकता है। अर्थात् कर्म को जिस स्थिति में बाँधा हो, उसकी वही स्थिति उदय के समय नहीं रहती।

उदय में आता हुआ कर्म किस तरह भोगा जाता है?

कर्म की १०० वर्ष की स्थिति बाँधी हो, तो उतने समय तक के लिए उस कर्म का योग निश्चित हो जाता है। कर्म के जितने दलिया हों उतने सौ वर्ष तक उन्हें भोगना पड़ता है।

पहली आवलिका की दलिया उदय में आने के बाद दूसरी की

---

१ सामान्य नियम यह है कि, किसी भी कर्म की उत्कृष्ट स्थिति जितने कोड़ाकोड़ी सागरोपम वर्ष की हो उतने सौ वर्षों का अबाधाकाल होता है। उदाहरणत मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम वर्ष की है, इसलिए उसका अबाधाकाल ७००० वर्ष का होता है। ज्ञानावर्णीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरोपम वर्ष की है। अत उसका अबाधाकाल ३००० वर्ष का होगा।

दलिया उदय में आती हैं। इस तरह एक के बाद दूसरी आवलिका की दलिया उदय में आती जाती है और भोगे जाकर खिरते जाते हैं।

जिस प्रकार पहली अवलिका में भोगने योग्य कर्म का उदय होता है, उसी रूप में दूसरी अकलिका में भोगने योग्य दलिया सत्ता में आती है। जब यह दलिया भोगी जाती हो, उतने अवलिका प्रमाण काल को उदयावलिका कहते हैं। उदयावलिका प्रविष्ट कर्म की दलिया को करण (एक प्रकार की विशिष्ट क्रिया) नहीं लगता। यह करण-मुक्त होता है। पर, उसके बाद की जिस अवलिका में कर्म की दलिया उदय में आने वाली होती है, या जो सत्ता में हो, उसे करण का झपाटा लगता ही है।

पहली अवलिका में कर्म के पुद्गलों के जितने जत्थे भोगने को होते हैं, वह फल देकर खिर जाते हैं। उसे कर्म की निर्जरा कहते हैं। सुख दुःख कर्म के कारण हैं और वे उदय में आकर समाप्त हो जाते हैं। इसीलिए, सुज्ञ व्यक्ति न तो सुख में उन्मत्त होता है और न दु ख में घबराता है।

अवलिका का अर्थ क्या ? सिद्धान्त की भाषा में पूछें तो असख्यात समय की एक अवलिका होती है। पर, व्यवहार में तो असख्यात समय की गणना नहीं हो सकती इस दृष्टि से शास्त्रकारों ने बताया है कि, ४८ मिनट में १,६७,७७,२१६ अवलिकाएँ होती हैं। इस प्रकार मिनट का सेकेंड, सेकेंड का प्रति सेकेंड, प्रति सेकेंड का प्रति प्रति सेकेंड और उसका प्रति-प्रति प्रति-सेकेंड बनायें तो अवलिका निकले। इस प्रकार एक अवलिका में जितना समय होता है, उतने समय में यदि कर्म (उदय प्रविष्ट कर्म दलिया) भोगा जाये तो उसे करण नहीं लगता।

यदि एक कर्म १०० वर्षों तक भोगना हो, तो उसका आवलिका प्रमाण भाग पड़ जाता है। उसमें कौन पहले आये और बाद में कौन आये, इसका निश्चय करनेवाला कोई अन्य नहीं होता। वह स्वत तथा आत्मा के बल के आधार पर निश्चित होता है।

जिस जिस कर्म का काल पका होता है, अर्थात् जिस-जिस कर्म का

अवाधाकाल पूरा हो चुका रहता है, वे सब एक साथ उदय में आते हैं। एक साथ ही वे भोगे जाते हैं और एक साथ ही खिर जाते हैं।

कर्म का उदय ही इस सम्पूर्ण जगत में उत्पात किया करता है। पर, मनुष्य अपने बुद्धिवल से कर्म में परिवर्तन ला सकता है और कर्म की निर्जरा करके मोक्ष पा सकता है।

कर्म जब उदयावलिका में प्रवेश करते हैं तो उस समय उनमें जोश अधिक होता है। इसलिए प्रथम उदयावलिका में बहुत-से कर्म प्रदेश आ जाते हैं, दूसरी उदयावलिका में कर्म-प्रदेश अपेक्षाकृत कुछ कम होते हैं, तीसरी उदयावलिका में उससे कम! इस प्रकार स्थितिबंध की अन्तिम अवस्था तक कर्म-प्रदेशों की संख्या घटती ही जाती है। अनाज की कोठी का छिद्र खोलें तो पहले बहुत-सारा अनाज बाहर आ जाता है और पीछे बाद में कम आने लगता है। अथवा इस प्रकार समझें कि, बन्दूक से निकली गोली में पहले गति अधिक होती है और बाद में उसकी गति घटती जाती है।

द्रव्यादिक पाँच निमित्त

बाँधे हुए कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव इन पाँच निमित्तों से उदय में आते हैं। इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। मान लीजिए एक आत्मा ने असातावेदनीय कर्म बाँधा और उसे ज्वर आने वाला है। अगर लड्डू ज्यादा खाने से वह ज्वर आये तो लड्डू द्रव्यनिमित्त है, बम्बई, अहमदाबाद या सूरत में ज्वर आये तो ये क्षेत्रनिमित्त हुए। सुबह, दोपहर, शाम या रात्रि को निश्चित् समय पर ज्वर आये तो यह कालनिमित्त हुआ। ठंडी हवा, जागरण, व्याकुलता आदि से ज्वर आये यह भावनिमित्त, और इस भव में या अमुक भव में ज्वर आये यह भव निमित्त हुआ।

कर्म किसी के रोके नहीं रुकते

जो कर्म उदय में आते हैं, वे अपना फल अवश्य देते हैं और वे

आत्मा को अनिवार्य रूप से भोगने ही पड़ते हैं। कर्मों के लिए किसी की सिफारिश, शर्म अथवा घास काम नहीं आती। वे अपना काम अपने नियमानुसार करते ही जाते हैं। इसलिए रंक हो या राजा, भिखारी हो या श्रीमन्त, मूर्ख हो या पंडित, छोटा हो या बड़ा, स्त्री हो या पुरुष, सबको अपने-अपने कर्म भोगने पड़ते हैं। बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती और तीर्थंकर-जैसे महाबली आत्माओं को भी कर्मों ने नहीं छोड़ा, तो वे अन्य किसी को कैसे छोड़ सकते हैं?

जो कर्म उदय में आता है, उसका प्रदेशोदय चालू हो जाता है। अगर उसे निमित्त न मिले, तो उसका विपाकोदय नहीं होता—अर्थात् उसके सुख-दु:ख का अनुभव नहीं होता।

प्रश्न—किसी स्त्री ने पुरुष को बैल बना दिया तो वह आयुष्य मनुष्य का भोगेगा या बैल का?

उत्तर—आयुष्य मनुष्य का भोगेगा। बैल का देह तो नामकर्म के विपाक से हुआ रहता है।

कर्म का प्रभाव अनादि काल से है

प्रत्येक समय आठों कर्मों का उदय रहता है, इसलिए आत्मा पर सब कर्मों का प्रभाव रहता ही है। उन कर्मों के असर वाले परिणाम और प्रवृत्ति से आत्मा प्रत्येक समय सात कर्मों को बाँधता रहता है। आत्मा पर कर्मों का असर अनादि काल से है। वर्तमान में जिन कर्मों का उदय है, वह पूर्वबन्ध के कारण है और वह पूर्वबन्ध उससे भी पहले बाँधे हुए कर्मों के कारण है। इसी प्रकार की शृंखला आगे समझ लेनी चाहिए।

कोई भी विशिष्ट कर्म अपने में सादि सांत (आदि और अंत के सहित) है, लेकिन परम्परा से वह अनादि है। उदाहरण के लिए कहें, बालक व्यक्तिगत रूप में आदि है, परन्तु बालक के पिता, पितामह आदि की परम्परा की दृष्टि से पितृत्व, और उसकी अपेक्षा से पुत्रत्व, अनादि है। उसी प्रकार कर्म की भी परम्परा अनादि है।

अनादि की परम्परा अटक भी सकती है, अगर पीढ़ी की परम्परा म अन्तिम व्यक्ति को पुत्र न हो, अथवा वह ब्रह्मचर्य पाले और विवाह न करे तो जैसे उसकी परम्परा अवरुद्ध हो जाती है। उसी प्रकार कर्मों की परम्परा भी रोकी जा सकती है। उसका उपाय यह है कि, आत्मा मनुष्य-भव, आर्यदेश, उत्तम कुल और सद्गुरु का ससर्ग पाकर परमात्मा का उपदेश सुनकर, ऐसा जीवन व्यतीत करे कि नये पाप कम बँधे और पुराने पाप अधिक खपें। स्पष्ट है कि, किसी तिजोरी में लाख रुपये पड़े हों, उसमें हजार रुपये रखते जायें और पाँच हजार निकालते जायें तो कुछ समय में तिजोरी खाली हो जायगी।

यह आत्मा परमात्मा का उपदेश श्रवण करके जीवन में उतारे और शुद्ध स्वरूप वाले साध्य की साधना-आराधना करे, तो उत्तरोत्तर गुणों का विकास करके अन्तत पाँच ह्रस्व 'अ-इ-उ-ऋ-ऌ' के उच्चारण-काल में शैलेशीकरण द्वारा योगनिरोध करके अनन्त कर्मों की वर्गणाओं का जड़-मूल से नाश करके कर्मों की परम्परा को समाप्त कर दे सकता है।

उदयकाल का प्रभाव

जैसे शराब आदि पीने के एक निश्चित् काल बाद मनुष्य को अपना व्यक्तित्व भुला देता है, उसी प्रकार कर्म के पुद्गल आत्मा के उदयकाल में ही अपना प्रभाव डालते ही हैं। उस समय अच्छा बुरा दोनों प्रकार का फेरफार हो जाता है और कभी-कभी भिखारी लाखों का मालिक बन जाता है। यदि अशुभ कर्मों का उदय हो, तो व्यापार में स्थिरता नहीं आती। तेजी सोच कर व्यापार करे, तो मदी आती है और मदी सोचे तो नित्य बाजार चढ़ता ही जाता है। यदि कोई भली सलाह दे तो वह गले नहीं उतरती।

क्या रूठा हुआ दैव-भाग्य आकर तमाचा मारता है? नहीं, वह तमाचा नहीं मारता, पर ऐसी दुर्बुद्धि दे देता है कि, जिससे आदमी भिखारी की तरह भटकने लगता है। मुज-जैसे राजा को भिक्षापात्र लेकर

पर बैठा हुआ था। राजा के निकट जाकर उसने राजा को एक थप्पड़ लगाया और उसका मुकुट गिरा दिया। कहिए, आपको अपने भाग्य पर है, इतना भरोसा ? अगर हो तो क्या धर्मकार्य में कृपण बनें ? सुपात्र को सौ के बजाय हजार का दान क्यों न दें ? जितना दान करें उतना लाभ हो, लेकिन विश्वास कहाँ है ?

सिपाहियों ने जब वह नज्ज़ारा देखा तो वे दौड़े आये और म्यान से तलवार निकाल ली। लेकिन, वह तलवार सेठ की गरदन पर पड़े, उससे पहले ही, पुण्य के जोर से, सारा मामला ही बदल गया। नीचे पड़े हुए मुकुट पर राजा की दृष्टि पड़ी, तो उसमें उसे एक छोटा लेकिन भयंकर साँप दिखायी पड़ा। राजा को लगा—'अहो ! अगर यह उपकारी न आया होता, तो क्या होता ?' राजा ने सिपाहियों को आगे बढ़ने से रोक दिया और मंत्रियों को हुक्म किया—"इस सेठ को पाँच गाँव इनाम दे दो।"

पुण्य पर भरोसा हो तो ऐसे लाभ हो !

प्रश्न—'भाग्य बड़ा है या पुरुषार्थ ?'

उत्तर—'भाग्य का निर्माता पुरुषार्थ है। सांसारिक पदार्थ आदि द्वारा बाँधे हुए कर्मों का फल भोगने में भाग्य की प्रधानता है, लेकिन कर्मों को तोड़ने में, पुण्यानुबंधी पुण्य प्राप्त करने में पुरुषार्थ का प्राधान्य है। धर्मप्रवृत्ति में पुरुषार्थ को नहीं छोड़ना चाहिये। हर एक विचार और प्रवृत्ति में देखना सिर्फ यह चाहिये कि, वह विचार अथवा प्रवृत्ति तीर्थंकर भगवन्त के कथनानुसार है या नहीं !

वह सेठ भाग्य की परीक्षा करने गया था। उसके बुरे प्रयत्न का अच्छा परिणाम आया। तो आप भी भाग्य के भरोसे शुभ प्रयत्न क्यों न करें ?

फल से कर्म की सत्ता का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। कोई उसे प्रारब्ध कहता है, कोई संस्कार कहता है तो कोई अदृष्ट कहता है।

कुछ दिनों बाद वह सेठ फिर ज्योतिषी के पास गया और उससे अपने ग्रहों के विषय में पूछा। ज्योतिषी ने कहा—"आपके ग्रह बलवान हैं। आपको कोई बाधा नहीं आ सकती।"

सेठ फिर राजसभा में गया। राजा ने उसका सम्मान किया। मगर, उसने राजा का पैर पकड़ कर उसे घसीट कर नीचे पटक दिया। सारी सभा में खलबली मच गयी। सुभट मारने दौड़े। इतने में सिंहासन के पीछे की दीवार खिसक पड़ी। यह देखकर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ— 'अहो! यह उपकारी न आया होता, तो आज जरूर दब कर मेरी जान चली गयी होती।' उसने सेठ को दस हजार रुपये इनाम में दिये।

वस्तुपाल-तेजपाल सोने का चरू दबाने जंगल में गये, वहाँ उन्हें एक चरू और मिल गया। यह सब पुण्य का फल है। पुण्य हो तो धन मिले और पाप का उदय आने पर अनेक पीड़ायें और रोग पैदा हों। आज-कल कैसे-कैसे यंत्र, हथियार और अणुबम आदि निकले हैं कि, क्षण भर में लाखों आदमियों का नाश हो जाय! जैसा भाग्य होता है, वैसे निमित्तों की ओर मनुष्य खिंचता है और दुर्भाग्य के योग से बरबाद होता है।

६ महीने बाद वह सेठ फिर ज्योतिषी से अपने ग्रहोंका हाल पूछने गया। ज्योतिषी ने फिर वैसा ही आश्वासन दिया।

सेठ बाहर से आ रहा था और गाँव के प्रवेशद्वार में प्रविष्ट होने ही वाला था कि, वहाँ उसने राजा को देखा जो कि आज पैदल घूमने निकला था। साथ में कुछ लोग भी थे। राजा ने दरवाजे में घुसते ही सेठ को देखा। वह खुश होकर मिलने आगे बढ़ा, तो सेठ ने उसे ऐसे जोर से धक्का मारा कि वह दूर जा पड़ा और उसके दाँत से खून निकलने लगा। साथ के लोग सेठ की ओर लपके। उधर नगर का जीर्ण प्रवेशद्वार टूट कर गिर गया। राजा और उसके साथी बच गये।

राजा सोचने लगा—"यह सेठ कैसा उपकारी है! इसने मुझे तीन बार बचाया है, इसलिए इसबार तो इसे कोई बड़ा इनाम देना चाहिये।"

उसने सेठ को अपना आधा राज्य दे दिया। प्रबल पुण्योदय के समय उल्टे काम भी सीधे पड़ते हैं।

पुण्य की समाप्ति पर

अगर पुण्य समाप्त हो गया है, तो जो है सो भी चला जाता है। एक सेठ के पास छियासठ करोड़ मोहरें थीं। उसने उनका तिहाई भाग जमीन में दबा दिया, एक तिहाई भाग जहाजों के धंधे में लगाया और शेष व्यापार में। एक दिन खबर आयी कि, सब जहाज डूब गये। जमीन खोदी तो उसमें से कोयले निकले और दुकान में उसी वक्त आग लग गयी, जिसमें व्यापार-सम्बन्धी सभी बहियाँ जल गयीं। पाप का उदय आने पर सब बर्बाद हो जाता है।

पाप के उदय के समय

पाप का उदय होने पर अनेक दुःख, कठिनाइयाँ और उलझनें आ घेरती हैं। तब आप घबराते हैं, हायतोबा करते हैं, रोने लगते हैं और उस स्थिति के लिए औरों को दोषपात्र गिनते हैं, पर यह क्यों नहीं सोचते कि, हाथ के किये की चोट दिल पर पड़ रही है? आपके पूर्व कृत पापकर्मों के उदय में आने के कारण ही आपकी यह हालत हुई है। उसमें व्यक्ति तो निमित्तमात्र है। व्यक्ति के दोष निकालने और उसे उलाहने देने से क्या होगा? रास्ता चलते अगर खंभे से टकरा जायें तो क्या खंभे से लड़ने बैठते हैं? आपने सावधानी न रखी इसीलिए उससे टक्कर हुई, उसी प्रकार पूर्वकाल में कर्म बाँधते वक्त सावधानी न रखी, इसीलिए व्यक्तियों के साथ टक्कर हुई।

कभी नासमझी से पाप किया, तो उसके उदय में आने पर उसे समता से, शांति से, भोग लो। अगर उस समय घबराये या हायतोबा की, तो उस आर्त्तध्यान से थोकबंद कर्म बँधेंगे और भविष्य की सलामती भी

खतरे में पड़ जायगी। 'जितना भोग लिया, उतना भार कम हुआ' इस सूत्र को याद रखिये और इस बात की सावधानी रखिये कि, नवीन कर्मबन्ध न हो। हमारे एक महात्मा ने कहा है कि—"बंध समय चित चेतिये, उदये क्या सन्ताप ?" अगर कर्म बाँधते समय ही सँभल कर चलें, तो कर्म ढीले बँधें और शुभ परिणाम देनेवाले भी हो जायें। यदि वे शुभ परिणाम वाले न हों और अशुभ ही फल दें तो भी फल ढीला होगा। इस लिए जाग्रत रहकर, अभ्यास, धर्मध्यान, आराधना, परमात्मा की भक्ति करके यदि राग द्वेष आदि कषायों से यथाशक्ति दूर रहने का प्रयत्न करेंगे, तो निश्चय ही कर्मोदय के समय घबराने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

याद रखिये कि, अशुभ को शुभ और शुभ को अशुभ करने की शक्ति आत्मा में है—कार्मण वर्गणा में नहीं।

ज्योतिष-शास्त्र में सब निमित्तों में शकुन को विशेष मान्यता दी गयी है। वह सुख-दुःख का दाता नहीं सूचक है। 'निमित्ताना सर्वेषा शकुनो दण्डनायक'—सब निमित्तों में शकुन मुख्य है। आप चाहे जैसे शुभ चौघड़िया में मगलकार्य करने तैयार हों, लेकिन अगर शकुन अशुभ हो जाये, तो आप रुक जाते हैं। शास्त्रकार कहते हैं कि, पहले अपशकुन के समय रुक कर आठ साँस तक ठहरें, तब चलें। अगर दूसरी बार अपशकुन हो, तो रुक कर सोलह साँस तक ठहर कर आगे बढ़ें। लेकिन, अगर तीसरी बार भी अपशकुन हो, तो चाहे जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य हो तो भी उस दिन स्थगित ही रखना चाहिए।

कुछ लोग अपशकुन करनेवाली वस्तु या प्राणी का तिरस्कार करते हैं। बिल्ली रास्ता काट जाये तो उसे लकड़ी से मार देते हैं। लेकिन, सचमुच देखा जाये, तो आपको उसका उपकार मानना चाहिये कि, उसने आपको भावी घटना की सूचना दी।

निमित्त-शकुन की अपेक्षा श्वास अधिक बलवान है, कारण कि उसकी मात्रा बहुत सूक्ष्म है। उदाहरण के लिए, दाहिने हाथ गाय मिली तो

निमित्त शकुन, लेकिन अगर उस समय आपका श्वास बायाँ चल रहा हो तो फल न होगा और दायाँ चल रहा होगा तो फल अधिक मिलेगा। मान लीजिये, दो व्यक्तियों को दाहिना स्वर चल रहा है और शकुन होता है, फिर भी पूरक स्वर वाले को रेचक स्वर वाले की अपेक्षा अधिक फल मिलेगा।

यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि, दोनों को स्वर हो, पूरक हो फिर भी पृथ्वी आदि तत्त्व भिन्न हों तो भिन्न फल मिलेगा। ये बड़ी बारीक बातें हैं, सामान्य आदमी समझ नहीं सकता। इसलिए, शास्त्रकारों ने कहा है कि, चित्त का उत्साह सबसे बढ़कर है। वह दिल की साक्षी देता है। शुभ-अशुभ करनेवाले कर्म हैं और कर्म के ही कारण अच्छे या बुरे निमित्त मिलते हैं।

हितशिक्षा

अब मूल विषय पर आयें। कर्म के उदय और विपाक से हमें सुख या दुःख होता है। हमें सुख में प्रसन्न और दुःख में खेदयुक्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि दोनों कर्मजन्य हैं। अगर सुखी आदमी अपने से अधिक सुखी आदमी की ओर दृष्टि रखे, तो उसे गर्व न हो। और, दुःखी अगर अपने से अधिक दुःखी की तरफ देखे, तो उसे दुःख न लगे। यहाँ ज्ञानदशा की आवश्यकता है।

हर्ष और शोक दोनों में आर्त्तध्यान है और वे दोनों दुर्गति में ले जाते हैं। जब हर्ष और शोक दोनों में समभाव रहे, तभी समझना कि, आत्मा अपने स्वभाव में है।

विशेष अवसर पर कहा जायगा।

पच्चीसवाँ व्याख्यान

कर्म की शुभाशुभता

महानुभावो !

यह लोक, विश्व, जगत या दुनियाँ ६ द्रव्यों का समूह है। इनमें कोई द्रव्य बदलकर दूसरा द्रव्य नहीं हो सकता। अगर एक द्रव्य बदलकर दूसरा द्रव्य हो जाये, तो ६ के पाँच हो जायँ, पाँच के चार, चार के तीन, तीन के दो, और दो का एक हो जाये! इस तरह तो जीव और अजीव की अर्थात् चेतन और जड़ की पृथक्ता भी न रहेगी। लेकिन, द्रव्य एक दूसरे में परिणत नहीं हो जाते, ६ के ६ ही रहते हैं!

आत्मा पर कर्म का प्रभाव पड़ता है

आत्मा किसी भी स्थिति—संयोग—में पुद्गल का रूप धारण नहीं करता और पुद्गल किसी भी स्थिति—संयोग—में आत्मा का रूप धारण नहीं करता, पर पुद्गलरूप कार्मण वर्गणा का, कर्म का, प्रभाव आत्मा के स्वभाव पर होता है। उसीसे इस लोक में आत्मा की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ-अवस्थाएँ—भूमिकाएँ—संभव होती हैं।

घोड़ा और गधा एक साथ रहते हों, तो भी घोड़ा गधा नहीं हो जाता या गधा घोड़ा नहीं हो जाता, लेकिन स्वभाव का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ता है। एक देहाती कहावत है—"धौलिया के साथ कालिया को बाँधो तो वान तो न आयेगी, पर शान अवश्य आ जायेगी।" कहने का तात्पर्य यह ही अच्छे गुणवाले श्वेत बैलों के साथ दुर्गुणी काले बैल को रखें तो श्वेत बैल का रंग बदल कर काला तो नहीं हो जायेगा पर उसमें काले बैल के दुर्गुण अवश्य आ जायेंगे।

यहाँ आप प्रश्न करेंगे—"कर्मों का प्रभाव आत्मा पर तो होता है, पर क्या आत्मा का भी प्रभाव कर्म होता है ?"

इसका उत्तर यह है कि, जैसे कर्मों का आत्मा पर असर पड़ता है, वैसे ही आत्मा का भी प्रभाव कर्मों पर पड़ता है। जब आत्मा कार्माणवर्गणा को ग्रहण करके कर्मरूप में परिणमित करता है, तब वह विभाजित होता है और उसमें स्वभाव का निर्माण होता है, वह आत्मा के प्रभाव के कारण ही होता है। आत्मा चाहे तो कर्मों की स्थिति और रस में भी बड़ा परिवर्तन कर सकता है। यह वस्तुत कर्म पर आत्मा का प्रभाव मात्र है।

कर्म प्रकृति में शुभाशुभ का व्यवहार

निश्चय रूप में पूछें तो कहूँगा कि, वस्तुत सभी कर्म अशुभ हैं, कारण कि वे मोक्ष प्राप्ति में अन्तराय खड़ा करते हैं, परन्तु व्यवहार से जो वस्तु अधिकाश लोगों को अच्छी लगती है वह शुभ मानी जाती है और जो अच्छी नहीं लगती वह अशुभ मानी जाती है, इसलिए कर्म की प्रकृति म शुभ और अशुभ का व्यवहार होता है।

शुभ कितनी ? अशुभ कितनी ?

कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ १५८ हैं, परन्तु बन्ध १२० का ही होता है, सत्ता में १५८ रहती हैं, उदय में १२२ ही आते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि, १२० के बध में दर्शनमोहनीय कर्म की एक मिथ्यात्व मोहनीय प्रकृति बँधती है। फिर उसके तीन भाग हो जाते हैं—सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व-मोहनीय। इस प्रकार उदय म १२२ प्रकृतियाँ आती हैं।

बन्ध म १२० प्रकृतियाँ किस प्रकार होती हैं—यह भी स्पष्ट कर दें। ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ ५ हैं, दर्शनावरणीय कर्म की ९ हैं, वेदनीय कर्म की २ हैं। ये सब बन्ध में गिनी जाती हैं। ये सब ५+९+२=१६ हुई। मोहनीय की २८ उत्तर प्रकृतियों में सम्यक्त्व मोहनीय

और मिश्र मोहनीय की गणना नहीं होती, इस प्रकार २६ प्रकृतियाँ ये हुई। १६+२६=४२। आयुष्य कर्म की चारों प्रकृतियों की गणना बध में होती है, इस प्रकार ४२+४=४६ हुई। नामकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ १०३ हैं। उनमें से ६७ प्रकृतियाँ ही बध में गिनी जाती हैं। वर्ण, गध, रस और स्पर्श की कुल २० प्रकृतियाँ हैं, लेकिन यहाँ उनकी मूल प्रकृति की यानी वर्ण, गध, रस और स्पर्श की एक एक प्रकृति ही गिनी जाती है। इस प्रकार १६ कम हो गई। इसके उपरात पन्द्रह बन्धन और पाँच सघात की प्रकृतियाँ नहीं गिनी जातीं, इस प्रकार कुल ३६ कम हुई। १०३—३६=६७। अब ४६ में ६७ जोड़ देने पर ११३ होती हैं। इनमें गोत्र की २ और अन्तराय की ५ उत्तर प्रकृतियों के मिलने पर कुल सख्या १२० होती है।

शुभाशुभ की गणना में १२४ प्रकृतियाँ ली जाती हैं। उसका कारण यह है कि, ऊपर जो वर्ण, गध, रस और स्पर्श की एक एक प्रकृति गिनी गयी है, उसके शुभाशुभ की दृष्टि से दो दो विभाग हो जाते है, अर्थात् चार प्रकृतियाँ बढ़ जाती हैं। इस तरह शुभाशुभ की गणना में १२४ प्रकृतियों का हिसाब है।

इन १२४ प्रकृतियों में ४२ शुभ हैं और ८२ अशुभ। वह किस प्रकार? यही बात आज आपको समझानी है।

चार घातिया कर्मों की ४५ अशुभ प्रकृतियाँ

आत्मा स्वभाव से अनन्त ज्ञानी है, परन्तु ज्ञानावरणीय कर्म उसके ज्ञान को दबाता है, इतना अधिक दबाता है कि, उसका अनन्तवाँ भाग ही खुला रहता है। अगर कर्म का वश चले, तो आत्मा को बिलकुल जड़ बना दे, पर इतनी हद तक उसका वश नहीं चलता है। हमने प्रारम्भ में ही कहा है कि, एक द्रव्य बदलकर दूसरा नहीं हो जाता, इसलिए वैसा

होना सम्भव नहीं है। ज्ञानावरणीय कर्म की पाँचों प्रकृतियाँ ज्ञान को दबाती हैं, इसलिए वे अशुभ मानी जाती हैं।

आत्मा में सारा संसार अर्थात् लोक-अलोक, रूपी-अरूपी सब देखने की शक्ति है। उसे रोकने वाला दर्शनावरणीय कर्म है। वह भी ज्ञानावरणीय कर्म की तरह दर्शन का अनन्तवाँ भाग खुला रहने देता है। आत्मा के दर्शन स्वभाव को रोकनेवाली होने के कारण दर्शनावरणीय कर्म की नौ की-नौ प्रकृतियाँ अशुभ गिनी जाती हैं।

मोहनीय कर्म आत्मा के वीतराग स्वभाव को रोकता है। उसकी उत्तर प्रकृतियाँ २८ हैं। उनमें दर्शनमोहनीय की एक ही प्रकृति गिनने पर २६ ही प्रकृतियाँ रह जाती हैं। ये छब्बीसों प्रकृतियाँ अशुभ हैं।

अनन्तराय कर्म आत्मा की शक्ति को रोकनेवाला है, आत्मा को कमजोर बनानेवाला है। उसकी पाँच प्रकृतियाँ क्रमशः दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य को रोकती हैं, इसलिए अशुभ हैं। इन पाँचों अन्तराय कर्मों में लाभान्तराय ज्यादा बाधक है। हर एक कर्म को तोड़नेवाले अलग अलग साधन हैं। इस तरह लाभान्तराय को तोड़नेवाला दान है। आप दान करेंगे, तो लाभान्तराय टूटेगा। 'लक्ष्मी पुण्य के अधीन है,' ऐसा कहा जाता है। इसका अर्थ भी यही है कि, आप दान करें तो पुण्य बढ़ेगा और पुण्य बढ़ने पर लक्ष्मी अवश्य आती है। कदाचित् वह जानेवाली हो तो भी रुक जायेगी। आप कुबेर सेठ की बात सुनें, आपको यह बात समझ में आ जायेगी।

कुबेर सेठ की बात

एक नगर में कुबेर-नामक सेठ रहता था। उसके पास सात पीढ़ी से अपार सम्पत्ति चली आती थी। वह नित्य प्रातः नहा धोकर सुन्दर ताजे रंग बिरंगे पुष्पों से लक्ष्मी पूजा करते हुए कहता—"हे माता! तू है तो

सब है। तू न रहे तो हमारा कुछ न रहे !! इसलिए हम पर कृपा करना !!!"

एक दिन रात्रि-के समय लक्ष्मीदेवी ने कुवेर को उठाया और कहा—"हे सेठ ! मैं सात पीढ़ी से तुम्हारे साथ रहती हूँ, पर अब जानेवाली हूँ, इसलिए तुम्हारी अनुमति लेने आयी हूँ !"

ये शब्द सुनते ही कुवेर घबराया—"अब मेरा क्या होगा ! मेरे कुटुम्बियों का क्या होगा ? ये ऐशो-आराम मौज मजा कैसे किये जा सकेंगे ?" उसकी आँखों में आँसू आ गये।

लक्ष्मी ने कहा—"मुझे तुम्हारे प्रति स्नेह है। पर, क्या करूँ ? मैं पुण्य के अधीन हूँ, उसके पूरे हो जाने पर मुझे चला जाना पड़ता है।"

कुवेर ने समझा कि, अब लक्ष्मी रोके नहीं रुकेगी। इसलिए, उसके चले जाने से पहले कुछ करना चाहिए। उसने बड़ी नम्रता से लक्ष्मी से कहा—"आप जाना चाहें तो जायें, पर मेरी एक माँग पूरी करती जायें।"

लक्ष्मी ने पूछा—"तुम्हारी वह माँग क्या है ?"

कुवेर ने कहा—"आप केवल तीन दिन और रुकें।"

लक्ष्मी ने अवधिज्ञान से उपयोग लगाकर देखा कि इस सेठ का पुण्य तीन दिन का और है, इसलिए वह 'तथास्तु' कह कर अन्तर्धान हो गयीं।"

सवेरा होने पर कुवेर ने यह बात अपने सारे कुटुम्ब को कह सुनायी। सुनकर सब ढीले हो गये और कहने लगे—"हाय हाय ! अब हमारा क्या होगा ? अब तो सब चला जायगा ! हमें तो कुछ सूझता नहीं, तुम जो कहो वह करें !!"

सेठ विचार करने लगा—"लक्ष्मी की इतनी-इतनी पूजा की, फिर भी वह जाना चाह रही है ! अगर इतनी पूजा भगवान् की होती और दान पुण्य किया होता, तो लक्ष्मी भला क्या जाती ? नहीं नहीं ! वह नहीं जाती !! मैं भी देखता हूँ कि, यह कैसे जाती है ?" और, उसने सबसे

कहा—"तुम्हारे पास जो कुछ धन दौलत हो उसे मेरे सामने लाकर इकट्ठा कर दो।"

"लेकिन यह दिन दहाड़े? कोई देख ले तो?"—वे पूछने लगे।

सेठ ने कहा—"वह जाये इससे अच्छा है कि, हम ही उसे निकाल दें। इससे त्यागी और वीर भी कहलाऊँगा!"

थोड़ी ही देर में जर जेवर और रोकड़े का अम्बार लग गया। सेठ ने गाँव में ढिंढोरा पिटवाया कि, "जिसको जितना धन चाहिए कुबेर सेठ के यहाँ आकर ले जावे।"

ढिंढोरे का पिटना था कि, कुबेर सेठ के यहाँ जो कुछ था, सब एक ही दिन में समाप्त हो गया। अब उसके पास एक टूटी चारपाई और एक दिन के योग्य भोजन सामग्री ही रह गयी। वह बेफिक्री की नींद सोने लगा। अब लक्ष्मी आकर उसके यहाँ से क्या ले जानेवाली थी?

चौथी रात को लक्ष्मी आयी। उसने बड़ी मुश्किल से सेठ को जगाया। सेठ बोला? "क्यों देवी जी! जाने के लिए कहने आयी हो न? आपको जाना हो तो खुशी से चली जायें।" परन्तु, लक्ष्मी ने कहा—"हे सेठ! मैं जाने के लिए नहीं आयी, वापस रहने आयी हूँ।"

कुबेर ने कहा—"परन्तु देवी जी! अब तो मेरे पास कुछ है नहीं। आप यहाँ कैसे रहेंगी?"

लक्ष्मी ने कहा—"तुमने मुझे फिर से बाँध लिया है। इन तीन दिनों में इतना अधिक पुण्य किया है कि, अब मुझे तुम्हारे पास रहना ही पड़ेगा।"

तीव्र पुण्य या उग्र पाप का फल तुरन्त दिखलायी दे जाता है। अगर कुबेर सेठ लक्ष्मी को जाती देख रोने लगता, तो क्या लक्ष्मी रहती?

उसने प्रयत्न करके प्रबल पुण्य प्राप्त किया, तो तीन ही दिन में लक्ष्मी को जाने से रोक सका।

सेठ ने कहा—"मगर आप यहाँ रहेंगी किस तरह ?"

उत्तर म लक्ष्मी ने बतलाया—"कल सुबह मेरे मन्दिर मे जाना। वहाँ तुझे एक अवधूत-जोगी मिलेगा। उसे घर लाना और अच्छी तरह जिमाना। जब वह जाने लगे, तो उसे लकड़ी मार कर गिरा देना। वह सोने का पुरुष हो जायगा। उसे घर में रखना। जब जरूरत पड़े उसके हाथ पैर काट लेना और उस सोने का उपयोग करना। उस सोने के पुरुष के हाथ पाँव फिर आ जायेंगे।" इतना कहकर देवी अन्तर्धान हो गयी।"

दूसरे दिन सेठ ने देवी के कथनानुसार किया तो उसे स्वर्ण पुरुष की प्राप्ति हो गयी और वह उसे उठा कर अन्दर के खण्ड में ले गया।

सेठ के यहाँ एक नाई हजामत करने के लिए रोज आता था। उसने यह सब आँखों से देख लिया, इसलिए उसने सोचा—"मैं भी ऐसा करूँ और दौलतमन्द बन जाऊँ।" दूसरे दिन उसने अपनी पत्नी को सुन्दर रसोई बनाने का हुक्म दिया और नहा धोकर लक्ष्मी के मन्दिर में गया। पर, वहाँ कोई अवधूत-जोगी नहीं मिला। तीसरे दिन भी उसने उसी प्रकार किया। इस तरह २९ दिन गुजर गये। तीसवें दिन उसने मन्दिर में एक बाबा को बैठा देखा। वह बहुत खुश हुआ और उसने उसे जीमने का निमन्त्रण दिया। बाबा जी को तो सब समान थे। उन्होंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। नाई ने बाबाजी को घर लाकर अच्छी तरह जिमाया और जब उसने जाने के लिये कदम उठाया कि लकड़ी मार कर गिरा दिया।

बाबाजी ने शोर मचाया तो बहुत से लोग इकट्ठे हो गये। सिपाही भी आ गये। उन्होंने नाई को पकड़ा और राजा के सामने पेश किया।

नाई ने स्वय देखी हुई सारी बात राजा को कह सुनायी। राजा ने खातरी करने के लिए कुबेर सेठ को बुलाया। उसने भी अथ-से इति तक सारा किस्सा कह सुनाया। राजा को यह जान कर बड़ी खुशी हुई कि, उसके राज्य में ऐसे पुण्यशाली बसते हैं। उसने कुबेर सेठ का बड़ा सत्कार

किया और उसे बाजे गाजे के साथ घर भेजा और नाई को सजा देकर छोड़ दिया।

इससे आप समझ गये होंगे कि, लक्ष्मी पुण्य के अधीन है और वह पुण्य दान आदि करने से उपार्जित होती है।

कर्म आठ हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय! इनमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय की गणना पहले की गयी, कारण कि ये घातिया कर्म हैं और इनकी तमाम (५+९+२६+५=४५) प्रकृतियाँ अशुभ हैं। अघातिया कर्मों में ऐसा नहीं है। उनकी कुछ प्रकृतियाँ शुभ हैं और कुछ अशुभ। सच पूछो तो, कर्म की प्रकृतियों म शुभाशुभ का व्यवहार इन कर्मों के लिए ही होता है।

अघातिया कर्मों की ४२ शुभ और ३७ अशुभ प्रकृतियाँ

वेदनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ दो हैं—सातावेदनीय और असाता वेदनीय। इनमें सातावेदनीय शुभ है और असातावेदनीय अशुभ! साता-वेदनीय कर्म के उदय से साता मालूम होता है, शाति का अनुभव होता है और आनन्द-ही आनन्द लगता है, जब कि असातावेदनीय कर्म के उदय में स्थिति इससे विपरीत होती है—जीव दु खी हो जाता है और ऐसा मानने लगता है कि, हमारे पास नोटों का बडल या सोने की पाट आ जायें तो हम सुखी हो जायेंगे। पर, यह एक प्रकार का भ्रम है—उससे सुख ही मिलेगा, ऐसा निश्चित् नहीं है! सभव है कि, उससे बड़ा ऐसा उत्पात मच जाय जो आपको परेशान कर डाले। सोने की पाट ने कैसा उत्पात मचाया, सो सुनिये

सोने की पाट का उत्पात

यह एक पौराणिक घटना है। लक्ष्मी और सरस्वती म वादविवाद हुआ। उसमें लक्ष्मी ने अपना तेज बतलाने के लिए १०८ गज लम्बी,

५४ गज चौड़ी और २७ गज मोटी सोने की एक पाट जंगल में रास्ते की एक तरफ रखकर अन्तरिक्ष से घटनावली का अवलोकन करने लगीं।

कुछ देर में वहाँ दो राजपूत आये। उनमें से एक ने कहा—"सोने की यह पाट पहले मैंने देखी, इसलिए मेरी है।" दूसरे ने कहा—"हम दोनों एक साथ निकले थे, इसलिए इसमें हम दोनों का आधा-आधा हिस्सा है।" उसमें कहा सुनी हुई, गर्मागर्मी हुई और तलवारें खिचीं। दोनों लड़ भिड़ कर वहीं कटकर मर गये।

उस पाट से कुछ दूर पर एक झोपड़ी थी। उसमें एक बाबाजी रहते थे। शाम के समय गाँव से भिक्षा माँग कर वे अपनी झोपड़ी की ओर लौट रहे थे कि, उस पाट पर उनकी नजर पड़ी। पाट को देखते ही वे आनन्दमग्न हो गये। खाना-पीना भूल कर विचार करने लगे कि, क्या उपाय करें। पाट उठ तो सकती नहीं थी कि, उठा कर झोपड़ी में रख देते, इसलिए उन्होंने उसके टुकड़े करके झोपड़ी में ले जाने का विचार किया।

यह विचार करते करते रात होने लगी, अँधेरा बढ़ गया। वहाँ ६ चोर उस रास्ते से चोरी करने के लिए निकले। उनमें से हर एक के हाथ में कोई न-कोई हथियार था। सोने की पाट की चमक देख कर वे उस तरफ बढ़े और पाट के पास आये। वहाँ बाबाजी को बैठा देखा। चोरों ने पूछा—"बाबाजी, यहाँ क्यों बैठे हो?" बाबाजी ने कहा—"यह मेरी झोपड़ी है और यह मेरी शिला है, इसलिए बैठा हूँ।"

"तुम्हारे पास सोने की यह पाट कहाँ से आयी?"—एक चोर ने पूछा। "बहुत भक्ति करने पर भगवान् ने भेंट दी"—बाबाजी ने उत्तर दिया।

"अरे ढोंगी! तू तो साधु है। तुझे सोने की पाट से क्या करना है? इसे तो हम ले लेंगे"—दूसरे चोर ने ललकार कर कहा।

किया और उसे बाजे गाजे के साथ घर भेजा और नाई को सजा देकर छोड़ दिया।

इससे आप समझ गये होंगे कि, लक्ष्मी पुण्य के अधीन है और वह पुण्य-दान आदि करने से उपार्जित होती है।

कर्म आठ हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय की गणना पहले की गयी, कारण कि ये घातिया कर्म हैं और इनकी तमाम (५+९+२६+५=४५) प्रकृतियाँ अशुभ हैं। अघातिया कर्मों में ऐसा नहीं है। उनकी कुछ प्रकृतियाँ शुभ हैं और कुछ अशुभ। सच पूछो तो, कर्म की प्रकृतियों में शुभाशुभ का व्यवहार इन कर्मों के लिए ही होता है।

अघातिया कर्मों की ४२ शुभ और ३७ अशुभ प्रकृतियाँ

वेदनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ दो हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय। इनमें सातावेदनीय शुभ है और असातावेदनीय अशुभ। सातावेदनीय कर्म के उदय से साता मालूम होता है, शांति का अनुभव होता है और आनन्द-ही आनन्द लगता है, जब कि असातावेदनीय कर्म के उदय में स्थिति इससे विपरीत होती है—जीव दुःखी हो जाता है और ऐसा मानने लगता है कि, हमारे पास नोटों का बंडल या सोने की पाट आ जायें तो हम सुखी हो जायेंगे। पर, यह एक प्रकार का भ्रम है—उससे सुख ही मिलेगा, ऐसा निश्चित नहीं है। संभव है कि, उससे बड़ा ऐसा उत्पात मच जाय जो आपको परीशान कर डाले। सोने की पाट ने कैसा उत्पात मचाया, सो सुनिये

सोने की पाट का उत्पात

यह एक पौराणिक घटना है। लक्ष्मी और सरस्वती में वादविवाद हुआ। उसमें लक्ष्मी ने अपना तेज बतलाने के लिए १०८ गज लम्बी,

५४ गज चौड़ी और २७ गज मोटी सोने की एक पाट जंगल में रास्ते की एक तरफ रखकर अन्तरिक्ष से घटनावली का अवलोकन करने लगीं।

कुछ देर में वहाँ दो राजपूत आये। उनमें से एक ने कहा—"सोने की यह पाट पहले मैंने देखी, इसलिए मेरी है।" दूसरे ने कहा—"हम दोनों एक साथ निकले थे, इसलिए इसमें हम दोनों का आधा-आधा हिस्सा है।" उसमें कहा सुनी हुई, गर्मागर्मी हुई और तलवारें खिचीं। दोनों लड़ भिड़ कर वहीं कटकर मर गये।

उस पाट से कुछ दूर पर एक झोपड़ी थी। उसमें एक बाबाजी रहते थे। शाम के समय गाँव से भिक्षा माँग कर वे अपनी झोपड़ी की ओर लौट रहे थे कि, उस पाट पर उनकी नजर पड़ी। पाट को देखते ही वे आनन्दमग्न हो गये। खाना-पीना भूल कर विचार करने लगे कि, क्या उपाय करें। पाट उठ तो सकती नहीं थी कि, उठा कर झोपड़ी में रख देते, इसलिए उन्होंने उसके टुकड़े करके झोपड़ी मे ले जाने का विचार किया।

यह विचार करते करते रात होने लगी, अँधेरा बढ़ गया। वहाँ ६ चोर उस रास्ते से चोरी करने के लिए निकले। उनमें से हर एक के हाथ में कोई न कोई हथियार था। सोने की पाट की चमक देख कर वे उस तरफ बढ़े और पाट के पास आये। वहाँ बाबाजी को बैठा देखा। चोरों ने पूछा—"बाबाजी, यहाँ क्यों बैठे हो?" बाबाजी ने कहा—"यह मेरी झोपड़ी है और यह मेरी शिला है, इसलिए बैठा हूँ।"

"तुम्हारे पास सोने की यह पाट कहाँ से आयी?"—एक चोर ने पूछा। "बहुत भक्ति करने पर भगवान् ने भेंट दी"—बाबाजी ने उत्तर दिया।

"अरे ढोंगी! तू तो साधु है। तुझे सोने की पाट से क्या करना है? इसे तो हम ले लेंगे"—दूसरे चोर ने ललकार कर कहा।

"तुम कैसे ले जाओगे ? इसका मालिक तो मैं हूँ'—अभी ये शब्द बाबाजी के मुँह से निकल भी न पाये थे कि, उनके सर पर तल्वार तुल गयी और उनके शरीर के टुकड़े हो गये।

इस प्रकार सोने की पाट ने तीन आदमियों का भोग लिया और उनमें से कोई उस पाट का एक टुकड़ा भी न पा सका।

अपने रास्ते का काँटा दूर हुआ देखकर चोर बड़े प्रसन्न हुए और यह सोच कर कि अब जिन्दगी भर चोरी करने की अपेक्षा नहीं रहेगी, वे आनन्द से फूले न समाये। लेकिन, अब सवाल सामने आया कि, इस पाट को ले किस तरह जायें ? टुकड़े किये बिना तो ले जाना मुमकिन ही नहीं था, इसलिए उन सबने उसके टुकड़े करने का निश्चय किया। पर, उनके पास ऐसा कोई साधन नहीं था कि, जिससे टुकड़े कर सकते। उस समय उन्हें पास के गाँव में रहनेवाला सुनार याद आया। वह सुनार इन चोरों से चोरी की चीजें सस्ते भाव से खरीद लिया करता था। इस प्रकार उससे मैत्री हो गयी थी।

चार चोर उस पाट की रखवाली करते रहे और दो सुनार को बुलाने गये। उन्होंने सुनार को सोते से जगाया। चोरों ने कहा—"तुम्हारे पास छेनी, हथौड़ा, वगैरह जो औजार हों लेकर चलो। सोने की पाट के टुकड़े करना है।" फिर, उन्होंने सोने की उस पाट का वर्णन किया। पहले तो सुनार को विश्वास न हुआ, पर चोरों के विश्वास दिलाने पर उसने बात मान ली।

"उसमें मुझे क्या मिलेगा ?"—सुनार ने जिज्ञासा से प्रश्न किया। चोरों ने कहा—"६ जन हम हैं, सातवाँ तू। सब बराबर बराबर बाँट लेंगे।"

यह सुनकर सुनार ने विचार किया—"ये परदेशी चोर एक भाग भी क्यों ले जायें ?" उसके मन में कपट जागा। उसने उन्हें एक भी टुकड़ा न देने का निश्चय कर लिया और कहा—"तुम ठीक कहते हो,

पर मुझे इस समय भूख लगी है। पेट भरे विना ऐसी मेहनत का काम नहीं होगा, इसलिए कुछ खाने पीने का सामान लिये लेता हूँ। तुम भी खाना मैं भी खाऊँगा।" यह कहकर सुनार ने साथ ले जाने के लिए सात लड्डू तैयार किये। उसमें एक लड्डू कुछ छोटा रखा। उस छोटे लड्डू के अतिरिक्त सब में जहर मिला दिया।

सुनार उन दोनों चोरों के साथ जगल में आया और उस पाट को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। फिर उसने कहा—"काम बहुत बड़ा है और तुम्हें भी भूख लगी होगी, इसलिए पहले कुछ खा लें, फिर काम शुरू करेंगे। चोर इसके लिए तैयार हो गये।

सुनार ने सातों लड्डू निकाले। बड़े बड़े लड्डू चोरों को दिये और स्वय छोटा लिया। उस समय चोरों को शंका हुई, इसलिए उन्होंने पूछा—"सबको बड़ा और खुद के लिए छोटा क्यों?" सुनार ने कहा—"मुझे सग्रहणी का रोग है, इसलिए थोड़ा ही खाता हूँ।" इससे चोरों के मन की शका दूर हो गयी और उन्होंने लड्डू प्रेम से खाये।

सुनार ने विचार किया कि, जहर चढ़ने में कुछ देर लगेगी, इसलिए उतनी देर दूर रहना अच्छा। इसलिए, वह सबकी अनुमति लेकर शौच के बहाने जाकर कुछ दूर पर एक झाड़ी में छिपकर बैठ गया।

उस तरफ पाट को तोड़ने के सब साधन देखकर चोरों की नीयत बिगड़ी। वे सातवाँ भाग सुनार को न देने के निश्चय पर आ गये और इसलिए उसका खात्मा कर देने की सोचने लगे।

दूसरी तरफ वह सुनार छुपा हुआ उन ६ चोरों के मरने का इन्तजार कर रहा था। एक दूसरे का बुरा सोच रहे हैं—उन्हें एक करनेवाली सोने की पाट थी।

जब सुनार ने देखा कि चोरों को बेहोशी आने लगी है, तब वह झाड़ी से बाहर निकलकर नजदीक आ गया। चोरों ने कहा—"इतनी ज्यादा देर कैसे लगायी? चल, अब हमें पानी पिला। फिर हम जल्दी

"तुम कैसे ले जाओगे ? इसका मालिक तो मैं हूँ' —अभी ये शब्द बाबाजी के मुँह से निकल भी न पाये थे कि, उनके सर पर तलवार तुल गयीं और उनके शरीर के टुकड़े हो गये।

इस प्रकार सोने की पाट ने तीन आदमियों का भोग लिया और उनमें से कोई उस पाट का एक टुकड़ा भी न पा सका।

अपने रास्ते का काँटा दूर हुआ देखकर चोर बड़े प्रसन्न हुए और यह सोच कर कि अब जिन्दगी भर चोरी करने की अपेक्षा नहीं रहेगी, वे आनन्द से फूले न समाये। लेकिन, अब सवाल सामने आया कि, इस पाट को ले किस तरह जायें ? टुकड़े किये बिना तो ले जाना मुमकिन ही नहीं था, इसलिए उन सबने उसके टुकड़े करने का निश्चय किया। पर, उनके पास ऐसा कोई साधन नहीं था कि, जिससे टुकड़े कर सकते। उस समय उन्हें पास के गाँव में रहनेवाला सुनार याद आया। वह सुनार इन चोरों से चोरी की चीजें सस्ते भाव से खरीद लिया करता था। इस प्रकार उससे मैत्री हो गयी थी।

चार चोर उस पाट की रखवाली करते रहे और दो सुनार को बुलाने गये। उन्होंने सुनार को सोते से जगाया। चोरों ने कहा —"तुम्हारे पास छेनी, हथौड़ा, वगैरह जो औजार हों लेकर चलो। सोने की पाट के टुकड़े करना है।" फिर, उन्होंने सोने की उस पाट का वर्णन किया। पहले तो सुनार को विश्वास न हुआ, पर चोरों के विश्वास दिलाने पर उसने बात मान ली।

"उसमें मुझे क्या मिलेगा ?"—सुनार ने जिज्ञासा से प्रश्न किया। चोरों ने कहा—"६ जन हम हैं, सातवाँ तू। सब बराबर बराबर बाँट लेंगे।"

यह सुनकर सुनार ने विचार किया—"ये परदेशी चोर एक भाग भी क्यों ले जायें ?" उसके मन में कपट जागा। उसने उन्हें एक भी टुकड़ा न देने का निश्चय कर लिया और कहा—"तुम ठीक कहते हो,

पर मुझे इस समय भूख लगी है। पेट भरे बिना ऐसी मेहनत का काम नहीं होगा, इसलिए कुछ खाने पीने का सामान लिये लेता हूँ। तुम भी खाना मैं भी खाऊँगा।" यह कहकर सुनार ने साथ ले जाने के लिए सात लड्डू तैयार किये। उसमें एक लड्डू कुछ छोटा रखा। उस छोटे लड्डू के अतिरिक्त सब में जहर मिला दिया।

सुनार उन दोनों चोरों के साथ जंगल में आया और उस पाट को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। फिर उसने कहा—"काम बहुत बड़ा है और तुम्हें भी भूख लगी होगी, इसलिए पहले कुछ खा लें, फिर काम शुरू करेंगे। चोर इसके लिए तैयार हो गये।

सुनार ने सातों लड्डू निकाले। बड़े बड़े लड्डू चोरों को दिये और स्वयं छोटा लिया। उस समय चोरों को शंका हुई, इसलिए उन्होंने पूछा—"सबको बड़ा और खुद के लिए छोटा क्यों?" सुनार ने कहा—"मुझे संग्रहणी का रोग है, इसलिए थोड़ा ही खाता हूँ।" इससे चोरों के मन की शंका दूर हो गयी और उन्होंने लड्डू प्रेम से खाये।

सुनार ने विचार किया कि, जहर चढ़ने में कुछ देर लगेगी, इसलिए उतनी देर दूर रहना अच्छा। इसलिए, वह सबकी अनुमति लेकर शौच के बहाने जाकर कुछ दूर पर एक झाड़ी में छिपकर बैठ गया।

उस तरफ पाट को तोड़ने के सब साधन देखकर चोरों की नीयत बिगड़ी। वे सातवाँ भाग सुनार को न देने के निश्चय पर आ गये और इसलिए उसका खात्मा कर देने की सोचने लगे।

दूसरी तरफ वह सुनार छुपा हुआ उन ६ चोरों के मरने का इन्तजार कर रहा था। एक दूसरे का बुरा सोच रहे हैं—उन्हें एक करनेवाली सोने की पाट थी।

जब सुनार ने देखा कि चोरों को बेहोशी आने लगी है, तब वह झाड़ी से बाहर निकलकर नजदीक आ गया। चोरों ने कहा—"इतनी ज्यादा देर कैसे लगायी? चल, अब हमें पानी पिला। फिर हम जल्दी

से काम पर लगें।" सुनार मन में खुश हुआ—सोचता था कि, पानी पीते ही ये लोग ढह पड़ेंगे।

सुनार अपने साथ लोटा डोर लाया था। उसे लेकर कुएँ पर गया और झुक कर पानी निकालने लगा कि, चोरों ने धक्का मार कर उसे कुएँ में फेंक दिया। सुनार का राम रम गया। फिर, चोर पाट के पास आये। वहाँ जहर के असर से सब-के सब जमीन पर लुढ़क गये।

इस तरह सोने की पाट ने दो राजपूत, एक बाबाजी, एक सुनार और ६ चोरों के प्राण लिये। फिर भी, वह तो वहीं ज्यों-की-त्यों पड़ी हुई थी। कोई उसका एक टुकड़ा भी नहीं ले सका था।

लक्ष्मी ने कहा—"देखा सरस्वती! लोग मेरे पीछे कैसे पागल हो जाते हैं। मैं उनकी इच्छा नहीं करती, उन्हें दुतकारती हूँ, फिर भी वे मेरे पीछे पड़ते हैं और स्वय नष्ट होते हैं।"

सरस्वती ने कहा—"इसका अर्थ यह है कि, जो अज्ञानी हैं, मूर्ख हैं, वे तेरे पीछे घूमते हैं और दु खी होते हैं। और, जो ज्ञानी हैं, समझदार हैं, वे मेरी आराधना-उपासना मे मस्त होकर आनन्द करते हैं। अब तू अपनी यह लीला समेट ले, नहीं तो न जाने कितने लोभी मारे जायेंगे।"

उसके बाद लक्ष्मी ने वह पाट वहाँ से अदृश्य कर दी।

आयुष्यकर्म की चार प्रकृतियाँ हैं—देव-आयुष्य, मनुष्य आयुष्य, तिर्यंच-आयुष्य और नारक आयुष्य। इनमें पहली तीन प्रकृतियाँ शुभ हैं और चौथी अशुभ। देव, मनुष्य और तिर्यंच को अपना जीवन प्रिय होता है, जबकि नारकी जीवों को अपना जीवन प्रिय नहीं होता। वे उसमें से जल्दी से जल्दी छूट जाना चाहते हैं।

शुभाशुभ की गणना मे नाम कर्म की ७१ प्रकृतियाँ ली जाती हैं—यह अभी स्पष्ट कर चुके हैं। उनम ३७ शुभ है और ३४ अशुभ वे इस प्रकार

गति चार हैं—देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक। इनमें पहली दो शुभ हैं और बाद की दो अशुभ हैं। तिर्यंच की गति में अनेक प्रकार के दु:ख सहन करने पड़ते हैं और नरक गति में अपार वेदना होती है। आपने नारकियों के चित्र देखे होंगे। उनमें बतलाया गया है कि, परमाधामी नारकियों को कैसी-कैसी यत्रणा देते हैं। उन पीड़ाओं के सामने आपके वर्तमान जीवन की पीड़ाएँ किसी हिसाब में नहीं है।

जातियाँ पाँच हैं—एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय और पचेन्द्रिय। इनमें पहली चार अशुभ हैं और अन्तिम शुभ है। अच्छी वस्तुओं की गणना में पचेन्द्रिय की पूर्णता का उल्लेख होता है, वह आपके लक्ष में होगा।

वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श शुभ भी होते हैं और अशुभ भी। वर्ण पाँच प्रकार के हैं, इनमें शुक्ल, पीत और रक्त शुभ हैं और नील तथा कृष्ण अशुभ हैं। रस पाँच प्रकार के हैं। उनमें मधुर, अम्ल और कषाय शुभ हैं और तीखा तथा कड़वा अशुभ हैं। सुगन्ध तो सबको आकृष्ट करती है। देवों तक का आकर्षण करती है। तभी तो उनकी साधना-आराधना करते हुए उत्तम प्रकार के पुष्प, इत्र और धूप का उपयोग होता है। दुर्गंध किसी को अच्छी नहीं लगती।

स्पर्श आठ प्रकार के हैं। उनमें लघु, मृदु, स्निग्ध और उष्ण शुभ है और गुरु, कठिन, रुक्ष तथा शीत अशुभ है।

आनुपूर्वी चार प्रकार की है—उनमें देवानुपूर्वी और मनुष्यानुपूर्वी शुभ है और तिर्यंचानुपूर्वी तथा नारकानुपूर्वी अशुभ है।

विहायोगति के तो शुभ और अशुभ दोनों प्रकार स्पष्ट माने गये हैं।

त्रसदशक शुभ गिना जाता है और स्थावरदशक अशुभ गिना जाता है।

आठ प्रत्येक प्रकृति मे उपघात के अतिरिक्त सातों प्रकृतियाँ शुभ हैं।[1]

इससे आप भली भाँति समझ गये होंगे कि कर्मों की शुभ-अशुभ प्रकृतियाँ कौन-कौन सी हैं। जो पुण्य करते हैं, उन्हें शुभ प्रकृति का बंध होता है और जो पाप करते हैं, उन्हें अशुभ प्रकृति का बंध होता है। इसलिए, जो लोग जीवन म सुख, शांति और खुशहाली की इच्छा रखते हों उन्हें पाप का परिहार करना चाहिए। इस विषय में अभी बहुत कुछ कहना है, वह अवसर पर कहा जाएगा।

---

[1] नाम कर्म की शुभाशुभ प्रकृति की तालिका निम्न प्रकार है

शुभ	अशुभ
२ गति (देव मनुष्य)	२ गति (तिर्यञ्च नरक)
१ जाति (पंचेन्द्रिय)	४ जाति (एक इन्द्रिय से चार-इन्द्रिय)
५ शरीर (औदारिक)	
३ अंगोपांग (औदारिकादि)	
१ संहनन (वज्र ऋषभनाराच)	५ संहनन (ऋषभनाराच, नाराच अर्धनाराच, कीका और सेवार्त)
१ संस्थान (समचतुरस्र)	५ संस्थान (न्यग्रोध परिमंडल, सादि, वामन, कुब्ज और हुंडक)
४ वर्ण, रस, गंध और स्पर्श	४ वर्ण, रस, गंध और स्पर्श
२ आनुपूर्वी (देवानुपूर्वी तथा मनुष्यानुपूर्वी)	२ आनुपूर्वी (तिर्यंचानुपूर्वी तथा नरकानुपूर्वी)
१ विहायोगति	१ विहायोगति
१० त्रसदशक	१० स्थावर दशक
७ प्रत्येक प्रकृति [अगुरुलघु, पराघात, आतप, उद्योत, श्वासोच्छ्वास, निर्माण और तीर्थंकर]	१ प्रत्येक प्रकृति [उपघात]
३७	३४

छब्बीसवाँ व्याख्यान

कर्मबन्ध और उसके कारणों पर विचार

[१]

महानुभावो !

कल व्याख्यान के बाद एक महाशय हमसे मिलने आये। उन्होंने मुझसे एक प्रश्न पूछा—"कर्म आत्मा से क्यों चिमटते हैं, शरीर से क्यों नहीं ?" हमने कहा—"आपका प्रश्न ठीक है। पर, लोग देवगुरु को ही क्यों पचाग प्रणिपात करते हैं, और आपको नहीं करते। इस पर विचार करेंगे तो आपको अपने प्रश्न का उत्तर मिल जायेगा।"

कुछ देर विचार करने के बाद उक्त महाशय ने कहा—"मेरी उस प्रकार की योग्यता नहीं है, इसलिए लोग मुझे पचांग प्रणिपात नहीं करते।" मैंने कहा—"यही न्याय यहाँ लागू कीजिए। शरीर की वैसी योग्यता नहीं है, इसलिए उसे कर्म नहीं चिमटते।" मैंने उन्हें उदाहरण रूप में बताया—"चुम्बक से लोहे के टुकड़े चिमट जाते हैं, लेकिन लकड़ी या रबर से नहीं। इससे यही समझना चाहिए कि, जैसा स्वभाव हो वैसी क्रिया होती है।"

उक्त महाशय ने कहा—"अगर चिमटना कर्म का स्वभाव है, तो वह आत्मा से भी चिमटेगा और शरीर से भी। आत्मा से चिमटे और शरीर से न चिमटे, ऐसा विवेक तो वह कर नहीं सकता, कारण कि वह स्वयं जड़ है।"

हमने पूछा—"कर्म क्या है—यह तो आप जानते हैं ?"

सम्पत्ति नहीं है, बल्कि हमारे कट्टर दुश्मन की फौज है और वह हमारी दुर्दशा कर डालेंगे, तो वे कर्म बन्धन से दूर रहें और दूर न भी रहें तो भी जो कर्म बाँधें वे बहुत ढीले बाँधें, जिससे उन्हें भविष्य में बहुविध यातनाएँ भोगनी नहीं पड़ेंगी।

"एक वस्तु नितान्त अहितकारी है, यह जानते हुए भी मनुष्य उसका सर्वथा त्याग नहीं कर सकते, यह स्थिति कितनी शोचनीय है!"

नमक के चटखारे के कारण प्राण गँवानेवाला श्रीमत-पुत्र

एक श्रीमत गृहस्थ का पुत्र एकाएक बीमार पड़ गया। बचने की आशा नहीं दिखती थी। सगे सम्बन्धी क्रन्दन मचाने लगे। इतने में किसी ने कहा—"यहाँ से कुछ दूर पर एक सन्यासी रहता है। वह बहुत जानकार है। उसे बुलाओ!"

लोग दौड़ कर सन्यासी के पास गये और विनती करके उसे घर ले आये। उसने उस लड़के की तबीयत देखकर कहा—"अगर आपको एक बात स्वीकार हो तो इस लड़के को दवा दूँ!" माता पिता ने पूछा—"वह बात क्या है?" सन्यासी ने कहा—"मैं जो दवा दूँगा उससे आपका लड़का जी तो जायगा, पर उसे सदा के लिये नमक का त्याग करना पड़ेगा।"

"लड़का बचता है तो भले आजीवन नमक बिना खाये," ऐसा विचार करके उन्होंने शर्त मजूर कर ली। सन्यासी ने दवा दी और लड़का बच गया।

लड़का नमक रहित भोजन करता रहा। उसकी तबीयत हर प्रकार से अच्छी रही। एक दिन माता पिता आदि कार्यवशात् बाहर गये। लड़का और नौकर दो व्यक्ति घर में रहे। उस समय खारी बादाम और पिस्ते देखकर लड़के का मन ललचाया। उसने सोचा—"उसमें नमक आयेगा भी तो कितना आयेगा, वह क्या नुकसान करेगा?" उसने नौकर

से कुछ नमकीन पिस्ते बादाम देने के लिए कहा। नौकर ने हुक्म की तामील कर दी।

उसने वे बादाम-पिस्ते शौक से खाये। लेकिन, थोड़ी ही देर बाद उसे बेचैनी मालूम होने लगी और वह धीरे धीरे बढती गयी। जब माता पिता घर में वापस आये तब तक उसकी हालत बहुत बिगड़ चुकी थी। उन्होंने नौकर से पूछा—"हमारे जाते समय तो इसे कोई शिकायत थी नहीं। एकाएक यह क्या हो गया? क्या इसने कोई चीज खायी है?" नौकर ने सारी बात कह सुनायी। वे समझ गये कि, यह तो बड़ा अनर्थ हुआ। अब क्या करें?

वे दौड़ कर उसी सन्यासी के पास गये और अपने घर बुला लाये। सन्यासी ने लड़के की हालत देखते ही कहा—"इसके पेट में नमक गया है। मैं लाचार हूँ। अब इसका कुछ उपाय नहीं हो सकता। मैंने सिद्ध-रसायन खिला कर इसकी जान बचायी थी। नमक का त्याग उसकी शर्त थी। पर, वह शर्त किसी प्रकार तोड़ डाली गयी है, इसलिए इसकी ऐसी हालत हो गयी है। अब आप लोग चाहें तो इसे रामनाम सुना दें, कारण कि यह अब सिर्फ आधे घटे का मेहमान है।"

इन शब्दों के सुनते ही घर में भयकर रुदन मचने लगा और आधे घटे म लड़का मर गया।

यह कुछ वर्ष पहले घटित सच्ची घटना है। इससे आपको मानव-स्वभाव का परिचय मिलता है। जब असातावेदनीय का उदय होता है, तो मनुष्य फिर दुष्कर्म न करने का निर्णय करता है, लेकिन ज्योंही साता-वेदनीय का उदय हुआ कि, सब निर्णय धरे रह जाते हैं और वह अपनी पुरानी चाल पर चलने लगता है। उस समय वह यह विचार नहीं करता कि, वह कितना कर्मबध कर रहा है और उसका क्या परिणाम होगा।

उक्त महाशय को हमारे इस स्पष्टीकरण से सन्तोष हुआ और वह कर्म के विषय में विशेष जानने के लिए आज व्याख्यान में उपस्थित हैं।

कर्मबन्ध के कारण अनादिकालीन हैं

आत्मा अनादि काल से है, कर्म भी अनादि काल से हैं, कर्मबन्ध भी अनादि काल से है और कर्मबन्ध के कारण भी अनादि काल से हैं। कारण के बिना कार्य होता ही नहीं।

कर्मबन्ध के सामान्य कारण चार हैं—मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योग। कुछ लोग प्रमाद[1] को भी कर्मबन्ध का सामान्य कारण बताते हैं, परन्तु वह अविरति और योग में आ जाता है। इसीलिए षडशीति नामक चौथे कर्मग्रन्थ में कहा है कि—

'बंधस्स मिच्छ अविरइ, कसाय जोगत्ति चउ हेउ ॥५०॥'

कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार हेतु हैं।

कारणों का क्रम सहेतुक है

कर्मबन्ध के इन कारणों—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग का क्रम सहेतुक है।

जब तक मिथ्यात्व रहता है, तब तक अविरति नहीं जाती, जब तक अविरति है, तब तक कषायें नहीं जातीं, और जब तक कषायें नहीं जातीं, तब तक योगनिरोध नहीं होता। इसीलिए, उपर्युक्त क्रम रखा गया है। गुणस्थानों का क्रम देखने पर यह बात और स्पष्ट हो जायगी। चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व का नाश होता है, छठे गुणस्थान में अविरति का,

---

१ प्रमाद पर नीचे की गाथा जैन श्रुत में प्रचलित है —

मज्ज विसय-कसाया, निद्दा विकहा य पंचमी भणिया।

एए पंचपमाया, जीव पाडन्ति संसारे ॥

मद्य [दारू वगैरह मादक पदार्थ], विषय [शब्दादिक], कषाय, निद्रा और विकथा—ये पाँच प्रमाद जीव को संसार में डालते हैं।

बारहवें गुणस्थान में कषाय का और चौदहवें गुणस्थान में योगनिरोध होता है। यह क्रम वस्तुत आत्मा के विकास के क्रमानुरूप है।

पहला कारण मिथ्यात्व

मिथ्यात्व को महाशत्रु की, महारोग की, महाविष की और महा अन्धकार की उपमा दी गयी है, कारण कि, वह तमाम कर्मों की जड़ है। उसकी उपस्थिति में सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। सम्यक्त्व के बिना सम्यक् ज्ञान नहीं होता और सम्यक् ज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र नहीं होता। सम्यक् चारित्र के बिना मुक्ति नहीं मिलती। ससार भ्रमण का प्रधान कारण मिथ्यात्व है। शास्त्रकारों ने कहा है—

'मिच्छत्त भवबुड्ढिकारण'।

मिथ्यात्व के जाने पर कर्मों को मानों राजयक्ष्मा का रोग लग जाता है—उन्हें नष्ट ही हो जाना पड़ता है। अर्धपुद्गलावर्तन के समय में वह अवश्य नष्ट हो जाते हैं और आत्मा मुक्ति का शाश्वत सुख प्राप्त करता है।

अभव्य आत्माएँ तो अनन्तकाल ससार में भ्रमण करती ही रहती हैं, कारण कि, उनका मिथ्यात्व कभी दूर नहीं होता। वे सदा सदा मिथ्यात्व में ही लिप्त रहती हैं।

प्रश्न—"अभव्य आत्माओं को ज्ञान होता है या नहीं?"

उत्तर—"ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, इसलिए वह अभव्य आत्माओं को भी होता है। लेकिन, यहाँ ज्ञान से तात्पर्य 'सम्यक्ज्ञान' से हो तो वह अभव्य आत्माओं को नहीं होता। सम्यक्त्व सहित ज्ञान सम्यकज्ञान है और अभव्य आत्माओं को सम्यक्त्व नहीं होता।"

प्रश्न—"अभव्य आत्माओं को शास्त्र सिद्धान्त का ज्ञान होता है या नहीं?"

उत्तर—शास्त्र-सिद्धान्त का ज्ञान अगर सम्यक्त्वपूर्वक हो, तो वह सम्यक्ज्ञान है, अन्यथा मिथ्याज्ञान है। जैसे साँप को पिलाया हुआ दूध विषरूप हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वी को दिया हुआ शास्त्र-सिद्धान्त का ज्ञान भी उसके लिए मिथ्यात्व ही बन जाता है। चारित्र लेकर, शास्त्र सिद्धान्त का अभ्यास करके और आचार्यपद प्राप्त करके भी आत्मा अभव्य हो सकती है। अंगारमर्दकसूरि की कथा से बात स्पष्ट हो जायेगी।

अंगारमर्दकसूरि का प्रबन्ध

श्री विजयसेनसूरि अपने विशाल शिष्य-समुदाय के साथ क्षितिप्रतिष्ठित नगर में विराजमान थे। उस समय एक शिष्य को एक रात में स्वप्न आया कि 'पाँच सौ सुन्दर हाथी चले आ रहे हैं और उनका नायक सूँड है।'

कुछ स्वप्न भावी घटना के सूचक होते हैं और उनसे निश्चित अर्थ निकलता है। ऐसे स्वप्नों को देव या गुरु के सम्मुख अथवा गाय के कान में कहने चाहिए।

सुबह हुई। शिष्य ने वह स्वप्न विनयपूर्वक गुरु को बताया और उसका अर्थ पूछा। गुरु ज्ञानी थे और अष्टांगनिमित्त के अच्छे जानकार थे। उन्होंने सब शिष्यों को सुनाते हुए कहा—"आज यहाँ पाँच सौ सुविहित साधुओं के साथ एक अभव्य आचार्य आयेगा।"

उसी दिन पाँच सौ शिष्यों के साथ रुद्राचार्य उस नगर में आये। उनकी ज्ञानगर्भित मधुर देशना सुनने के लिए हजारों नागरिक उमड़ पड़े। शिष्यों ने सोचा—"ये साधु सुविहित हैं और आचार्य अभव्य हैं यह कैसे जाना जाये?"—उन्होंने यह बात गुरु से पूछी। गुरु ने कहा—"मैं तुम्हारी शंका का निवारण करूँगा।" बाद में उनके लघुशंका करने के स्थान पर छोटे-छोटे अंगारे बिछवा दिये गये और आगे क्या होता है इस पर नजर रखी गयी।

रात्रि के दो प्रहर व्यतीत हो गये। तीसरे प्रहर के शुरू होने पर

रुद्राचार्य के कुछ शिष्य लघुनीति करने उठे। उस समय पैरों के नीचे कोयलों के दबने से चूँ चूँ की आवाज होने लगी। उन्होंने समझा—"निश्चय ही हमारे पैरों के नीचे कोई त्रस जीव कुचल गये। हा! हा! धिक्कार हो हमारे इस दुष्कृत्य को!" और, वे उसका प्रतिक्रमण करने तैयार हुए। यह देखकर सूरिजी के शिष्यों को विश्वास हो गया कि, ये साधु भवभीरु और सुविहित हैं।

कुछ देर बाद रुद्राचार्य स्वय लघुनीति करने उठे। उनके पैरों के नीचे कोयलों के दबने से वही चूँ चूँ की आवाज होने लगी। उससे वे समझे कि कोई त्रसजीव मेरे पैरों के नीचे कुचल गये हैं। परन्तु, उस दुष्कृत्य का पश्चाताप करने के बजाये वे और ज्यादा जोर से पैर रखकर बोले "ये किसी अरिहत के जीव पुकारते मालूम होते हैं।"

सूरिजी के शिष्यों ने ये शब्द कानों से सुने, इसलिए उन्हें विश्वास हो गया कि, यह आचार्य अभव्य है, अन्यथा उनका वर्तन ऐसा निष्ठुर न होता। जिन आत्माओं को अरिहत देव में श्रद्धा नहीं है, उनके प्रवचन में श्रद्धा नहीं है और उसमें प्ररूपित अहिंसा, सयम और तप की मगलमयता म भी श्रद्धा नहीं है; उनमें सम्यक्त्व कैसे हो सकता है?

सबेरे श्री विजयसेन सूरि ने रुद्राचार्य के शिष्यों से कहा "हे श्रमणों! तुम्हारा यह गुरु सेवा योग्य नहीं है, कारण कि वह कुगुरु है। यह बात मुझे तुमसे इसलिए कहनी पड़ती है कि, आचार-भ्रष्ट आचार्य, भ्रष्ट आचारवाले को न रोकनेवाला आचार्य और उन्मार्ग प्ररूपणा करनेवाला आचार्य, ये तीनों धर्म का नाश करते हैं।"

यह हित शिक्षा सुनकर, जैसे साँप केंचुली का त्याग कर देता है उसी तरह उन शिष्यों ने अपने गुरु का त्याग कर दिया और शुद्ध चरित्र का पालन कर अनुक्रम से मोक्ष की प्राप्त की। अंगारमर्दक रुद्राचार्य सम्यक्त्व के अभाव से, अन्तर की गहराई में भरे हुए मिथ्यात्व के योग से, अपार

ससार सागर में रखड़ते ही रहे और विभिन्न योनियों में जन्म धारण करके दु ख पाते ही रहे।

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व

मिथ्यात्व का अर्थ है—झूठी मान्यता ! सम्यक्त्व का अर्थ है—सच्ची मान्यता !! वस्तु हो एक प्रकार की और मानी जाये दूसरे प्रकार की, इसे मिथ्यात्व समझना चाहिए। एक मनुष्य परमात्मा को मानता है, पर उसे अवतार लेने वाला मानता है, तो वहाँ मिथ्यात्व जानना, क्योंकि परमात्मा ने तो सब कर्मों का नाश कर डाला है, इसलिए वह फिर ससार में नहीं पड़ सकता। उसी प्रकार कोई आदमी आत्मा को माने पर उसे क्षणभगुर माने या यह माने कि वह परमात्मा में लय हो जाता है, तो इसे भी मिथ्यात्व जानना चाहिए, क्योंकि आत्मा नाशवत नहीं, अमर है।

ससार की वस्तुओं को यथार्थ रूप से जाननेवाला सर्वज्ञ है। हम चूँकि छद्मस्थ हैं, इसलिए यथार्थ रूप से नहीं समझ सकते। इसलिए सर्वज्ञ परमात्मा ने जो कहा है, उसे ही सच्चा मानना—इसी में सम्यक्त्व है। मिथ्यादृष्टि की मान्यता इससे विपरीत होती है। वह वस्तु को मनमाने तौर पर मानता है, लेकिन इस तरह मानने से फायदा नहीं, नुकसान ही नुकसान है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की करनी में अन्तर

किसी जीव को मारने की जरूरत पड़े तो सम्यग्दृष्टि भी मारेगा और मिथ्यादृष्टि भी। लेकिन, दोनों के मारने में फर्क होगा। सम्यग्दृष्टि उसे फर्ज समझकर, रस लिए बिना, सिर पर आ पड़ा काम मान कर, पाप समझकर करेगा, इसलिए उसे ढीला कर्मबन्ध होगा। पर, मिथ्या दृष्टि उसे जानबूझ कर, रसपूर्वक, उसे पाप न मानकर करेगा, इसलिए उसे प्रबल कर्मबन्ध होगा।

मिथ्यादृष्टि को कर्म की निर्जरा कम होती है, सम्यग्दृष्टि को ज्यादा। मिथ्यादृष्टि को कर्म की निर्जरा अकाम, यानी समझ बगैर होती है, लेकिन सम्यग्दृष्टि को कर्म की निर्जरा सकाम, यानी समझपूर्वक होती है। मिथ्यादृष्टि पाप के उदय को घबराते हुए हाय तौबा मचाते हुए भोगता है, सम्यग्दृष्टि पाप के उदय को बिना घबराये, शांति से भोगता है। सम्यग्दृष्टि जानता है कि, पूर्वकाल म मैंने इस कर्म को आमन्त्रित किया था, इसलिए वह आया है, अब इसे शाति से भोग लेना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि को आर्तध्यान कम होता है, चित्त में शाति रहती है और कुछ समभाव होता है, इसलिए उदय में आते हुए और सत्ता मे रहे हुए कर्मों की निर्जरा होती है। जबकि मिथ्यादृष्टि को आर्तध्यान अधिक होता है, चित्त में शाति नहीं रहती और रागद्वेष की प्रबलता होती है, इसलिए नये कर्म ज्यादा चिकने बँधते हैं।

सम्यग्दृष्टि थोड़े दु ख में ज्यादा कर्म काटता है, जबकि मिथ्यादृष्टि ज्यादा दु ख में थोड़े कर्म काटता है।

दो प्रकार का सम्यक्त्व

सम्यक्त्व दो प्रकार का है—(१) स्थिर और (२) अस्थिर। क्षायिक सम्यक्त्व स्थिर है, आने के बाद कभी नहीं जाता। दूसरे सम्यक्त्व अस्थिर हैं। औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व आते हैं और जाते हैं। कभी मलिन विचार आयें और देव गुरु धर्म से श्रद्धा उठ जाये, तब कहा जायेगा कि, सम्यक्त्व गया और मिथ्यात्व आ गया।

मनुष्य सम्यक्त्व की भावना में आयुष्य बाँधेगा, तो देवगति का ही बाँधेगा और उसमें भी महर्द्धिक सौम्य प्रकृतिवाले देव का ही बाँधेगा। जबकि देव सम्यक्त्व में आयुष्य बाँधेगा तो मनुष्यगति का ही बाँधेगा, वह भी बहुत ऊँचे कुल में, सस्कारी कुटुम्ब में, धार्मिक वातावरण में

अच्छे मनुष्य का बाँधेगा। इस तरह सम्यक्त्व से प्रगति करते हुए आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

शास्त्रकार कहते हैं कि 'सम्यग्दृष्टि जीव नारकी या तिर्यंच नहीं होते, बशर्ते कि सम्यक्त्व स्थिर रहे। अगर वह समकिती से मिथ्यादृष्टि हो जाये तो उसका परिणाम भोगना पड़ता है। मिथ्यादृष्टि तो चारों गतियों में से किसी भी गति में उत्पन्न हो सकता है और नीचे नरक का भी आयुष्य बाँध सकता है।

सम्यक्त्व कायम रहे, तो आत्मा सात-आठ भव में मोक्ष चला जाता है। सम्यक्त्व स्थिर न रहे तो अधिक भवों में भ्रमना पड़ता है। प्रकार सम्यक्त्व की विराधना करे तो भी ससार बढ़ जाता है, लेकिन वह बढ कर भी अर्द्ध पुद्गल परावर्तन से अधिक नहीं बढ़ता।

बन्धन और मोक्ष का कारण मन है

ससार बन्धन और मुक्ति का कारण मन है। मन जब पापक्रियाओं में लिप्त होता है, तो कर्म-बन्धन का कारण बन जाता है और धर्म की शुद्ध आराधना में लगता है, तो मुक्ति का कारण बनता है। शुद्ध आराधना वह है जो श्रद्धापूर्वक हो, सम्यक्त्वपूर्वक हो, जिनेश्वर भगवान् के वचनानुसार हो, सिद्धान्तानुसार हो।

कुछ लोग कहते हैं कि, जो क्रिया ज्ञानपूर्वक हो उसे ही शुद्ध आराधना समझना चाहिए। पर, यहाँ प्रश्न यह होता है कि कितना ज्ञान प्राप्त करने के बाद क्रिया की जाये ? क्या केवलज्ञान प्राप्त हो जाने की प्रतीक्षा करनी चाहिए और तब तक क्रिया की ही न जाये ? और, केवलज्ञान प्राप्त होने पर तो क्रिया की आवश्यकता ही क्या है ? इस तरह तो क्रिया का सम्पूर्ण उच्छेद ही हो जायेगा। इसलिए यही ठीक है कि, ज्यों-ज्यों ज्ञान प्राप्त होता जाये, त्यों त्यों क्रिया करते जायें। जो क्रिया सम्यक्त्वपूर्वक हो, शुद्ध बुद्धि से की गयी हो, उसे ही शुद्ध समझना

चाहिए। जो क्रिया श्रद्धापूर्वक की जाती है वही ज्ञानपूर्वक की गयी क्रिया है।

भावना के अनुसार कर्म के बन्धन म अन्तर पड़ता है। यही बात शास्त्रों में बतायी गयी है। आप षडावश्यक रूप प्रतिक्रमण की क्रिया करते समय वदित्तु सूत्र बोलते हैं, उसमें नीचे की गाथा आती है

समदिट्ठी जीवो, जइ वि हु पाव समायरइ किंचि।
अप्पो सि होइ बंधो, जेण न निद्धंधस कुणइ ॥ ३६ ॥

—सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वकृत पापों का प्रतिक्रमण करने के बाद भी सयोगवशात् अमुक पाप करता है, पर उसे कर्मबन्ध अल्प होता है, कारण कि उस पाप को वह निर्दयता के तीव्र अध्यवसाय से नहीं करता।

कभी मिथ्यादृष्टि आत्मा पाप को मान कर क्रिया करता है, तब उसे कर्मबन्ध ढीला अवश्य होता है। पर, वह सम्यग्दृष्टि के बराबर ढीला नहीं, पूरे पूरे मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा ढीला पड़ता है।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह ये पाँचों अनुक्रम से पापस्थानक हैं, फिर भी हम उनका सेवन करते हैं और प्रसन्न होते हैं, कारण कि अभी दृढ रूप से यह नहीं समझा कि ये पाप हैं।

युक्ति से चोर को पकड़नेवाले सेठ की बात

एक व्यापारी बड़ा धनवान था। उसने अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए दो मुसलमान नौकर रखे थे। एक का नाम मुल्ला था, दूसरे का काज़ी। दोनों बड़े बलवान थे। सेठ घर के अन्दर सोता था और नौकर बाहर।

एक रात दो चोर आये और घर की पिछली दीवाल में सेंध देने लगे। सेठ-सेठानी जाग गये, लेकिन बोलें तो चोर मार डालें। फिर भी

धन तो बचाना ही था। इसलिए सेठ ने युक्ति करके सेठानी से जोर से पूछा—'क्यों जाग रही है न ?" स्त्री ने जवाब दिया—"हाँ, जाग रही हूँ।"

सेठ ने कहा—"अभी मुझे सपना आया। यह तो तू जानती ही है, हमारे एक भी लड़का नहीं है। पर, स्वप्न में लड़का हुआ और उसका नाम हमने मुल्ला रखा। फिर कुछ काल बाद दूसरा लड़का हुआ, उसका नाम काजी रखा। और आखिर तीसरा लड़का हुआ उसका नाम चोर रखा। ये तीनों लड़के शरारती हैं, घर में नहीं रहते और उन्हें बुलाने के लिए आवाजें देनी पड़ती हैं—"मुल्ला! काजी!! चोर!!!" "मुल्ला! काजी!! चोर!!!" इस तरह बहुत सी आवाजें देने पर लड़के मुश्किल से घर आते हैं।"

सेठ ने बात करते हुए अनेक बार जोर से—"मुल्ला! काजी!! चोर!!!" को आवाजें लगायीं। चोर यह समझते थे कि, सेठ सपने की बात कर रहा है। लेकिन, सेठ ने अपनी चतुरायी से पूरा पूरा काम लिया था और मुल्ला और काजी जाग उठे थे। उन्होंने आकर उन चोरों को पकड़ लिया और खूब मार मारकर भगा दिया।

हम अपने आत्मा में घुसे हुए चोरों को इस तरह पकड़ कर भगा दें तभी हमारी आत्मा सर्व दुःखों से मुक्त होकर अनन्त अक्षय सुख भोग सकता है।

मिथ्यात्व को दूर करो!

मिथ्यात्व को दूर करने के लिए हमारे महापुरुष क्या कहते हैं सो ध्यानपूर्वक सुनिये —

धर्म-कार्य के निमित्त से आप चाहे जितना कष्ट उठायें, चाहे जितना आत्मदमन करें, और चाहे जितना धन खर्च करें, लेकिन

अगर मिथ्यात्व है तो सब निरर्थक है। इसलिए, हे मुमुक्षुओ! आप मिथ्यात्व से बाज आयें, मिथ्यात्व को दूर करें!!

मिथ्यादृष्टि मनुष्य विविध प्रकार की क्रियाएँ करके, स्वजन सम्बन्धियों का त्याग करके तथा नाना प्रकारके कष्ट सहन कर के यह सन्तोष मान लेता है कि, उसने धर्म कर लिया, वह मन में प्रसन्न होता है, लेकिन जिस प्रकार अधा नायक शत्रु-सेना को नहीं जीत सकता, वैसे ही मिथ्यात्व से अधा बना हुआ मनुष्य ससार सागर का पार नहीं पा सकता।

इसलिए महानुभावो! आप मिथ्यात्व को दूर करें और कर्म-बन्धन के एक कारण से बचें। जो उससे बच जायेंगे तो क्रमश सबसे बच जायेंगे और इस दुस्तर ससार का पार पा सकेंगे।

विशेष अवसर पर कहा जायगा!

—*—

सत्ताईसवाँ व्याख्यान

कर्मबन्ध और उसके कारणों पर विचार

[२]

महानुभावो !

कर्म का पलंग चार पायों का है। वे चार पाये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग! मिथ्यात्व रूपी पहले पाये के जाने पर वह पलंग लगड़ा हो जाता है। मिथ्यात्व के जाने से और सम्यक्त्व के आने से सच्ची मान्यता दृढ़ होती है, जिससे अविरति के जाने में देर नहीं लगती। पेट का मल दूर हो, तो बुखार अपने आप हट जाये, इसीलिए पुराने वैद्य विषम ज्वरों को उतारने के लिए लंघन कराते थे।

विरति का अर्थ

विरति यानी पाप का त्याग—पाप का पच्चक्खाण। अविरति यानी पाप का अत्याग, पाप की छूट। विरति को व्रत, नियम या चारित्र भी कहते हैं।[1]

---

१ श्री यशोदेव सूरि ने प्रत्याख्यान स्वरूप में कहा है कि—

पच्चक्खाण नियमो, अभिगहो विरमण वय विरई।
आसवदार निरीहो, निवित्तिएगट्ठिया सद्दा॥

प्रत्याख्यान, नियम अभिग्रह, विरमण, व्रत, विरति, आश्रव निरोध और निवृत्ति ये सब समानार्थी हैं।

श्री हरिभद्र सूरि ने पाँचवें प्रत्याख्यान पंचाशक में कहा है कि—'पच्चक्खाणं नियमो, चरित्तधम्मो य होंति एगट्ठा।' प्रत्याख्यान, नियम और चरित्र धर्म ये तीनों शब्द एकार्थी हैं।

चारित्र के बिना कोई आत्मा मोक्ष में न गया, न जाता है और न जायेगा। मोक्ष मन्दिर में पहुँचाने के लिए चारित्र आखिरी कदम है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नों से ही मोक्ष मार्ग मिलता है।

श्रद्धा हो, ज्ञान हो, पर चारित्र न हो, तो भव भ्रमण नहीं रुक सकता। श्रद्धायुक्त ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है, पर उसके साथ चारित्र अवश्य चाहिए। जो सिर्फ ज्ञान को लेते हैं और चारित्र को छोड़ देते हैं, वे ससार-चक्र से बाहर नहीं निकलते।

ज्ञान आँख है, चारित्र हाथ पैर। आदमी को आँख हो, पर हाथ पैर न हों तो जिन्दगी कैसे चल सकती है?

आत्मा का उद्धार करने के लिए चारित्र आवश्यक है और वह अविरति का त्याग करने से ही प्रकट होती है—

अविरति का त्याग आवश्यक क्यों?

आप रात को सोते हैं तो घर का दरवाजा खुला रखते हैं या बन्द? चन्द्रगुप्त के समय में लोग दरवाजे बन्द नहीं करते थे, क्योंकि उस समय चोरी का नाम निशान नहीं था। परन्तु आज? आज तो सोने से पहले दरवाजे में ६, ७ या ८ 'लिवर' का मजबूत ताला लगाने की आवश्यकता पड़ती है। यदि ताला न लगायें तो प्रातःकाल पूरा मकान साफ दिखलायी पड़े—न एक बक्स रहे, न कपड़ा, न पैसा और न भोजन पानी! अविरति का अर्थ है, वस्तुतः द्वार खोलकर सोना! और, उसका फल यह होता है कि, पाप रूपी चोर घर में घुसकर सद्गुणों की समस्त सम्पत्ति उठा ले जाते हैं।

यदि खेत में मजबूत बाड़ न रहे और खुला छूटा रहे तो रास्ते से जाते जानवर उगी हुई पूरी फसल ही खा जायें। और, उसका फल यह हो कि, मालिक को अपना सिर कूटना पड़े।

सत्ताईसवाँ व्याख्यान

कर्मबन्ध और उसके कारणों पर विचार

[२]

महानुभावो !

कर्म का पलंग चार पायों का है। वे चार पाये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। मिथ्यात्व रूपी पहले पाये के जाने पर वह पलंग लंगड़ा हो जाता है। मिथ्यात्व के जाने से और सम्यक्त्व के आने से सच्ची मान्यता दृढ होती है, जिससे अविरति के जाने में देर नहीं लगती। पेट का मल दूर हो, तो बुखार अपने आप हट जाये, इसीलिए पुराने वैद्य विषम ज्वरों को उतारने के लिए लंघन कराते थे।

विरति का अर्थ

विरति यानी पाप का त्याग—पाप का पच्चक्खाण। अविरति यानी पाप का अत्याग, पाप की छूट। विरति को व्रत, नियम या चारित्र भी कहते हैं।[१]

---

१ श्री यशोदेव सूरि ने प्रत्याख्यान स्वरूप में कहा है कि—

पच्चक्खाणं नियमो, अभिग्गहो विरमणं वय विरई।

आसवदार निरीहो, निवित्तिएगट्ठिया सद्दा॥

प्रत्याख्यान, नियम अभिग्रह, विरमण, व्रत, विरति, आश्रव निरोध और निवृत्ति ये सब समानार्थी हैं।

श्री हरिभद्र सूरि ने पाँचवें प्रत्याख्यान पंचाशक में कहा है कि—'पच्चक्खाणं नियमो, चरित्तधम्मो य होंति एगट्ठा।' प्रत्याख्यान, नियम और चरित्र धर्म ये तीनों शब्द एकार्थी हैं।

चारित्र के बिना कोई आत्मा मोक्ष में न गया, न जाता है और न जायेगा। मोक्ष मन्दिर में पहुँचाने के लिए चारित्र आखिरी कदम है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नों से ही मोक्ष मार्ग मिलता है।

श्रद्धा हो, ज्ञान हो, पर चारित्र न हो, तो भव भ्रमण नहीं रुक सकता। श्रद्धायुक्त ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है, पर उसके साथ चारित्र अवश्य चाहिए। जो सिर्फ ज्ञान को लेते हैं और चारित्र को छोड़ देते हैं, वे संसार-चक्र से बाहर नहीं निकलते।

ज्ञान आँख है, चारित्र हाथ पैर! आदमी को आँख हो, पर हाथ पैर न हों तो जिन्दगी कैसे चल सकती है?

आत्मा का उद्धार करने के लिए चारित्र आवश्यक है और वह अविरति का त्याग करने से ही प्रकट होती है—

अविरति का त्याग आवश्यक क्यों?

आप रात को सोते हैं तो घर का दरवाजा खुला रखते हैं या बन्द? चन्द्रगुप्त के समय में लोग दरवाजे बन्द नहीं करते थे, क्योंकि उस समय चोरी का नाम निशान नहीं था। परन्तु आज! आज तो सोने से पहले दरवाजे में ६, ७ या ८ 'लिवर' का मजबूत ताला लगाने की आवश्यकता पड़ती है। यदि ताला न लगायें तो प्रातःकाल पूरा मकान साफ दिखलायी पड़े—न एक बक्स रहे, न कपड़ा, न पैसा और न भोजन पानी! अविरति का अर्थ है, वस्तुतः द्वार खोलकर सोना! और, उसका फल यह होता है कि, पाप रूपी चोर घर में घुसकर सद्गुणों की समस्त सम्पत्ति उठा ले जाते हैं।

यदि खेत में मजबूत बाड़ न रहे और खुला छूटा रहे तो रास्ते से जाते जानवर उगी हुई पूरी फसल ही खा जायें। और, उसका फल यह हो कि, मालिक को अपना सिर कूटना पड़े।

पाप से दुःख और पुण्य से सुख

यह सिद्धान्त सर्व महापुरुषों को मान्य है कि, पाप से दुःख और पुण्य से सुख होता है। इसमें कभी कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसलिए, जो पाप करके सुखी होना चाहता है, वह अपने गले में पत्थर बाँधकर तैरना चाहता है। अगर आदमी के मन में यह ख्याल बना रहे कि, 'मैं जो पाप करता हूँ, उसका फल मुझे अवश्य भोगना पड़ेगा', तो उसे पाप करने का मन ही न हो। यह होते हुए अगर वह लाचारी से या दुःखते दिल से पाप कर भी बैठे, तो उसे कर्मबन्ध अत्यन्त अल्प होगा।

विरति के दो प्रकार

विरति दो प्रकार की है—सर्वविरति और देशविरति। जिसमें पाप का प्रत्याख्यान पूर्णरूप से हो, वह सर्वविरति है और जिसमें आंशिक हो वह देशविरति है। सर्वविरति में पाँच महाव्रत आते हैं। देशविरति में श्रावक के बारह व्रत आते हैं।

देशविरति के एक भाग में पाप का त्याग होता है और दूसरे भाग में पाप की छूट होती है। छूट इसलिए कि, उसके बिना निर्वाह नहीं हो सकता। लेकिन, उस छूट पर अंकुश रखा जाता है, जिसे 'जयना' कहते हैं।

एक गृहस्थ देशव्रती है और उसने श्रावक का स्थूलप्राणातिपात विरमण नामक प्रथम व्रत ले रक्खा है, तो उसे किसी भी निरपराधी त्रस जीव की संकल्पपूर्वक निरपेक्ष हिंसा न करने की प्रतिज्ञा होती है। इस प्रतिज्ञा में अंशतः त्याग है और अंशतः छूट है। जहाँ छूट है, वहाँ उसे 'जयना' करनी है। इस प्रतिज्ञा का अर्थ ठीक प्रकार से समझ लेने पर सब स्पष्ट हो जायगा।

इस जगत में त्रस और स्थावर दो प्रकार के जीव हैं। गृहस्थ को त्रस जीवों की हिंसा न करने की प्रतिज्ञा रहती है और स्थावर की छूट

रहती है। अगर, गृहस्थ स्थावर की छूट न रखे, तो उसका जीवन व्यवहार न चले। फिर भी, इस छूट को वह हिचकचाहट से स्वीकार करता है और उसका उपयोग जहाँ तक हो सके कम करता है—अर्थात् वह स्थावर की 'जयना' करता है।

त्रस-जीवों की हिंसा दो प्रकार से होती है—एक संकल्प से दूसरी आरंभ से। किसी प्राणी को इरादापूर्वक मारना संकल्पी हिंसा है। और, आजीविका के निमित्त से खेती आदि करने में जो हिंसा होती है, वह आरंभी हिंसा है। गृहस्थ संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है। उस व्रती को चाहिए कि आरंभी हिंसा की जयना करे।

संकल्पी हिंसा दो प्रकार की है—सापराध की और निरपराध की। इनमें से निरपराधी हिंसा का त्याग रहता है, सापराधी की हिंसा की छूट रहती है। आक्रमणकारी से लड़ना पड़े और उसकी हिंसा करनी पड़े तो वह सापराधी को दंड देना है, परन्तु व्रतधारी उसकी जयना करें।

गृहस्थ को आजीविका के लिए गाय, बैल, घोड़ा, ऊँट आदि जानवर पालने पड़ते हैं और उन्हें बाँधना और मारना भी पड़ता है। पुत्र पुत्री आदि को भी सुशिक्षा के लिए ताड़न तर्जन करना पड़ता है। यह निरपराधी त्रस जीवों की सापेक्ष हिंसा है और गृहस्थ को उसकी छूट होती है। निर्दोष प्राणी को निर्दयतापूर्वक मारकर और किसी प्रकार से पीड़ा पहुँचाना निरपेक्ष हिंसा है और उसका इस प्रतिज्ञा द्वारा त्याग होता है।

यद्यपि साधु की अहिंसा के सामने यह अहिंसा अत्यल्प है, फिर भी बहुत उपयोगी है। इसमें हिंसा की छूट केवल अपराधी को मारने की है। इस छूट का उपयोग करने में व्रतभंग नहीं है, पर पाप तो लगता ही है। यह नहीं चाहिए कि, छूट का उपयोग करते ही रहें, बल्कि यथासंभव छूट के पाप से भी बचना चाहिए। अब यह बताया जाता है कि, इस प्रतिज्ञा से क्या लाभ होता है। निरपराधी की हिंसा के त्याग से सब निरपराधियों को अभयदान मिल जाता है। इस जगत् में आपके अपराधियों

की अपेक्षा उन प्राणियों की संख्या असंख्यात गुणी है, जिन्होंने आपका कुछ नहीं बिगाड़ा। इस व्रत के लेने से आप उनकी हिंसा से बच जाते हैं।

चौथा व्रत परस्त्री का त्याग है। इस व्रत को लेनेवाले को अपनी स्त्री के साथ समागम की छूट रहती है, शेष तमाम स्त्रियों का त्याग रहता है। यह व्रत न हो तो तमाम स्त्रियों के साथ छूट का पाप लगे, जो कि महा हानिकर हो।

व्रत लेने से मनुष्य मेरु, पर्वत के समान पाप से बच जाता है और व्रत न लेने से मेरु पर्वत के बराबर पाप में फँस जाता है। चाहे आपने एक ही व्रत लिया हो, पर उससे पाप के त्याग की शुरुआत हो जाती है।

जिसे एकबार देशविरति आ गयी, उसे सर्वविरति आने में देर नहीं लगती और आत्मा सर्वविरति में आया कि, मोक्षमार्ग पर तेजी से बढ़ने लगता है।

मूल बात है, पाप की वृत्ति छोड़ना! पाप की वृत्ति छूटे तो पाप छूटे और पाप छूटे तो कर्म छूटे!! जिसके कर्म छूट जाते हैं, वह अनन्त सुख का उपभोक्ता हो जाता है।

पापवृत्ति पर भिखारी का दृष्टान्त

ढाई हजार वर्ष पूर्व मगध देश में राजगृही-नामक नगरी थी। उसके पास वैभारगिरि नामक पहाड़ था।*

उस नगरी में एक भिखारी ने सारे दिन धक्के खाये, मगर उसे कुछ खाने नहीं मिला। इससे उसका क्रोध भड़क उठा और नगरी को नष्ट कर डालने की सोचने लगा। अपने इरादे को पूरा करने के लिए, वह वैभार-गिरि पर चढ़ा। वहाँ एक बड़ी शिला टिकी हुई थी। अगर वह गिरायी

* आज भी राजगृही-नगरी के खण्डहर मौजूद हैं और उनके पास वैभारगिरि खड़ा हुआ है।

जा सकती, तो हजारों आदमी मारे जा सकते थे। भिखारी कहीं से एक रस्सा ले आया और फंदा डाल कर शिला को खींचने लगा। उसने बड़ा जोर लगाया, पर शिला टस से-मस न हुई। क्रोध के आवेश में उसने जो और ज्यादा जोर लगाया तो उसका पैर फिसल गया, खोपड़ी फट गयी, मर गया और सातवें नरक में पैदा हुआ।

उस भिखारी ने वास्तव में किसी को मारा नहीं था, लेकिन उसकी भावना—वृत्ति—सबको मार डालने की थी। इसलिए, उसने घोर कर्म-बन्धन बाँधे और सातवें नरक-जैसी निकृष्ट गति को प्राप्त हुआ। इसीलिए पापवृत्ति छोड़ने का उपदेश है!

अठारह पाप-स्थानक

पापवृत्ति में से पाप-क्रिया पैदा होती है और वह असंख्य प्रकार की होती है। लेकिन, व्यवहार की सरलता के लिए शास्त्रकारों ने उसके अठारह प्रकार किये हैं—यानी अठारह पापस्थानकों में उनका समावेश हो जाता है वह इस प्रकार —

(१) प्राणातिपात (हिंसा)
(२) मृषावाद (झूठ बोलना)
(३) अदत्तादान (चोरी)
(४) मैथुन (अब्रह्म)
(५) परिग्रह (ममत्वबुद्धि से वस्तुओं का संग्रह करना)
(६) क्रोध
(७) मान (अहंकार, अभिमान)
(८) माया (छल, कपट, दम, पाखंड, धोखा, फरेब)
(९) लोभ (तृष्णा)
(१०) राग (प्रीति)
(११) द्वेष (अप्रीति)

(१२) कलह
(१३) अभ्याख्यान (आल चढ़ाना)
(१४) पैशुन्य (चुगली खाना)
(१५) रति अरति (हर्ष-शोक)
(१६) परपरिवाद (परनिन्दा, दूसरे का अवर्णवाद करना)
(१७) मायामृषावाद (प्रपच करना)
(१८) मिथ्यात्वशल्य (विपरीत विश्वास, विपरीत श्रद्धा)

अपेक्षाविशेष से कार्यकारण का विचार करें, तो इन अठारह पाप स्थानकों का समावेश प्रथम पाँच पाप स्थानकों में हो जाता है—पाप का मुख्य प्रवाह हिंसा झूठ चोरी-कुशील परिग्रह में से ही बहता है।

विरति का अर्थ पाप का त्याग है। हेय वस्तु को अपनी इच्छा से छोड़ देना त्याग है। विवश होकर छोड़ने को त्याग नहीं कहते। सुबधु की कथा इसे स्पष्ट कर देगी।

सुबधु की कथा

भारत के इतिहास की यह एक सत्य घटना है। सम्राट् चन्द्रगुप्त के बाद उसकी गद्दी पर बिन्दुसार आया। नन्द राजा का सबधी सुबधु उसका प्रधानमत्री हुआ। सुबंधु चाणक्य से द्वेष करता था। उसने अनेक युक्तियों द्वारा बिन्दुसार का मन चाणक्य से फिरा दिया। चाणक्य सारी परिस्थिति समझ गया। उसने अपनी मिल्कियत की व्यवस्था करके अनशन शुरू कर दिया। परन्तु, इस प्रकार जीवन का अन्त करने से पहले उसने एक डिब्बी तैयार की और उसे अपनी पिटारी में रख ली।

चाणक्य के मर जाने के बाद, सुबधुने उसका घर राजा से माँग लिया। राजा ने माँग मजूर करली और सुबधु चाणक्य के घर में रहने लगा। वहाँ उसने हर चीज की छानबीन शुरू कर दी। उसने उस पिटारे को भी खोला। उसके अन्दर एक के बाद एक सन्दूकची

निकलती चली गयी। अन्त में वह डिब्बी निकली। उसे खोला तो उसमें से बड़ी खुशबू आयी। उसने उसे भली भाँति सूँघा। उस डिब्बी में एक पत्र रखा हुआ था। सुबधु ने उसे पढ़ा। उसमें लिखा था—'जो आदमी इस डिब्बी को सूँघे उसे चाहिए कि उसी वक्त से जीवन-पर्यन्त स्त्री, पलग, आभूषण और स्वादिष्ट भोजन का त्याग कर दे और कठोर जीवन गुजारे, अन्यथा उसका नाश हो जायेगा।'

सुबधु ने इसकी खातरी करने के लिए एक दूसरे आदमी को वह डिब्बी सुँघायी और फिर उसे स्वादिष्ट भोजन कराके, सुन्दर वस्त्राभूषण पहना कर पलग पर सुलाया, तो वह तुरन्त मर गया। अब सुबधु को चाणक्य के खत की सचाई का विश्वास हो गया। जिन्दा रहने के लिए उसने उसी समय से स्त्री, पलग, वस्त्राभूषण और स्वादिष्ट भोजन का त्याग कर दिया। सोचने लगा कि, चाणक्य ने खूब बदला लिया।

इस प्रकार अनिच्छा से किया हुआ त्याग वास्तविक त्याग नहीं है। जो त्याग स्वेच्छा से एव समझदारी से किया जाये, वही सच्चा त्याग है।

कषाय

क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार कषायें हैं। 'कष' का अर्थ है—ससार। आय का अर्थ है लाभ।। जिससे ससार-लाभ, संसरण, भव भ्रमण, प्राप्त हो सो कषाय। कषाय का दूसरा अर्थ है—'जो जीव को कलुषित करे।'[1] कषाय आपके आत्मा को मलीन कर देती है।

---

१ श्री प्रज्ञापना सूत्र के तेरहवें पद में कहा है कि —

सुहदुहबहुसहियं, कम्मखेत्त कसंति जं च जम्हा।
कलुसंति जं च जीवं, तेण कसाइत्ति वुच्चंति॥

—'बहुत सुख-दुःख सहित कर्म-खेत को जोतती है और जीव को कलुषित करती है, इसलिए कषाय कहलाती है।'

आप स्वच्छ, सुन्दर तथा कीमती कपड़े पहनकर किसी उत्सव में शामिल होने जा रहे हों और कोई उन पर कीचड़ या जूठन डाल दे तो आप कितना गुस्सा करते हैं! पच्चीस पचास या सौ-दो सौ के कपड़ों के लिए आप इतनी फिक्र करते हैं, तो आत्मा के लिए आपको कितनी फिक्र रखनी चाहिए, इसका अनुमान आप सहज कर सकते हैं।

आपको आत्मा की सच्ची फिक्र हो, सच्चा आत्मप्रेम हो तो आप क्रोध का काला मुँह कर दें। उसे क्षमा द्वारा नष्ट कर दें। मान को मृदुता से विगलित कर दें, माया को सरलता से सीधो कर दें और लोभ को सन्तोष जल से धो डालें।

जहाँ लड़ना चाहिए, वहाँ आप लड़ते नहीं हैं और जहाँ लड़ना नहीं चाहिये, वहाँ आप लड़ते हैं! कषायों के साथ भिड़कर उन्हें नष्ट कर देने में ही सच्ची बहादुरी है।

जैन-धर्म क्षत्रियों का धर्म है। वह आपको लड़ने का आदेश देता है। यह लड़ाई धन, दौलत या जमीन का टुकड़ा ले जाने वाले के साथ या गाली गलौज करनेवाले के साथ नहीं लड़नी, क्योंकि वे तो दया के पात्र हैं। लड़ाई तो आंतर शत्रुओं के साथ लड़नी है। और, वह लड़ाई जमकर लड़नी है। उन अन्दरूनी दुश्मनों का हमला चाहे जितना भयंकर हो, फिर भी आपको पीछे हटना नहीं है। छाती पर प्रहार झेलने हैं और विजय प्राप्त करनी है। जो उन दुश्मनों के साथ लड़कर विजय प्राप्त करने की भावना नहीं रखता, वह सच्चा जैन नहीं है।

और शांति? शांति तो घमासान युद्ध के बाद ही आती है। कषाय रूपी शत्रुओं को जीत लेंगे तो फिर आपको सतानेवाला कोई नहीं रहेगा। तब शांति ही-शांति रहेगी। बढ़िया मकान में रहने से, अप टु डेट फर्नीचर इस्तेमाल करने से, सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करने

से और प्रचुर धन प्राप्त करने से शांति नहीं मिलती। अगर इन वस्तुओं में शांति देने की शक्ति होती, तो धनिक लोग अशांति का शोर क्यों मचाते ? आज धनिक सबसे ज्यादा अशांत हैं। उन्हें उत्तम शयनागारों में, मखमल के गद्दों पर और रेशम की रजाइयों में भी नींद नहीं आती। ब्लडप्रेशर, डायबेटीज, दिल की बीमारी उन्हें सब से ज्यादा सता रही है। जो है उसे सुरक्षित रखने और अधिक कमाने की उन्हें चिन्ता लगी रहती है।

कुछ दिन हुए, एक अमेरिकन श्रीमन्त इस देश में आया था। वह कहता था कि, हमारे यहाँ धन की कमी नहीं है, आमदनी बहुत अच्छी है, हर तीन आदमी पीछे मोटर है, पर हमारे चित्त को शांति का अनुभव नहीं होता। हम खोज रहे हैं कि, शांति कैसे मिलती है।

हमारे महापुरुषों ने कहा है कि, शांति की खोज के लिए बाहर जाने की जरूरत नहीं है। वह आपकी आत्मा में छिपी हुई है और वहीं से उसे प्राप्त कर लेनी है। अगर आप अपनी कषायें दूर कर देंगे तो आपको तुरन्त शांति का अनुभव होने लगेगा।

कषायों को नष्ट करने का काम कठिन है, पर असंभव नहीं है। प्रयत्न से कठिन काम भी सरल हो जाता है।

कषायों को दूर करने के एक दो गुर आपको बता दें। त्रिदोष के जोर पकड़ने से सन्निपात हो जाता है और वह चाहे जैसा तूफान खड़ा करने लगता है। पर, हम उस सन्निपातवाले को मारते नहीं, उसकी दवा करते हैं। उसी प्रकार जो गाली-गलौज, मारपीट, छल-कपट आदि करते हैं, उन्हें कर्मों का सन्निपात हुआ समझिए। इसलिए, उन्हें मारने के बजाये, उनकी दवा करनी चाहिए। यह दवा नम्र और मधुर शब्द है। अगर आप जरा भी गुस्से में आये बगैर, सहज हँसते चेहरे से उन्हें शांत करें तो इसका

चमत्कारिक असर होगा और वे जरूर शात हो जायेंगे। इससे आप और वह, दोनों, कर्मबंधन से बच जायेंगे। इसके बजाय यदि आप क्रोध का मुकाबला क्रोध से करें और मान के सामने ज्यादा अकड़ बतायें तो आपको भी कर्मों का सन्निपात मानना होगा!

दूसरा गुर यह है कि, ससार के सब प्राणी कर्म के अधीन हैं। उनसे अपराध हो ही जायेगा। जैसे अपने अपराध को मैं निभा लेता हूँ, वैसे ही दूसरे के अपराध को भी निभा लेना चाहिए, कारण कि वे मेरे भाई हैं। विश्व के तमाम प्राणियों को अपना भाई मानना चाहिए। यही विश्व बन्धुत्व की भावना है और मैत्री-भावना की साधना के लिए वह बहुत उपयोगी है। अपने भाइयों को दुश्मन मानकर उनका मुकाबला करना ठीक नहीं है। सच्चे दुश्मन तो कर्म हैं, सामना तो उनका करना चाहिए।

एक तीसरा गुर भी है। यह मानना चाहिए कि, कोई किसी का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। अगर हमारा कुछ बिगड़ रहा है तो उसके कारण हम स्वय हैं। बाकी सब तो उसके केवल निमित्तमात्र हैं। इसलिए, उन पर किसी प्रकार का रोष क्यों किया जाये? अगर वे बुरा कर रहे हैं तो वे उसका बुरा फल भोगेंगे, लेकिन मुझे उनको दंड देकर विशेष कर्म बन्धन नहीं करना चाहिए।

ऐसे ऐसे शुद्ध विचारों से काम लें तो चाहे-जैसी भयकर कषायें भी आसानी से जीती जा सकती हैं।

कषाय अणुबम्ब से भी अधिक हानिकर है!

जं अज्जिअ चरित्त, देसूणाए अ पुव्वकोडीए।
त पि कषाइयचित्तो, हारेई नरो मुहुत्तेणं॥

—कुछ कम करोड़ पूर्व तक चारित्र-पालन करके जो कमाई की हो, उसे कषाय के उदय से आदमी दो घड़ी में हार जाता है।

कषाययुक्त अध्यवसायों के कारण स्थिति और रस का बंध होता है और योग के कारण प्रदेश और प्रकृति बन्ध होता है। कषाय निकल जाये तो स्थिति और रस का बन्ध निकल जाये। यद्यपि शुद्ध अध्यवसाय से शुद्ध रस पड़ता है, परन्तु स्थिति तो कषाय बिना पड़ती ही नहीं। कषायों का असर विचारों पर पड़ता है और उसके कारण आत्मा धमा-चौकड़ी करती है। कषाय का असर जितना कम हो, आत्मा की मलिनता उतनी ही कम होती है।

योग को रोक सकें तो कर्म का बंध हो ही नहीं, लेकिन यह शक्य नहीं है। कषाय को बन्द किये बिना योगनिरोध नहीं हो सकता।

सातावेदनीय का बन्ध सुन्दर है, कारण कि वह खूब आनन्द देता है। उसका बन्ध तो केवलज्ञानी भी समय-समय पर करते हैं और उसका फल भोगते हैं। योग भले ही चालू रहे, लेकिन अगर आपकी कषायें कम हो जायें, तो अशुभ प्रवृत्ति कम हो जाये और शुभ प्रवृत्ति में वृद्धि हो जाये। यह याद रहे कि, प्रवृत्ति चाहे जैसी शुभ हो, पर कषाय के कारण अशुभ का बन्ध पड़ता है। इसलिए कषायों को जितना कम करेंगे, अशुभ-बन्ध उतना ही कम होगा।

कषायें जितनी कम कर दी जाती हैं, चरित्र उतना ही निर्मल हो जाता है। जब कषायें बिलकुल नष्ट हो जाती हैं, तो आत्मा वीतराग भगवान् बन जाता है।

योग

योग से तात्पर्य है—कम्पन। यह आत्मा की एक प्रकार की प्रवृत्ति है जो सदा चलती रहती है। जब तक योग है तब तक कर्मबंध है। जब योग बन्द हों तो कर्मबन्ध बन्द हो। जब कर्मबंध बन्द हो जायगा, तब दुःख की अनुभूति भी समाप्त हो जायगी।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि, तेरहवें गुणस्थान में योग रहते है मगर फिर भी शांति रहती है, कारण कि अशांति का मूल कषाय है और कषाय का वहाँ अभाव है। तेरहवें गुणस्थान का नाम 'सयोग केवली' है। वहाँ वीतरागता होती है, केवलज्ञान होता है, पर योग की प्रवृत्ति चलती रहती है। वह तो चौदहवें गुणस्थान—'अयोग केवली'—मे ही बन्द होती है और फिर कभी पुनर्जीवित नहीं होती। चौदहवाँ गुणस्थान आत्मविकास की चरम सीमा है और उसे प्राप्त हुए जीव अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण सिद्धशिला पर पहुँच जाते हैं और फिर सदाकाल वहीं विराजे रहते हैं।

विशेष अवसर पर कहा जायगा।

— ० —

अट्ठाईसवाँ व्याख्यान

कर्मबन्ध और उसके कारणों पर विचार

[३]

महानुभावो !

कर्मबन्ध और उसके कारणों की सामान्य विचारणा चल रही है। कर्मबन्ध के सम्बन्ध में कितनी ही बातों पर विचार किया जा चुका है। आज की बात पहले से सर्वथा भिन्न है। अत आज उसके सम्बन्ध में विशेष बातें कहनी है। शिक्षण का यह क्रम है कि, पहले सामान्य बात कही जाये और फिर विशेष। मैंने भी इसी क्रम का अनुसरण किया है।

बात कुछ लम्बी हो गयी, पर बात का लम्बा होना आवश्यक था। यदि ऐसा न होता तो कर्मबन्ध सम्बन्धी बात आपकी समझ में इतनी दृढ़ता से न आ पाती। जब कर्म के विषय में जानकरी प्राप्त करने चले तो उसका मुख्य उद्देश्य कर्म के स्वरूप को समझना, उसके बन्ध के स्वरूप समझना और उनका कारण जान कर कर्मबंध से दूर रहना है। 'कर्म को हल्का बाँधना,' यह बात तो अनेक बार कही जा चुकी है। पर, किस क्रिया से किस प्रकार का कर्मबन्ध होता है, इसे जाने बिना कर्मबन्ध सम्बन्धी जानकारी अधूरी ही रह जायेगी। यदि किसी चीज को व्यक्ति पूरा-पूरा जानता हो तभी वह उसमें से हेय वस्तु का त्याग अथवा उपादेय का ग्रहण कर सकता है।

एक विख्यात् सूत्र है—'पढमं ज्ञानं तओ दया', इसमें भी ज्ञान का अंश पहले आता है।

कर्मबन्ध के सामान्य कारण चार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। सामान्य रूप में उनका जिक्र हो चुका है। अब उन पर विशेष विवरण करेंगे।

ऐसे तो आठों कर्म आत्मा के शत्रु हैं, पर इन चार कर्मों की शत्रुता घोरतर है। वे आत्मा के स्वभाव पर सीधे आक्रमण करते हैं और उनके कारण आत्मा में अज्ञान, मोह (राग द्वेष कषाय) वीर्य की कमी आदि अनेक दोष दृष्टिगोचर होते हैं। इन कर्मों के जैसे नाम हैं, ठीक उसी के अनुरूप उनके गुण हैं। इन कर्मों को 'घाती' कर्म कहते हैं—घाती का अर्थ हुआ 'घातकी' अथवा घात करनेवाले।

एक बार एक मिल-मालिक ने जहर डालकर लड्डू खिलाकर कितने ही कुत्तों को मार डाला। इस सम्बन्ध में एक पत्र ने टीका की कि, यह करपीण कृत्य है। करपीण अर्थात् घातकी। मिल-मालिक को यह बात बड़ी बुरी लगी और उसने उसके विरुद्ध अदालत में दावा कर दिया। अदालत ने फैसला किया कि, जहर मिला लड्डू खिलाकर कुत्तों को मारना करपीण-कार्य नहीं है, क्योंकि, इससे कुत्ता जल्दी मर जाता है। यदि कुत्ते को रिघा-रिघा कर मारा जाता तो करपीण-कार्य होता। पत्रकार द्वारा प्रयुक्त 'करपीण' शब्द अपमानकर है। और, इस कारण उसे अमुक दण्ड दिया जा रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि, सैकड़ों कुत्तों का वध करने वाला भी अपने को घातकी कहे जाने के लिए तैयार नहीं है।

चार कर्मों को हम घातकी कहते हैं, पर इसके लिए किसी अदालत में कोई मुकदमा जायेगा, ऐसी आशका न करनी चाहिए। यदि वह कहीं धर्मराज के न्यायालय में दावा करे तो हम कह सकते हैं कि, ये कर्म निश्चय ही घातकी हैं। इसका कारण यह है कि, ये कर्म मनुष्य के गुणों का घात करते हैं और किसी समय आत्मा को नहीं छोड़ते।

यदि क्षणमात्र के लिए आत्मा इनके पंजे से मुक्त हो जाये, तो फिर वह उसके चंगुल में नहीं आने वाला है। औरंगजेब द्वारा बिछायी जाल में

से छत्रपति शिवाजी छूट गये तो क्या फिर उसके चगुल में आये ? इतनी दूर न जाना हो तो सुभाष बाबू को देखिए ! वह अंग्रेजों के हाथ से जो छूटे तो फिर उनके हाथों में नहीं आये।

वे चार घातिया कर्म हैं ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, और ये क्रमशः आत्मा के ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति गुण का घात करते हैं।

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के कारण

जो आत्मा गुरु, सूत्र और अर्थ या दोनों के निह्नवपने में पड़ता है, तो वह ज्ञानावरणीय और दर्शनावर्णीय कर्म को विशेष परिमाण में बाँधता है। जो ज्ञानी या गुरु से ईर्ष्या करे, उनकी निन्दा करे, अपमान करे या विरोधी वर्तन रखे तो वह भी ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का विशेष बन्ध करता है।

किसी के ज्ञान उपार्जन करने में, स्वाध्याय करने में, अन्तराय डाला जाये, तो भी ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का विशेष बन्ध होता है। आजकल तो यह हालत है कि, पास में पाठशाला चलती हो या कोई सामायिक लेकर बैठा हो, तो भी उसके पास जोर-जोर से बातें करने या कहकहाबाजी करने में लोगों को जरा भी लज्जा नहीं लगती। यह बहुत ही बुरा संस्कार है और कर्मबन्धनकारी है।

पुस्तक, तख्ती, बस्ता आदि ज्ञान के साधनों को पटकना, ठोकर मारना, लापरवाही से जहाँ तहाँ पड़े रहने देना, थूक लगाना या कोई भी अशुचिमय पदार्थ लगाना ये सब क्रियाएँ ज्ञान के साधनों की आशातना है। इनका आपको वर्जन करना चाहिए, अन्यथा आप ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मों को बाँधेंगे और परभव में मूढता, जड़ता, मूकत्व आदि द्वारा दण्डित होंगे। इसी प्रकार ज्ञान तथा ज्ञानी का उपघात, द्वेष करने से और ज्ञानार्जन करनेवाले को अन्तराय करने से ज्ञानावरणीय और

दर्शनावरणीय कर्मों का बन्ध होता है और उसका फल आत्मा को कठोर रीति से भोगना पड़ता है।

मोहनीय कर्मबन्ध के विशेष कारण

कर्मग्रन्थ में ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मों के विशेष कारणों की एक गाथा है, तो दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के विशेष कारणों की दो गाथाएँ हैं, कारण कि, ये कर्म सबसे अधिक भयकर हैं और राग द्वेष, लड़ायी झगड़ा, विरोध दुश्मनी आदि नरक गति में ले जानेवाले तत्त्वों के जनक हैं।

दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीय की अपेक्षा भयंकर है, कारण कि, उससे मिथ्यात्व आता है और सम्यक्त्व का रोध होता है। जब तक मिथ्यात्व रहता है, तब तक आत्मा भव भ्रमण करता और दु ख भोगता रहता है। सम्यक्त्व के आने पर उसका भव भ्रमण मर्यादित हो जाता है और वह अर्ध-पुद्गल परावर्तन में जरूर मुक्त हो जाता है।

जो उन्मार्ग की देशना दे, वह दर्शनमोहनीय कर्म का विशेष बन्ध करता है। आप पूछेंगे उन्मार्ग क्या ? मार्ग जान जाने से उन्मार्ग अपने आप समझ में आ जाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र सन्मार्ग है तथा मोक्ष मार्ग है। उसके विरुद्ध जो मार्ग है, वह बुरा मार्ग है—उन्मार्ग है। इसे जरा और स्पष्टतया समझ लें।

जिससे मिथ्यात्व का पोषण होता हो, वह 'उन्मार्ग' कहलाता है। उसी प्रकार जिस शिक्षण में पुण्य-पाप का, कर्म का, आत्मभाव का, परमात्मा के ज्ञान का विचार नहीं दिया जाता, वह शिक्षण मिथ्याज्ञान है और उसका फल रागद्वेष, मारकाट, अहकारादि दुर्गुणों की वृद्धि है। ऐसे मिथ्या शिक्षण का पोषण करने से दर्शनमोहनीय कर्म का बन्ध होता है और ससार बढ़ता है।

अगर कोई यह कहे कि, मिथ्याज्ञान के बिना दुनिया का व्यवहार नहीं चलता, तो इससे वह धर्म नहीं हो जाता। आदमी को पत्नी के बिना नहीं चलता, इसलिए वह विवाह करता है, पैसे के बिना नहीं चलता, इसलिए वह कमाता है। लेकिन, ऐसा होने पर भी कोई सुज्ञ इन्हें धर्म की संज्ञा नहीं देता।

व्यवहार का पोषण संसार का कारण है। पर, कोई आदमी दुःखी है और आप दयाभाव से उसे धंधे में लगाते हैं, दयाभाव से उसकी सहायता करते हैं, तो यह संसार बढ़ाने का कारण नहीं होता, क्योंकि उसमें आपकी दृष्टि में अनुकम्पा है। अनुकम्पा करनी चाहिए, यह भगवान् की आज्ञा है और उसमें शासन की प्रभावना भी है, इसलिए वह आत्मोन्नति का कारण है। व्यापार में जोड़ने से व्यवहार की वृद्धि होती है, यहाँ ऐसा नहीं है, बल्कि तथ्य तो यह है कि, उससे व्यक्ति धर्माभिमुख होता है और वह तो उसके बड़े लाभ की बात है। उस आदमी ने धंधा किया या नहीं यह मदद करनेवाले को देखना चाहिए। दोयम, इसमें मुख्य रूप से वर्तमानकाल को लक्ष्य में रखना है। आप जो सहायता करें, वह पाप-प्रवृत्ति का या हिंसा का कारण न हो, तो वह धर्म का कारण बनेगा। (आप किसी स्त्री को वेश्या बनने के लिए या किसी आदमी को कसाई का धंधा करने के लिए सहायता नहीं दे सकते।) इसमें भविष्य पर दृष्टि नहीं रखना है। इस समय वह अच्छे काम के लिए पैसा लेता है, लेकिन भविष्य में वह पाप कर्म करने लगे, उसके लिए आप जिम्मेवार नहीं हैं, कारण कि, आपने जब धन दिया, तो अच्छी भावना से अच्छे काम के लिए दिया था। अगर भविष्य का विचार करें, तो कोई किसी की सहायता ही न करे—तब तो आदमी यह भी सोचने लगेगा – 'जलते बाड़े में से गाय बचायी गयी तो वह कच्चा पानी पीयेगी और घास खायेगी—उसका दोष हमें लगेगा !' ऐसी मान्यता तक पहुँचने पर तो दयाधर्म का ही लोप हो जायेगा।

सन्मार्ग का नाश करने से दर्शनमोहनीय कर्म बँधता है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का नाश करने की देशना भी सन्मार्ग का नाश करना कहलायेगा। वैसा करनेवाला दर्शनमोहनीय कर्म बाँधेगा। इसलिए, किसी भी धर्म-विरुद्ध प्रवृत्ति में भाग न लेने का निश्चय करना चाहिए।

देव द्रव्य का अपहरण करनेवाला भी, दर्शनमोहनीय कर्म बाँधता है। देव से मेरा तात्पर्य अरिहंतदेव, वीतराग परमात्मा से है। उनकी भक्ति के निमित्त से जो कुछ द्रव्य अर्पण किया जाता है, वह देव द्रव्य है। देव-द्रव्य लिया नहीं जा सकता, उसे लेना चोरी है। और, इसलिए देव द्रव्य लेना इस जीवन में और भावी जन्मों में दुर्दशा का कारण है। सागर सेठ की कथा सुनिए, यह बात अच्छी तरह समझ में आ जायेगी।

सागर सेठ की कथा

साकेतपुर नाम का गाँव था। उसमें सागर नामक एक श्रावक था। वह अरिहंत परमात्मा की बड़ी भक्ति करता था। उसे सुश्रावक समझ कर नगर के दूसरे श्रावकों ने कुछ देव-द्रव्य सौंपा और कहा—"मंदिर का काम करनेवाले बढ़ई आदि को यह द्रव्य देते रहियेगा।"

हाथ में द्रव्य आया कि, सागर सेठ को लोभ हुआ। उसने उस द्रव्य से धान्य, गुड़, घी, तेल, कपड़ा आदि बहुत सी चीजें खरीदीं और बढ़ई आदि को नकद पैसे देने के बजाय उन चीजों को महँगे भाव से दिया। उससे जो लाभ हुआ उसे अपने पास रखा। इस तरह उसे एक हजार काकणी का लाभ हुआ। (काकणी = एक पुराना सिक्का)। उस कृत्य से उसने जो घोर कर्म बाँधा, उसकी आलोचना किये बिना ही वह मरण को प्राप्त हुआ। मरकर समुद्र में जलमनुष्य हुआ। वहाँ समुद्र से रत्न निकालनेवालों ने उसे पकड़ लिया और उसकी अण्डगोलिका प्राप्त करने के लिए उसे लोहे की चक्की में पीसा। (वह गोलिका पास हो तो जलचर

उपद्रव नहीं करते, इसलिए रत्न निकालनेवाले उसे पाने का प्रयास किया करते हैं।)

वह महाव्यथा से मरकर तीसरे नरक गया और नरक का आयुष्य भोगने के बाद, पाँच सौ धनुष लम्बा मत्स्य हुआ। उस समय कुछ मच्छीमारों ने उसके अंग छेद कर उसकी महाकदर्थना की। वहाँ से वह चौथे नरक गया। इस तरह बीच में एक दो भव धारण कर वह सातवें नरक में दो दो बार उत्पन्न हुआ। उसके बाद श्वान, मुर्ग, गधा आदि के तथा एकेन्द्रिय आदि के हजारों भव धारण करके घोर दुःख भोगता रहा। जब उसका पाप बहुत कुछ क्षीण हो गया, तब वसन्तपुर नगर में वसुदत्त सेठ की पत्नी वसुमति की कोख मे उत्पन्न हुआ। वसुदत्त सेठ करोड़पति था, लेकिन उस पुत्र के गर्भ में आने पर उसका सब धन नष्ट हो गया और जब बच्चे का जन्म हुआ तो वह स्वय मरण को प्राप्त हुआ। बच्चा पाँच वर्ष का हुआ कि माँ मर गयी। इसलिए, लोगों ने उसका नाम निष्पुण्यक रखा। वह बड़े दुःख से बड़ा हुआ।

एक दिन उसका मामा उसे स्नेहपूर्वक अपने घर ले गया, तो उसी रात को उसके यहाँ चोरी हो गयी। इस तरह जहाँ जहाँ वह गया, वहाँ वहाँ कोई न-कोई उपद्रव हुआ। अन्त में वह समुद्र के किनारे आया और वहाँ धनावह सेठ की नौकरी स्वीकार करके, उसके साथ जहाज में यात्रा करने लगा। वह जहाज जब सही सलामत एक द्वीप पर पहुँच गया, तो निष्पुण्यक को लगा कि, "लगता है कि, मेरा दुर्दैव इस बार अपना काम करना भूल गया।" लेकिन, वापसी में वह जहाज टूट गया। उसका एक तख्ता निष्पुण्यक के हाथ में आ गया। उसके सहारे तैरकर वह समुद्र के किनारे आ लगा। वहाँ नौकरी की, तो उसके ठाकुर की दुर्दशा हुई। इसलिए, उसने निकाल बाहर कर दिया। वहाँ से भटकते भटकते जगल में सेल्क-यक्ष के मदिर में पहुँचा और उससे अपना सब दुःख कह कर एकाग्र चित्त से उसकी आराधना करने लगा।

सन्मार्ग का नाश करने से दर्शनमोहनीय कर्म बँधता है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का नाश करने की देशना भी सन्मार्ग का नाश करना कहलायेगा। वैसा करनेवाला दर्शनमोहनीय कर्म बाँधेगा। इसलिए, किसी भी धर्म-विरुद्ध प्रवृत्ति में भाग न लेने का निश्चय करना चाहिए।

देव द्रव्य का अपहरण करनेवाला भी, दर्शनमोहनीय कर्म बाँधता है। देव से मेरा तात्पर्य अरिहतदेव, वीतराग परमात्मा से है। उनकी भक्ति के निमित्त से जो कुछ द्रव्य अर्पण किया जाता है, वह देव द्रव्य है। देव-द्रव्य लिया नहीं जा सकता, उसे लेना चोरी है। और, इसलिए देव द्रव्य लेना इस जीवन में और भावी जन्मों में दुर्दशा का कारण है। सागर सेठ की कथा सुनिए, यह बात अच्छी तरह समझ में आ जायेगी।

सागर सेठ की कथा

साकेतपुर नाम का गाँव था। उसमें सागर नामक एक श्रावक था। वह अरिहत-परमात्मा की बड़ी भक्ति करता था। उसे सुश्रावक समझ कर नगर के दूसरे श्रावकों ने कुछ देव-द्रव्य सौंपा और कहा—"मंदिर का काम करनेवाले बढ़ई आदि को यह द्रव्य देते रहियेगा।"

हाथ में द्रव्य आया कि, सागर सेठ को लोभ हुआ। उसने उस द्रव्य से धान्य, गुड़, घी, तेल, कपड़ा आदि बहुत सी चीजें खरीदीं और बढ़ई आदि को नकद पैसे देने के बजाय उन चीजों को महँगे भाव से दिया। उससे जो लाभ हुआ उसे अपने पास रखा। इस तरह उसे एक हजार काकणी का लाभ हुआ। (काकणी = एक पुराना सिक्का)। उस कृत्य से उसने जो घोर कर्म बाँधा, उसकी आलोचना किये बिना ही वह मरण को प्राप्त हुआ। मरकर समुद्र में जलमनुष्य हुआ। वहाँ समुद्र से रत्न निकालनेवालों ने उसे पकड़ लिया और उसकी अण्डगोलिका प्राप्त करने के लिए उसे लोहे की चक्की में पीसा। (वह गोलिका पास हो तो जलचर

उपद्रव नहीं करते, इसलिए रत्न निकालनेवाले उसे पाने का प्रयास किया करते हैं।)

वह महाव्यथा से मरकर तीसरे नरक गया और नरक का आयुष्य भोगने के बाद, पाँच सौ धनुष लम्बा मत्स्य हुआ। उस समय कुछ मच्छीमारों ने उसके अंग छेद कर उसकी महाकदर्थना की। वहाँ से वह चौथे नरक गया। इस तरह बीच में एक दो भव धारण कर वह सातवें नरक में दो दो बार उत्पन्न हुआ। उसके बाद श्वान, भुड, गधा आदि के तथा एकेन्द्रिय आदि के हजारों भव धारण करके घोर दुःख भोगता रहा। जब उसका पाप बहुत कुछ क्षीण हो गया, तब वसन्तपुर नगर में वसुदत्त सेठ की पत्नी वसुमति की कोख से उत्पन्न हुआ। वसुदत्त सेठ करोड़पति था, लेकिन उस पुत्र के गर्भ में आने पर उसका सब धन नष्ट हो गया और जब बच्चे का जन्म हुआ तो वह स्वयं मरण को प्राप्त हुआ। बच्चा पाँच वर्ष का हुआ कि माँ मर गयी। इसलिए, लोगों ने उसका नाम निष्पुण्यक रखा। वह बड़े दुःख से बड़ा हुआ।

एक दिन उसका मामा उसे स्नेहपूर्वक अपने घर ले गया, तो उसी रात को उसके यहाँ चोरी हो गयी। इस तरह जहाँ जहाँ वह गया, वहाँ वहाँ कोई न कोई उपद्रव हुआ। अन्त में वह समुद्र के किनारे आया और वहाँ धनावह सेठ की नौकरी स्वीकार करके, उसके साथ जहाज में यात्रा करने लगा। वह जहाज जब सही सलामत एक द्वीप पर पहुँच गया, तो निष्पुण्यक को लगा कि, "लगता है कि, मेरा दुर्दैव इस बार अपना काम करना भूल गया।" लेकिन, वापसी में वह जहाज टूट गया। उसका एक तख्ता निष्पुण्यक के हाथ में आ गया। उसके सहारे तैरकर वह समुद्र के किनारे आ लगा। वहाँ नौकरी की, तो उसके ठाकुर की दुर्दशा हुई। इसलिए, उसने निकाल बाहर कर दिया। वहाँ से भटकते भटकते जंगल में सेलक यक्ष के मंदिर में पहुँचा और उससे अपना सब दुःख कह कर एकाग्र चित्त से उसकी आराधना करने लगा।

इक्कीसवें उपवास पर यक्ष प्रसन्न हुआ। उसने कहा—"हे भद्र! यहाँ एक मोर आकर रोज नृत्य करेगा। उसकी सुवर्णमय चन्द्रकला में एक हजार पख होंगे। उन्हें तू ले लेना।" दूसरे दिन से मोर आने लगा और निष्पुण्यक उसके गिरे हुए पख लेने लगा। इस तरह जब नौ सौ पख इकट्ठे हो गये, तब उसने सोचा—"इस तरह तो न जाने कितना समय और लगेगा। अबकी बार तो मुट्ठी भर कर पख उखाड़ लेने चाहिए।" बुद्धि कर्मानुसार बतायी गयी है, सो गलत नहीं है! कर्म वशात् जैसा फल मिलनेवाला होता है, वैसी ही बुद्धि हो जाती है।

मोर नाचने आया और उसके पख उखाड़ने के लिए निष्पुण्यक ने मुट्ठी भरी ही थी कि, मोर गायब हो गया और उसके इकट्ठे किये हुए नौ सौ पख भी अदृश्य हो गये। वह बहुत पछताने लगा। पर, अब क्या हो सकता था? उसी गरीबी की हालत में वह इधर-उधर भटकने लगा।

इतने में एक ज्ञानी मुनिराज दिखायी दिये। निष्पुण्यक उनके पास गया और विधिपूर्वक वन्दन करके उनके सामने बैठ गया। फिर, अपने दुर्भाग्य का वर्णन करके उसने उसका कारण पूछा। मुनिराज ने उसके पिछले भवों की सारी कहानी बतलायी और बतलाया—"अगर तुझे अपने दुर्भाग्य को दूर करना हो तो जितना द्रव्य ले उससे ज्यादा देने का सकल्प कर!" उसी समय निष्पुण्यक ने मुनिराज के सामने प्रतिज्ञा ली—"मैंने पूर्व भव में जितना देवद्रव्य लिया है, उससे एक हजार गुना द्रव्य देव द्रव्य में जमा कराऊँगा और जब तक रकम पूरी न कर दूँ, तब तक मुझे अन्न-वस्त्र के उपरात किसी भी चीज का सग्रह नहीं करना है।" इस नियम के साथ उसने श्रावक के व्रतों को भी अगीकार किया।

उस दिन से उसका दिनमान सुधरने लगा। जो काम हाथ में ले सो पूरे होने लगे और उनमें लाभ होने लगा। उसमें से उसने देव द्रव्य की पूर्ति करनी शुरू कर दी और इस तरह एक हजार काकणी के बदले म

दस लाख काकणी दे दी। फिर, बहुत सा द्रव्य कमाकर वह घर आया और श्रीमंतों में अग्रणी हुआ। राजा प्रजा दोनों ने उसका बहुमान किया।

फिर उसने जिनमंदिर बनवाये। उनकी और दूसरे मंदिरों की वह सार सँभाल करने लगा और देव-द्रव्य की वृद्धि के उपाय करने लगा। इस प्रकार दीर्घकाल तक सत्कार्य करते रहने से उसने जिन नामकर्म बाँधा। फिर, अवसर पर गीतार्थ गुरु से दीक्षा ली और जिनभक्तिरूप प्रथम स्थानक की आराधना करके उस कर्म को निकाचित किया।

अनुक्रम से कालधर्म पाकर वह सर्वार्थसिद्धि विमान में वह देव हुआ। वहाँ से च्यव कर वह महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर अरिहंत की ऋद्धि भोग कर मोक्ष जायेगा।

देव-द्रव्य खा जानेवाले की हालत कैसी हो जाती है, इस कथा से समझा जा सकता है। यहाँ देव द्रव्य के साथ उपलक्षण से ज्ञान द्रव्य, गुरु द्रव्य आदि भी समझ लेने चाहिए।

जिन, मुनि, चैत्य और संघादि की प्रत्यनीकता—आशातना—करने से भी दर्शनमोहनीय कर्म का बन्ध होता है, इसलिए उनसे भी बचना आवश्यक है।

जो आत्मा क्रोध, मान, माया और लोभ के वशीभूत होती है और हास्य, आदि नौ नोकषायों में लीन होती है, वह चारित्रमोहनीय कर्म बाँधती है। कषायों की दुष्टता का वर्णन तो अभी कर गये। नोकषाय कषायों को उत्तेजन देनेवाली हैं, इसलिए वे भी उतनी ही दुष्ट हैं। चोरी को उत्तेजन देनेवाला चोर कहलाता है। और, दुष्ट को उत्तेजन देनेवाला दुष्ट कहलाता है।

काम से क्रोध पैदा होता है, उससे आत्मा अपना मान भूलकर नाना न करने योग्य काम कर बैठती है। हास्यादि का भी परिणाम ऐसा ही भयंकर होता है। पाडवों ने काँच का महल बनाया। कौरव देखने आये। उन्होंने पानी जानकर कपड़े ऊपर किये और द्रौपदी हँस पड़ी। वह

हँसते-हँसते बोली—"अंधों के तो अंधे ही होते हैं।" कौरवों के पिता धृतराष्ट्र अंधे थे। इससे कौरवों को घोर अपमान लगा और उसका बदला लेने के लिए उन्होंने अनेक तदबीरें कीं। आखिर, महाभारत हुआ और उसमें लाखों का संहार हुआ।

पौद्गलिक पदार्थों के प्रति रति—प्रीति—होने का कैसा भयंकर परिणाम होता है, यह रूपसेन की कथा में बताया जा चुका है। अप्रिय पदार्थों के प्रति अरति—अप्रीति ! द्वेष—करनेवाले की हालत भी वैसी ही बुरी होती है।

भय से मन के परिणाम चंचल हो जाते हैं और उससे की हुई प्रतिज्ञा का निर्वाह नहीं हो सकता। आज के मनोविज्ञान ने तो भय को मनुष्य की समस्त दुर्बलताओं का मूल बतलाया है। भय को जीते बिना न तो अभिभव कायोत्सर्ग हो सकता है और न विशुद्ध रूप में चारित्र का पालन हो सकता है। समस्त भयों को जीतनेवाला ही जिन हो सकता है।

इष्ट वियोग और अनिष्ट-संयोग होने पर लोग शोक करने लगते हैं और इस प्रकार गहरे आर्त्तध्यानमें उतर जाते हैं। उस समय उन्हें पौद्गलिक पदार्थों की निस्सारता का चिन्तन करना चाहिए और यह मानना चाहिए कि, मेरी कुछ हानि नहीं हुई। मिथिला-जैसी नगरी जल उठी। आकाश में उठती हुई उसकी लपटों को दिखलाते हुए एक वृद्ध विप्र बोला—"हे नमिराज ! यह मिथिला जल रही है, इसे बुझाकर संयम-मार्ग पर संचरण करें।" नमिराज संसार को असार जानकर संयम ग्रहण करने के लिए तत्पर हुए हैं। वे कहते है — "हे विप्र ! मिथिला के जलने से मेरा कुछ नहीं जलता। मैं तो अपनी आत्मा की ही आग बुझाना चाहता हूँ।" कैसी सुन्दर समझ है ! कैसा धैर्य है !!

चाहे जितना शोक करने पर भी मृत स्वजन जीवित नहीं किया जा सकता। तो फिर शोक करके व्यर्थ कर्मबन्धन क्यों? समझदार को चाहिए कि, ऐसे समय शांति धारण करे और मन को धर्मध्यान में लगाये। मृत्यु सम्बन्धी रीति रिवाजों में पहले की अपेक्षा सुधार हुए हैं। पर, अभी और भी विशेष सुधार आवश्यक हैं और आर्त्तध्यान में कमी करने की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है।

दुगंछा (जुगुप्सा) अप्रीति या तिरस्कार म से पैदा होती है, इसलिए उसका भी त्याग करना चाहिए। जो किसी लूले, लगड़े, काने, कुबड़े, गन्दे को देखकर उसकी दुगंछा करते हैं, वे ऐसा करके कषाय और नोकषाय का सेवन करनेवाले चारित्रमोहनीय कर्म का बन्ध करते हैं। साधु साध्वी के मलिन वस्त्र-गात्र देखकर दुगंछा करनेवाला चारित्रमोहनीय का विशेष बन्ध करता है।

अन्तराय-कर्मबन्ध के विशेष कारण

किसी के सुख में अन्तराय डालने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है। किसी को भूखा प्यासा रखने से हमें भी भूखा-प्यासा रहना पड़ता है। किसी की धन प्राप्ति में बाधा डालने से खुद की धन-प्राप्ति में अन्तराय पैदा होता है। जो किसी के घर में फूट डालते हैं, बच्चों का माँ-बाप से वियोग कराते हैं, अंडे तोड़ते हैं, पशु पक्षियों के निवास-स्थान या घोंसले तोड़ते हैं, वे सब अन्तराय कर्म का बन्ध करते हैं।

जो जिन पूजा, गुरु-सेवा या धर्माराधन में अन्तराय डालते हैं और हिंसा, झूठ, चोरी आदि नीच काम करते हैं, वे विशेष अन्तराय-कर्म बाँधते हैं और उसके अत्यन्त कड़वे फल भोगते हैं।

घातिया कर्मों का विचार यहाँ पूर्ण हुआ। अब अघातिया कर्मों का विवेचन करते हैं।

वेदनीय कर्मबन्धन के विशेष कारण

वेदनीय कर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) साता और (२) असाता। साता से सुख का और असाता से दुःख का अनुभव होता है।

पाप को जीतनेवाला, आती हुई कषायों को रोकनेवाला और उनका दमन करनेवाला सातावेदनीय कर्म बाँधता है। जो सुपात्रदान भाव से अनुकम्पा-दान देता है, वह भी साता वेदनीय कर्म बाँधता है। संगमक ने सुपात्र मुनि को भावपूर्वक क्षीर का आहार दिया, तो दूसरे भव में वह गोभद्र सेठ के यहाँ शालिभद्र के रूप में जन्मा और अतुल ऋद्धि सिद्धि का स्वामी हुआ।

ढीले परिणामवाला धर्मी असातावेदनीय कर्म बाँधता है और दृढव्रती सातावेदनीय कर्म बाँधता है। वंकचूल ने चार सादा व्रतों का दृढ़तापूर्वक पालन किया, तो बारहवें स्वर्ग का आयुष्य बाँधा। जिसकी श्रद्धा दृढ़ होती है, वही व्रतपालन में दृढ़ता रख सकता है। इसलिए, श्रद्धा दृढ़ रखनी चाहिए और श्री जिनेश्वर भगवन्त ने जो कहा है, वही सत्य है, ऐसा मानना चाहिए। इससे सातावेदनीय कर्म का बन्ध होगा।

जो गुरु निन्दक है, लोभी है, हिंसक है, अव्रती है, अशुभ अनुष्ठान करता है, कषायों से पराजित हो गया है तथा कृपण है, वह असातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है।

देव और मनुष्य में प्रायः साता का उदय होता है, और तिर्यंच तथा नारकी में प्रायः असाता का उदय होता है। यहाँ प्रश्न होता है कि, मनुष्य में असाता का उदय कैसे दिखायी देता है? उसका उत्तर है—"कर्म भूमि पन्द्रह है। और, अकर्म-भूमि तीस। अकर्म भूमि के युगलिया सुखी हैं, क्योंकि उन्हें वाञ्छित वस्तुएँ कल्पवृक्षों से मिल जाती हैं। कर्म भूमि के लोग दुःखी हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्र में अठारह कोड़ाकोड़ी सागरोपम समय सुख का है और सिर्फ दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम समय

दुःख का है। उसमें दुःख की स्थिति तो मात्र इक्कीस हजार वर्षों की ही है। इसलिए, मनुष्य में प्राय साता का उदय रहता है।

युगलियों के काल में पञ्चेन्द्रिय जानवर सुखी रहते हैं, पर एकेन्द्रिय आदि दुःखी रहते हैं। तीर्थंकर भगवान् के जन्म के समय नारकी जीव भी सुख का अनुभव करते हैं।

पर, याद रहे कि, सातावेदनीय सुख सांसारिक सुख है और कर्म-जन्य है। इसलिए खतरनाक है। यह सुख हमें ठगता है। यदि इस सुख में लिप्त होकर धर्म को भूल गये, तो संसार सागर में बह गये !! पुण्यानुबंधी पुण्य के कारण सांसारिक सुख भी मिलते हैं और वे धर्माराधन में सहायक होते हैं और मुक्ति के निकट ले जाते हैं।

मयणसुन्दरी ने धर्म की टेक रखी, तो उसकी विजय हुई, श्रीपाल राजा का कोढ़ मिटा और सिद्धचक्र की आराधना का दुनिया में प्रभाव बढ़ा। श्रीपाल ने पूर्वजन्म में गुरु की आशातना करके कोढ़ भोगने का कर्म बाँधा था। वह कर्म ढीला होने के कारण, एक जन्म में भुगत गया और उसका कोढ चला गया। उसी प्रकार पूर्व भव में धर्म की आराधना थी, इसलिए इस भव में सिद्धचक्र की आराधना हुई और उसे सब प्रकार से साता का अनुभव हुआ।

आयुष्य कर्म-बन्धन के विशेष कारण

क्रोध और मान कड़वे कषाय हैं, माया और लोभ मीठे कषाय हैं। कषायों के तीव्रोदय के समय या आत्मा के रौद्र परिणामी होने के समय, आयुष्य-कर्म का बन्ध होगा, तो नरक आयुष्य का होगा। परिग्रह में महाराग के समय का आयुष्य बन्ध भी नरक का होता है। नरक सात प्रकार के हैं—नारकी का आयुष्य कम-से कम दस हजार वर्षों का होता है। उसमें एक भी दिन की कमी नहीं होती।

मानव जीवन म कभी सर दुखता है, बुखार आता है, या और कोई

पीड़ा होती है, तो हमसे सहन नहीं होती और अस्वस्था दूर करने के लिए हम अनेकानेक उपाय करते हैं। यहाँ जो दुःख एक दिन भी सहन नहीं होता, पर वह दुःख वहाँ करोड़ों दिनों तक भोगना पड़ता है।

नरक में सब प्रकार के रोग हैं और उन्हें आत्मा दीर्घकाल तक भोगता है। उनमें से कोई रोग न घटता है, न मिटता है। नरक में सदा घोर अन्धकार रहता है। उस अन्धकार की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। वहाँ की जमीन अत्यन्त चिकनी होती है, इसलिए चलनेवाले बारबार गिरते पड़ते रहते हैं। वहाँ की जमीन अत्यन्त तीक्ष्ण भी होती है, इसलिए सूई की तरह चुभती है। वहाँ अत्यन्त भयकर दुर्गन्ध भी फैली रहती है।

नारकी जीव परमाधामी को देखकर इधर उधर भागने लगते हैं, क्योंकि वह उन्हें पकड़ता है, बाँधता है, भाले में पिरोता है। उनके शरीर के टुकड़े करता है, चूरा भी कर डालता है। परन्तु, नारकियों के शरीर ऐसे होते हैं, कि फिर ज्यों-के त्यों हो जाते हैं। हर तरफ 'मुझे यहाँ से छुड़ाओ', की दुःखभरी चीत्कार सुनायी पड़ती है!

यह महादुःख क्यों भोगना पड़ता है? कारण यही है कि, पूर्व भव में पाप करते हुए पीछे मुड़कर भी न देखा। अनेक प्रकार की हिंसा की, कषायों का पोषण किया और रागद्वेष में लिप्त रहे। भोग के कीड़े बने हुए, आत्मा नरक में घोर दुःख भोगते हैं। इसलिए जो उन दुःखों से बचना चाहे, उसे चाहिए कि, आसक्ति छोड़ दे और अठारह पापस्थानकों से दूर रहकर धर्माराधन करे।

मनुष्य-जन्म में ही सद्गुरु का उपदेश मिलता है और देव-गुरु धर्म की यथार्थ आराधना की जा सकती है। इसलिए, अपना तन मन धन उसमें समर्पित करो तो नरक के दुःख भोगने की नौबत नहीं आयेगी।

जो कपटी, दंभी और गूढ-हृदय (अर्थात् दूसरे को धोखा देने के इरादे से अपने मन की बात प्रकट न होने देनेवाला) है, वह तिर्यंच का

आयुष्य बाँधता है। यहाँ बता दूँ कि, गंभीरता गुण है, पर कपट अवगुण है।

जिस पर किसी के उपदेश का असर न पड़े, वह शठ या धृष्ट है। धृष्टता में तिर्यंच का आयुष्यकर्म बँधता है। जो दिल में आँटी रखे और समय आने पर दूसरे की गुप्त बात प्रकट कर दे, वह भी विशेषत तिर्यंच का आयुष्य कर्म बाँधता है। इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है कि, व्यापारी प्राय तिर्यंच का आयुष्य बाँधते हैं।" यहाँ 'प्राय' शब्द इसलिए है कि, जो धर्म करता हो और सुपात्रदान करता हो, वह व्यापारी सद्गति में जाता है।

जिसके कषाय मद हों, बहुत टिकाऊ या बहुत तीव्र न हों, जो दान की स्वाभाविक रुचिवाला हो, जो कृपण और कपटी न हो, जो उदार-हृदय हो (धर्म स्थान में खचने वाला उदार है, दुनिया के कामों में खर्चनेवाला उड़ाऊ है) और मध्यम गुणोंवाला हो, वह मनुष्य का आयुष्य बाँधता है। ऐसे गुणवान जीव कम होते हैं, इसलिए मनुष्य का आयुष्य कम जीव बाँधते हैं।

तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में जानेवाले जीव असख्यात होते हैं, परन्तु महर्द्धिक देव बननेवाले, ऊँची गति में जानेवाले जीव कम होते हैं। देव भी दो प्रकार के होते हैं—अच्छे और बुरे। अच्छे देव जहाँ तक हो सके, किसी का बुरा नहीं करते, क्योंकि वे शांत और सौम्य होते हैं। पर, बुरे जीव चाहे जिसका बुरा कर सकते हैं, कारण कि वे आसुरी प्रकृति के होते हैं।

चौथे गुणस्थान में अर्थात् सम्यग्दर्शन में वर्तन करता हुआ जीव आयुष्य बाँधता है तो देवगति का बाँधता है। आयुष्य जीवन में एक बार बँधता है। वह कब बँधेगा, इसका कोई निश्चित समय नहीं है। हमें उसकी सूचना भी नहीं होती। । हम परमात्मा के वचनों में श्रद्धा रखें,

शुद्ध सम्यक्त्वी बनें, तो वैमानिक-देव का आयुष्य बाँधें। अगर, सम्यक्त्व में कोई मलिनता रहेगी, तो नीची कोटि के देव, ज्योतिष्क देव, भुवनपति देव आदि देवों का आयुष्य बँधेगा। जो तड़पते तड़पते या अपघात करके मरते हैं, वे व्यतर जाति के देव होते हैं।

मिथ्यादृष्टि आत्मा भी शुभ परिणामवाला हो तो देवगति तक पहुँच सकता है और श्रावक धर्म का पालन आत्मा को बारहवें स्वर्ग तक पहुँचाता है। साधु की द्रव्यक्रिया आत्मा को नव ग्रैवेयक तक पहुँचाती है। श्रावक से साधु की क्रिया उच्च गिनी जाती है। उससे भी ऊपर जाना हो तो भावचारित्र होना चाहिए।

साधु की भावनावाला ससारी वेश में भी केवलज्ञान पाता है, जबकि ससारी भावनावाला साधु के वेश में भी केवलज्ञान नहीं पाता। यह तो निश्चित है कि, धर्मक्रिया करनेवाला, धर्म की भावना रखनेवाला आयुष्य बाँधता है, तो देवगति का ही बाँधता है। आयुष्य बाँधते समय शुभ परिणाम होने चाहिएँ।

नामकर्म का बन्ध करनेवाले विशेष कारण

आत्मा जब सरल हो, निष्कपट हो, गर्विष्ट न हो, नम्र भाववाला हो, तब शुभ नामकर्म बाँधता है और उससे शुभ सहनन, शुभ सस्थान, शुभ वर्ण रस गध-स्पर्श, अच्छा स्वर आदि पाता है और लोगों से मान पान पाता है। इसके विपरीत यदि वह कपटी, गर्विष्ट, निष्ठुर आदि हो, तो अशुभ नामकर्म बाँधता है और उससे अशुभ सहनन, अशुभ सस्थान, अशुभ वर्ण, रस, गध और स्पर्श, अशुभ स्वर आदि पाता है और अपकीर्ति प्राप्त करता है।

गोत्रकर्म-बन्धन के विशेष कारण

दूसरे के गुणों को देखनेवाला, दूसरे के गुणों की अनुमोदना करने-

वाला तथा निरभिमानतापूर्वक रहनेवाला उच्च गोत्र बाँधता है, और दूसरे के दोष देखनेवाला, दूसरे के दोष प्रकट करनेवाला तथा मद-अहंकार करने वाला नीच गोत्र बाँधता है। भगवान् महावीर ने मरीचि के भव में कुलमद किया, जिससे नीच गोत्र बँधा और वह करोड़ों वर्षों के बाद भी उदय में आया। उनका जीव अन्तिम भव में प्राणत स्वर्ग से च्यव कर देवानदा ब्राह्मणी की कोख में अवतरित हुआ। बाद में उस गर्भ का परावर्तन हुआ और वे त्रिशला क्षत्रियाणी जी की कुक्षि से अवतरित हुए, लेकिन पहले नीच गोत्र में यानी भिक्षुक के कुल में अवतरित होना ही पड़ा।

पठन-पाठन की भावनावाला तथा श्री जिनेश्वर देव आदि की भक्ति करनेवाला उच्च गोत्र बाँधता है और उससे विरुद्ध वर्तन करनेवाला नीच गोत्र बाँधता है।

कर्मबन्धन के ये विशेष कारण हैं और वे स्पष्ट मार्गदर्शन करते हैं कि, मनुष्य को किस प्रकार वर्तन करना चाहिए।

विशेष अवसर पर कहा जायेगा।

उन्तीसवाँ व्याख्यान

आठ करण

महानुभावो !

कर्म क्या है ? उसकी शक्ति कितनी है ? उसका बन्ध किस प्रकार होता है ? कितने प्रकार से होता है ? उसके सामान्य और विशेष कारण क्या है ? आदि बातें आपको अनेक युक्ति उदाहरणपूर्वक समझायी जा चुकी है और आप कर्म के स्वरूप को भलीभाँति जान गये हैं। परन्तु, कर्म का विषय अत्यन्त विशाल है। अब भी उसके बारे में बहुत-सी बातें जानने को शेष हैं, इसलिए उस विषय का कुछ और भी विस्तार किया जाता है।

कार्माणवर्गणाओं का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाने, पर वे 'कर्म' की संज्ञा पाती हैं और हम कहते हैं कि—'कर्म बँधे !', 'कर्म का बन्ध हुआ !' कर्मबन्ध के होते समय ही यह निश्चित हो जाता है कि, यह कर्म कैसे स्वभाव का होगा, कितने समय तक रहेगा, कितने रसपूर्वक और कितने परिमाण में उदय में आयेगा। अगर निकाचित कर्मबन्ध[1] हुआ हो, तो उसमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता, वह ज्यों-का त्यों उदय में आकर अपना फल देता है। लेकिन, जो कर्म अनिकाचित है, उसके उदय में आने से पहले फेरफार हो सकते हैं। यह करण का विषय यही समझाने के लिए लिया गया है।

यहाँ यह प्रश्न होगा कि, 'फिर क्यों कहा जाता है कि कर्म भोगे बिना छुटकारा नहीं है ?' परन्तु, इस कथन को मुख्यत निकाचित कर्मबन्ध

---

१ योगदर्शन में इसे नियतविपाकी कर्म कहा गया है।

के विषय में और अशात निधत्त कर्मबन्ध के अन्तर्गत समझना चाहिए। बद्ध और स्पृष्ट कर्मबन्ध में अध्यवसाय के बल से फेरफार अवश्य हो सकते हैं और निधत्त कर्मबन्ध में भी अध्यवसायों के बल से स्थिति और रस की न्यूनाधिकता उत्पन्न की जा सकती है।

अगर, पूर्वबद्ध कर्म में कुछ परिवर्तन न हो सकता हो, तो आत्मा कर्म के शतरंज का प्यादे ही बन जाए और कर्म जैसे चलायें वैसे चलना पड़े। फिर पुरुषार्थ के लिए कोई गुंजाइश ही न रहे, क्योंकि आप चाहे जैसा प्रयास करें, तो भी जो फल मिलनेवाला हो वही मिले और वह जब मिलनेवाला हो तभी मिले। तो फिर व्रत, नियम, जप, तप, ध्यान, आदि करने का तात्पर्य क्या? इसलिए तथ्य यह है कि, आत्मा पुरुषार्थ करे और शुभ अध्यवसायों का बल बढ़ाये तो पूर्वबद्ध कर्मों के किले की दीवाल में दरारें डाल सकता है और चाहे तो उसका ध्वंस भी कर सकता है। इस प्रकार मनुष्य को व्रत, नियम, जप, तप, ध्यान आदि के मार्ग से आगे बढ़ना है।

जिसके द्वारा क्रिया सधे, उसे 'करण' कहते हैं। जैसे कोई बाण से फल गिरा दे, तो बाण को 'करण' कहेंगे। अथवा जैसे हथौड़े से सोना टीपने की क्रिया साधी जाती है, उसमें हथौड़े को 'करण' कहेंगे। इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, इसलिए व्यवहार में इन्हें भी करण कहा जाता है। यहाँ कर्म सम्बन्धी विभिन्न क्रियाएँ योग और अध्यवसाय के बल द्वारा साधी जाती हैं, इसलिए योग और अध्यवसाय के बल को करण कहा जाता है।

यद्यपि योग और अध्यवसाय का बल ही करण है और वह एक ही प्रकार का है, फिर भी उसके द्वारा विभिन्न आठ क्रियाएँ सिद्ध होती हैं। इसलिए उन्हें अलग-अलग आठ नामों से पहचाना जाता है। गेहूँ का आटा एक ही प्रकार का होता है, पर यदि उससे तरह तरह की चीजें बनायी जायें तो उन्हें विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। अथवा एक ही

जायगी ।" कुबेरदत्त ने कहा—'आपका विचार ठीक है, पर अभी तो मै परदेश जाकर धन कमाना चाहता हूँ। वहाँ से लौटने पर दूसरी शादी करूँगा !'

कुबेरदत्त के इस विचार से माता-पिता सहमत हो गये। कुबेरदत्त एक शुभ दिन बहुत सा किराना लेकर परदेश को चल पड़ा। वहाँ व्यापार में बहुत सा धन कमाया और घूमता हुआ मथुरा नगरी में आया।

वहाँ अनेक लोगों को चतुर स्त्रियों के साथ विलास करते देखकर उसे भी विलास की सूझी। जवानी को दिवानी कहा गया है, वह गलत नहीं है। कुबेरदत्त मथुरा के रूपबाजार की ओर निकल पड़ा और कुबेरसेना वेश्या के यहाँ जा पहुँचा। कुबेरसेना अधेड़ उम्र की हो गयी थी, मगर उसने अपनी जवानी सँभाल कर बना रखी थी, इसलिए उसके रूप से आकृष्ट हो कर अनेक युवक वहाँ आते थे।

मुँहमाँगा धन देकर कुबेरदत्त कुबेरसेना के यहाँ रहने लगा, इसलिए कुबेरसेना अन्य पुरुषों को छोड़कर उसके साथ प्रेम मुहब्बत करने लगी। इस तरह वह एक पुत्र की माता हो गयी।

इधर कुबेरदत्ता ससार को असार जानकर प्रव्रजित हो गयी और घोर सयम और तप से उसे अवधिज्ञान प्राप्त हो गया। उस अवधिज्ञान के योग से उसने मथुरा नगरी देखी, अपनी माता कुबेरसेना को देखा और उसे कुबेरदत्त से प्राप्त हुए पुत्र को भी देखा। इससे उसे अत्यन्त विषाद हुआ। वह अपनी माता और भाई का उद्धार करने के लिए कुछ साध्वियों के साथ मथुरानगरी में कुबेरसेना के आँगन मे आकर खड़ी हो गयी।

अपने अपवित्र आँगन में एक युवती आर्या को साध्वियों के साथ खड़ी देखकर पहले तो कुबेरसेना सकुचित हुई, फिर हाथ जोड़कर बोली—"हे महासती! मेरी कोई भी वस्तु स्वीकार कर मुझ पर अनुग्रह करो।"

कुबेरदत्ता साध्वी ने कहा—"हमें रहने के लिए जगह चाहिए।" इस पर कुबेरसेना ने कहा—"मैं वेश्या हूँ, पर फिलहाल एक भर्तार के योग से कुल स्त्री का जीवन बिता रही हूँ। आप मेरे घर के एक भाग में सुख से रहें और हमें अच्छे आचार में लगायें।"

कुबेरसेना ने उनको जगह दे दी और कुबेरदत्ता साध्वी आदि उसमें रहकर धर्मध्यान धर्मोपदेश करने लगीं। इस तरह दोनों के दिल खूब मिल गये। एक बार कुबेरसेना अपने पुत्र को पालने में लिटा कर घर के काम में लग गयी। लेकिन, माता के दूर जाने से पुत्र रोने लगा। तब कुबेरदत्ता साध्वी ने उसे चुप करने के लिए लोरी गाकर कहने लगी कि "हे भाई! तू रो मत! हे पुत्र! तू रो मत। हे देवर! तू रो मत। हे भतीजे! तू रो मत। हे काका! तू रो मत। हे पौत्र! तू रो मत!!

ये शब्द पास के कमरे में बैठे हुए कुबेरदत्त ने सुने। सुनकर वह बाहर आया और कहने लगा—"आपको ऐसा अयोग्य बोलना शोभा नहीं देता।" तब कुबेरदत्ता साध्वी ने कहा—"महानुभाव! मैं अयोग्य नहीं बोलती, बल्कि यथार्थ बोल रही हूँ। असत्य बोलने का मुझे त्याग है।"

कुबेरदत्त ने पूछा—"आपने जो रिश्ते कहे, क्या वे इस पुत्र में सभव भी हैं?"

कुबेरदत्ता ने कहा—"हाँ, सभव है, इसीलिए तो कहती थी। सुनो इन रिश्तों को (१) इस बालक की और मेरी माता एक ही है, इसलिए यह मेरा भाई है। (२) वह मेरे भर्तार का पुत्र है, इसलिए मेरा पुत्र है। (३) वह मेरे भर्तार का छोटा भाई है, इसलिए मेरा देवर है। (४) वह मेरे भाई का पुत्र है, इसलिए मेरा भतीजा है। (५) वह मेरी माता के पति का भाई है, इसलिये मेरा काका है। और (६) मेरी शोक्य (सौत) के पुत्र का पुत्र है इसलिए मेरा पौत्र है।"

ऊपर से वह यह भी बोली—"इस बालक के पिता के साथ भी मेरा रिश्ता है, वह सुनो (७) इस बालक का पिता और मैं एक ही उदर से जन्मे हैं, इसलिए यह मेरा भाई है। (८) और वह मेरी माता का भर्तार हुआ, इसलिए मेरा पिता है। (९) और वह मेरे काका का पिता हुआ, इसलिए मेरा दादा है। (१०) और वह पहले मुझसे विवाहा गया है, इसलिए मेरा भर्तार है। (११) और वह मेरी सौत का पुत्र है, इसलिए मेरा भी पुत्र है। तथा (१२) मेरे देवर का पिता है, इसलिए मेरा ससुर है।"

"अब इस बालक की माता के साथ का रिश्ता भी सुन लो (१३) इस बालक की माता ने मुझे जन्म दिया है इसलिए मेरी माता है। (१४) और मेरे काका की माता है, इसलिए मेरी दादी है। (१५) और मेरे भाई की स्त्री है, इसलिए मेरी भौजाई है। (१६) और मेरी सौत के पुत्र की स्त्री हुई, इसलिए मेरी पुत्रवधू है। (१७) और मेरे भर्तार की माता है, इसलिए मेरी सास है। तथा (१८) मेरे पति की दूसरी स्त्री है, इसलिए मेरी सौत है।"

इस तरह कुबेरदत्ता साध्वी ने अठारह नाते कह सुनाये। सुनकर कुबेरदत्त अत्यन्त खिन्न हुआ और ससार से उसका मन उठ गया। कुबेर सेना दूर खड़ी हुई यह सब सुन रही थी। वह भी अत्यन्त पश्चात्ताप करने लगी। परिणाम स्वरूप कुबेरदत्त ने मथुरा में विराजे हुए एक पचमहा व्रतधारी मुनिश्वर के आगे दीक्षा ली और कुबेरसेना ने कुबेरदत्ता साध्वी के समक्ष सम्यक्त्व सहित श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये।

इस प्रकार कुबेरदत्ता साध्वी माता तथा बधु का उद्धार करके अन्यत्र विहार कर गयीं और ग्रामानुग्राम विचरती हुई आत्मकल्याण करने लगी।

आठ करणों के नाम इस प्रकार हैं

(१) बधन करण, (२) निधत्त-करण, (३) निकाचना-करण,

(४) उद्वर्तना करण, (५) अपवर्तना-करण, (६) सक्रमण करण, (७) उदीरणा-करण और (८) उपशमना-करण।

जिसके द्वारा कार्माणवर्गणा का आत्मप्रदेशों के साथ बन्धन हो वह **बन्धनकरण है।**

पहले गाँठ ढीली लगी हो, पर बाद में खींचने से मजबूत हो जाती है, उसी तरह पहले नीरस भाव से बाँधने में कर्म ढीले बँधे हों, पर बाद में उनकी प्रशसा की जाये, बड़ाई हाँकी जाये तो वह कर्म मजबूत हो जाता है और निधत्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार जो बद्धकर्म को निधत्त करता है वह निधत्तकरण है।

जो कर्म निधत्त हो गया उसकी स्थिति और रस अध्यवसायों द्वारा घटाये जा सकते हैं, पर उसकी उदीरणा या उसका सक्रमण नहीं हो सकता। इससे यह समझना चाहिए कि, कोई भी अशुभ कर्म बाँधने के बाद उसकी प्रशसा नहीं करनी चाहिए अथवा तत्सम्बन्धी बड़ाई नहीं करनी चाहिए। 'देखा ? मैंने उसे कैसा झाँसा दिया!' 'उसे मैंने खूब बनाया! वह मुझे हमेशा याद रखेगा!' 'हमारे सामने किसी की चालाकी नहीं चल सकती। सबको ठीक कर देंगे!' 'वह इसी लायक है! वह तो मार खाकर ही दुरुस्त होगा!' आदि वचनों में पाप की प्रशसा और अपनी बड़ाई है, इसलिए ऐसे वचन कभी नहीं बोलने चाहिए। अगर पाप हो गया हो तो उसके लिए पश्चात्ताप करना चाहिए, खिन्न होना चाहिए। उसकी पुष्टि तो करनी ही नहीं चाहिए।

किसी कर्म के बाँधने पर अत्यन्त उल्लास हो, प्रसन्नता हो, उसकी बारबार पुष्टि करे तो वह कर्म निकाचित बन जाता है। फिर उस पर किसी 'करण' का असर नहीं होता। इस प्रकार स्पृष्ट, बद्ध या निधत्त कर्म को निकाचित करनेवाला करण **निकाचितकरण है।**

जिसने जिन नामकर्म उपार्जन किया हो, वह जिन-अरहत तीर्थंकर

होने से पहले तीसरे भव में बीस[1] स्थानकों में से एक, दो या अधिक स्थानकों को उत्कृष्ट भाव से स्पर्श करके जिन नामकर्म को निकाचित करता है, इसलिए वह तीर्थंकर अवश्य होता है। उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता।

जिसकी वजह से कर्म की स्थिति और रस बढ़ जायें वह **उद्वर्तना करण** है, और जिसकी वजह से कर्म की स्थिति और रस घट जायें वह **अपवर्तनाकरण** है। आत्मविकास का मार्ग सुलभ-सरल बनाने के लिए अशुभ कर्म की स्थिति और रस की अपवर्तना आवश्यक है।

जैन-महात्मा कहते हैं कि, अशुभ कर्मफल भोगने के काल का परिमाण तथा अनुभव की तीव्रता निर्णीत होने पर भी आत्मा के उच्चकोटि के अध्यवसाय रूप करण द्वारा उसमें न्यूनता लायी जा सकती है। किसी आदमी को अपराध के लिए बारह वर्ष की सजा मिली हो, पर अगर वह जेल में अच्छा वर्तन रखे तो उसके कुछ दिन काट दिये जाते हैं। वह बारह वर्ष के बजाय नौ या दस वर्ष में छूट जाता है। यहाँ भी सद् विचार और सद्वर्तन का ही सवाल है। जिसे कर्म स्थिति को तोड़ना नहीं आता, वह आगे नहीं बढ़ सकता।

आत्म-विकास के मार्ग में काल को कैसे तोड़ा जाये, यही मुख्य बात है। आत्मा जब मोहनीय-कर्म की स्थिति ६९ कोड़ा-कोड़ी सागरोपम से कुछ घटाये-बढ़ाये तभी ग्रन्थिभेद करके सम्यक्त्व पा सकता है। उससे

---

[1] जिन बीस स्थानकों की आराधना करने से जिन नाम कर्म बँधता है उनके नाम ये हैं, (१) अरिहंत पद, (२) सिद्ध पद, (३) प्रवचन पद, (४) आचार्य पद, (५) स्थविर पद, (६) उपाध्याय पद, (७) साधु पद, (८) ज्ञान पद, (९) दर्शन पद, (१०) विनय पद, (११) चारित्र पद, (१२) ब्रह्मचर्य पद, (१३) क्रिया पद, (१४) तप पद, (१५) गौतम पद, (१६) जिन पद, (१७) संयम पद, (१८) अभिनव ज्ञान पद, (१९) श्रुत पद और (२०) तीर्थ पद।

ज्यादा स्थिति तोड़े तो देशविरति प्राप्त कर सकता है और उससे भी अधिक स्थिति को तोड़े तो सर्वविरति प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार आत्मा के गुण प्रकट करने के लिए कर्म की स्थिति तोड़ डालनी पड़ती है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि, कर्म की स्थिति टूट जाने पर भी कर्म के प्रदेशों का समूह तो जैसे-का तैसा रहता है, परन्तु वह दीर्घकाल के बजाये अल्पकाल में भुगत जाता है।

जिसके द्वारा कर्म की प्रकृति में परिवर्तन हो जाये, उसे **संक्रमण-करण** कहते हैं। संक्रमण सजातीय प्रकृति में होता है, विजातीय प्रकृति में नहीं। कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ हैं और उत्तर प्रकृतियाँ १५८ हैं। उनमें एक ही कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ सजातीय कहलाती हैं और दूसरे कर्मों की प्रकृतियाँ विजातीय प्रकृतियाँ कहलाती हैं। इस प्रकार असाता-वेदनीय का सातावेदनीय हो सकता है और सातावेदनीय का असाता-वेदनीय हो सकता है, पर मोहनीय या अन्तराय आदि नहीं हो सकता।

कर्म के उदय के लिए जो काल नियत हुआ हो उससे पहले ही कर्म उदय में ले आया जाये तो कर्म की उदीरणा कहा जायगा। कर्म की उदीरणा करनेवाले करण को **उदीरणाकरण** कहते हैं।

जैसे कच्चे पपीते को नमक की कोठी में रखकर या आम को घास में रखकर जल्दी पकाया जा सकता है, उसी प्रकार कर्म को जल्दी उदय में लाया जा सकता है। सामान्य नियम यह है कि, कर्म का उदय चल रहा हो तो उसके **सजातीय कर्म की** प्रकृति की उदीरणा हो सकती है।

उदय में आया हुआ कर्म पूर्ण काल से उदय में आया है या उदीरणा होकर उदय में आया है, यह ज्ञानी ही कह सकते हैं। परन्तु, कर्म उदीरणा से उदय में आया हो तो सम्यग्दृष्टि आत्मा भवितव्यता का ऐहसान माने। वह तो यही मानेगा—'जब हर हाल में ऋण चुकाना है, तो अच्छी हालत में चुका देना ही अच्छा। इस समय वीतराग देव मिले हैं, निर्ग्रन्थ-गुरु

होने से पहले तीसरे भव में बीस[1] स्थानकों में से एक, दो या अधिक स्थानकों को उत्कृष्ट भाव से स्पर्श करके जिन नामकर्म को निकाचित करता है, इसलिए वह तीर्थंकर अवश्य होता है। उसमे कोई फर्क नहीं पड़ता।

जिसकी वजह से कर्म की स्थिति और रस बढ़ जायें वह **उद्वर्तना करण** है, और जिसकी वजह से कर्म की स्थिति और रस घट जायें वह **अपवर्तनाकरण** है। आत्मविकास का मार्ग सुलभ-सरल बनाने के लिए अशुभ कर्म की स्थिति और रस की अपवर्तना आवश्यक है।

जैन महात्मा कहते हैं कि, अशुभ कर्मफल भोगने के काल का परिमाण तथा अनुभव की तीव्रता निर्णीत होने पर भी आत्मा के उच्चकोटि के अध्यवसाय रूप करण द्वारा उसमें न्यूनता लायी जा सकती है। किसी आदमी को अपराध के लिए बारह वर्ष की सजा मिली हो, पर अगर वह जेल में अच्छा वर्तन रखे तो उसके कुछ दिन काट दिये जाते हैं। वह बारह वर्ष के बजाय नौ या दस वर्ष में छूट जाता है। यहाँ भी सद् विचार और सद्वर्तन का ही सवाल है। जिसे कर्म स्थिति को तोड़ना नहीं आता, वह आगे नहीं बढ सकता।

आत्म-विकास के मार्ग में काल को कैसे तोड़ा जाये, यही मुख्य बात है। आत्मा जब मोहनीय-कर्म की स्थिति ६९ कोड़ा-कोड़ी सागरोपम से कुछ घटाये बढाये तभी ग्रन्थिभेद करके सम्यक्त्व पा सकता है। उससे

---

[1] जिन बीस स्थानकों की आराधना करने से जिन नाम कर्म बँधता है उनके नाम ये हैं, (१) अरिहंत पद, (२) सिद्ध पद, (३) प्रवचन पद, (४) आचार्य पद, (५) स्थविर पद, (६) उपाध्याय पद, (७) साधु पद, (८) ज्ञान पद, (९) दर्शन पद, (१०) विनय पद, (११) चारित्र पद, (१२) ब्रह्मचर्य पद, (१३) क्रिया पद, (१४) तप पद, (१५) गौतम पद, (१६) जिन पद, (१७) संयम पद, (१८) अभिनव ज्ञान पद, (१९) श्रुत पद और (२०) तीर्थ पद।

ज्यादा स्थिति तोड़े तो देशविरति प्राप्त कर सकता है और उससे भी अधिक स्थिति को तोड़े तो सर्वविरति प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार आत्मा के गुण प्रकट करने के लिए कर्म की स्थिति तोड़ डालनी पड़ती है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि, कर्म की स्थिति टूट जाने पर भी कर्म के प्रदेशों का समूह तो जैसे का तैसा रहता है, परन्तु वह दीर्घकाल के बजाये अल्पकाल में भुगत जाता है।

जिसके द्वारा कर्म की प्रकृति में परिवर्तन हो जाये, उसे **सक्रमण-करण** कहते हैं। सक्रमण सजातीय प्रकृति में होता है, विजातीय प्रकृति में नहीं। कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ हैं और उत्तर प्रकृतियाँ १५८ हैं। उनमें एक ही कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ सजातीय कहलाती हैं और दूसरे कर्मों की प्रकृतियाँ विजातीय प्रकृतियाँ कहलाती हैं। इस प्रकार असाता-वेदनीय का सातावेदनीय हो सकता है और सातावेदनीय का असाता-वेदनीय हो सकता है, पर मोहनीय या अन्तराय आदि नहीं हो सकता।

कर्म के उदय के लिए जो काल नियत हुआ हो उससे पहले ही कर्म उदय में ले आया जाये तो कर्म की उदीरणा कहा जायगा। कर्म की उदीरणा करनेवाले करण को **उदीरणाकरण** कहते हैं।

जैसे कच्चे पपीते को नमक की कोठी में रखकर या आम को घास में रखकर जल्दी पकाया जा सकता है, उसी प्रकार कर्म को जल्दी उदय में लाया जा सकता है। सामान्य नियम यह है कि, कर्म का उदय चल रहा हो तो उसके **सजातीय कर्म की** प्रकृति की उदीरणा हो सकती है।

उदय में आया हुआ कर्म पूर्ण काल से उदय में आया है या उदीरणा होकर उदय में आया है, यह ज्ञानी ही कह सकते हैं। परन्तु, कर्म उदीरणा से उदय में आया हो तो सम्यग्दृष्टि आत्मा भवितव्यता का एहसान माने। वह तो यही मानेगा—'जब हर हाल में ऋण चुकाना है, तो अच्छी हालत में चुका देना ही अच्छा। इस समय वीतराग देव मिले हैं, निर्ग्रन्थ-गुरु

मिले हैं और-सर्वज्ञप्रणीत धर्म मिला है। ऐसे समय पर कर्म को भोग कर परिणाम नहीं कायम रखेंगे, तो इन शुभ संयोगों के न रहने पर परिणामों को किस प्रकार कायम रखा जा सकेगा ?'

अनुक्रम से उदय में आये हुए कर्मों को चारों गतियों के जीव भोगते हैं, पर मनुष्य भव मिलने पर, धर्म पाने पर, धर्माचरण करने की शक्ति मिलने पर उदय में न आये हुए कर्मों को उदय में लाकर तोड़ डालने के प्रयास में ही मनुष्यभव की सार्थकता है। महापुरुष कर्म की उदीरणा करके उन्हें भोग लेते हैं और मोक्ष मार्ग को निष्कंटक बना लेते हैं।

योग और अध्यवसाय के जिस बल के कारण कर्म शांत पड़े रहते हैं, अर्थात् उनमें उदय-उदीरणा नहीं होती, उसे **उपशमनाकरण** कहते हैं। यह जलते अंगारे पर राख डाल देने की तरह है। इस हालत में कर्म की उद्वर्तना, अपवर्तना एवं कर्म का संक्रमण हो सकता है।

जो कर्म उदयावलिका में प्रविष्ट हो चुके हैं, उन पर करण नहीं लगता, शेष सब पर लगता है। जैसे किसी यन्त्र के सब भाग एक साथ काम करते हैं, वैसे ही सब करण साथ काम करते है। आत्मा समय-समय पर कर्म ग्रहण करता है, इसलिए बन्धनकरण चालू ही रहता है। उस समय ढीले कर्म मजबूत बन रहे होते हैं, मजबूत और मजबूत हो रहे होते हैं, यानी निधत्तकरण और निकाचनाकरण भी चालू ही रहता है। उसी समय कुछ कर्मों की स्थिति और रस में कमी बेशी भी होती है, यानी उद्वर्तना और अपवर्तनाकरण भी चालू रहता है। उसी वक्त कर्म की सजातीय प्रकृतियाँ बदलती होती है, इसलिए संक्रमणकरण भी अपना काम करता ही रहता है। उस वक्त कर्म का उदय या उदीरणा चालू रहती है और कुछ कर्म शांत हो रहे होते हैं, इसलिए उदीरणाकरण और उपशमनाकरण भी कार्यशील रहते हैं।

जब तक आत्मा वीतराग न बने तब तक उसमें शुभाशुभ प्रवृत्ति चालू ही रहती है। शुभ प्रवृत्ति बढ़ाना और अशुभ प्रवृत्ति घटाना यह

प्रगति का मार्ग है। लेकिन, हमारी हालत अजीब है—हम कमाई को हानि और हानि को कमाई कहते हैं। कैसे ? सो समझाते हैं। आप धर्म के काम में पैसा खर्च करते हैं, उसमें आपको सचमुच कमाई है, फिर भी आप कहते हैं कि इतना खर्च हो गया, कम हो गया। उसी तरह आपको पैसा मिलता है तो आप उसे कमाई कहते हैं, पर पुण्य उदय में आया, खर्च हुआ, तब आपको वह पैसा मिला, यानी पुण्य का पुंज इतना कम हुआ, आपको घाटा हुआ। समझ सुधर जाये तो आगे बढ़ना मुश्किल नहीं है।

सत्संगति रखिये, सद्विचारों का सेवन करिये और सदाचार में स्थिर रहिए। इससे कर्म का बल अपने आप कम हो जायेगा और आपकी शक्ति का विकास होगा।

विशेष अवसर पर कहा जायेगा।

तीसवाँ व्याख्यान

गुणस्थान

[१]

महानुभावो !

हाल में हिमालय के शिखर पर आरोहण करने की बातें समाचारपत्रों में बहुत आ रही हैं। १९५३ में हिमालय के २९,१४१ फुट ऊँचे इवरेस्ट शिखर पर पग रखने के लिए शेरपा तेनजिंग का इस देश में तथा विदेश में बड़ा सम्मान हुआ और वह अल्पकाल में ही धनवान बन गया। उसके साथ एडमंड हिलेरी भी दुनिया में अत्यन्त सम्मान पाकर प्रसिद्ध हुआ।

१९६० की गर्मियों में एक भारतीय टुकड़ी इवरेस्ट पर आरोहण करने वाली है। सितम्बर १९६१ में इवरेस्ट–विजेता एडमंड हिलेरी यति अर्थात् हिममानव की खोज में माकालु-शिखर (ऊँचाई २७,७९० फुट) पर चढ़नेवाला है। मैक्स एसलिन स्विस पर्वतारोहियों की एक टुकड़ी लेकर धवलगिरि-शिखर (ऊँचाई २६,७९५ फुट) पर चढ़नेवाला है। कहा जाता है कि, इस चोटी पर किसी मानव ने पैर नहीं रखा। एक जापानी टुकड़ी भी गौरीशंकर शिखर (ऊँचाई २३,४४० फुट) पर चढ़ने का प्रयास करनेवाली है।

इन समाचारों को सुनकर, आपका हृदय धड़कने लगता है और आप पर्वतारोहकों की साहसिक वृत्ति तथा वीरता की मुक्तकंठ से प्रशंसा करने लगते हैं। लेकिन, गुणस्थानों का आरोहण इनसे भी कहीं अधिक कठिन है। महासाहसी और धैर्यवान आत्मा ही—इसमें सफल हो सकते हैं।

उन आरोहियों की आप किन शब्दों में प्रशंसा करेंगे ? उन्हें आप किस वाणी से अभिनंदित करेंगे ?

गुणस्थान कोई पर्वत नहीं है, भौगोलिक स्थान नहीं है, वरन् उसका सम्बन्ध आत्मा से है, यह तो आप अब तक के व्याख्यानों से समझ भी गये होंगे। पहले के व्याख्यानों में हमने कभी-कभी 'तेरहवाँ गुण स्थान' 'चौदहवाँ गुणस्थान' आदि शब्द प्रयोग किये हैं।

जैसे व्यापार का अर्थशास्त्र के साथ, औषध का वैद्यकशास्त्र के साथ, ध्यान का योग के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध है, वैसे ही गुणस्थान का कर्म के साथ सम्बद्ध है। अगर, आप गुणस्थान का क्रम जान लें और उसका स्वरूप समझ लें, तभी आप यह समझ सकते हैं कि आत्मा की किस अवस्था में किन कर्मों की सत्ता, किन कर्मों का बन्ध, किन कर्मों का उदय और किन कर्मों की उदीरणा होती है। इसीलिए हमने कर्म विषयक इस व्याख्यानमाला में गुणस्थान का आज लिया है। हम पहले गुण-स्थान का अर्थ बताते हैं, फिर उनकी संख्या बतायेंगे और तब उनके स्वरूप का वर्णन करेंगे।

गुणस्थान का अर्थ

जैसे पाप का स्थान पापस्थान या पापस्थानक कहलाता है, वैसे ही गुण का स्थान गुणस्थान या **'गुणस्थानक'** कहलाता है। प्राकृत या अर्ध मागधी भाषा में उसका रूप **'गुणठाण'** होता है। अपभ्रंश-भाषा में उसे **'गुणठाणु'** कहते हैं।

अब गुण और स्थान इन शब्दों का अर्थ समझ लें। गुण से तात्पर्य है—आत्मा के गुण! वे ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं। उनका स्थान अर्थात् उनकी अवस्था। इस प्रकार गुणस्थान का अर्थ हुआ—'आत्मा के गुणों के विकास की विविध अवस्थाएँ।'

गुणस्थानों की संख्या

तात्त्विक दृष्टि से देखें, तो आत्मा के विकास की अवस्थाएँ असख्य हैं, इसलिए गुणस्थानों की सख्या भी असख्य है। परन्तु, इस तरह उनका व्यवहार नहीं हो सकता, इसलिए शास्त्रकारों ने उनका वर्गीकरण चौदह विभागों में किया है। इन चौदह विभागों को ही हम चौदह गुण स्थान कहते हैं। अभी तक आपने ७ वें, १२ वें और १४-वें गुणस्थानों की बात सुनी है। १५-वाँ १८-वाँ अथवा २०-वाँ गुणस्थान आपने सुना नहीं। बात यह है कि, जैसे वार ७ हैं, ८-वाँ होता ही नहीं, तिथि पन्द्रह हैं, १६-वीं नहीं होती, उसी प्रकार गुणस्थान १४ मात्र हैं, १५-वाँ गुणस्थान होता ही नहीं।

गुणस्थानों के नाम

पहले १४ गुणस्थानों के नाम बता दें। ऐसे तो उनको स्मरण रखना कठिन है पर शास्त्रकारों ने चौदह गुणस्थानों के नाम एक ही गाथा में इस प्रकार पिरो दिया है कि व्यक्ति उन्हें सरलता से स्मरण कर सकता है। वह गाथा इस प्रकार है—

मिच्छे सासण-मीसे, अविरय-देसे पमत्त-अपमत्ते।
नियट्टि अनियट्टि सुहुमुवसमखीणसजोगिअजोगि गुणा॥

१ **मिच्छे**=मिथ्यात्व गुणस्थान
२ **सासण**=सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान
३ **मीसे**=सम्यग् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान
४ **अविरय**=अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान
५ **देसे**=देशविरति गुणस्थान
६ **पमत्त**=प्रमत्त सयत गुणस्थान
७ **अपमत्त**=अप्रमत्त सयत गुणस्थान
८ **नियट्टि**=निवृत्तिबादर गुणस्थान

९ अनिअट्टि = अनिवृत्ति बादर गुणस्थान
१० सुहम = सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान
११ उवसम = उपशांतमोह गुणस्थान
१२ खीण = क्षीणमोह गुणस्थान
१३ सजोगि = सयोग केवली गुणस्थान
१४ अजोगि = अयोग केवली गुणस्थान
ये ही चौदह गुणस्थान हैं।

गुणस्थानों का क्रम

जब संख्या बड़ी होती है तो उसमें आदि, मध्य और अन्त होता है। इस दृष्टि से प्रथम गुणस्थान आदि है, दो से तेरहवाँ गुणस्थान तक मध्य है और १४-वाँ गुणस्थान अन्त है।

क्रम दो प्रकार के होते हैं—एक चढ़ता और दूसरा उतरता। अहोरात्रि, पक्ष, मास, ऋतु और वर्ष ये चढ़ते क्रम हैं, क्योंकि उनमें कालमान उत्तरोत्तर विस्तृत ही होता जाता है और संसार, महाद्वीप, देश, प्रान्त और जिला उतरते क्रम हैं, क्योंकि इनमें क्षेत्र विस्तार उत्तरोत्तर कम ही होता जाता है। इन दो प्रकारों में गुणस्थानों का क्रम आरोही है, क्योंकि उसमें आत्मा उत्तरोत्तर विकसित होती जाती है।

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान

मिथ्यात्व में रहनेवाली आत्मा की अवस्था विशेष मिथ्यात्व गुणस्थान है। यहाँ मिथ्यात्व शब्द से व्यक्त मिथ्यात्व समझना चाहिए। इस गुणस्थान में रहनेवाली आत्मा रागद्वेष के गाढ़ परिणामवाली होती है और भौतिक उन्नति में ही लिप्त रहनेवाली होती है—तात्पर्य यह कि उसकी सब प्रवृत्तियों का लक्ष्य सांसारिक सुखों का उपभोग और उसी के लिए आवश्यक साधनों का संग्रह होता है। ऐसी आत्माएँ आध्यात्मिक विकास से पराङ्-

मुख होती है, इसलिए उन्हें मोक्ष की बात अच्छी नहीं लगती और उसके साधनों के प्रति उनमें एक प्रकार का तिरस्कार भाव होता है।

यहाँ प्रश्न होगा कि 'जहाँ मिथ्यात्व अर्थात् 'श्रद्धा का विपरीतभाव' है, वहाँ गुणस्थान कैसे हो सकता है?' इसलिए इसका स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। व्यक्त मिथ्यात्वी में 'श्रद्धा का विपरीत भाव' अवश्य होता है, पर उसमें आत्मा के ज्ञानादि गुणों का एक अंश मे विकास विद्यमान रहता है। इसलिए, उसे गुणस्थान माना गया है। गिनती-पहाड़े सीखनेवाले में विद्या का भला क्या संस्कार माना जा सकता है? फिर भी, हम उसे विद्यार्थी कहते हैं। यहाँ गुणस्थान शब्द का प्रयोग भी इसी प्रकार समझना चाहिए। आगमों में कहा है कि—

सव्व जीयाण मक्खरस्स अणंतो भागो निच्च उघाडियो चिट्ठइ।
जाई पुण सोवि आवरिज्जातेण जीतो अजीवत्तणं पाऽणिज्जा॥

—'सब जीवों को अक्षर का यानी ज्ञान का अनन्तवाँ भाग निरन्तर खुला रहता है। अगर वह भी रुक जाये तो जीव अजीवपने को प्राप्त हो जाये।'

मिथ्यात्व पाँच प्रकार का है। यह बात पहले के व्याख्यानों में बता दी गयी है। वे पाँच प्रकार हैं—(१) अभिग्रहिक मिथ्यात्व, (२) अनभिग्रहिक मिथ्यात्व, (३) आभिनिवेशिक मिथ्यात्व, (४) सांशयिक मिथ्यात्व और (५) अनाभोगिक मिथ्यात्व।

मिथ्यादर्शन को पकड़े रहनेवाला और पौद्गलिक सुखों में अधिक रति रखनेवाला जीव अभिग्रहिक मिथ्यात्वी है। सब धर्म अच्छे हैं, सब दर्शन सुन्दर हैं, ऐसा माननेवाले को अनभिग्रहिक मिथ्यात्व होता है। सब दर्शनों और धर्मों को अच्छा कहेंगे तो उदारहृदय और महान कहलायेंगे यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। अच्छे बुरे का विवेक न होना वस्तुतः मूढता है। उसे उदारता कैसे कह सकते हैं? और, बड़े कहलानेवाले लोग

का अन्धानुकरण करने से हम बड़े नहीं हो जाते। आजकल के कुछ तथा कथित 'बड़े आदमी' सब धर्मों को अच्छा मानकर उनमें से थोड़ा थोड़ा ग्रहण करने का परामर्श देते हैं। लेकिन, लोहा, जस्ता, सीसा, कलई, ताँबा, चाँदी आदि थोड़ा थोड़ा लेकर एक में मिलाने से स्वर्ण की उत्पत्ति नहीं हो जाती। उसके लिए तो स्वर्ण के अंशों को ही ग्रहण करना चाहिए। इस युग में इस मिथ्यात्व से विशेषरूप में बचना चाहिए। बहुधर्मी लोगों में, चाहे वे निह्नव हों या उनसे भिन्न कुछ और, इस मिथ्यात्व की बहुलता होती है।

जिन्हें तत्त्व के सूक्ष्म या अतीन्द्रिय विषय में संशय हो और उस संशय का निवारण करने के लिए किसी सद्गुरु का संग करने की भी इच्छा न हो, वह सांशयिक मिथ्यात्वी है।

सूक्ष्म और बादर निगोद, विकलेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को और संज्ञी पंचेन्द्रिय (मनुष्य, तिर्यंच) में से जिन जीवों ने एक बार भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया है, उन्हें अनाभोगिक मिथ्यात्व होता है। यहाँ यह स्पष्ट कर दें कि संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में जिन जीवों को एक बार भी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया हो और जिन्होंने पुनः मिथ्यात्व प्राप्त किया हो, उन्हें इस मिथ्यात्व के अतिरिक्त कोई अन्य मिथ्यात्व होता है।

काल की अपेक्षा से मिथ्यात्व तीन प्रकार का है (१) अनादि-अनन्त, (२) अनादि-सांत और (३) सादि-सान्त। इनसे भी हम परिचित हो लें।

अभव्य आत्मा को मिथ्यात्व अनादि काल से होता है और वह कभी दूर नहीं होता, इसलिए उनका मिथ्यात्व **अनादि-अनन्त** कहा जाता है। जाति भव्य के अतिरिक्त भव्य आत्माओं को मिथ्यात्व अनादि काल से होता है, पर उसका अन्त है, इसलिए वह **अनादि-सांत** है। और, जो भव्य

सम्यक्त्व पाकर मिथ्यात्वी हो गये हैं, उनके मिथ्यात्व का अन्त आनेवाला है, इसलिए उनका मिथ्यात्व **सादि-सात** है।

ये सब जीव पहले इस गुणस्थान में होते हैं।

(२) सास्वादन-सम्यग्दृष्टि-गुणस्थान

जब जीव को मिथ्यात्व नहीं होता और सम्यक्त्व भी नहीं होता, पर सम्यक्त्व का कुछ स्वाद होता है, तब उसे सास्वादन सम्यग्दृष्टि नामक दूसरे गुणस्थान में माना जाता है। सास्वादन यानी कुछ स्वाद सहित। सास्वादन मे तीन पद हैं—स + आ + स्वादन। इनमें 'स' का अर्थ 'सहित' है, 'आ' का अर्थ 'किंचित्' है, और 'स्वादन' का अर्थ 'स्वाद' है। इस तरह सास्वादन का अर्थ 'कुछ स्वाद सहित' होता है।

आत्मा की ऐसी अवस्था कब होती है, इसे भी समझ लीजिए। ससारी जीव अनन्त पुद्गल परावर्तन काल तक मिथ्यात्व में पड़ा हुआ भवभ्रमण करता रहता है। नदी का पत्थर टूटता और रगड़ खाता हुआ अंत में गोल बन जाता है, उसी तरह यह जीव अनायोग रूपसे प्रवृत्ति करता हुआ, जब आयुष्य कर्म के अतिरिक्त सातों कर्मों की स्थिति एक कोड़ाकोड़ी-सागरोपम से पल्योपम का असख्यातवाँ भाग कम की कर लेता है, तब वह राग द्वेष के अति निबिड़ परिणाम रूप ग्रन्थि प्रदेश के समीप आता है। अभव्य जीव भी इस तरह कर्मस्थिति हल्की करके, अनन्ता बार ग्रन्थि के समीप आते हैं, पर वे उस ग्रन्थि का भेद नहीं कर सकते, जबकि भव्य जीव विशुद्ध परिणामों की कुल्हाड़ी से उस ग्रन्थि को तोड़ डालते हैं और सम्यक्त्व के सम्मुख पहुँच जाते हैं।

जीव की उन्नति के इस इतिहास को शास्त्रकारों ने तीन करणों में बाँटा है। (१) यथाप्रवृत्तिकरण, (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवृत्तिकरण। एक गाथा है—

जा गठि ता पढम, गंठि समइच्छओ भवे बीय ।
अनियट्टीकरणं पुण, सम्मतपुरक्खडे जीवे ॥

—ग्रन्थि समीप आने तक की क्रिया को प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण समझना चाहिए, ग्रन्थि का भेद करे तब दूसरा अपूर्वकरण समझना चाहिए, और सम्यक्त्व के सम्मुख हो तब तीसरा अनिवृत्तिकरण समझना ।

उसके बाद वह अन्त करण की क्रिया करता है। उसमें पहली स्थिति म मिथ्यात्व के दलियों का वेदन करता है, अर्थात् वह मिथ्यात्वी होता है। पर, अन्तर्मुहूर्त के बाद उसे मिथ्यात्व के दलियों का वेदन नहीं करना पड़ता, इसलिए वह औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। उस क्रिया को शास्त्रकारों ने दावानल के समान बताया है—जैसे कोई दावानल प्रकट हुआ हो और वह क्रमश आगे बढ़ता जाये, पर पहले जला हुआ प्रदेश आये या ऊसर भूमि आये, तब वह बुझ जाता है, वैसे ही मिथ्यात्व रूपी दावानल भी अन्त करण की दूसरी स्थिति प्राप्त होने पर मिथ्यात्व के दलियों के वेदन के अभाव में बुझ जाता है।

इस सम्यक्त्व का कालमान अन्तर्मुहूर्त का है। उसमें जघन्य एक समय बाद और उत्कृष्ट ६ आवलिका के बाद किसी जीव को अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय हो तो वह सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर चल पड़ता है। उस समय उसे सम्यक्त्व का कुछ स्वाद होता है। एक व्यक्ति दूधपाक खाये और वमन में वह निकल जाये तो वमन के बाद भी उस दूधपाक का स्वाद आता ही रहता है। उसी के समान इस गुणस्थान की स्थिति समझनी चाहिए।

चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लगाकर ग्यारहवें उपशातमोह-गुणस्थान तक के जो जीव मोह के उदय से गिरते हैं, वे इस गुणस्थान

में आते हैं और जघन्य १ समय बाद तथा उत्कृष्ट ६ आवलिका के बाद, वे मिथ्यात्व को अवश्य पाते हैं।

यह गुणस्थान ऊँचे चढ़ते हुए जीवों को नहीं, नीचे गिरते हुए जीवों को होता है, इसलिए इसे अवनति स्थान मानना चाहिए। फिर भी इस गुणस्थान पर आनेवाले जीव अवश्य ही मोक्ष जानेवाले होते हैं, और पहले गुणस्थान से यह बढ़कर है, इसीलिए दूसरी भी गणना गुणस्थान ही है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि, पहला, दूसरा और तीसरा गुणस्थान जीव की अविकसित दशा सूचित करते हैं और उसके बाद के गुणस्थान विकसित दशा की सूचना देते हैं। चौथे गुणस्थान पर जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। वह उसके सच्चे आध्यात्मिक विकास का प्रारम्भ है।

तीर्थंकर भगवन्तों के जीवन में पूर्व भवों का वर्णन आता है, उसमें पूर्व भव की शुरुआत वहीं से होती है, जहाँ से उनकी आत्मा ने सम्यक्त्व का स्पर्श किया हो।

यह गुणस्थान सादि-सान्त है और वह अभव्य को नहीं होता।

(३) सम्यग्-मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान

दर्शनमोहनीय-कर्म की दूसरी प्रकृति मिश्र मोहनीय है। उसके उदय से जीव को एक साथ समान परिमाण में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिश्र भाव होता है। इसीलिए इसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि या मिश्र गुणस्थान कहा जाता है।

जो जीव सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्व इन दो में से किसी एक भाव में वर्तता हो, तो वह जीव मिश्र गुणस्थानवाला न कहा जायेगा, कारण कि, यहाँ मिश्र भाव एक नये जाति के तीसरे भाव के समान है।

जैसे घोड़ी और गधे के संयोग से खच्चर होता है, गुड़ और दही के संयोग से एक तीसरा ही स्वाद आता है, उसी प्रकार जिस जीव की बुद्धि

सर्वज्ञ-भाषित और असर्वज्ञ भाषित में समान श्रद्धावाली हो जाती है, उस जीव को एक नयी जाति का मिश्र परिणाम उत्पन्न होता है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि, मिश्र-गुणस्थान में रहने वाला जीव परभव में भोगने योग्य आयुष्य का बन्ध नहीं करता। इस अवस्था में वह मरण भी नहीं पाता। वह चौथे सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पर चढ़कर या मिथ्यादृष्टि गुणस्थान पर आकर मरण पाता है।

प्रश्न—"चौदह गुणस्थानों में ऐसे गुणस्थान कौन से हैं कि, जिन म जीव मरण नहीं पाता ?"

उत्तर—"तीसरा मिश्र-गुणस्थान, बारहवाँ क्षीणमोह गुणस्थान और तेरहवाँ सयोगी-गुणस्थान—ये तीन गुणस्थान ऐसे हैं कि, जिनमें जीव का मरण नहीं होता, शेष ग्यारह गुणस्थानों में होता है।

प्रश्न—"मरण के समय कोई गुणस्थान जीव के साथ जाता है या नहीं ?"

उत्तर—"पहला मिथ्यात्व, दूसरा सास्वादन और चौथा अविरति गुणस्थान मरण के समय जीव के साथ जाते हैं, शेष गुणस्थान मरते समय जीव के साथ नहीं जाते।"

यहाँ यह स्पष्ट कर दूँ कि, मिश्र-गुणस्थान की प्राप्ति से पहले जीव ने सम्यक्त्व का या मिथ्यात्व का भाव ग्रस्त कर जो आयुष्य बाँधा होगा, उस भाव सहित जीव मरण पाता है और उस भाव के अनुसार सद्गति या दुर्गति पाता है।

यह गुणस्थान सादि-सान्त है और इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। जिसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिश्र भाव हो, उसके मन की स्थिति डाँवाडोल होनी स्वाभाविक है।

(४) अविरत-सम्यग्दृष्टि-गुणस्थान

आध्यात्मिक विकास का सच्चा मण्डान इस गुणस्थान से होता है, इस-

में आते हैं और जघन्य १ समय बाद तथा उत्कृष्ट ६ आवलिका के बाद, वे मिथ्यात्व को अवश्य पाते हैं।

यह गुणस्थान ऊँचे चढते हुए जीवों को नहीं, नीचे गिरते हुए जीवों को होता है, इसलिए इसे अवनति स्थान मानना चाहिए। फिर भी इस गुणस्थान पर आनेवाले जीव अवश्य ही मोक्ष जानेवाले होते हैं, और पहले गुणस्थान से यह बढकर है, इसीलिए दूसरी भी गणना गुणस्थान ही है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि, पहला, दूसरा और तीसरा गुणस्थान जीव की अविकसित दशा सूचित करते हैं और उसके बाद के गुणस्थान विकसित दशा की सूचना देते हैं। चौथे गुणस्थान पर जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। वह उसके सच्चे आध्यात्मिक विकास का प्रारम्भ है।

तीर्थंकर भगवन्तों के जीवन में पूर्व भवों का वर्णन आता है, उसमें पूर्व भव की शुरुआत वहीं से होती है, जहाँ से उनकी आत्मा ने सम्यक्त्व का स्पर्श किया हो।

यह गुणस्थान सादि-सान्त है और वह अभव्य को नहीं होता।

(३) सम्यग्-मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान

दर्शनमोहनीय-कर्म की दूसरी प्रकृति मिश्र-मोहनीय है। उसके उदय से जीव को एक साथ समान परिमाण में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिश्र भाव होता है। इसीलिए इसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि या मिश्र गुणस्थान कहा जाता है।

जो जीव सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्व इन दो में से किसी एक भाव में वर्तता हो, तो वह जीव मिश्र गुणस्थानवाला न कहा जायेगा, कारण कि, यहाँ मिश्र भाव एक नये जाति के तीसरे भाव के समान है।

जैसे घोड़ी और गधे के सयोग से खच्चर होता है, गुड़ और दही के सयोग से एक तीसरा ही स्वाद आता है, उसी प्रकार जिस जीव की बुद्धि

(१) औपशमिक, (२) क्षायोपशमिक और (३) क्षायिक।

जिस जीव को अनंतानुबंधी चार कषाय और मिथ्यात्व मोहनीय सत्ता में हो, परन्तु प्रदेश और रस से उसका उदय न हो, उसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है। हम प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश के विषय में एवं कर्म की सत्ता और कर्म के उदय के विषय में समुचित रूप से स्पष्टीकरण कर चुके हैं, इसलिए आपको यह वस्तु समझने में कठिनाई नहीं होगी।

किसी आदमी के सर पर बड़ा ऋण हो और लेनदार उसके लिए कड़ा तकाजा करते हों, तो उस आदमी की परेशानी की हद नहीं होती। पर, वे लेनदार किसी प्रकार आने बन्द हो जायें तो उस आदमी को कितनी राहत मिलती है। औपशमिक सम्यक्त्व म भी लगभग ऐसी ही स्थिति होती है। अनंतानुबंधी चार कषाय और मिथ्यात्व मोहनीय सत्ता में रहते हैं, परन्तु प्रदेश या रस से उनका उदय नहीं होता, इसलिए आत्मा को सम्यक्त्व होता है। यह सम्यक्त्व कर्मों के उपशम से प्राप्त हुआ होने के कारण औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है।

जिस जीव को मिथ्यात्व मोहनीय सत्ता में है, सम्यक्त्व मोहनीय

(पृष्ठ ४५४ की पादटिप्पणि का शेषांश)

सम्यक्त्व है। वह नैसर्गिक अर्थात् स्वभाव से उत्पन्न होनेवाला और औपदेशिक अर्थात् गुरु आदि की हितशिक्षा से उत्पन्न होनेवाला ऐसे दो प्रकार का है। क्षायिक क्षायोपशमिक और औपशमिक ये उसके तीन प्रकार हैं। इनमें सास्वादन जोड़ दें तो चार प्रकार होते हैं और उसमें वेदक जोड़ दें तो पाँच प्रकार होते हैं। इन पाँच प्रकारों के नैसर्गिक और औपदेशिक ऐसे दो दो प्रकार गिनें तो सम्यक्त्व के दस प्रकार हो जाते हैं।

कुछ लोग कारक, रोचक और दीपक के भेद से भी सम्यक्त्व के तीन प्रकार मानते हैं, परन्तु इनमें दीपक-सम्यक्त्व तो मात्र उपचार से सम्यक्त्व कहलाता है। वास्तव में यह सम्यक्त्व नहीं है।

लिए उसका स्वरूप भलीभाँति समझ लें। इसे सक्षेप में 'सम्यक्त्वगुण स्थान' या 'समकितगुण ठाणु' भी करते हैं। **'समकित गुणठाणे परिणम्या, वली व्रतधर सयम सुख रम्या'**। ये पक्तियाँ आपने सुनी होंगी, याद भी होंगी, क्योंकि ये श्री वीर विजय जी महाराज-कृत स्नात्र पूजा में आती है और इस स्नात्र का सतत पाठ होता है। कितने ही भाग्यशाली स्नात्र रोज पढ़ाते हैं और अपना सम्यक्त्व दृढ करते हैं। कुछ लोग वार-पर्व में स्नात्र पढ़ाकर अर्हद्-भक्ति का लाभ लेते हैं। इसके लिए इस शहर में और दूसरे स्थानों पर कई स्नात्र मडल स्थापित किये गये हैं। यह प्रवृत्ति अनुमोदनीय है।

इस गुणस्थान में पहले 'अविरत' शब्द क्यों लगाया ? इसे भी स्पष्ट कर दें। इस गुणस्थान पर आनेवाले की अनन्तानुबन्धी कषायें उदय में नहीं होतीं, प्रत्याख्यानी आदि कषायें उदय मे होती हैं, इसलिए चारित्र अर्थात् विरति नहीं होती। इसीलिए उसके पहले 'अविरति' शब्द लगाया है। पूर्व व्याख्यानों मे सम्यक्त्व के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियो से काफी कहा गया है, लेकिन यहाँ सम्यक्त्व का प्रसग विशेष रूप म चल रहा है, इसलिए उसके विषय म कुछ अन्य जानने योग्य बातें कहूँगा।

सम्यक्त्व के भेदों की गणना[१] अनेक प्रकार से होती है, उनम से तीन भेद यहाँ विशेष प्रकार से विचारने योग्य हैं —

---

१ सम्यकत्व के प्रकारों के विषय में नीचे की दो गाथाएँ प्रचलित हैं

एगविहदुविहतिविह, चउहा पंचविह दसविह सम्म।
एकविह तत्तरुई, निस्सग्गुवएसओ भवे दुविह ॥१॥
खइय खओवसमिय उवसमिय इय तिहा नेय।
खइयाइसासणजुअ, चउहावेअगजुअ च पंचविह ॥२॥

एक प्रकार, दो प्रकार, तीन प्रकार, चार प्रकार, पाँच प्रकार दस प्रकार, इस प्रकार सम्यक्त्व के अनेक प्रकार कहे हैं। तत्त्व पर रुचि होना एक प्रकार का

जो जीव सम्यक्त्ववाला है, सम्यग्दर्शन से युक्त है, वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है। ऐसा जीव अठारह दोष से रहित, रागद्वेष का परमविजेता अरिहंत भगवत को देव मानता है, त्यागी महाव्रतधारी साधु को गुरु मानता है और सर्वज्ञ प्रणीत दान-शील-तप भावमय धर्म को सच्चा धर्म मानता है। वह जिनवचन में शका नहीं करता, शास्त्रविहित शुद्ध क्रिया अनुष्ठान के फल में सशययुक्त नहीं होता, मिथ्यात्वियों की प्रशसा नहीं करता और मिथ्यात्वी से परिचय नहीं बढाता। वह जीव और अजीव को प्रथम मानता है, आत्मा को कर्म का कर्ता और कर्म फल का भोक्ता मानता है तथा पुरुषार्थ से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, ऐसी दृढ मान्यता रखता है। उसे सत्य के प्रति दृढ प्रीति होती है और असत्य के प्रति उतनी ही दृढ़ अनगम (अरुचि) होती है। वह आजीविका के लिए आरभ-समारभ नहीं करता। दिल में पाप का डर रखता है। और, कोई भी प्रवृत्ति निर्दयता के परिणाम से नहीं करता।

सम्यक्त्व के आये बिना कोई विरत नहीं बन सकता—अर्थात् विरत बनने के लिए यह अवस्था प्राप्त करनी आवश्यक है।

औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरोपम से भी अधिक है। इस प्रकार ये दोनों सम्यक्त्व सादि-सान्त हैं, जबकि क्षायिक सम्यक्त्व एक बार आने के बाद फिर जाता नहीं। अत उसकी स्थिति सादि अनन्त है।

चारों गति के जीव सम्यक्त्व पा सकते हैं पर, जो सिद्ध जीव हैं। वे सम्यक्त्व के अधिकारी हैं। जिसे एक बार सम्यक्त्व का स्पर्श हुआ उनका ससार आधे पुद्गलपरावर्तन-काल से अधिक नहीं है यह बात हम पहले बता आये हैं। जघन्य से तो यह अन्तर्मुहूर्त में भी ससार का छेदन करके मोक्ष-गामी बन सकता है, और ज्यादा से-ज्यादा अपार्ध पुद्गल परावर्तन-काल है। साधु पुरुषों का सग और उनका उपदेश सम्यक्त्व की प्राप्ति में प्रबल

की दलिया उदय में है, परन्तु चार अनन्तानुबन्धी कषाय और सम्यक्त्व मोहनीय के प्रदेश का रस से उदय नहीं है, उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है।

और, जिस जीव ने चार कषायों एवं मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व इन तीनों प्रकार के दर्शनमोहनीय कर्म का पूर्णतया क्षय कर डाला है, उसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

जीव को प्रथम बार सम्यक्त्व की स्पर्शना हो, तब प्राय औपशमिक सम्यक्त्व होता है और इस सम्यक्त्व को पाने के बाद मिथ्यात्व में गये जीव को फिर सम्यक्त्व हो, तब इन तीनों में से कोई एक सम्यक्त्व होता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, मनुष्यगति में रहनेवाले जीवों को एक समय पर इन तीन सम्यक्त्वों में से किसी एक प्रकार का सम्यक्त्व प्राप्त होता है, जबकि नारकी, तिर्यंच और देवगति में रहनेवाले जीवों को एक समय पर औपशमिक और क्षायोपशमिक में से एक प्राप्त हो सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि, क्षायिक सम्यक्त्व का अधिकारी मात्र सज्ञी पचेन्द्रिय मनुष्य ही है।

समस्त भव भ्रमण के दौरान में आत्मा को कौन सा समकित कितनी बार हो सकता है, इसे भी शास्त्रकारों ने बतलाया है। समस्त भव भ्रमण में आत्मा को औपशमिक सम्यक्त्व अधिक से अधिक पाँच बार हो सकता है, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व असख्यात बार हो सकता है और क्षायिक सम्यक्त्व मात्र एक ही बार हो सकता है।

इस ससार में औपशमिक सम्यक्त्ववाले जीव असख्यात हैं। क्षायोपशमिकवाले जीव असख्यात हैं और क्षायिक सम्यक्त्ववाले जीव अनन्त है। सिद्ध जीवों को भी क्षायिक सम्यक्त्व होता है, इसलिए इस सम्यक्त्ववालों की सख्या अनन्त है। यह सम्यक्त्व सिद्ध जीवों को होता है।

डाली। उन्होंने इससे पहले बहुत से, ब्राह्मण, श्रमण और परिव्राजक देखे थे, अनेक परिव्राजकों का परिचय भी प्राप्त किया था, पर उनमें से किसी ने उन मुनिवर जैसी छाप दिल पर नहीं डाली थी।

मगधराज स्वाभाविक रूप में ही उनके प्रति नतमस्तक हो गये। उन्होंने तीन बार प्रदक्षिणा करके उन मुनिराज के प्रति अपना भक्ति भाव प्रकट किया और दोनों हाथ जोड़कर उचित दूरी पर मुनिवर के सामने खड़े हो गये।

कुछ देर में मुनिवर का ध्यान पूरा हुआ और उन्होंने अपने नेत्र-कमल खोले। उन्होंने श्रेणिक को सामने खड़ा देखा, इसलिए उन्होंने साधु धर्म के योग्य 'धर्मलाभ' कहा।

मगधराज ने अपना मस्तक नमा कर कृतज्ञता प्रकट की। फिर विनयपूर्वक पूछा—"हे मुनिवर! अगर आपकी साधना में किसी प्रकार का विघ्न न आता हो तो मैं एक बात पूछना चाहता हूँ?"

मुनिवर ने कहा—"राजन्! बात दो प्रकार की होती है—एक सदोष और दूसरी निर्दोष। भुक्त कथा, स्त्री कथा, देश कथा और राज-कथा सदोष बातें हैं। ऐसी बातों में मुनि नहीं पड़ते। लेकिन, जिस बात से ज्ञान की वृद्धि हो, श्रद्धा की पुष्टि हो, सदाचार का विकास हो, वैसी बात निर्दोष है। ऐसी बातें मुनियों की साधना में बाधक नहीं होतीं। इतना लक्ष्य में रखकर तुम्हें जो कहना हो कहो।"

मगधराज ने कहा—"हे पूज्य! मैं यही जानना चाहता हूँ कि, ऐसी तरुण अवस्था में भोग भोगने के बजाय आपने संयम का मार्ग क्यों ग्रहण किया? ऐसा क्या प्रबल प्रयोजन था, जो आपको इस त्याग-मार्ग की तरफ खींच लाया?"

मुनिराज ने कहा—"हे राजन्! मैं अनाथ था, मेरा कोई नाथ नहीं था, इसलिए मैंने यह संयम मार्ग ग्रहण किया है।"

निमित्त बनता है । श्रेणिक राजा को सम्यक्त्व की प्राप्ति किस तरह हुई यह सुनकर आपको इसकी प्रतीति होगी ।

श्रेणिकराजा को सम्यक्त्व की प्राप्ति

राजगृही-नगरी के बाहर मण्डितकुक्षि नामक एक मनोहर उद्यान था। उसमें विविध जाति के वृक्ष उगे हुए थे और उन पर मोर चकोर, शुक-सारिका, काक कोयल, आदि अनेक जाति के पक्षी निवास करते थे। उस उद्यान में अनेक प्रकार के फूल खिले हुए थे, सुन्दर लता मडप दृष्टिगोचर होते थे और नाना जलाशयों में हस, बतख, बगुले आदि जलचर पक्षी निरन्तर क्रीड़ा करते थे।

उस उद्यान में साधु सन्यासी उतरते थे और श्रीमत तथा सैलानी भी सैर करने आते थे। पर्व के दिनों में तो उस उद्यान में मेला ही लग जाता था।

मगधराज श्रेणिक को वह उद्यान बहुत प्रिय था, इसलिए वह बारबार वहाँ आते और उसके रमणीय वातावरण में अपना दिल बहलाते। आज वैसा ही एक प्रसग था, जब वे अपने साथ के सेवकों को दूर बिठा कर स्वय अकेले उद्यान में विहार कर रहे थे।

वे वृक्षों, लताओं और पुष्पो का निरीक्षण कर रहे थे तो वहाँ वृक्ष की जड़ के पास कुछ दूर बैठे हुए एक नवयुवक मुनि की ओर उनका ध्यान गया।

अग पर एक ही वस्त्र था। सुखासन से स्थिर बैठे हुए थे। नयन मुँदे हुए थे और मन पूरी तरह ध्यान में विमग्न था। उनका देह गौरवर्ण था, मुख पर तेज व्याप्त था। सौम्य और सज्जनता उनके चेहरे पर स्पष्ट झलक रही थी।

मुनिवर के इस व्यक्तित्व ने मगधराज पर बड़ी गहरी छाप

डाली। उन्होंने इससे पहले बहुत से, ब्राह्मण, श्रमण और परिव्राजक देखे थे, अनेक परिव्राजकों का परिचय भी प्राप्त किया था, पर उनमें से किसी ने उन मुनिवर जैसी छाप दिल पर नहीं डाली थी।

मगधराज स्वाभाविक रूप में ही उनके प्रति नतमस्तक हो गये। उन्होंने तीन बार प्रदक्षिणा करके उन मुनिराज के प्रति अपना भक्ति-भाव प्रकट किया और दोनों हाथ जोड़कर उचित दूरी पर मुनिवर के सामने खड़े हो गये।

कुछ देर में मुनिवर का ध्यान पूरा हुआ और उन्होंने अपने नेत्र-कमल खोले। उन्होंने श्रेणिक को सामने खड़ा देखा, इसलिए उन्होंने साधु धर्म के योग्य 'धर्मलाभ' कहा।

मगधराज ने अपना मस्तक नमा कर कृतज्ञता प्रकट की। फिर विनयपूर्वक पूछा—"हे मुनिवर! अगर आपकी साधना में किसी प्रकार का विघ्न न आता हो तो मैं एक बात पूछना चाहता हूँ?"

मुनिवर ने कहा—"राजन्! बात दो प्रकार की होती है—एक सदोष और दूसरी निर्दोष। भुक्त-कथा, स्त्री-कथा, देश कथा और राज-कथा सदोष बातें हैं। ऐसी बातों में मुनि नहीं पड़ते। लेकिन, जिस बात से ज्ञान की वृद्धि हो, श्रद्धा की पुष्टि हो, सदाचार का विकास हो, वैसी बात निर्दोष है। ऐसी बातें मुनियों की साधना में बाधक नहीं होतीं। इतना लक्ष्य में रखकर तुम्हें जो कहना हो कहो।"

मगधराज ने कहा—"हे पूज्य! मैं यही जानना चाहता हूँ कि, ऐसी तरुण अवस्था में भोग भोगने के बजाय आपने संयम का मार्ग क्यों ग्रहण किया? ऐसा क्या प्रबल प्रयोजन था, जो आपको इस त्याग-मार्ग की तरफ खींच लाया?"

मुनिराज ने कहा—"हे राजन्! मैं अनाथ था, मेरा कोई नाथ नहीं था, इसलिए मैंने यह संयम मार्ग ग्रहण किया है।"

इस उत्तर से मगधराज को आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा—"आप सरीखे प्रभावशाली पुरुष अनाथ हों यह तो बड़ी अजीब बात है। अगर अपने इसी के लिए सयम मार्ग लिया हो तो मैं आपका नाथ होने को तैयार हूँ। आप मेरे राजमहल में पधारें और वहाँ सुख से दिन गुजारें।"

मगधराज के ये शब्द सुनकर मुनिवर के मुख पर मुस्कान छा गयी। उन्होंने कहा—"हे राजन्! सभी अपने अधिकार की चीज दूसरे को दे सकते हैं। चाँद चाँदनी दे सकता है, सूर्य गर्मी दे सकता है, नदी जल और वृक्ष फल दे सकते हैं। नाथ होना तेरे अधिकार में नहीं है, इसलिए तू मेरा नाथ नहीं हो सकता। तू तो स्वय ही अनाथ है।"

ये शब्द सुनते ही मगधराज चमके। ऐसे शब्द तो आज तक किसी ने उनसे कहे नहीं थे। उन्होंने अपने क्षत अभिमान को ठीक करते हुए कहा—'हे आर्य! आपकी बात से जान पड़ता है कि आपने मुझे पहचाना नहीं। मैं अग और मगध देश का महाराजा श्रेणिक हूँ। मेरे अधिकार में हजारों कस्बे और लाखों गाँव हैं। मैं हजारों हाथी घोड़े और असख्य रथ सुभटों का स्वामी हूँ। मेरा अन्त पुर रूपवती रमणियों से भरा हुआ है। मेरे पाँच सौ मत्री हैं, जिनका प्रधान मेरा पुत्र अभयकुमार है। मेरे हजारों मित्र और सुहृद हैं, जो मेरी हर समय चिन्ता रखते हैं। मेरा ऐश्वर्य अद्वितीय है। मेरी आज्ञा अनुल्लघनीय है। ऐसी ऋद्धि सिद्धि और ऐसा अधिकार होते हुए भी मैं अनाथ कैसे हूँ?"

मुनिवर ने कहा—"राजन्! मैं जानता हूँ कि, तू अंग और मगध का अधिपति महाराजा श्रेणिक है। तेरे ऐश्वर से भली-भाँति परिचित हूँ। फिर भी कहता हूँ कि, नाथ होना तेरे अधिकार मे नहीं है, इसलिए तू मेरा नाथ नहीं हो सकता। तू स्वय ही अनाथ है।"

मगधराज समझ गये कि इन वचनो को मुनिराज ने बेसमझे या उतावली के कारण प्रयोग नहीं किया। उन्होंने कहा—"हे महात्मन्!

आपके वचन कभी असत्य नहीं हो सकते। पर मुझे यह नहीं लगता कि, मैं अनाथ हूँ और आपका नाथ नहीं हो सकता।"

मुनिवर ने कहा—"हे राजन्! तूने अनाथ और सनाथ के भाव को नहीं समझा। उसे समझने के लिए तुझे मेरा पहले का जीवन सुनना पड़ेगा। वह मैं तुझे सक्षेप में सुनाता हूँ।"

मुनिवर का इशारा पाकर श्रेणिक नीचे बैठ गये और उत्सुकतापूर्वक सुनने लगे।

मुनिवर ने कहा—"हे राजन्! छठे तीर्थंकर श्री पद्मप्रभ स्वामी के पवित्र चरणों से पवित्र हुई और धनधान्य से अत्यन्त समृद्ध कौशाबी नगरी में मेरे पिता रहते थे। वे धनपतियों में अग्रगण्य थे। मैं अपने पिता का बहुत ही लाड़ला पुत्र था, इसलिए मुझे बड़े प्यार से पाला गया और मुझे विविध कलाओं का शिक्षण देने के लिए बड़े बड़े कलाविद् रखे गये थे।

योग्य उम्र पर एक कुलवती सुन्दर ललना के साथ मेरा विवाह हुआ और हमारा ससार सुखपूर्वक चलने लगा। व्यवहार का कार्य बहुत करके पिताश्री सँभालते थे और व्यापार का कार्य गुमाश्ते सँभालते, इसलिए मेरे सर किसी तरह का भार नहीं था। मैं मित्रों से घिरा रहता और इच्छानुसार घूमता-फिरता। दु ख, मुसीबत या तकलीफ क्या चीज होती है, इसका मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था।

"हे राजन्! इतने में मेरी एक आँख दुखने लगी और सूज गयी।

"और, उसमें निस्सीम पीड़ा होने लगी। उस वेदना के कारण मुझे जरा भी नींद नहीं आती थी। मैं उस वेदना के कारण मछली की तरह तड़पड़ाता था।

"उस वेदना से मुझे दाहज्वर हो गया। मस्तक फटने लगा छाती दुखने लगी और कमर के टुकड़े होने लगे। उस दु ख का

कर सकता।

इस उत्तर से मगधराज को आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा—"आप सरीखे प्रभावशाली पुरुष अनाथ हो यह तो बड़ी अजीब बात है! अगर अपने इसी के लिए सयम मार्ग लिया हो तो मैं आपका नाथ होने को तैयार हूँ। आप मेरे राजमहल में पधारें और वहाँ सुख से दिन गुजारें।"

मगधराज के ये शब्द सुनकर मुनिवर के मुख पर मुस्कान छा गयी। उन्होंने कहा—"हे राजन्! सभी अपने अधिकार की चीज दूसरे को दे सकते हैं। चाँद चाँदनी दे सकता है, सूर्य गर्मी दे सकता है, नदी जल और वृक्ष फल दे सकते हैं। नाथ होना तेरे अधिकार में नहीं है, इसलिए तू मेरा नाथ नहीं हो सकता। तू तो स्वय ही अनाथ है!"

ये शब्द सुनते ही मगधराज चमके। ऐसे शब्द तो आज तक किसी ने उनसे कहे नहीं थे। उन्होंने अपने क्षत अभिमान को ठीक करते हुए कहा—'हे आर्य! आपकी बात से जान पड़ता है कि आपने मुझे पहचाना नहीं। मैं अग और मगध देश का महाराजा श्रेणिक हूँ। मेरे अधिकार में हजारों कस्बे और लाखों गाँव हैं। मै हजारों हाथी घोड़े और असख्य रथ सुभटों का स्वामी हूँ। मेरा अन्त पुर रूपवती रमणियों से भरा हुआ है। मेरे पाँच सौ मत्री हैं, जिनका प्रधान मेरा पुत्र अभयकुमार है। मेरे हजारों मित्र और सुहृद हैं, जो मेरी हर समय चिन्ता रखते हैं। मेरा ऐश्वर्य अद्वितीय है। मेरी आज्ञा अनुल्लघनीय है। ऐसी ऋद्धि सिद्धि और ऐसा अधिकार होते हुए भी मैं अनाथ कैसे हूँ?"

मुनिवर ने कहा—"राजन्! मै जानता हूँ कि, तू अंग और मगध का अधिपति महाराजा श्रेणिक है। तेरे ऐश्वर्य से भली-भाँति परिचित हूँ। फिर भी कहता हूँ कि, नाथ होना तेरे अधिकार मे नहीं है, इसलिए तू मेरा नाथ नहीं हो सकता। तू स्वय ही अनाथ है।"

मगधराज समझ गये कि इन वचनों को मुनिराज ने बेसमझे या उतावली के कारण प्रयोग नहीं किया। उन्होंने कहा—"हे महात्मा!

आपके वचन कभी असत्य नहीं हो सकते। पर मुझे यह नहीं लगता कि, मैं अनाथ हूँ और आपका नाथ नहीं हो सकता।"

मुनिवर ने कहा—"हे राजन्! तूने अनाथ और सनाथ के भाव को नहीं समझा। उसे समझने के लिए तुझे मेरा पहले का जीवन सुनना पड़ेगा। वह मैं तुझे सक्षेप में सुनाता हूँ।"

मुनिवर का इशारा पाकर श्रेणिक नीचे बैठ गये और उत्सुकतापूर्वक सुनने लगे।

मुनिवर ने कहा—"हे राजन्! छठे तीर्थंकर श्री पद्मप्रभ स्वामी के पवित्र चरणों से पवित्र हुई और धनधान्य से अत्यन्त समृद्ध कौशाम्बी नगरी में मेरे पिता रहते थे। वे धनपतियों में अग्रगण्य थे। मैं अपने पिता का बहुत ही लाडला पुत्र था, इसलिए मुझे बड़े प्यार से पाला गया और मुझे विविध कलाओं का शिक्षण देने के लिए बड़े बड़े कलाविद् रखे गये थे।

योग्य उम्र पर एक कुलवती सुन्दर ललना के साथ मेरा विवाह हुआ और हमारा ससार सुखपूर्वक चलने लगा। व्यवहार का कार्य बहुत करके पिताश्री सँभालते थे और व्यापार का कार्य गुमाश्ते सँभालते, इसलिए मेरे सर किसी तरह का भार नहीं था। मैं मित्रों से घिरा रहता और इच्छानुसार घूमता-फिरता। दु ख, मुसीबत या तकलीफ क्या चीज होती है, इसका मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था।

"हे राजन्! इतने में मेरी एक आँख दुखने लगी और सूज गयी।

"और, उसमें निस्सीम पीड़ा होने लगी। उस वेदना के कारण मुझे जरा भी नींद नहीं आती थी। मैं उस वेदना के कारण मछली की तरह तड़पड़ाता था।

"उस वेदना से मुझे दाहज्वर हो गया। मस्तक फटने लगा, छाती दुखने लगी और कमर के टुकड़े होने लगे। उस दु ख का मैं वर्णन नहीं कर सकता।

"मेरी यह हालत देखकर कई कुशल वैद्य बुलाये गये। उन्होंने रोग का निदान किया। चिकित्सकों ने चारों प्रकार की चिकित्साओं का प्रयोग किया और अनेक प्रकार की कीमती दवाओं का आश्रय लिया, फिर भी वे मुझे दुःख से छुड़ा न सके। हे राजन्! यही मेरी अनाथता है!

"दवाओं के निष्फल होने पर, मेरे पिता ने दूसरे भी अन्य उपचार कराये और उनमें बड़ा द्रव्य खर्च किया। उन्होंने यह भी घोषणा की कि, जो कोई मन्त्र-तन्त्रवादी मेरे पुत्र को अच्छा कर देगा उसे अपनी आधी सम्पत्ति दे देंगे। फिर भी वे मुझे दुःख से न बचा सके। हे राजन्! यही मेरी अनाथता है!

"मेरी माता मेरे प्रति बड़ा वात्सल्य दिखलाती थी। वह मुझे आँख की पुतली की तरह मानती थी। वह मुझे उस हालत में देखकर विह्वल हो जाती थी और मुझे दुःख से मुक्त देखने के लिए अनेक प्रकार की प्रयास करती रहीं, फिर भी, वह मुझे दुःख से छुड़ा न सकी। हे राजन्! यही मेरी अनाथता है!

"मेरे सगे भाई अपना काम धन्धा छोड़कर मेरे पास बैठते, मेरे हाथ-पैर दबाते, और मुझे दुःखी देखकर दुःखी होते, फिर भी वे मुझे उस दुःख से छुड़ा न सके। हे राजन्! यही मेरी अनाथता है!

"बहिनें, पत्नी, मित्र आदि भी मेरी यह हालत देखकर बड़े दुःखी होते और विविध उपाय करने के लिए तत्पर रहते, पर उनमें से कोई मुझे उस दुःख से छुड़ा न सका। हे राजन्! यही मेरी अनाथता है!

नु ख मुक्त न कर सका। इसलिए, मुझे प्रतीति होने लगी कि दु खनिवारण का कारण और कुछ होना चाहिए। उसी समय यह श्लोक याद आया

कृतकर्मक्षयो नास्ति, कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम्॥

—करोड़ो युग चले जायें फिर भी किये हुए कर्मों का नाश नहीं होता। अपने किये हुए शुभाशुभ कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं।

"इसलिए मुझे लगा कि, मेरा यह दु ख भी मेरे पूर्व कर्मों का फल होना चाहिए। और, उस वक्त मुझे एक श्रमण की कही हुई नीचे की गाथा का स्फुरण हुआ—

विगिंच कम्मुणो हेउं, जस सचिणु खतिए।
पाव सरीर हिच्चा, उड्ढ पक्कमए दिस॥

—कर्म के हेतु को छोड़, क्षमा की कीर्ति को प्राप्त कर। ऐसा करने से तू पार्थिक शरीर छोड़कर ऊँची दिशामें जायेगा।

"और, मेरा मन कर्म के हेतु को खोजने लगा। उस खोज में मैंने जान लिया कि हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि प्रवृत्तियाँ पाप के पथ पर ले जाती हैं और वे ही कर्म की कारण हैं, इसलिए कर्म-बधन से छूटना हो तो मुझे इन पापप्रवृत्तियों का त्याग करके शाति, शौच आदि गुणोंको विकसाना चाहिए।

"परन्तु, यह तभी बन सकता था कि, जब मेरी वेदना कुछ कम होती। इसलिए, उसी समय मैंने मन में सकल्प किया कि अगर मैं इस रोग से मुक्त हो जाऊँगा तो क्षान्त, दान्त और निरारभी होऊँगा, क्षमा आदि दशगुणयुक्त सयमधर्म स्वीकार करके साधु बनूँगा।

"और, हे राजन्! ऐसा सकल्प करके जब मैंने सोने का प्रयत्न किया तो मुझे तुरत निद्रा आ गयी। फिर, ज्यों-ज्यों रात बीतती गयी, त्यों त्यों

"मेरी यह हालत देखकर कई कुशल वैद्य बुलाये गये। उन्होंने रोग का निदान किया। चिकित्सकों ने चारों प्रकार की चिकित्साओं का प्रयोग किया और अनेक प्रकार की कीमती दवाओं का आश्रय लिया, फिर भी वे मुझे दुःख से छुड़ा न सके। हे राजन्! यही मेरी अनाथता है!

"दवाओं के निष्फल होने पर, मेरे पिता ने दूसरे भी अन्य उपचार कराये और उनमें बड़ा द्रव्य खर्च किया। उन्होंने यह भी घोषणा की कि, जो कोई मंत्र-तन्त्रवादी मेरे पुत्र को अच्छा कर देगा उसे अपनी आधी सम्पत्ति दे दूँगा। फिर भी वे मुझे दुःख से न बचा सके। हे राजन्! यही मेरी अनाथता है!

"मेरी माता मेरे प्रति बड़ा वात्सल्य दिखलाती थी। वह मुझे आँख की पुतली की तरह मानती थी। वह मुझे उस हालत में देखकर विह्वल हो जाती थी और मुझे दुःख से मुक्त देखने के लिए अनेक प्रकार की प्रयास करती रहीं, फिर भी, वह मुझे दुःख से छुड़ा न सकी। हे राजन्! यही मेरी अनाथता है!

"मेरे सगे भाई अपना काम धन्धा छोड़कर मेरे पास बैठते, मेरे हाथ-पैर दबाते, और मुझे दुःखी देखकर दुःखी होते, फिर भी वे मुझे उस दुःख से छुड़ा न सके। हे राजन्! यही मेरी अनाथता है!

"बहिनें, पत्नी, मित्र आदि भी मेरी वह हालत देखकर बड़े दुःखी होते और विविध उपाय करने के लिए तत्पर रहते, पर उनमें से कोई मुझे उस दुःख से छुड़ा न सका। हे राजन्! यही मेरी अनाथता है!

"इस तरह जब मैंने चारों तरफ से असहायता अनुभव की, तब मुझे लगा कि, जिन्हें मैं आज तक दुःख निवारण के साधन मानता था, वे सचमुच इसके लिए समर्थ नहीं थे। धन, माल, ऋद्धि, सिद्धि, कुटुम्ब कबीला, स्वजन महाजन आदि कोई भी मेरी मदद नहीं कर सका, मुझे

दु ख मुक्त न कर सका। इसलिए, मुझे प्रतीति होने लगी कि दु खनिवारण का कारण और कुछ होना चाहिए। उसी समय यह श्लोक याद आया

कृतकर्मक्षयो नास्ति, कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम्॥

—करोड़ो युग चले जायें फिर भी किये हुए कर्मों का नाश नहीं होता। अपने किये हुए शुभाशुभ कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं।

"इसलिए मुझे लगा कि, मेरा यह दु ख भी मेरे पूर्व कर्मों का फल होना चाहिए। और, उस वक्त मुझे एक श्रमण की कही हुई नीचे की गाथा का स्फुरण हुआ—

विगिंच कम्मुणो हेउं, जस सचिणु खतिए।
पाव सरीर हिच्चा, उड्ढं पक्कमए दिस॥

—कर्म के हेतु को छोड़, क्षमा की कीर्ति को प्राप्त कर। ऐसा करने से तू पार्थिक शरीर छोड़कर ऊँची दिशामें जायेगा!

"और, मेरा मन कर्म के हेतु को खोजने लगा। उस खोज में मैंने जान लिया कि हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि प्रवृत्तियाँ पाप के पथ पर ले जाती हैं और वे ही कर्म की कारण हैं, इसलिए कर्म-बन्धन से छूटना हो तो मुझे इन पापप्रवृत्तियों का त्याग करके शाति, शौच आदि गुणोंको विकसाना चाहिए।

"परन्तु, यह तभी बन सकता था कि, जब मेरी वेदना कुछ कम होती। इसलिए, उसी समय मैंने मन में सकल्प किया कि अगर मैं इस रोग से मुक्त हो जाऊँगा तो क्षान्त, दान्त और निरारभी होऊँगा, क्षमा आदि दशगुणयुक्त सयमधर्म स्वीकार करके साधु बनूँगा।

"और, हे राजन्! ऐसा सकल्प करके जब मैंने सोने का प्रयत्न किया तो मुझे तुरत निद्रा आ गयी। फिर, ज्यों-ज्यों रात बीतती गयी, त्यों त्यों

"मेरी यह हालत देखकर कई कुशल वैद्य बुलाये गये। उन्होंने मेरे रोग का निदान किया। चिकित्सकों ने चारों प्रकार की चिकित्साओं का प्रयोग किया और अनेक प्रकार की कीमती दवाओं का आश्रय लिया, फिर भी वे मुझे दुःख से छुड़ा न सके। हे राजन! यही मेरी अनाथता है!

"दवाओं के निष्फल होने पर, मेरे पिता ने दूसरे भी अन्य उपचार कराये और उनमें बड़ा द्रव्य खर्च किया। उन्होंने यह भी घोषणा की कि, जो कोई मन्त्र-तन्त्रवादी मेरे पुत्र को अच्छा कर देगा उसे अपनी आधी सम्पत्ति दे देंगे। फिर भी वे मुझे दुःख से न बचा सके। हे राजन्! यही मेरी अनाथता है!

"मेरी माता मेरे प्रति बड़ा वात्सल्य दिखलाती थी। वह मुझे आँख की पुतली की तरह मानती थी। वह मुझे उस हालत में देखकर विह्वल हो जाती थी और मुझे दुःख से मुक्त देखने के लिए अनेक प्रकार की प्रयास करती रही, फिर भी, वह मुझे दुःख से छुड़ा न सकी। हे राजन्! यही मेरी अनाथता है!

"मेरे सगे भाई अपना काम धन्धा छोड़कर मेरे पास बैठते, मेरे हाथ-पैर दबाते, और मुझे दुःखी देखकर दुःखी होते, फिर भी वे मुझे उस दुःख से छुड़ा न सके। हे राजन्! यही मेरी अनाथता है!

"बहिनें, पत्नी, मित्र आदि भी मेरी वह हालत देखकर बड़े दुःखी होते और विविध उपाय करने के लिए तत्पर रहते, पर उनमें से कोई मुझे उस दुःख से छुड़ा न सका। हे राजन्! यही मेरी अनाथता है!

"इस तरह जब मैंने चारों तरफ से असहायता अनुभव की, तब मुझे लगा कि, जिन्हें मैं आज तक दुःख निवारण के साधन मानता था, वे सचमुच इसके लिए समर्थ नहीं थे। धन, माल, ऋद्धि, सिद्धि, कुटुम्ब कबीला, स्वजन महाजन आदि कोई भी मेरी मदद नहीं कर सका, मुझे

दु ख मुक्त न कर सका। इसलिए, मुझे प्रतीति होने लगी कि दु खनिवारण का कारण और कुछ होना चाहिए। उसी समय यह श्लोक याद आया

कृतकर्मक्षयो नास्ति, कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्य कृतं कर्म शुभाशुभम्॥

—करोड़ो युग चले जायें फिर भी किये हुए कर्मों का नाश नहीं होता। अपने किये हुए शुभाशुभ कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं।

"इसलिए मुझे लगा कि, मेरा यह दु ख भी मेरे पूर्व कर्मों का फल होना चाहिए। और, उस वक्त मुझे एक श्रमण की कही हुई नीचे की गाथा का स्फुरण हुआ—

विगिंच कम्मुणो हेउं, जस सचिणु खतिए।
पाव सरीरं हिच्चा, उड्ढ पक्कमए दिस॥

—कर्म के हेतु को छोड़, क्षमा की कीर्ति को प्राप्त कर। ऐसा करने से तू पार्थिक शरीर छोड़कर ऊँची दिशामें जायेगा।

"और, मेरा मन कर्म के हेतु को खोजने लगा। उस खोज में मैंने जान लिया कि हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि प्रवृत्तियाँ पाप के पथ पर ले जाती हैं और वे ही कर्म की कारण हैं, इसलिए कर्म-बन्धन से छूटना हो तो मुझे इन पापप्रवृत्तियों का त्याग करके शाति, शौच आदि गुणोंको विकसाना चाहिए।

"परन्तु, यह तभी बन सकता था कि, जब मेरी वेदना कुछ कम होती। इसलिए, उसी समय मैंने मन में सकल्प किया कि अगर मैं इस रोग से मुक्त हो जाऊँगा तो क्षान्त, दान्त और निरारभी होऊँगा, क्षमा आदि दशगुणयुक्त सयमधर्म स्वीकार करके साधु बनूँगा।

"और, हे राजन्! ऐसा सकल्प करके जब मैंने सोने का प्रयत्न किया तो मुझे तुरत निद्रा आ गयी। फिर, ज्यों-ज्यों रात बीतती गयी, त्यों त्यों

मेरी वेदना कम होती गयी और सुबह होते होते मैं बिल्कुल स्वस्थ हो गया।"

"मुझे एकाएक अच्छा हुआ देखकर सारा कुटुम्ब अत्यन्त हर्षित हुआ। पिता समझे कि, उनका पैसा खर्चना सार्थक हो गया। माता समझी कि, उसकी मनौतियाँ सफल हो गयीं। भाई समझे कि, उनका श्रम फल गया। बहनें समझीं कि, उनके हृदय के आशीर्वाद फले। पत्नी समझी कि उसकी प्रार्थना फली और मित्र समझे कि उनकी दौड़धूप काम आ गयी। तब मैंने सबको शात करके कहा—'मुझे नया ही जीवन प्राप्त हुआ है और वह मेरे शुद्ध सकल्प का फल है। कल रात मैं यह सकल्प करके सोया कि, अगर एक बार इस वेदना से मुक्त हो जाऊँ तो क्षान्त, दान्त, निरारभी बनूँगा। इसलिए, आप सब लोग मुझे अनुज्ञा दें। मुझे अपनी प्रतिज्ञा का पालन तुरन्त करना है।

"इन शब्दो के सुनते ही सब अवाक् रह गये और उनकी आँखों में आँसू आ गये। वे तरह तरह की युक्तियों से ससार का त्याग न करने की विनती करने लगे। लेकिन, मैंने एक ही जवाब दिया—'अब इस मोहमय ससार में रहकर मै जरा भी आनन्द नहीं मना सकता।' आखिर सब कुटुम्बीजनों ने मुझे इष्ट मार्ग पर जाने की अनुमति दे दी और मैंने सयममार्ग धारणकिया।

"हे राजन्! यह आत्मा स्वय ही वैतरणी नदी और कूट शाल्मली वृक्ष जैसा दु खदायी है और कामधेनु और नन्दनवन के समान सुखदायी है। आत्मा स्वय ही सुख दु ख का कर्ता है और सुख दु ख का भोक्ता है। अगर सुमार्ग पर चले तो यह सुखदायी है और कुमार्ग पर चले तो शत्रुतुल्य दु खदायी है। इसलिए आत्मा का दमन करना और उसे सुमार्ग पर चलाना परम सुख चाहनेवाले मुमुक्षुओं का कर्तव्य है।"

"सच्चा श्रमणधर्म पालनेवाला अन्य जीवों का नाथ (रक्षक) बनता है और अपना भी नाथ (रक्षक) बनता है। इसलिए हे राजन्!

अब मैं अपना तथा अन्य जीवों का नाथ बन चुका हूँ। अब तुझे मेरा नाथ बनने की आवश्यकता नहीं रही। यह है, मेरा सयम धर्म ग्रहण करने का कारण।"

मुनिराज का यह उत्तर सुनकर राजा श्रेणिक बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने दोनों हाथों की अजलि करके कहा—"हे भगवन्! आपने मुझे अनाथ और सनाथ का मर्म सुन्दर रीति से समझाया। हे महर्षि! आपका मनुष्य अवतार धन्य है! आपकी ऐसी काति, आपका ऐसा सौम्य और ऐसा प्रभाव धन्य है! जिनेश्वरों के दर्शाये हुए सत्यमार्ग पर व्यवस्थित होकर आप ही सचमुच सनाथ और सबाधव हैं। हे मुनि! अनाथ जीवों के सच्चे नाथ आप ही हैं। हे योगीश्वर! मैंने अपने मन का कुतूहल शात करने के लिए आपकी साधना में बाधा डाली, इसके लिए क्षमा प्रार्थना करता हूँ।"

अनाथी मुनि ने कहा—"जिज्ञासुओं को सत्य वस्तु का ज्ञान देना भी हमारी साधना का एक अग है। इससे मेरी साधना भग नहीं हुई। और, तुझ सरीखा तत्त्वशोधक इस तथ्य से योग्य मार्गदर्शन न प्राप्त करे ऐसा मैं नहीं मानता, इसलिए व्यतीत किये हुए समय के लिए मुझे सन्तोष है।"

मगधपति ने कहा—"महर्षि! आपकी मधुरवाणी और आपके निर्मय अन्त करण ने मेरे हृदय को जीत लिया है। आप-जैसे त्यागी और तपस्वी की कोई भी आज्ञा शिरोधार्य करने के लिये मैं तैयार हूँ।"

अनाथी मुनि ने कहा—"हे राजन्! जहाँ सर्व इच्छाओं, आकाक्षाओं और अभिलाषाओं का त्याग है, जहाँ माया ममता का विसर्जन है और जहाँ कोई पौद्गलिक लाभ प्राप्त करने की आसक्ति नहीं है, वहाँ क्या आज्ञा की जाये? फिर भी आज्ञा करनी ही हो तो वह सामनेवाले के कल्याण की ही हो सकती है।"

मगधराज ने कहा—"धन्य प्रभो ! धन्य आपकी वाणी ! आप के समागम से मेरा जीवन सफल हुआ । मुझे निस्सीम आनन्द प्राप्त हुआ। आप मेरे कल्याण के लिए दो शब्द कहने की कृपा करें।"

अनाथी मुनि ने कहा—"राजन ! श्री जिनेश्वर देव का शासन जयवत है । उनके उपदेश में अनन्य श्रद्धा रख, उनके प्ररूपित तत्त्वों का बोध प्राप्त कर और उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो पर कार्य करने का प्रयास कर । यही कल्याण मार्ग है । यही अभ्युदय की कुजी है।"

इन शब्दों का मगधराज श्रेणिक पर इतना प्रभाव पड़ा कि, उसने बौद्धधर्म का त्याग कर अन्त पुर, स्वजन और कुटुम्ब सहित जैनधर्म धारण किया । उस दिन से जैनधर्म के प्रति उनकी श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। श्री महावीर प्रभु के समागम ने उसे वज्रलेप के समान कर दिया। आज जिन-शासन में श्रेणिक राजा के सम्यक्त्व की प्रशसा होती है, पर उसकी प्राप्ति का श्रेय एक निर्ग्रन्थ मुनि को है। इसीलिए, हमारा अनुरोध है कि, मुनिवरों का सग किया करें और उनका उपदेश सुना करें।

विशेष अवसर पर कहा जायेगा ।

इकत्तीसवाँ व्याख्यान

गुणस्थान

[२]

महानुभावो !

आत्मा का विचार करते हुए, आपको ऐसा भास हुआ होगा कि, उसका स्वरूप बराबर समझना हो, तो उसके प्रतिपक्षी कर्म का स्वरूप बराबर समझना आवश्यक है। इसीलिए, हमने कर्म के विषय को लेकर उसके विविध अंगों की विचारणा की। उस विचारणा के एक भाग के रूप में ही हम 'गुणस्थान' के स्वरूप के स्वरूप पर विचार कर रहे हैं और उसका कुछ विवेचन कर चुके हैं।

आज का विज्ञान विकासवाद (थियरी आव इवोल्यूशन) को मानता है और बताता है कि, सूक्ष्म जतुओं से मनुष्य तक का स्वरूप कैसे निर्मित हुआ। परन्तु, विकासवाद के सिद्धान्त में सूक्ष्म जतुओं से नीचे की ओर मनुष्य से ऊपर की किसी अवस्था के लिए स्थान नहीं है। और, सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर मनुष्य तक जो विकासक्रम बताया गया है, उसमें केवल विकास का वर्णन है, पतन का कोई वर्णन नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें, तो यह विकासवाद बन्दर से आदमी बनने की शक्यता तो स्वीकारता है, पर आदमी से बन्दर बनना स्वीकार नहीं करता। इस तरहका विकासवाद अधूरा है, इससे हमारे मन का समाधान नहीं होता।

इस विकासवाद की सबसे बड़ी कमी यह है कि, उसमें आत्मा को स्थान नहीं प्राप्त है, फिर उसमें पुनर्जन्म या गति आदि का विचार तो

ही कहाँ से आये ? उसमें जो कुछ विकास माना गया है, वह पुद्गल-निर्मित शरीर के अगोपांगों का माना गया है, इसलिए उसका हमारी मान्यताओं के साथ कोई मेल नहीं बैठता।

विकासवाद को तो हम भी मानते हैं, पर अरिहन्त निर्देशित विकासवाद तो आत्मा को भी स्पर्श करता है, आत्मा के गुणों को स्पर्श करता है और उसकी उत्क्रान्ति और अवनति दोनों पर विचार करता है। यदि आत्मा अच्छे विचार करे और अच्छे काम करता रहे, तो उसकी उत्क्रान्ति होती है और खराब विचार और खराब काम करे तो उसकी अवनति होती है। तथ्य तो यह है कि, कभी-कभी नितान्त अधम अवस्था में पड़ी हुई आत्मा उत्थान पतन के अनेक चक्र अनुभव करने के बाद, आगे बढ़ती है और अन्तत मुक्ति प्राप्त करती है। उसका व्यवस्थित वर्णन हमें गुणस्थानों में मिलता है, इसलिए वह विशेष रूप से समझने योग्य है।

अन्य दर्शनों में भी आत्मविकास की विभिन्न अवस्थाएँ बतायी गयी हैं, पर उनमें गुणस्थानकों-सरीखा विषद् वर्णन नहीं मिलता, उनमें वैसा सूक्ष्मवर्णन नहीं है। हम तो सदा कहते हैं कि, आपको जो वस्तु भगवत के शासन में से प्राप्त होगी, वह अन्यत्र नहीं मिल सकती। आम तो आम के वृक्ष से ही मिल सकता है, बबूल या बेर के पेड़ से भला वह क्योंकर मिलने लगा !

(५) देशविरति गुणस्थान

अब हम पाँचवें गुणस्थान की चर्चा प्रारम्भ करते हैं। देशविरति म आयी हुई आत्मा की अवस्थाविशेष को देशविरति-गुणस्थान कहते हैं। यह गुणस्थान विरताविरत, सयतासयत या व्रताव्रत के रूप में भी पहचाना जाता है, कारण कि इसमे कुछ विरति कुछ अविरति है, कुछ सयम कुछ असयम है, कुछ व्रतीपना कुछ अव्रतीपना है।

चौथे गुणस्थान में जीव को सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व-रूप विवेक प्राप्त होता है, परन्तु चारित्रमोहनीय कर्म के प्रबल प्रभाव के कारण वह विवेक क्रिया रूप में परिणित नहीं हो सकता। इस गुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म का बल एक निश्चित परिमाण में घट जाता है, इसलिए आत्मा जानी-समझी बात को क्रिया-रूप म लाने का प्रयत्न करती है।

इस गुणस्थान मे जीव सब पापमय प्रवृत्तियों को नहीं छोड़ सकता, पर वह चेष्टा अवश्य करता है और किन्हीं पापप्रवृत्तियों को छोड़ देता है। शास्त्रीय भाषा मे उसे देशविरति कहते हैं।

देशविरति में पहले सम्यक्त्व-ग्रहण बाद में श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये जाते हैं। जो बारह व्रत अगीकार न कर सके, वह थोड़े करे और शेष की भावना रखे। बाद मे ज्यों-ज्यों सयोग अनुकूल होते जायें, त्यों-त्यों शेष व्रतों को भी अगीकार करता रहे।

श्रावक शब्द तो आप नित्य ही सुनते हैं, पर उसका अर्थ क्या आप जानते है अथवा उस पर विचार भी करते हैं। श्रावक शब्द 'श्रु' धातु से बना है, जिसका कि अर्थ 'सुनना' होता है। श्री अभयदेव सुरि ने स्थानागसूत्र की वृत्ति में उसका अर्थ इस प्रकार किया है **'शृणोति जिनवचनमिति श्रावक'**—जो जिनवचन को सुनता है, वह श्रावक है। इसलिए, नित्य उपाश्रय में जाना और गुरु महाराज को विधिपूर्वक वंदन करके उनके मुख से धर्मोपदेश सुनना श्रावक का मुख्य कर्त्तव्य है। कितने ही कहते हैं कि, धर्म की बात तो पुस्तक पढकर भी जानी जा सकती है, उपाश्रय में जाने के लिए समय कहाँ है, पर जो गुरु के समीप जाकर गुरुवचन को नहीं सुनता उसके लिए भला श्रावक शब्द कैसे सार्थक होगा!

गृहस्थ के लिए सामान्य और विशेष दो प्रकार का धर्म बताया गया है। मार्गानुसारी के पेंतीस बोल के अनुसार जीवन व्यतीत करना सामान्य

धर्म है और बारह व्रतों से विभूषित होकर जीवन-यापन करना विशेष धर्म है।

बारह व्रतों के नाम तो आप जानते ही होंगे। एक बार मैंने एक गृहस्थ से पाँच अणुव्रतों का नाम पूछा तो उसने प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह बता दिया। मैंने फिर कहा—"यदि १८ पाप स्थानकों का नाम आता हो तो उसे ही बोलो। इन नामों को उसने झटपट बता दिया। मैंने उससे पहले के पाँच नाम फिर कहने को कहा तो उसने फिर प्राणातिपात आदि नाम कह सुनाये। मैंने उससे पूछा—"ये नाम पापस्थानक के हैं या व्रत के?" तब उसे अपनी भूल का स्मरण आया। और, उसने प्राणातिपात विरमण आदि बताये। मैंने फिर कहा—"ये नाम अभी भी अधूरे हैं। ये नाम तो महाव्रतों के हैं, पाँच अणुव्रतों के तो नहीं हैं?" इस पर बहुत विचार करने के बाद उसने 'स्थूल प्राणातिपात' आदि नाम बताये।

कहने का तात्पर्य कि, आप श्रावकों का जीवन इतने जजालों में व्यस्त हो गया है कि, धर्म पर विचार करने की आप आवश्यकता ही नहीं मानते। आपका कर्त्तव्य क्या है? किन व्रतों को आपको धारण करना है और कैसे जीवन बिताना चाहिए, इस सम्बन्ध में आप विचार ही नहीं करते।

बारह व्रतों के नाम इस प्रकार हैं —

(१) स्थूल प्राणातिपात-विरमण-व्रत।
(२) स्थूल मृषावाद-विरमण व्रत।
(३) स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत।
(४) स्थूल मैथुन-विरमण व्रत।
(५) परिग्रह-परिमाण व्रत।
(६) दिक् परिमाण व्रत।

(७) भोगोपभोग-परिमाण व्रत ।
(८) अनर्थदंड विरमण-व्रत ।
(९) सामायिक-व्रत ।
(१०) देशावकाशिक व्रत ।
(११) पोषध-व्रत ।
(१२) अतिथि सविभाग व्रत ।

इनमें से पहले पाँच अणुव्रत कहलाते हैं, बाद के तीन गुणव्रत कहलाते हैं और अन्तिम चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं। पहले पाँच को 'अणु' व्रत इसलिए कहते हैं कि, वे महाव्रतों की अपेक्षा (अणु) छोटे हैं; बाद के तीन को गुणव्रत कहने का कारण यह है कि, वे पाँच अणुव्रतों से उत्पन्न होनेवाले चारित्रगुण की पुष्टि करनेवाले हैं, और अन्तिम चार को शिक्षाव्रत कहने का कारण यह है कि, वे श्रावक को सर्वविरति की अमुक अंश में शिक्षा अथवा तालीम देते हैं।

यह अविरति और सर्वविरति के बीच की स्थिति है, इसलिए इसे 'मध्यम मार्ग' भी कह सकते हैं। इसे अत्यन्त व्यावहारिक माना जाता है। इसका अनुसरण करने से आत्मा क्रमश आगे उन्नति कर सकती है और अन्तत अभीष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

यह गुणस्थान सज्ञी तिर्यंच और मनुष्य दोनों को हो सकता है— अर्थात् मनुष्य की तरह सज्ञी तिर्यंच भी इन व्रत आदि के अधिकारी हैं। इस गुणस्थान की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति देशोनपूर्व करोड़ यानी एक आठ वर्ष-कम एक करोड़ पूर्व है।[1]

---

१ देशविरति गुणस्थान में आर्तध्यान और रौद्रध्यान मद होते हैं और श्रावक के षट् कर्म, ११ प्रतिमा और १२ व्रत के पालन से उत्पन्न मध्यम प्रकार का धर्मध्यान होता है।

(६) प्रमत्त सयत गुणस्थान

'छठे गुणस्थान में साधुता है—यह तो आप सब जानते हैं। पर, इसका नाम 'प्रमत्त सयत' क्यों पड़ा, यह समझना है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रमत्त 'सयत' की अवस्था विशेष 'प्रमत्त संयत' गुणस्थान है। यहाँ सयत मूल शब्द है और प्रमत्त उसका विशेषण है। इसलिए, पहले 'सयत' शब्द पर विचार करें।

जो आत्मा नवकोटि से यावज्जीव सामायिक का 'पच्चक्खाण' करे और पाँच महाव्रत धारण करे, वह सर्वविरति में मानी जायेगी और उसे सयत कहा जायेगा। साधु, मुनि, अनागार आदि उसके पर्यायवाची शब्द हैं।

तीन योग और तीन करण से 'पच्चक्खाण' करे तो नवकोटि 'पच्चक्खाण' होते हैं। तीन योग अर्थात् मन, वचन और काया। तीन करण अर्थात् करना, कराना और अनुमोदना। इन दोनों के योग से नव-कोटि सामायिक का 'पच्चक्खाण' होता है। वह इस प्रकार—

(१) मन से पाप नहीं करना
(२) वचन ,, ,, ,, ,,
(३) काया ,, ,, ,, ,,
(४) मन ,, ,, ,, कराना
(५) वचन ,, ,, ,, ,,
(६) काया ,, ,, ,, ,,
(७) मन ,, ,, ,, अनुमोदना
(८) वचन ,, ,, ,, ,,
(९) काया ,, ,, ,, ,,

श्रावक करे नहीं, करावे नहीं, पर वह अनुमोदना से नहीं बच सकता, इसलिए उसे पहली ६ कोटि का ही सामायिक होता है। आप सामायिक

का 'पच्चक्खाण' लेते समय 'दुविहं तिविहेण' पाठ बोलते हैं और उसके विशेष अर्थ म 'मणेण वाचाए काएण न करेमि न कारवेमि' बोलते हैं, इसलिए इससे पहले की ६ कोटि मात्र आती हैं। पर, साधु सामायिक का 'पच्चक्खाण' लेते समय 'तिविहं तिविहेण' पाठ बोलता है और विशेष अर्थ में 'मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि, करत पि अन्नं न समणुजाणामि' ऐसा पाठ बोलता है। इस प्रकार उसमें नौ कोटि आ जाती हैं।

पाँच महाव्रत ये हैं—(१) प्राणातिपात विरमण व्रत, (२) मृषा वाद विरमण व्रत, (३) अदत्तादान विरमण व्रत, (४) मैथुन विरमण व्रत और (५) परिग्रह विरमण व्रत। इन महाव्रतों के कारण साधु अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रहता का उत्कृष्ट पालन करता है और दूसरों को भी उस मार्ग पर लगाने में प्रयत्नशील रहता है।

सयत आत्मा इन व्रतों का रक्षण करने के लिए पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप अष्टप्रवचनमाता का पालन करते हैं अर्थात् अगर उन्हें चलने की जरूरत हो तो वे दिन में आने जाने के मार्ग में जीव जतु रहित भूमि पर 'धोंसरा' परिमाण भूमि को देखकर चले। उसमें किसी भी की विराधना न हो जाये, इसका ध्यान रखे। बोलने की जरूरत हो तो प्रिय, पथ्य और तथ्यपूर्ण वाणी बोले, पर दूसरे का दिल दुखानेवाली कर्कश वाणी का प्रयोग न करे। अपने लिए जरूरी आहार, पानी, औषध आदि माँग कर प्राप्त करे और उसमें कोई दोष न लग जाये, इसकी पर्याप्त सावधानी रखे। वह अपने वस्त्र पात्र की रोज प्रमार्जना करे और लेते-रखते समय किसी जीव की विराधना न हो इसकी सावधानी रखे। इसके अतिरिक्त वह मल-मूत्र का उत्सर्ग निरवद्य एकान्त भूमि में करे।

वह मनोवृत्ति पर काबू रखे, यानी यद्वातद्वा विचार न करे, वचन पर काबू रखे, अर्थात् जरूरत हो तभी बोले, वर्ना मौन रहे, वह काया पर

काबू रखे, अर्थात् बिना आवश्यकता हलन-चलन न करे और जहाँ तक बने अंगोपांग संकुचित रखे।

संयत आत्मा आत्मकल्याण के हेतु से स्वाध्याय, ध्यान तथा तप की प्रवृत्ति करे और आवश्यक आदि अनुष्ठान द्वारा ज्ञान दर्शन-चारित्र की शुद्धि करता रहे।

परम पद, निर्वाण या मोक्ष उसका ध्येय होता है और उस ध्येय की प्राप्ति के लिए वह उत्साहपूर्वक प्रयत्न करे। वह कभी अहदी या आलसी होकर न बैठा रहे। फिर भी, पौद्गलिक सुख के पूर्व संस्कार उस पर भरपूर आक्रमण करते रहते हैं, इसलिए कभी-कभी उसमें प्रमाद दिखायी देने लगता है—प्रमाद अर्थात् आत्मवर्ती अनुत्साह। इस तरह इस संयतपने में भी प्रमाद की आशंका होने के कारण यह प्रमत्तसंयत अवस्था मानी जाती है।[1]

संसार के दुःखों से भयभीत हुए प्राणियों को संयम धर्म की दीक्षा —प्रव्रज्या—ही शरणभूत है। अमात्य तेतलीपुत्र की कथा से आप यह बात अच्छी तरह समझ जायेंगे।

अमात्य तेतलीपुत्र की कथा

तेतलीपुर-नामक एक नगर था। वहाँ कनकरथ नामक राजा राज्य करता था। उसको पद्मावती नामकी सुन्दर और गुणवती पत्नी थी और साम, दाम, दंड और भेद की नीति में कुशल तेतलीपुत्र नामक महामात्य था।

कनकरथ राजा को राजगद्दी पर बड़ा मोह था, इसलिए रानियों को जो पुत्र होते उनकी अंगक्षति कर डालता, ताकि वह गद्दी पर न आ सके।

१—संज्वलन कषायों के तीव्र उदय से मुनि प्रमादयुक्त हो जाता है, इसलिए वैसा मुनि प्रमत्त गुणस्थानवर्ती कहलाता है।

—गुणस्थानक क्रमारोह गाथा २७ वाहिए

उस वक्त की दृढ़ मान्यता थी कि, राजगद्दी पर आनेवाला पूर्ण अंगोंवाला होना चाहिए।

पद्मावती रानी को राजा का यह वर्तन जरा भी पसन्द नहीं था, लेकिन वह क्या करे ? राजा उसका कहा मानता नहीं था। आखिर रानी ने अमात्य को विश्वास में लिया और अपने भावी पुत्र को किसी प्रकार बचाने का निर्णय किया। कालक्रम से पद्मावती को पुत्र हुआ। उसी समय अमात्य तेतलीपुत्र की पत्नी पोट्टिला ने एक मृत पुत्री को जन्म दिया। पहले से निश्चित प्रबंध के अनुसार इन दोनों की अदला-बदली हुई और पद्मावती का पुत्र अमात्य के पुत्र के रूप में जाना जाने लगा। उसका नाम कनकध्वज रखा गया।

कनकरथ राजा बीमार पड़ा और मरण को प्राप्त हुआ। सब एकत्र होकर विचार करने लगे कि 'अब राजगद्दी पर किसको बिठाया जाये ?' उस वक्त अमात्य ने कनकध्वज को उपस्थित किया और सारा इतिहास कह सुनाया। रानी पद्मावती ने उसकी पुष्टि की। इस पर उसका राज्याभिषेक कर दिया गया।

राजमाता ने उसे शिक्षा दी—'अमात्य तेरा उपकारी है। उसने ही तेरा रक्षण किया है और तुझे पाला-पोसा है, इसलिए उसका हमेशा मान रखना।'

कनकध्वज ने यह माँ का उपदेश स्वीकार कर लिया और वह अमात्य का बहुमान करने लगा। अमात्य जब राजसभा में आये तो वह सब सभाजनों के साथ खड़ा हो और सब उसे प्रणाम करें। वह अमात्य की सूचना-सलाह को भी मान्यता देता। इस तरह अमात्य का स्थान राजपिता-सरीखा बन गया। मंत्री भी निरन्तर राजा और प्रजा के कल्याण की ही चिन्ता करता और उसके उपायों में व्यस्त रहता।

अब मंत्री के गृहजीवन पर एक दृष्टि डालें। अमात्य तेतलीपुत्र अपनी पत्नी पोट्टिला से अत्यन्त प्रेम करता था। उसका सौन्दर्यभरा यौवन उसे

बहुत आकृष्ट करता था। पर यौवन के ढलने और रूप के उतरने में क्या देर लगती है? उसके यौवन और रूप के चले जाने पर अमात्य का प्रेम कम हो गया। प्रेम के पीछे जहाँ वासना प्रधान होती है, वहाँ अक्सर ऐसा ही होता है।

स्त्री इस ससार के सब दु ख सहन कर सकती है, पर पति की उपेक्षा सहन नहीं कर सकती। वह उसे शूल की तरह लगती है। मत्री पोट्टिला की आतरिक अवस्था समझ गया। उसने सोचा कि, अगर इसका मन काम में लगा रहेगा तो यह अपना दु ख भूल जायेगी। इस हेतु से उसने एक दिन कहा—"पोट्टिला! अब से तू रसोईघर का कार्यभार सँभाल और यहाँ जो कोई श्रमण, ब्राह्मण या तपस्वी आयें, उन्हें दान देकर आनन्द म रहा कर।"

पोट्टिला ने यह स्वीकार कर लिया और वह श्रमण, ब्राह्मण और तपस्वियों को दान देने लगी। एक दिन सुव्रता नामक साध्वी वहाँ आ पहुँची। उन्हें ज्ञानी और गभीर जानकर पोट्टिला ने कहा—"हे आर्या! एक बार मैं अमात्य के हृदय का हार थी, पर आज उन्हें देखे नहीं अच्छी लगती, इसलिए कोई चूर्ण, मत्र या कामण का प्रयोग हो तो बताइये।"

साध्वी ने कहा—"हे देवानुप्रिये! हम निर्ग्रन्थ-ब्रह्मचारिणी साध्वियाँ हैं, इसलिए सासारिक खटपट में नहीं पड़तीं, ऐसी बात सुनने तक की कल्पना नहीं कर सकतीं। लेकिन, अगर तुझे मन का समाधान प्राप्त करना हो तो सर्वज्ञ भगवत का धर्म सुन।" फिर, उसने धर्म का स्वरूप समझाया और श्रावक के व्रतों का रहस्य कहा। पोट्टिला ने श्रावक के बारह व्रत ग्रहण कर लिये।

एक अच्छी बात दूसरी अच्छी बात को ला ी है, इस न्याय से कुछ समय बाद पोट्टिला को सर्वविरतिचारित्र अगीकार करने की इच्छा हुई और इसके लिए उसने अमात्य से अनुमति चाही। यह घटना तब घटी जब कि, अमात्य को सब राज्यपिता-जैसा मान देते थे।

अमात्य बुद्धिशाली था और धर्मकार्य में अन्तराय डालने को बुरा समझता था, इसलिए उसने पोट्टिला से कहा—"मैं एक शर्त पर तुझे साध्वी होने की अनुमति दे सकता हूँ —जपतप के परिणाम स्वरूप अगर तू दूसरे भव में देवता हो, तो मुझे प्रतिबोध करने आना।"

शर्त कल्याणकारी थी, इसलिए पोट्टिला ने स्वीकार कर ली। पोट्टिला ने चारित्र धारण किया और उसके परिणामस्वरूप सद्गति होने पर वह आठवें स्वर्ग में पोट्टिल-नामक देव बनी।

पोट्टिलदेव को अपना वचन याद आया और वह अमात्य के मन में वैराग्य उत्पन्न करने का प्रयास करने लगा, परन्तु कीर्ति, सत्ता और वैभव में-मस्त बने हुए महामात्य को वैराग्य नहीं हुआ। अकेली सत्ता, कीर्ति या वैभव भी मनुष्य को ससार-बंधन में जकड़े रखने के लिए काफी है, पर यहाँ तो तीनों थीं। वह अमात्य के दिल में वैराग्य लता कैसे फैलने दे!

पोट्टिलदेव को लगा कि, दुःख के बिना अमात्य ठिकाने नहीं आयेगा और सच्चा दुःख तो अपमानित होने से ही होगा। इसलिए, एक दिन उसने राजा की बुद्धि फेर दी। अमात्य राज्यसभा में आया तो राजा ने मुँह फिरा लिया। अमात्य समझ गया कि, किसी न-किसी कारण राजा नाखुश हो गया है, इस रोष से अभिभूत रह कर यह मेरी जान तक ले सकता है, इसलिए मुझे यहाँ से चला जाना चाहिए।'

वह अवसर देखकर सभा से निकल गया। रास्ते में भी किसी ने उसे मान नहीं दिया, मानो कोई पहचानता तक न हो। घर आया तो वहाँ भी यही हालत। नौकरों तक ने उसको कोई मान नहीं दिया और न किसी प्रकार से आदर-सत्कार किया। इससे अमात्य को गहरा आघात लगा और उसने निर्णय किया कि, ऐसे अपमानपूर्ण जीवन से तो मर जाना अच्छा।

उसने अपने कमरे में जाकर दरवाजा बन्द कर लिया और गले पर जोर से तल्वार फेरने लगा, लेकिन उसका भी कोई प्रभाव नहीं हुआ। इसलिए, उसने मरने का दूसरा उपाय किया। उसने तालपुट-विष खा लिया। पर,

वह भी निष्प्रभाव रहा ! इससे वह बहुत व्याकुल हुआ और नगर के बाहर चला गया। वहाँ एक वृक्ष से रस्सी बाँधकर फाँसी लगायी पर रस्सी टूट गयी और वह उससे भी बच गया।

इन उपायों के असफल हो जाने पर अमात्य ने डूब कर मरने का विचार किया। वह एक शिला बाँधकर जलाशय में कूद पड़ा, पर वह डूबा नहीं, नाव की तरह तैरता रहा !

फिर उसने चिता जलाकर उसमें प्रवेश किया। पर, अकाल वृष्टि हुई और चिता बुझ गयी !

मरने के अनेक उपायों के निष्फल जाने पर, वह हताश होकर चिल्लाने लगा—"अब मैं किसकी शरण जाऊँ, मौत तक मेरा दुःख मिटाने के लिए तैयार नहीं है !"

उसी समय पोट्टिलदेव अंतरिक्ष से बोला—"हे तेतली पुत्र ! आगे गहरा गड्ढा है, पीछे उन्मत्त हाथी चला आ रहा है, चौतरफ घोर अन्धकार है, बीच में बाण-वर्षा हो रही है, गाँव जल रहा है और रण धगधगा रहा है, ऐसे में कहाँ जायें ?"

तेतलिपुत्र इस प्रश्न का मर्म समझ गया और उत्तर में बोला—"जैसे भूखे का शरण अन्न है, प्यासे का शरण जल है, रोग का शरण औषध है और थके हुए की शरण वाहन है, वैसे ही चौतरफ से भयभीत हुए मनुष्यों की शरण प्रव्रज्या है। प्रव्रजित हुए शांत, दांत और जितेन्द्रिय को कोई भय नहीं होता।"

तभी अंतरिक्ष से आवाज आयी—"जब तू यह बात समझता है, तो प्रव्रज्या की शरण क्यों नहीं लेता ?" उसके सामने प्रकाश का एक पुंज आकर खड़ा हो गया। उसने कहा—"मैं तुम्हारी स्त्री पोट्टिला हूँ और तुमसे कहने आयी हूँ कि, संसार का यह सब रंग ढंग देखकर अब चारित्र धारण करो।"

जैसे राख हट जाने पर अंगार दहक उठता है, वैसे ही मोह के हट

जाने पर ज्ञान दमक उठता है। इन वचनों से प्रतिबोध पाकर अमात्य तेतलिपुत्र ने ससार छोड़कर सयत दशा अपनी ली। तभी उसे जातिस्मरण-ज्ञान हुआ। पूर्व जन्म में पढ़े हुए चौदह पूर्व स्मरण हो गये। राजा आदि के दिमाग ठिकाने आ गये। सब वन्दना करने आये। तेतलिपुत्र मुनि ने ज्ञान, ध्यान, तप, जप द्वारा सयत दशा को अत्यन्त उज्ज्वल किया और अन्त में सफल कर्मों का क्षय करके वे केवलज्ञान, प्राप्त करके सिद्ध, बुद्ध, निरजन हुए।

महानुभावो! छठे गुणस्थान में इतना बल है, इसलिए सब सुज्ञ जन उसकी इच्छा करते हैं।

इस गुणस्थान की जघन्य स्थिति एक समय और उत्कृष्ट स्थिति अन्त-र्मुहूर्त है, परन्तु प्रमत्त अप्रमत्त मिलाकर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनपूर्व, यानी एक करोड़ पूर्व में आठ वर्ष कम, होती है।

(७) अप्रमत्त सयत गुणस्थान

सज्वलन कषायों का उदय मन्द होने पर साधु प्रमादरहित होकर अप्रमत्त हो जाता है। उसकी अवस्थाविशेष को 'अप्रमत्त सयत-गुणस्थान' कहा जाता है। इस अवस्था का आत्मा किञ्चित् मात्र प्रमाद करते ही छठे गुणस्थान में आ जाता है और प्रमादरहित होने पर पुन सातवें गुणस्थान में आ जाता है। इस तरह छठे और सातवें गुणस्थान का परि-वर्तन सामान्यत दीर्घकाल तक चलता रहता है।

इस गुणस्थान की जघन्य स्थिति एक समय और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि, छठें और सातवें गुणस्थान के सयत जीव धर्मध्यान का विशेष आश्रय लेते हैं और इसलिए विशेष आत्मशुद्धि कर सकते हैं।

ध्यान चार प्रकार का है—(१) आर्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान। इनमें पहले दो ध्यान अशुभ हैं, इसलिए त्याज्य हैं और अन्तिम दो ध्यान शुभ हैं, इसलिए ग्रहणीय हैं, आराधन करने योग्य हैं। अशुभ ध्यान छोड़े बिना शुभ ध्यान नहीं होता, इसलिए धर्मध्यान करनेवाले को दोनों अशुभ ध्यानों को छोड़ना होता है।

धर्मध्यान चार प्रकार का है (१) आज्ञा विचय, (२) अपाय विचय, (३) विपाक विचय और (४) संस्थान विचय। सर्वज्ञ ने क्या कहा है? उसका स्वरूप क्या है? उन आज्ञाओं का स्वयं कितना पालन कर रहा हूँ? इत्यादि बातों की सतत विचारणा करना आज्ञा विचय धर्म ध्यान है। यह संसार अपाय, यानी दुःख, से भरा हुआ है, इसमें प्राणी को कहीं सुख नहीं है, सांसारिक सुख वास्तविक सुख नहीं है, सुख का भ्रम है, जड़ से, पुद्गल से, सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, सुख तो आत्मा का विकास करने से ही प्राप्त हो सकता है—ऐसी सतत विचारणा करने को अपाय विचय धर्मध्यान कहते हैं। कर्म की प्रकृतियाँ कितनी हैं? उनका बंध-उदय किस तरह होता है? कर्म विपाक कैसा होता है? मेरी यह हालत किन कर्मों के कारण है? इस प्रकार की विचारणा निरन्तर करते रहना विपाकविचय धर्म ध्यान है।

[जिसने कर्म का स्वरूप नहीं जाना वह इस प्रकार का ध्यान कैसे कर सकता है? कर्मों की जो जानकारी आपको दी जा रही है, वह धर्म ध्यान में बड़ी सहायक हो सकती है।] द्रव्य और क्षेत्र-सम्बन्धी सतत विचारणा करना संस्थानविचय धर्मध्यान कहलाता है। यहाँ द्रव्य से जीव पुद्गल, धर्मास्तिकाय, आदि ६ द्रव्य समझना चाहिए और क्षेत्र से चौदह राजलोक तथा उसके विभिन्न विभाग समझने चाहिए। तात्पर्य यह कि, इस ध्यान को धरनेवाला 'कमर पर हाथ रखे हुए खड़े पुरुष के समान' चौदह

राजलोक के स्वरूप का चिंतन करे, त्रस नाली, अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्व लोक आदि के स्वरूप का चिंतन करे, और निगोद, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवादि के उत्पन्न होने के स्थानों का विचार करके अपनी धर्म भावना को दृढ करे। धर्म ध्यान के दूसरे भी चार प्रकार बताये हैं (१) पिंडस्थ ध्यान, (२) पदस्थ ध्यान, (३) रूपस्थ-ध्यान और (४) रूपातीत ध्यान। इन्हें योगशास्त्र से जान लेना चाहिए।

इस गुणस्थान में उत्तम ध्यान के योग से आत्मशुद्धि बड़े वेग से होती जाती है।

(८) निवृत्तिबादरगुणस्थान

'आत्म विकास का सच्चा प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से होता है। यह बात पहले आपके ध्यान में लायी गयी है। चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व चला जाता है, अर्थात् सम्यक्त्व आ जाता है। पाँचवें गुणस्थान में अविरति का अमुक भाग कम हो जाता है, इसलिए देश विरति आ जाती है। छठें गुणस्थान में अविरति पूरी तरह दूर हो जाती है, इसलिए सर्वविरति आ जाती है और सातवें गुणस्थान में प्रमाद का परिहार होता है, इसलिए आत्म-जाग्रति झलमला उठती है।

आठवें गुणस्थान में 'अपूर्वकरण' होता है। आत्मा सम्यक्त्व प्राप्त करते समय राग द्वेष की निविड ग्रन्थि का भेदन करता है, उसे भी अपूर्व-करण कहते हैं, पर यह अपूर्वकरण उससे भिन्न है। एक नामवाले दो शहरों के समान इसे भी समझना।

इस अपूर्वकरण में मुख्यत पाँच बातें होती हैं—(१) स्थितिघात, (२) रसघात, (३) गुणश्रेणि, (४) गुणसंक्रम और (५) अपूर्व स्थितिबन्ध। इन पाँच वस्तुओं को जीव ने पहले कभी नहीं किया, इस लिए इन्हें अपूर्वकरण कहा जाता है।

ध्यान चार प्रकार का है—(१) आर्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान। इनमें पहले दो ध्यान अशुभ हैं, इसलिए त्याज्य हैं और अन्तिम दो ध्यान शुभ हैं, इसलिए ग्रहणीय हैं, आराधन करने योग्य हैं। अशुभ ध्यान छोड़े बिना शुभ ध्यान नहीं होता, इसलिए धर्मध्यान करनेवाले को दोनों अशुभ ध्यानों को छोड़ना होता है।

धर्मध्यान चार प्रकार का है (१) आज्ञा विचय, (२) अपाय विचय, (३) विपाक विचय और (४) सस्थान विचय। सर्वज्ञ ने क्या कहा है ? उसका स्वरूप क्या है ? उन आज्ञाओं का स्वय कितना पालन कर रहा हूँ ? इत्यादि बातों की सतत विचारणा करना आज्ञा विचय धर्म ध्यान है। यह ससार अपाय, यानी दु ख, से भरा हुआ है, इसमें प्राणी को कहीं सुख नहीं है, सासारिक सुख वास्तविक सुख नहीं है, सुख का भ्रम है, जड़ से, पुद्गल से, सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, सुख तो आत्मा का विकास करने से ही प्राप्त हो सकता है—ऐसी सतत विचारणा करने को अपाय विचय धर्मध्यान कहते हैं। कर्म की प्रकृतियाँ कितनी हैं ? उनका बध-उदय किस तरह होता है ? कर्म विपाक कैसा होता है ? मेरी यह हालत किन कर्मों के कारण है ? इस प्रकार की विचारणा निरन्तर करते रहना विपाकविचय धर्म ध्यान है।

[जिसने कर्म का स्वरूप नहीं जाना वह इस प्रकार का ध्यान कैसे कर सकता है ? कर्मों की जो जानकारी आपको दी जा रही है, वह धर्म ध्यान म बड़ी सहायक हो सकती है।] द्रव्य और क्षेत्र-सम्बन्धी सतत विचारणा करना सस्थानविचय धर्मध्यान कहलाता है। यहाँ द्रव्य से जीव पुद्गल, धर्मास्तिकाय, आदि ६ द्रव्य समझना चाहिए और क्षेत्र से चौदह राजलोक तथा उसके विभिन्न विभाग समझने चाहिए। तात्पर्य यह कि, इस ध्यान को धरनेवाला 'कमर पर हाथ रखे हुए खड़े पुरुष के समान' चौदह

राजलोक के स्वरूप का चिंतन करे, त्रस नाली, अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्व लोक आदि के स्वरूप का चिंतन करे, और निगोद, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवादि के उत्पन्न होने के स्थानों का विचार करके अपनी धर्म भावना को दृढ़ करे। धर्म ध्यान के दूसरे भी चार प्रकार बताये हैं (१) पिंडस्थ ध्यान, (२) पदस्थ-ध्यान, (३) रूपस्थ-ध्यान और (४) रूपातीत ध्यान। इन्हें योगशास्त्र से जान लेना चाहिए।

इस गुणस्थान में उत्तम ध्यान के योग से आत्मशुद्धि बड़े वेग से होती जाती है।

(८) निवृत्तिबादरगुणस्थान

'आत्म विकास का सच्चा प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से होता है। यह बात पहले आपके ध्यान में लायी गयी है। चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व चला जाता है, अर्थात् सम्यक्त्व आ जाता है। पाँचवें गुणस्थान में अविरति का अमुक भाग कम हो जाता है, इसलिए देश विरति आ जाती है। छठें गुणस्थान में अविरति पूरी तरह दूर हो जाती है, इसलिए सर्वविरति आ जाती है और सातवें गुणस्थान में प्रमाद का परिहार होता है, इसलिए आत्म-जाग्रति झलमला उठती है।

आठवें गुणस्थान में 'अपूर्वकरण' होता है। आत्मा सम्यक्त्व प्राप्त करते समय राग द्वेष की निविड़ ग्रन्थि का भेदन करता है, उसे भी अपूर्वकरण कहते हैं, पर यह अपूर्वकरण उससे भिन्न है। एक नामवाले दो शहरों के समान इसे भी समझना।

इस अपूर्वकरण में मुख्यत पाँच बातें होती हैं—(१) स्थितिघात, (२) रसघात, (३) गुणश्रेणि, (४) गुणसंक्रम और (५) अपूर्व स्थितिबन्ध। इन पाँच वस्तुओं को जीव ने पहले कभी नहीं किया, इसलिए इन्हें अपूर्वकरण कहा जाता है।

कर्म की दीर्घ, लम्बी, स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा न्यून, न्यूनतर, न्यूनतम करना **स्थितिघात** कहलाता है।

कर्म के तीव्र रस को अपवर्तनाकरण द्वारा मद, मदतर, मदतम बनाना **रसघात** कहलाता है।

कम समय में अधिक कर्म प्रदेश भोगे जायें ऐसी स्थिति उत्पन्न करना **गुणश्रेणी** कहलाता है। यह गुणश्रेणि दो प्रकार की है—उपशमश्रेणि। और क्षपकश्रेणि। उपशमश्रेणि चढ़नेवाली आत्मा मोहनीयकर्म की प्रकृतियों का उपशमन करता है, इसलिए वह उपशमक कहलाता है। क्षपकश्रेणि चढ़नेवाला आत्मा मोहनीयकर्म की प्रकृतियों का क्षय करता है, इसलिए वह क्षपक कहलाता है। ग्यारहवाँ गुणस्थान उपशान्तमोह है। वहाँ औपशमिक वीतराग दशा है। उपशमश्रेणि वहाँ पहुँचानेवाली है।

बारहवाँ गुणस्थान क्षीणमोह यानी क्षायिक भाव से वीतराग दशा का है। वहाँ क्षपकश्रेणी द्वारा पहुँचा जाता है। क्षपकश्रेणि उच्चतर और श्रेष्ठतर है, इसलिए उसकी अधिक प्रशंसा होती है। यह अटल नियम है कि, क्षपकश्रेणि के बगैर किसी जीव को केवलज्ञान नहीं हो सकता।

बँधी हुई शुभ प्रकृति में अशुभ प्रकृति का दलिया विशुद्धतापूर्वक बहुत बड़ी संख्या में डालना **गुणसंक्रमण** है। यह याद रखना चाहिए कि, संक्रमक सजातीय प्रकृतियों का ही होता है, विजातीय प्रकृतियों का नहीं।

बाद के गुणस्थानों में मात्र जघन्य स्थिति का कर्मबन्ध करने की योग्यता प्राप्त करना **अपूर्व स्थितिबन्ध** है।

इस गुणस्थान को कुछ लोग निवृत्ति और कुछ लोग निवृत्तिबादर कहते हैं। इसका कारण यह है कि, इस गुणस्थान में समकाल में जिन आत्माओं का प्रवेश हुआ हो, उनके अध्यवसायों में निवृत्ति यानी परस्पर फेरफार होता है। इन अध्यवसायों के भेदों की संख्या असंख्यात है।

जो निवृत्ति के बाद 'बादर' शब्द लगाते हैं, वे यहाँ स्थूल कषायों की विद्यमानता दर्शाने के लिए लगाते हैं।

छठे और सातवें गुणस्थान में धर्मध्यान अच्छी तरह सिद्ध हो जाने के बाद, इस गुणस्थान के जीव शुक्ल ध्यान का आरम्भ करते है और उसकी पहली मजिल पार करते हैं। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि, यह ध्यान वज्रऋषभनाराच सघननवाले को ही हो सकता है।

शुक्ल ध्यान का सम्बन्ध आगे के गुणस्थानों के साथ भी है, इसलिए यहाँ उसका सामान्य परिचय दिया जाता है।

शुक्ल ध्यान के चार प्रकार

शुक्ल ध्यान यानी उज्ज्वल ध्यान! इसमें आत्मा की उज्ज्वलता विशेष रूप से प्रकट होती है। इसके चार प्रकार हैं (१) पृथकत्व वितर्क सविचार, (२) एकत्ववितर्क निर्विचार, (३) सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाती और (४) समुच्छिन्न क्रियाऽनिवृत्ति।

(ये नाम मुश्किल लगते हैं, पर अगर ध्यान में दिलचस्पी हो तो ये आसानी से याद रह सकते हैं।)

इन नामों को सुनकर एक श्रोता ने कहा—"ये नाम तो बड़े कठिन हैं।" पर, यह तो रस और अभ्यास का विषय है। यदि आप इस विषय में रस लें और अभ्यास करें तो नाम स्वत सरलता से स्मरण हो जायेंगे। आप 'शेयरों' का व्यापार करते हैं तो कम्पनियों के लम्बे लम्बे नाम तो स्मरण रखते ही हैं। इसका कारण यही है कि, उसमें आप रस लेते हैं। कपड़े का व्यवसाय करते हैं तो कपड़ों के अटपटे नाम आप स्मरण रखते ही हैं। इसका भी कारण वस्तुत यही है कि, कपड़े में रस लेने से और नित्य प्रति अभ्यास करने से वे नाम आपको स्मरण हो जाते हैं।

शुक्ल ध्यान की पहली मजिल या पहला प्रकार है—पृथकत्व वितर्क-सविचार। पृथकत्व माने भिन्नता, वितर्क माने श्रुतज्ञान, और विचार का अर्थ है एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर और एक (मानसिक आदि) योग से दूसरे योग पर चिन्तनार्थ होनेवाली

कर्म की दीर्घ, लम्बी, स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा न्यून, न्यूनतर, न्यूनतम करना **स्थितिघात** कहलाता है।

कर्म के तीव्र रस को अपवर्तनाकरण द्वारा मंद, मंदतर, मंदतम बनाना **रसघात** कहलाता है।

कम समय में अधिक कर्म-प्रदेश भोगे जायें ऐसी स्थिति उत्पन्न करना **गुणश्रेणी** कहलाता है। यह गुणश्रेणि दो प्रकार की है—उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि। उपशमश्रेणि चढ़नेवाली आत्मा मोहनीयकर्म की प्रकृतियों का उपशमन करता है, इसलिए वह उपशमक कहलाता है। क्षपकश्रेणि चढ़नेवाला आत्मा मोहनीयकर्म की प्रकृतियों का क्षय करता है, इसलिए वह क्षपक कहलाता है। ग्यारहवाँ गुणस्थान उपशान्तमोह है। वहाँ औपशमिक वीतराग दशा है। उपशमश्रेणि वहाँ पहुँचानेवाली है।

बारहवाँ गुणस्थान क्षीणमोह यानी क्षायिक भाव से वीतराग दशा का है। वहाँ क्षपकश्रेणी द्वारा पहुँचा जाता है। क्षपकश्रेणि उच्चतर और श्रेष्ठतर है, इसलिए उसकी अधिक प्रशंसा होती है। यह अटल नियम है कि, क्षपकश्रेणि के बगैर किसी जीव को केवलज्ञान नहीं हो सकता।

बँधी हुई शुभ प्रकृति में अशुभ प्रकृति का दलिया विशुद्धतापूर्वक बहुत बड़ी संख्या में डालना **गुणसंक्रमण** है। यह याद रखना चाहिए कि, संक्रमक सजातीय प्रकृतियों का ही होता है, विजातीय प्रकृतियों का नहीं।

बाद के गुणस्थानों में मात्र जघन्य स्थिति का कर्मबन्ध करने की योग्यता प्राप्त करना **अपूर्व स्थितिबन्ध** है।

इस गुणस्थान को कुछ लोग निवृत्ति और कुछ लोग निवृत्तिबादर कहते हैं। इसका कारण यह है कि, इस गुणस्थान में समकाल में जिन आत्माओं का प्रवेश हुआ हो, उनके अध्यवसायों में निवृत्ति यानी परस्पर फेरफार होता है। इन अध्यवसायों के भेदों की संख्या असंख्यात है।

जो निवृत्ति के बाद 'बादर' शब्द लगाते हैं, वे यहाँ स्थूल कषायों की विद्यमानता दर्शाने के लिए लगाते है।

छठे और सातवें गुणस्थान में धर्मध्यान अच्छी तरह सिद्ध हो जाने के बाद, इस गुणस्थान के जीव शुक्ल ध्यान का आरम्भ करते है और उसकी पहली मंजिल पार करते हैं। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि, यह ध्यान वज्रऋषभनाराच संघननवाले को ही हो सकता है।

शुक्ल ध्यान का सम्बन्ध आगे के गुणस्थानों के साथ भी है, इसलिए यहाँ उसका सामान्य परिचय दिया जाता है।

शुक्ल ध्यान के चार प्रकार

शुक्ल ध्यान यानी उज्ज्वल ध्यान। इसमें आत्मा की उज्ज्वलता विशेष रूप से प्रकट होती है। इसके चार प्रकार हैं (१) पृथक्त्व वितर्क सविचार, (२) एकत्ववितर्क निर्विचार, (३) सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाती और (४) समुच्छिन्न क्रियाऽनिवृत्ति।

(ये नाम मुश्किल लगते हैं, पर अगर ध्यान में दिलचस्पी हो तो ये आसानी से याद रह सकते हैं।)

इन नामों को सुनकर एक श्रोता ने कहा—"ये नाम तो बड़े कठिन हैं।" पर, यह तो रस और अभ्यास का विषय है। यदि आप इस विषय में रस लें और अभ्यास करें तो नाम स्वत सरलता से स्मरण हो जायेंगे। आप 'शेयरों' का व्यापार करते हैं तो कम्पनियों के लम्बे लम्बे नाम तो स्मरण रखते ही हैं। इसका कारण यही है कि, उसमें आप रस लेते हैं। कपड़े का व्यवसाय करते हैं तो कपड़ों के अटपटे नाम आप स्मरण रखते ही हैं। इसका भी कारण वस्तुत यही है कि, कपड़े में रस लेने से और नित्य प्रति अभ्यास करने से वे नाम आपको स्मरण हो जाते हैं।

शुक्ल ध्यान की पहली मंजिल या पहला प्रकार है—पृथक्त्व वितर्क सविचार। पृथक्त्व माने भिन्नता, वितर्क माने श्रुतज्ञान, और विचार का अर्थ है एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर और एक (मानसिक आदि) योग से दूसरे योग पर चिन्तनार्थ होनेवाली

प्रवृत्ति। मतलब यह कि, श्रुतज्ञान के आलम्बनपूर्वक चेतन और अचेतन पदार्थ में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, रूपित्व, अरूपित्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, आदि पर्यायों का भिन्न-भिन्न रूप से चिन्तन करना इस ध्यान का मुख्य विषय है।

शुक्ल ध्यान की दूसरी मंजिल या दूसरा प्रकार है—एकत्व वितर्क निर्विचार। एकत्व माने अभिन्नता, वितर्क माने श्रुतज्ञान, और निर्विचार का अर्थ है—एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर या एक योग से दूसरे योग पर चिन्तनार्थ कोई प्रवृत्ति न करना। तात्पर्य यह कि, श्रुतज्ञान के आलम्बनपूर्वक मानसिक आदि किसी भी एक योग मे स्थिर होकर द्रव्य के एक ही पर्याय का अभेद चिन्तन करना इस ध्यान का मुख्य विषय है।

जिसने पहले ध्यान का दृढ अभ्यास किया हो, उसे ही यह दूसरा ध्यान प्राप्त होता है। जैसे सारे शरीर में व्याप्त विष को मन्त्र आदि उपायों से डंक की जगह ही लाया जाता है, उसी तरह समस्त विश्व के अनेकानेक विषयों में भटकते हुए मन को इस ध्यान द्वारा एक ही विषय पर लाकर एकाग्र किया जाता है। जब मन इस तरह एक ही विषय पर एकाग्र हो जाता है, तब वह अपनी सब चंचलता छोड़कर शान्त हो जाता है। इसका नतीजा यह होता है कि, आत्मा से लगे हुए घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं और केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। ऐसा ध्यान बारहवें गुणस्थान में होता है। इस तरह जब शुक्ल ध्यान के दो प्रकार पूरे हो जाते हैं और दूसरे दो भाग बाकी रहते हैं, तब केवलज्ञान प्रकट हो जाता है और तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त हो जाता है।

शुक्ल ध्यान की तीसरी मंजिल या तीसरा प्रकार है सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाती। जब सर्वज्ञता-प्राप्त आत्मा योग निरोध के क्रम से अन्त में सूक्ष्म शरीर योग का आश्रय लेकर बाकी के सब योगों को रोक लेता है, तब यह

ध्यान प्राप्त होता है। उसमें श्वासोच्छ्वास-जैसी सूक्ष्म क्रिया ही बाकी रहती है और उससे गिरना नहीं होता, इसलिए वह सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाती कहलाता है।

शुक्ल ध्यान की चौथी मंजिल या प्रकार है, समुच्छिन्न क्रियाऽनिवृत्ति। जब सर्वज्ञता प्राप्त आत्मा की श्वास प्रश्वास आदि सूक्ष्म क्रिया भी बन्द हो जाती है और आत्मप्रदेश सर्वथा निष्कम्प हो जाते हैं, तब यह ध्यान प्राप्त होता है। इस ध्यान में सूक्ष्म योगात्मक यानी सूक्ष्म कामयोग रूप क्रिया भी सर्वथा समुच्छिन्न हो जाती है और उसकी अनिवृत्ति होती है।

आठवें, नौवें, दसवें तथा ग्यारहवें गुणस्थानक का समय जघन्य रूप से एक समय और उत्कृष्ट रूप से अन्तर्मुहूर्त होता है।

विशेष अवसर पर कहा जायगा।

बत्तीसवाँ व्याख्यान

गुणस्थान

[३]

महानुभावो !

हमने अब तक गुणस्थानों का जो वर्णन किया, उससे आप समझ गये होंगे कि, जो आत्मा सम्यक्त्व से विभूषित होकर विरति के पन्थ पर विचरती है, इन्द्रियों का दमन करती है और सतत जाग्रत रहती है, वह ही आत्मविकास में आगे बढ़कर अल्प ससारी बन सकती है, जबकि मिथ्यात्वी, मूढ, अज्ञानी, विषय-सुख में ही आनन्द माननेवाले तथा कषाय का निरन्तर सेवन करनेवाले भारी कर्मबन्धन करके अपना ससार बढा लेते है और चौरासी के चक्कर में फँसे रहते हैं।

आपको अल्पससारी होना हो तो गुणस्थानो पर आरोहण करना ही चाहिए। आपने श्रावक-कुल में जन्म लिया है, इसलिए चौथे-पाँचवें गुणस्थान में हैं, ऐसा नहीं समझ लेना। आत्मा में उस प्रकार के गुण प्रकटें तभी चौथे-पाँचवें की प्राप्ति हो सकती है। फिर भी यह आवश्यक है कि, दूसरों की अपेक्षा आपको गुणस्थानों पर आरोहण करने की अधिक सुविधा है। जिन भव्य तीर्थों, आलीशान मदिरों और त्यागी गुरुओं का आपको योग है, वह दूसरों को प्राप्त नहीं है। अब आपको यह देखना चाहिए कि, आप इस सुविधा का कितना लाभ लेते हैं।

सर्वज्ञ भगवत ने तो स्पष्ट कहा है कि, जो उठता नहीं है, काम में लगता नहीं है, तथा मन वचन काय के बल का पूरा उपयोग नहीं करता,

वह कभी कार्यसिद्धि नहीं कर सकता। आप उठें और काम में लगें हमें आपसे यही कहना है।

यदि कोई कहे कि, मैं तो रोज उठता हूँ और काम में लगता हूँ, तो उसने 'उठने' से मेरा तात्पर्य नहीं समझा। यहाँ उठने से हमारा तात्पर्य आध्यात्मिक उत्थान से है। जब हम आपका जीवन व्यवहार देखते हैं तो हमें लगता है कि, आप सो रहे हैं और खुर्राटे ले रहे हैं। जागृति का एक भी लक्षण मुझे आपमें दिखायी नहीं देता। जब रोग, बुढ़ापा और मौत आ जायेगी तब क्या होगा, इसका कोई विचार नहीं किया जाता। गुणस्थानों पर चढते हुए मोक्ष तक पहुँचना मानव भव में ही शक्य है, इसीलिए उठने और काम में लग जाने की पुकार है।

छठें में सर्वविरति, सातवें में प्रमाद-परिहार और आठवें में अपूर्वकरण इतना याद रखकर हम गुणस्थान के विषय में आगे बढ़ें।

(९) अनिवृत्तिबादरगुणस्थान

आठवें गुणस्थान को प्राप्त करनेवाला सयतात्मा प्रगति करके नौवें गुणस्थान में आता है। यह गुणस्थान अनिवृत्तिबादरगुणस्थान कहलाता है। निवृत्ति, अर्थात् अध्यवसायों की भिन्नता यहाँ नहीं होती, इसलिए 'अनिवृत्ति' विशेषण लगाया है। इस गुणस्थान में समकाल पर आये हुए सब जीवों का अध्यवसाय परस्पर समान होता है। दूसरे समय भी सर्व जीवों का अध्यवसाय परस्पर समान होता है। इस तरह हर समय में अनुक्रम से अनन्त गुण विशुद्ध अध्यवसाय समान ही होते हैं। दसवें गुणस्थान की अपेक्षा यहाँ कषाय बादर होते हैं, इसलिए अनिवृत्ति के बाद 'बादर' विशेषण लगाया है।

इस गुणस्थान में उपशमश्रेणि या क्षपकश्रेणि का काम आगे बढता है, इसलिए मोहनीय कर्म की बीस प्रकृतियों का उपशम या क्षय होता है, और पहले दूसरी सात प्रकृतियों का उपशम या क्षय हो चुका है, इसलिए यहाँ एक सन्ज्वलन लोभ ही शेष रहता है।

(१०) सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान

सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में आत्मा स्थूल कषायों से सर्वथा निवृत्त हो जाता है, पर 'सूक्ष्मसंपराय' यानी सूक्ष्म कषायों से युक्त रहता है।

यह याद रहे कि, कषायें दसवें गुणस्थान तक आत्मा को नहीं छोड़तीं। इन कषायों में लोभ का बल विशेष होता है। उसे मार हटाने के लिए भारी पुरुषार्थ करना पड़ता है। लोभ से आत्मा की कैसी हालत होती है यह एक कथा द्वारा बताते हैं।

महर्षि कपिल की कथा

कपिल राजपुरोहित का पुत्र था, परन्तु लड़कपन में उसने कुछ पढ़ा नहीं। उसने सारा समय खेलकूद में ही बिताया। जब उसका पिता मरा तो पुरोहित का पद दूसरे ब्राह्मण को दे दिया गया। यह नया पुरोहित एक बार उसके घर के सामने से गुजरा। वह बहुमूल्य वस्त्र पहने हुए था, सर पर मखमल का छत्र था, दोनों तरफ श्वेत चँवर झले जा रहे थे और एक उत्तम घोड़े पर सवार था।

कपिल की माता यशा को यह देखकर दिल में मार्मिक वेदना हुई। वह सोचने लगी—"अगर मेरा पुत्र पढ़ा लिखा होता तो यह वैभव उसे मिलता।" इस विचार से वह इतने भावावेश में आ गयी कि, फूट फूट कर रोने लगी। इतने में कपिल भटकता हुआ घर आया और माता को रोते देखकर कारण पूछने लगा—"हे माता! तू क्यों रोती है? तेरा सर दुखता है? पेट में दर्द है? कहे तो वैद्य को बुला लाऊँ।"

माता ने दीर्घ निःश्वास छोड़े और कपाल कूट कर कहा—"मेरा सर या पेट नहीं दुखता रहा है, पर तेरी यह अपढ़ हालत खलती है। अगर तू पढ़ लिखकर पंडित हो गया होता तो अपने पिता का स्थान प्राप्त करता और हमारी शान कायम रहती। आज हमारे घर के पास से नया पुरो-

हित निकला था, उसका ठाठ देखा होता तो तुझे मालूम होता कि पाण्डित्य को कैसा मान मिलता है।"

माता के ये शब्द कपिल के दिल को कुरेदने लगे। उसने उसी दिन विद्याभ्यास करने का दृढ निश्चय किया और चलते-चलते श्रावस्ती नगर जा पहुँचा।

श्रावस्ती के इन्द्रदत्त उपाध्याय देश विदेश में प्रसिद्ध थे। उनके यहाँ हजारों विद्यार्थी पढने आते थे। उनमें जो धनवान थे, वे शान से रहते थे, शेष मधुकरी से अपना निर्वाह कर लेते थे। पहले मधुकरी करके विद्याध्ययन करने में हीनता नहीं समझी जाती थी। कपिल इन्द्रदत्त उपाध्याय की पाठशाला में प्रविष्ट हो गया।

कपिल ने मधुकरी करके कुछ दिनों अपना काम चलाया। पर, उसमें समय ज्यादा चला जाता था, इसलिए एक और योजना सोची। वह एक श्रीमत गृहस्थ के पास गया और सारी बात सुनाकर भोजन की सुविधा कर देने की विनती की। उस दयालु श्रीमन्त की पड़ोस में मनोरमा नाम की एक विधवा ब्राह्मणी रहती थी। उसके यहाँ भोजन की व्यवस्था कर दी गयी। उस श्रीमन्त के यहाँ से मनोरमा के घर दो जन का सीधा रोज पहुँच जाता था।

मनोरमा खाना बनाती और कपिल वहाँ आकर जीम जाता। इस सुविधा से कपिल को विद्याभ्यास में बड़ी सहायता मिली, पर दूसरी ओर एक अनर्थ पैदा हो गया। मनोरमा बाल-विधवा थी। उसने ससार का लाभ लिया नहीं था। उसका मन कपिल की ओर आकृष्ट हुआ और उसने धीरे-धीरे ऐसा जाल फैलाया कि, कपिल उसमें पूरी तरह फँस गया। एक तो जवानी और फिर एकान्त! मनुष्य का पतन कैसे न करे!!

कालक्रम से मनोरमा गर्भवती हुई और पूरे दिन जाने लगे तब प्रसूति के खर्च की फिक्र होने लगी। आनेवाले तीसरे जीव के पालन की भी चिन्ता होने लगी। मनोरमा ने इसका मार्ग बताया कि, इस गाँव का राजा

उस ब्राह्मणको दो माशे सोना दक्षिणा में देता है, जो सुबह सुबह उसे आशीर्वाद दे। इसलिए उसने सोचा—"सुबह जल्दी जाकर आशीर्वाद देकर दक्षिणा लाकर अपना काम चलाया जाये।"

दूसरे दिन कपिल सुबह उठकर वहाँ गया। तब तक वहाँ कोई ब्राह्मण आकर आशीर्वाद दे गया था और दक्षिणा ले गया था। कपिल ने तीसरे दिन प्रयत्न किया, लेकिन उस रोज भी सफलता नहीं मिली। इस तरह लगातार वह आठ दिन गया, पर कोई न-कोई जल्दी आकर आशीर्वाद दे जाता था। इससे कपिल थक गया और उसने बहुत-ही सवेरे उठकर पहुँचने और आशीर्वाद देने का निर्णय किया।

मनुष्य के मन मे जब कोई धुन सवार हो जाती है, तब वह आगे-पीछे का विचार नहीं करता। वह उठा और, इस ख्याल से कि कोई और ब्राह्मण पहले न पहुँच जाये, दौड़ने लगा। अभी तो रात का चौथा पहर भी शुरू नहीं हुआ था, लोगों का आना-जाना बिल्कुल बन्द था, कुछ चौकीदार इधर उधर गश्त लगा रहे थे। उन्होंने कपिल को दौड़ता देखा; इसलिए उसे चोर समझकर पकड़ लिया। और, चौकी पर बिठा लिया। कपिल ने अपनी बात समझानी चाही, पर उन्होंने एक न सुनी। सिर्फ एक ही जवाब दिया—"सुबह महाराजा के सामने पेश किये जाने पर जो जवाब देना हो सो देना। इस वक्त ज्यादा बोलने की जरूरत नहीं है।"

सुबह होने पर उसे राजा के सामने पेश किया गया। कपिल को राजदरबार में आने का यह पहला ही प्रसग था और तिस पर वह अपराधी बनकर आया था, इसलिए डर से थरथर काँपने लगा। राजा को लगा कि, यह वास्तव में चोर नहीं है। उसने पूछा—"तू जाति का कौन है? और रात में रास्ते पर क्यों दौड़ता था?"

कपिल ने कहा—"महाराज! मै जाति का ब्राह्मण हूँ और आशीर्वाद देकर दक्षिणा लेने आ रहा था।"

राजा ने पूछा—"पर इतनी रात में ?"

कपिल ने कहा—"महाराज ! आठ दिन से जल्दी पहुँचने का प्रयास कर रहा था कि, आशीर्वाद देकर दो माशा सोना प्राप्त करूँ, पर वह मेरे भाग्य में लिखा हुआ नहीं था। उसका लाभ लेने के लिए आज बहुत सवेरे उठा और इस ख्याल से कि कोई और जल्दी न पहुँच जाये, दौड़ने लगा। उसी से यह दुर्दशा हुई।"

राजा ने कहा—"मुझे आशीर्वाद देने के लिये तुमने इतनी तकलीफ उठायी और वह भी सिर्फ दो माशा सोने के लिए! इससे मैं तुम्हारी हालत को अच्छी तरह समझ सकता हूँ। हे भूदेव! मैं तुम पर प्रसन्न होकर कहता हूँ कि, तुम्हें जो माँगना हो माँगो, मैं तुम्हारी इच्छा जरूर पूरी करूँगा।"

संकट के बादल छिन्न भिन्न हो गये थे। मन चाही चीज माँगने के लिए कहा गया था, इसलिए कपिल स्वस्थ हुआ, कुछ आनन्द में आकर बोला—"महाराज! कुछ समय दें तो विचार कर माँगूँ।"

राजा ने कहा—'भले, विचार कर माँगना!'

अब कपिल विचार करने लगा—'क्या माँगूँ ? दो माशा सोने में तो कुछ नहीं होगा, इसलिए दस अशर्फी माँगूँ। पर, दस अशर्फियों में भी क्या होगा ? इसलिए पचास अशर्फी माँगने दो।' फिर विचार आया कि 'पचास अशर्फी कुछ ज्यादा नहीं है। वह तो कुछ ही दिनों में खत्म हो जायेगी, इसलिए पाँच सौ अशर्फी माँगने दो। राजा के खजाने में क्या कमी आ जानेवाली है!'

इस तरह उसका लोभ गुब्बारे की तरह फूलने लगा।

कपिल पाँच सौ से हजार पर, हजार से दस हजार पर, दस हजार से लाख पर और लाख से करोड़ अशर्फियों पर आ गया। फिर विचार आया कि करोड़पति से भी सामान्य सत्ताधीश बढ़कर होता है, इसलिए

आधा राज्य माँगने दो। पर, उसमें राजा का मुकाबला रहेगा। तब क्या सारा राज्य माँग लूँ ?"

इस आखिरी विचार के आते ही उसके मन में धक्का लगा। "जिस राजा ने मुझ पर महरबानी करके मेरा मनोरथ पूरा करना चाहा, क्या उसी को फकीर बना देना चाहिए! नहीं, नहीं। यह ठीक नहीं होगा। तब क्या आधा राज्य लूँ ? नहीं, नहीं। उसमें भी मुकाबला रहेगा और उपकारी का जी दुखेगा। तब क्या करोड़ अशर्फियाँ ही माँगी जायें ? पर इतनी का क्या करना है ? ज्यादा होगी तो आफत आयेगी। तब क्या लाख अशर्फियाँ माँगूँ कि, जिससे एक हवेली बन जाये और मेरा सारा व्यवहार सरलतापूर्वक चलता रहे ?" परन्तु अन्त करण ने यह बात भी मजूर नहीं की। "इतना ज्यादा पैसा होगा तो मौज-शौक बढ़ेंगे और उत्तम जीवन यापन नहीं हो सकेगा। तब क्या करूँ ? हजार माँगूँ ? सौ माँगूँ ? पचास माँगूँ ? पच्चीस माँगूँ ?' अधिक विचार करने पर उसे ऐसा लगा कि, 'मुझे किसी भी तरह की ज्यादा माँग नहीं करना, पर प्रसूति के खर्च लायक सिर्फ पाँच अशर्फियाँ ही माँगना।'

लेकिन, गाड़ी सीधी लाइन पर चढ़ गयी थी, इसलिए अन्तर को वह भी न रुचा। उसने विचार किया—"मैं तो दो माशा सोना लेने आया था, पर राजा ने भलमनसाहत दिखलायी, इसलिए उसका लाभ लेने तैयार हो गया। इसे उचित नहीं कहा जा सकता। इसलिए दो माशा सोना माँगना ही उचित है।'

फिर विचार आया—"जहाँ लोभ है, वहीं दीनता है। इसलिए, कुछ न माँग कर सन्तोष धारण करना चाहिए। सचमुच, इस जगत् मे सन्तोष जैसा कोई सुख नहीं है। मै जरा सी तृष्णा में पड़ा कि मेरा विद्याभ्यास छूटा, चारित्र से भ्रष्ट हुआ और इस याचना करने की स्थिति मे आ गया। इसलिए, इस तृष्णा से बाज आना चाहिए।"

कुछ देर बाद राजा ने पूछा—"भूदेव! क्या माँगने का विचार किया?"

कपिल ने कहा—"महाराज! कुछ नहीं माँगना।"

राजा ने कहा—"ऐसा क्यों?"

कपिल ने कहा—"हे राजन्! लोभ रुकना नहीं जानता। ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है। इसलिए लोभ का ही परित्याग कर डालना चाहिए।'

राजा ने कहा—"पर ऐसा विचार करोगे तो तुम्हारा निर्वाह कैसे होगा? इसलिए मैं खुशी से तुम्हें करोड़ अशर्फियाँ देता हूँ। उन्हें तुम स्वीकार करो।"

कपिल ने कहा—"राजन्! जब तक मन में तृष्णा थी, तब तक यह लगता था कि धन सुख का अनिवार्य साधन है। पर, अब तृष्णा छूट जाने पर धन की आवश्यकता नहीं रही। सन्तोष ही परम धन है और उसे प्राप्त करके मै सुखी हो गया हूँ।"

यह कहकर कपिल वहाँ से चल पड़ा। राजा और अन्य सभाजन उसकी नि स्पृहता की भूरि-भूरि प्रशसा करते रहे।

विषय भी एक प्रकार की तृष्णा है, इसलिए कपिल ने उसका भी त्याग कर दिया और यह सोचकर—"मुक्ति का सुख दिलावे वही सच्ची विद्या है" उसने पाठशाला का भी त्याग कर दिया। फिर किसी निर्ग्रन्थ मुनि के समीप (पाँच) महाव्रत धारण कर चारित्र का निरतिचार पालन करने लगा। इससे ६ ही महीने में आत्मा की सम्पूर्ण शुद्धि करके वे केवलज्ञानी हो गये और लोगों को सत्य धर्म का उपदेश करने लगे।

(१०) सूक्ष्मसपरायगुणस्थान

आत्मा स्थूल कषायों से सर्वथा निवृत्त हो गया हो, पर सूक्ष्म कषायों

मे युक्त हो, उस अवस्था को सूक्ष्मसपराय गुणस्थान कहते हैं। यहाँ संपराय का अर्थ कषाय है।

इस गुणस्थान पर क्रोध, मान या माया नहीं होते, पर लोभ का उदय होता है। उसे अत्यन्त सूक्ष्म बना दिया जाता है। वह उदय में से आखिरी समय में जाता है।

इस गुणस्थान की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त की है।

(११) उपशांतमोहगुणस्थान

उपशमश्रेणि द्वारा जीव दसवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान में आता है, पर क्षपकश्रेणि करता हुआ जीव इस स्थान में न आकर सीधा बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। धीमी गाड़ी हो तो हर एक स्टेशन पर खड़ी रहती है, पर तेज गाड़ी कुछ स्टेशनों को छोड़ती हुई चलती है। यहाँ क्षपकश्रेणि को तेजगाड़ी के समान समझना चाहिए।

जहाँ सब मोहनीय कर्म अमुक समय तक उपशात हो जायें, आत्मा की ऐसी अवस्थाविशेष को उपशातमोहगुणस्थान कहा जाता है।

इस गुणस्थान पर आया हुआ जीव जघन्य रूप से एक समय और उत्कृष्ट रूप से एक अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त वीतराग दशा अनुभव करता है। उसके बाद उपशात की हुई कषाय मोहनीय कर्म का उदय होने पर पुन मोहपाश में बँध जाता है। यहाँ से गिरनेवाला छठे, सातवें, पाँचवें, चौथे या पहले गुणस्थान तक में पहुँच जाता है।

(१२) क्षीणमोहगुणस्थान

जिसका मोहनीयकर्म सर्वथा क्षीण हो गया हो, उसकी अवस्थाविशेष को क्षीणमोह गुणस्थान कहते है। इस गुणस्थान पर सज्वलन लोभ का क्षय हो जाने पर, सकल मोहनीय कर्म का क्षय हो जाता है।

अनतानत वर्षों से जिन कर्मों का आत्मा पर वर्चस्व था, दबाव था, उनके चले जाने पर आत्मा को कैसा आनन्द आता होगा ! कैसी शांति

मिलती होगी ! इस गुणस्थान को प्राप्त करनेवाला आत्मा वीतरागी कहलाता है और वीतरागी के समान सुखी इस जगत में कोई नहीं है, इस बात को हमने पहले विस्तार से समझाया है।

अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का उपशम, क्षयोपशम या क्षय जीव चौथे गुणस्थान में करता है, अप्रत्याख्यानीय चार कषायों का उपशम अथवा क्षयोपशम पाँचवें गुणस्थान में करता है, प्रत्याख्यानीय कषाय का उपशम अथवा क्षयोपशम अथवा क्षय करने के लिए छठे या सातवें गुणस्थान में अपनी शुद्धि बढ़ाता रहता है, आठवें गुणस्थान मे उपशम या क्षपकश्रेणि चढ़ता हुआ जीव नौवें गुणस्थान में सज्वलन लोभ के सिवाय बाकी सब कषाय नोकषाय मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम या क्षय करता है, दसवें सूक्ष्मसपराय गुणस्थान में जीव इस श्रेणि में आगे बढकर अन्तिम समय में सज्वलन लोभ का उदय खत्म कर देता है।

उपशमक जीव ग्यारहवें उपशातमोह गुणस्थान से गिरता है, जबकि क्षपक जीव ग्यारहवें गुणस्थान को पारकर बारहवें गुणस्थान में आता है और शुक्लध्यान के पहले दो ध्यानों को ध्याता है।

इस गुणस्थान की स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की है और वह क्षपक जीव को ही होती है। बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में शेष तीन घाती कर्मों का नाश होता है।

(१३) सयोगकेवलीगुणस्थान

शुक्लध्यान की दूसरी मजिल पूरी होते ही जीव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों का क्षय कर देता है। यानी चार घाती कर्मों का क्षय हो जाता है और उससे केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति हो जाती है और सयोगकेवली-नामक तेरहवें गुणस्थान की प्राप्ति हो जाती है। अब वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र इन चार अघाती कर्मों का क्षय करना बाकी रहता है। इस गुणस्थान पर आत्मा पूर्ण वीतरागता

प्राप्त कर लेता है, इसलिए अघाती कर्मों के फल को सहज और समभाव से भोगता है। इस केवलज्ञानी परमात्मा को भी मन, वचन और काया की प्रवृत्तिरूप योग होते हैं, इसलिए वह सयोगकेवली कहलाता है, सयोग केवली आत्मा की यह अवस्थाविशेष सयोगकेवली गुणस्थान है।

इस गुणस्थान पर वर्तते हुए सामान्यकेवली भव्य जीवों को उपदेश देते हुए गाँव-गाँव विचरते हैं, जबकि केवलज्ञान को प्राप्त करनेवाले अरिहंत-तीर्थंकर अपने तीर्थंकर नामकर्म को वेदते हुए प्रवचन और संघ-रूपी तीर्थ की स्थापना करके भव्य जीवों को भवसागर तैर जाने का एक महान् साधन बना जाते हैं।

इस गुणस्थान पर वर्तते जीव को किसी प्रकार का ध्यान नहीं होता, पर ध्यानांतरिका, जीव मुक्त दशा होती है। इस गुणस्थान पर रहनेवाली आत्मा जीवन्मुक्त परमात्मा कहलाता है। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य रूप से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट रूप से देशोनकोटिपूर्व यानी करोड़ पूर्व में-आठ-वर्ष कम होती है।

इस गुणस्थान के जीव को बाकी रहे हुए अघाती सर्वकर्म का क्षय करने के लिए योगनिरोध करना होता है। परन्तु, उससे पहले अगर अघाती कर्मों में तरतमता हो तो उसे दूर करने की आवश्यकता रहती है। अधिक स्पष्ट कहें तो वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीनों में से एक, दो या तीनों की स्थिति आयुष्यकर्म की अपेक्षा कुछ अधिक हो तो चारों अघाती कर्मों को समस्थिति का बनाने के लिए 'केवलीसमुद्घात' नामक क्रिया करनी पड़ती है, जिसका वर्णन हमने प्रसंगोपात्त आत्मा की **अखण्डता** नामक पाँचवें व्याख्यान में किया है।

(१४) अयोगकेवलीगुणस्थान

सयोगकेवली जब मन, वचन और काया के योगों का निरोध करते

अयोगी अर्थात् योगरहित बनते हैं, तब उनकी अवस्थाविशेष को अयोग-केवली गुणस्थान कहते हैं।

अयोगकेवली योगनिरोध किस क्रम से करते हैं, यह आपको बताते हैं। त्रिविध योग बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकार के होते हैं। उनमें प्रथम बादर काययोग द्वारा बादर मनोयोग का निरोध करते हैं, फिर बादर वचनयोग का निरोध करते हैं। इस प्रकार तीन प्रकार के बादर योगों में से दो बादर योगों के चले जाने पर एक बादरकाययोग बाकी रहता है। फिर सूक्ष्मकाययोग से उस बादर काययोग का निरोध करते हैं, सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करते हैं और सूक्ष्म वचन योग का निरोध करते हैं। तब केवल सूक्ष्म काययोग बाकी रह जाता है। तब तीसरा 'सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती'-नामक तीसरे शुक्लध्यान करके उसके द्वारा सूक्ष्म काययोग का भी निरोध करते हैं। उस वक्त जीव के सब प्रदेश मेरु शैल-जैसे निष्प्रकप हो जाते हैं। उसे 'शैलेशीकरण' कहते हैं। इस गुणस्थान का काल अ, इ, उ, ऋ, ल इन पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण करने के बराबर है। यहाँ समुच्छिन्न क्रियाऽनिवृत्ति नामक चौथा शुक्लध्यान होता है। इस ध्यान के अन्त में जीव सकल अघाती कर्मों का क्षय करके अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्व गति से लोक के अग्रभाग में सिद्धशिला के सिद्धस्थान में पहुँचकर वहाँ स्थिर हो जाता है। उस वक्त उसकी अवगाहना अन्तिम शरीर की अवगाहना से ⅔ होती है।

आत्मा की ऊर्ध्वगति के लिये चार कारण समझने योग्य हैं पूर्व प्रयोग, असंगत्व, बंधच्छेद और गतिपरिणाम। जैसे कुमार के चाक में, हिंडोले में या बाण में पूर्व प्रयोग से गति होती है, उसी प्रकार यहाँ पूर्व-प्रयोग से गति होती है। जैसे मिट्टी के लेप के संग पानी में तुबड़ी की ऊर्ध्वगति होती है, उसी तरह कर्म रूपी लेप जाने से आत्मा की ऊर्ध्वगति होती है। जैसे एरंड के बीज का ऊपरी बन्धन टूट जाने से

एरंड के बीज की ऊर्ध्वगति होती है, उसी तरह कर्मरूप बन्ध के नष्ट हो जाने से जीव की ऊर्ध्वगति होती है। जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है, इसलिए वह ऊपर जाता है। जिसकी स्वाभाविक गति नीची होती है, वह नीचे जाता है, जैसे कि धूल, ढेला, पत्थर।

गुणस्थानों का विषय यहाँ पूरा होता है। वह आत्मा के विकास के सम्बन्ध में बहुत कुछ बताता है और कर्म के स्वरूप की भी सूक्ष्म जानकारी देता है। गुणस्थानों का क्रम समझकर जो आत्मा उत्तरोत्तर ऊँचे गुणस्थानों को प्राप्त करेंगे, वे अनन्त सुख के धामरूप मोक्षमहालय में विराजमान हो सकेंगे।

विशेष अवसर पर कहा जायेगा।

तेतीसवाँ व्याख्यान

कर्म की निर्जरा

महानुभावो !

इस संसार का सब प्रपंच कर्मों के अधीन है। अगर कर्म न हों तो नरकादि चार गतियाँ न हों, स्थूल या सूक्ष्म शरीर न हों, जन्म-मरण की परम्परा न हो और विविध प्रकार के दुःख भी न हों। अगर कर्म जायें तो यह सारी बला कटे। इसलिए सुख शांति के इच्छुकों को चाहिए कि उन्हें दूर करने की कोशिश करें।

पर, प्रश्न यह है कि, कर्म किस प्रकार दूर हों? कर्म कुछ ढोर नहीं हैं कि, लकड़ी मार कर उन्हें दूर भगा दिया जाये। कर्म कुछ मनुष्य नहीं हैं कि, उन्हें बलात् पकड़ कर बैठा दिया जाये। ये कुछ धूल नहीं हैं, कि झटक देने से उनसे मुक्ति मिले। इनका जन्म पुद्गलों से है, पर स्वरूप में ये अत्यन्त सूक्ष्म हैं। मानवीय नेत्र उन्हें देख सकने में असमर्थ हैं। यदि अत्यन्त बलिष्ठ सूक्ष्मदर्शी यन्त्र लें तो भी कर्म दिखलायी नहीं पड़ने के। जो वस्तु दिखायी ही न पड़े भला उसे कैसे पकड़ा अथवा दूर किया जा सकता है? यह एक भयंकर प्रश्न है। पर, मनुष्य में इतनी बुद्धि है कि वह अदृश्य वस्तु को भी पकड़ कर दूर कर सकता है। इसे आप एक दृष्टान्त से समझ सकते हैं।

अदृश्य चोर कैसे पकड़ा गया ?

एक चोर के पास अद्भुत अंजन था। उसे लगाने से वह अदृश्य हो जाता था। इस तरह रोज अदृश्य होकर वह राजा के महल में चला

एरंड के बीज की ऊर्ध्वगति होती है, उसी तरह कर्मरूप बन्ध के नष्ट हो जाने से जीव की ऊर्ध्वगति होती है। जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है, इसलिए वह ऊपर जाता है। जिसकी स्वाभाविक गति नीची होती है, वह नीचे जाता है, जैसे कि धूल, ढेला, पत्थर।

गुणस्थानों का विषय यहाँ पूरा होता है। वह आत्मा के विकास के सम्बन्ध में बहुत कुछ बताता है और कर्म के स्वरूप की भी सूक्ष्म जानकारी देता है। गुणस्थानों का क्रम समझकर जो आत्मा उत्तरोत्तर ऊँचे गुणस्थानों को प्राप्त करेंगे, वे अनन्त सुख के धामरूप मोक्षमहालय में विराजमान हो सकेंगे।

विशेष अवसर पर कहा जायेगा।

तेतीसवाँ व्याख्यान

कर्म की निर्जरा

महानुभावो !

इस संसार का सब प्रपंच कर्मों के अधीन है। अगर कर्म न हों तो नरकादि चार गतियाँ न हों, स्थूल या सूक्ष्म शरीर न हों, जन्म-मरण की परम्परा न हो और विविध प्रकार के दुःख भी न हों। अगर कर्म जायें तो यह सारी बला कटे। इसलिए सुख शांति के इच्छुकों को चाहिए कि उन्हें दूर करने की कोशिश करें।

पर, प्रश्न यह है कि, कर्म किस प्रकार दूर हों? कर्म कुछ ढोर नहीं हैं कि, लकड़ी मार कर उन्हें दूर भगा दिया जाये। कर्म कुछ मनुष्य नहीं हैं कि, उन्हें बलात् पकड़ कर बैठा दिया जाये। ये कुछ धूल नहीं हैं, कि झटक देने से उनसे मुक्ति मिले। इनका जन्म पुद्गलों से है, पर स्वरूप में ये अत्यन्त सूक्ष्म हैं। मानवीय नेत्र उन्हें देख सकने में असमर्थ हैं। यदि अत्यन्त बलिष्ठ सूक्ष्मदर्शी यंत्र लें तो भी कर्म दिखलायी नहीं पड़ने के। जो वस्तु दिखायी ही न पड़े भला उसे कैसे पकड़ा अथवा दूर किया जा सकता है? यह एक भयंकर प्रश्न है। पर, मनुष्य में इतनी बुद्धि है कि वह अदृश्य वस्तु को भी पकड़ कर दूर कर सकता है। इसे आप एक दृष्टान्त से समझ सकते हैं।

अदृश्य चोर कैसे पकड़ा गया?

एक चोर के पास अद्भुत अंजन था। उसे लगाने से वह अदृश्य हो जाता था। इस तरह रोज अदृश्य होकर वह राजा के महल में चला

जाता और राजा के थाल मे परोसे हुए भोजन को खा जाता। राजा की उत्तम रसोई का उसे चटखारा लग गया था।

राजा दिन-प्रतिदिन दुबला होता गया। एक दिन मत्री ने कहा—"महाराज! आप रोज ब-रोज दुबले होते जा रहे हैं। क्या आपको कोई गुप्त रोग है? या भोजन अच्छा नहीं लगता? या भूख ठीक नहीं लगती? जो कारण हो दिल खोल्कर बतायें, ताकि उसका उपाय किया जा सके!"

राजा ने कहा—"बात कहते मुझे लज्जा लगती है?"

मत्री बोला—"शरीर के सम्बन्ध में शरम रखना अथवा उपेक्षा करना योग्य नहीं है। शरीर है तो सब कुछ है। आप नि सकोच बतायें। अनुरोध किये जाने पर राजा ने कहा—"मत्रीश्वर! मुझे कोई गुप्त रोग नहीं है, पर जो भोजन मुझे परोसा जाता है, वह पूरा मेरे पेट में नहीं जा पाता। भरे थाल में से कुछ ही ग्रास लेता हूँ कि थाल खाली हो जाता है। फिर रसोइये से बार-बार माँगने मे मुझे शर्म आती है। इसलिए, पोषण के अभाव से मेरा शरीर दुर्बल होता जा रहा है।"

मत्री ने कहा—"महाराज! अगर आपके दुबले होने का यही कारण है तो मैं इसका उपाय जरूर करूँगा।"

गहरा विचार करने पर मत्री इस निर्णय पर आया कि, जरूर कोई अजन आदि के प्रयोग से अदृश्य होकर आता है और वह राजा के थाल का परोसा हुआ खा जाता है। उसे जरूर पकड़ना चाहिए!

अदृश्य पुरुष को पकड़ने का काम आसान नहीं है, पर मत्री महा बुद्धिमान था, उसने उसे पकड़ने की योजना बनायी। राजा के भोजन-खड में जाने के रास्ते पर उसने सूक्ष्म रज बिछवा दी और नौकरों को हुक्म किया कि इशारा पाते ही भोजनखड के तमाम दरवाजे बन्द कर दिये जायें। फिर वह स्वयं भोजनखड में एक जगह बैठ गया और घटनावलि का अवलोकन करने लगा।

राजा स्नान पूजा करके और योग्य वस्त्रालंकार धारण करके समय पर भोजनखंड में आया अपने आसन पर बैठ गया। उसके आगे थाल रख दिया गया। इतने में वह रसलुब्ध चोर आया। मंत्री ने सूक्ष्म रज में उसके पैरों के निशान देखे कि उसने संकेत कर दिया और भोजन खंड के सब दरवाजे फौरन् बन्द हो गये। फिर मंत्री के आज्ञानुसार वहाँ गीली लकड़ियाँ और अमुक वनस्पतियाँ जलाकर उनका धुआँ किया गया। यह धुआँ बहुत तेज था। चोर की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी और उसके साथ ही वह अंजन भी धुलकर निकल गया।

जिसकी शक्ति से वह अदृश्य होता था, वह वस्तु चली गयी, इसलिए वह दृश्य हो गया। वह सबको दिखलायी देने लगा। राजसेवकों ने उसे पकड़ लिया। राजा ने उसकी बड़ी लानत मलामत की और सूली की सजा सुना दी। मंत्री को बड़ा इनाम दिया गया।

कहने का तात्पर्य यह कि, अदृश्य वस्तुओं को भी युक्ति से पकड़ा जा सकता है और दूर किया जा सकता है।

कर्मों को निकालने का उपाय

कर्मों को दूर करने के लिए उन्हें पकड़ने की जरूरत नहीं है, पर कोई ऐसा उपाय करना चाहिए कि वे आत्मा से पृथक हो जायें। ऐसा उपाय महापुरुषोंने बताया है —

मलं स्वर्णगतं वह्निर्हंसः क्षीरगतं जलम्।
यथा पृथक्करोत्येव, जन्तोः कर्ममलं तपः॥

—जैसे सोने के मैल को अग्नि दूर कर देती है, दूध के जल को हंस अलग कर देता है, उसी प्रकार प्राणियों के आत्माओं के कर्ममल को तप दूर कर देता है।

जब आदमी किसी फौजदारी के मामले में फँस जाता है और उसे बचने का उपाय नजर नहीं आता तो वह 'सालीसिटर' अथवा बैरि-

स्टर के पास जाता है और बचने के उपाय के लिए वह जितना पैसा माँगे, उतना पैसा देता है। आपके कारखाने में कोई चीज नित्य बिगड़ जाती हो तो उसका उपचार विशेषज्ञ से करवाते ही हैं। आपको कोई भयङ्कर रोग होता है तो उससे मुक्ति के लिए आप आधी सम्पत्ति खरच कर डालते हैं।

आप सासारिक कठिनाइयों से बचने के लिए कितना द्रव्य खर्च कर डालने को तत्पर रहते हैं! आत्मा को कर्म के बन्दीगृह से छुड़ानेवाले को, बिगड़ते हुए जीवन को सुधारनेवाले को और भवरोग से मुक्त करनेवाले को क्या मूल्य चुकायेंगे? महापुरुष तो परोपकार के व्रत धारी होते हैं। वे आपसे किसी मूल्य की आशा नहीं रखते। वे सिर्फ यह चाहते हैं कि, आप इस उपाय को पूरी निष्ठा से आजमायें और जितनी जल्दी हो सके भवपरम्परा से मुक्त हो जायें।

तप नये कर्मों को ही नहीं, पुराने कर्मों को भी भस्म कर डालता है। महापुरुष स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि **"भवकोडी सचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ"**—करोड़ों भवों में सचित किया हुआ कर्म भी तप द्वारा नष्ट हो जाता है। इसलिए मौजूदा सब कर्मों का क्षय करने के लिए तप का आश्रय लेना चाहिए।

इसका अर्थ यह हुआ कि, अब तक जितना कर्म सत्ता में है, उन सब का यदि क्षय कराना हो तो तप का आश्रय लेना चाहिए।

प्रश्न—तप के बिना भी कर्म खपते हैं या नहीं?

उत्तर—अनजाने में, ठड, गर्मी तथा दूसरे कष्ट सहन करने से कुछ कर्म खपते हैं, पर उसमें निर्जरा का परिमाण बहुत कम होता है। इस तरह कर्मों के नष्ट होने को 'अकाम निर्जरा' कहते हैं।

प्रश्न—तप करनेवाले को कैसी निर्जरा होती है?

उत्तर—अगर तप में अहिंसा या आत्म शुद्धि का विचार मुख्य न हो तो कर्म की निर्जरा अल्प मात्रा में होती है और अगर तप में अहिंसा और

आत्मशुद्धि का विचार हो तो निर्जरा बहुत होती है। ज्ञानपूर्वक तप करने से कर्मों की जो निर्जरा होती है उसे 'सकाम निर्जरा' कहते हैं। जीव की प्राथमिक दशा में अकाम निर्जरा उपयोगी होती है, पर सच्ची प्रगति तो सकाम निर्जरा से ही होती है। सकाम निर्जरा अकाम निर्जरा से अत्यन्त प्रबल है।

प्रश्न—जीव प्रति समय कर्मों की निर्जरा करता रहता है तो अब तक वह समस्त कर्मों का क्षय क्यों न कर सका ?

उत्तर—एक कोठी में से रोज धान्य निकाला जाता रहे, पर ऊपर से उसमें धान्य पड़ता भी जाये, तो क्या वह कोठी कभी खाली होगी ? आत्मा की भी स्थिति तद्रूप ही समझनी चाहिए—क्योंकि वह प्रति समय निर्जरा करते रहने के साथ ही नये कर्म भी प्रति समय बाँधता रहता है। सकल कर्मों का नाश तो तब हो कि कर्म बँधें कम और खपें ज्यादा। ऐसी स्थिति तप से उत्पन्न होती है, इसीलिए तप को निर्जरा का उपाय माना है। आज तक जिन आत्माओं ने सकल कर्मों की निर्जरा की है, वह तप से ही की है। आज भी जो आत्मा महा विदेहादि क्षेत्रों में सकल कर्मों की निर्जरा कर रहे हैं, वे तप के द्वारा ही कर रहे हैं और भविष्य भी ऐसी निर्जरा तप के द्वारा ही होती रहेगी।

प्रश्न—इलाचीकुमार ने बाँस पर खेल करते हुए तेरहवें गुणस्थान को स्पर्श किया और केवलज्ञानी हुए, वहाँ तप किस तरह हुआ ?

उत्तर—बहुत से नट इस तरह बाँस पर खेल करते हैं, पर उन सबको केवलज्ञान नहीं होता, बल्कि इलाचीकुमार ने स्वय भी वहाँ उसी तरह चार बार खेल किया था, पर केवलज्ञान नहीं हुआ था। इसलिए केवलज्ञान के उत्पन्न होने में कोई असाधारण कारण होना चाहिए। वह कारण किस प्रकार उत्पन्न हुआ यह भी देखें। इलाचीकुमार पाँचवीं बार खेल करने चढ़े, तब उनकी दृष्टि निकटस्थ हवेली में गयी। वहाँ एक नव-

यौवना स्त्री को हाथ में लड्डुओं का थाल लेकर साधु मुनिराज से विनती करते देखी। वह 'लीजिये, लीजिये' कहती है, पर मुनिराज लेते नहीं हैं। इतना ही नहीं, उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। इससे इलाची कुमार की विचारधारा बदल गयी, अध्यवसाय में परिवर्तन हुआ और वह धर्म ध्यान की धारा द्वारा शुक्ल ध्यान में प्रविष्ट हुए। फिर शुक्ल ध्यान की दूसरी मजिल पर आ गये और चार घाती कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान पा गये। यहाँ जो धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान की प्रवृत्ति हुई, वह एक प्रकार का तप ही है।

तप का अर्थ उपवास, आयंबिल, एकासन आदि ही नहीं है। तप का अर्थ बहुत विशाल है। उसमें बाह्य और आभ्यातरिक शुद्धि की अनेक क्रियाओं का समावेश हो जाता है। इसीलिए तप के बाह्य और अभ्यंतर दो भेद माने गये हैं। अनशन, ऊनोदरिका, वृत्ति-सक्षेप, रस त्याग, काय क्लेश और सलीनता ये बाह्य तप के छह भेद हैं, और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग ये अभ्यतर तप के ६ भेद हैं।

इस तरह ध्यान-तप का आश्रय लेकर, इलाचीकुमार ने केवलज्ञान प्राप्त किया।

बारह प्रकार का तप

चर्चा आने पर आपको कर्म निर्जरा के कारणभूत १२ प्रकार के तपों का भी परिचय करा दूँ।

(१) **अनशन**—इसमें भोजन का त्याग रहता है। आयंबिल तथा एकाशन में एक से अधिक बार खाने का त्याग रहता है। उपवास, आयंबिल, एकाशन आदि करने से इन्द्रियाँ शात रहती हैं, इसलिए आभ्यांतरिक शुद्धि में मदद मिलती है। श्री महावीर प्रभु ने साधना काल में उपवास का बड़ा अवलम्बन लिया था। ४५१५ दिन के साधन काल में उन्होंने ४१६६ उपवास किये थे, यानी केवल ३४९ दिन पारणा की थी।

पारणा के दिनों में भी वे सूखा भात, उड़द के बाकले, सत्तू आदि लेते थे, यानी रसत्याग का तप भी होता था। उसमें वृत्ति संक्षेप भी करते, यानी अभिग्रह रखते। चन्दनबाला के हाथ से पारणा हुआ, वह अभिग्रह कितना उग्र था! आयबिल की तपश्चर्या भी जिनशासन में खूब होती आयी है और आज भी वर्धमान तप की सौ ओलियाँ पूरी करनेवाले भव्यात्मा विद्यमान हैं।

(२) **ऊनोदरिका**—जीमते समय पेट को कुछ खाली रखना ऊनोदरिका है। पुरुष का आहार बत्तीस ग्रास और स्त्री का आहार अट्ठाईस ग्रास कहा है। और, ग्रास का परिमाण मुर्गी के अंडे के बराबर, कि मुँह को ज्यादा खोले बिना सरलता से खाया जा सके। कहा है—आहार कम करने से शरीर और मन स्फूर्तिपूर्ण रहता है, इसलिए स्वाध्याय तथा ध्यान की प्रवृत्ति अच्छी तरह हो सकती है और ब्रह्मचर्यपालन में भी सहायता मिलती है। ठूँसकर खाना अस्वास्थ्यकर है और धर्माराधन की दृष्टि से भी अहितकर है। किसी अनुभवी ने कहा है—"आँखों त्रिफला, दाँतों नोन, पेट न भरिये चारों कोन।"

'आज आयबिल है, एकासन है, इसलिए दबाकर खायें' यह विचार ऊनोदरिका तप को भंग करनेवाला है। हर तप ऊनोदरिकापूर्वक ही शोभा देता है। पारणा के समय इसका विवेक रखना आवश्यक है।

(३) **वृत्तिसंक्षेप**—जिसके द्वारा जीवित रहा जा सके उसे वृत्ति कहा जाता है। भोजन और पानी वृत्ति है। उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से संक्षेप करना वृत्तिसंक्षेप कहा जाता है। उसे हम सामान्य रूप में अभिग्रह भी कहते हैं। अमुक प्रकार की भिक्षा मिलेगी तो ही लेना द्रव्य संक्षेप है। एक, दो या अमुक घरों से ही भिक्षा मिलेगी तो लेना क्षेत्र, संक्षेप है। दिन के प्रथम प्रहर में या दुपहर के बाद ही भिक्षा लेने जाना काल संक्षेप है। साधु दोपहर के समय गोचरी करते हैं, इस दृष्टि से

यहाँ प्रथम प्रहर और दोपहर के बाद के प्रहर को काल-सक्षेप गिना गया है। और, अमुक स्थिति का व्यक्ति भिक्षा दे तो ही लेना यह भावसक्षेप है। इस गिरे हुए जमाने में भी जैन महात्मा अभिग्रह धारण करते हैं। उनमें कुछ अभिग्रह तो बहुत उग्र होते हैं। हाथी लड्डू दे तो ही आहार लेना यह कोई सामान्य अभिग्रह नहीं है। माता, पुत्री और पुत्रवधू तीनों साथ मिलकर आहार दें तो ही लेना यह भी कठोर अभिग्रह है।

(४) **रस-त्याग**—मधु, मदिरा, मास और मक्खन ये चार चीजें मुमुक्षुओं के लिए सर्वथा अभक्ष्य हैं। दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और पक्वान्न छोड़ना रसत्याग कहलाता है। इनमें से कुछ कम को छोड़ना भी रस-त्याग है। आयंबिल रस त्याग की मुख्य तपश्चर्या है।

(५) **कायक्लेश**—सयम के लिए काया पर पड़नेवाला कष्ट सहन कर लेना कायक्लेश तप है। डाकिया चलता है, लकड़हारा घूमता है, किसान कष्ट सहता है, पर ये उनके कायक्लेश तप नहीं हैं, कारण कि, उनमें कर्मों की निर्जरा करने की भावना नहीं है।

(६) **संलीनता**—इन्द्रियों को काबू में रखना, कषायों का कारण उपस्थित होने पर भी कषाय न करना तथा मन वचन काया की यथा-सम्भव कम प्रवृत्ति करना सलीनता है। स्त्री, पुरुष और नपुसक के पास से रहित एकान्त विशुद्ध स्थान में रहना भी सलीनता है।

(७) **प्रायश्चित**—जहाँ तक छद्मस्थता है, अपूर्णता है, तहाँ तक भूलें होना सम्भव है। पर, भूल का भान होने पर प्रायश्चित करना चाहिए और उसको गुरु के सामने स्वीकार करके उनके दिये हुए प्रायश्चित को स्वीकारना चाहिए। इस तरह पाप का प्रायश्चित करने से आत्मा की शुद्धि होती है। यह प्रायश्चित नामक आभ्यातरिक तप है। यक्षाविष्ट अर्जुनमाली ने अनेक स्त्री-पुरुषों की हत्या की थी, पर अपनी भूलों का भान होने पर सच्चे हृदय से पश्चात्ताप किया तो साधुत्व पाकर मुक्ति का वरण किया। दृढ प्रहारी आदि के दृष्टांत भी ऐसे ही हैं।

(८) **विनय**—अर्थात् शिष्टाचार, अन्तरंग भक्ति। विनयी को विद्या, आत्मज्ञान, प्राप्त होता है और उससे वह भवसागर तरता है। विनय पाँच प्रकार का है—(१) ज्ञान-विनय, (२) दर्शन विनय, (३) चारित्र-विनय, (४) तप विनय और (५) उपचार विनय। इस पाँच प्रकार के विनय को अभ्यंतर तप कहते हैं।

(९) **वैयावृत्त्य**—धर्म-साधन के लिए अन्न पान आदि विधि-पूर्वक प्राप्त करा देना एवं संयम की आराधना करनेवाले ग्लान (रोगी या अशक्त) आदि की सेवाभक्ति करना, वैयावृत्त्य कहलाता है। वैयावृत्त्य दस प्रकार का है (१) आचार्य का, (२) उपाध्याय का, (३) स्थविर का, (४) तपस्वी का, (५) ग्लान का, (६) शैक्ष्य (नवदीक्षित) का, (७) कुल का, (८) गण का, (९) संघ का और (१०) साधर्मिक या समान धर्म पालनेवाले का। वैयावृत्त्य के सम्बन्ध में नदिषेण का उदाहरण प्रसिद्ध है।

(१०) **स्वाध्याय**—आत्मा के कल्याणार्थ शास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय तप है। स्वाध्याय में मग्न रहनेवाला अपने आत्मा को शुभ अध्यवसायोंवाला बना सकता है, इसलिए उसका समावेश आभ्यांतरिक तप में होता है। स्वाध्याय पाँच प्रकार का है —(१) **वांचन**—यानी शास्त्र के मूल पाठ तथा अर्थ ग्रहण करना। (२) **पृच्छना**—यानी समझायी हुई बातों को पूछना। (३) **परावर्तना**—यानी ग्रहण किये हुए पाठों और अर्थों का परावर्तन करना और (५) **धर्म-कथा**—यानी धर्म का बोध करानेवाली व्याख्यान वाणी की प्रवृत्ति करना। साधु व्याख्यान देते हैं वह उनके लिये स्वाध्याय रूप है। जप को स्वाध्याय कहा जाता है। वह मन का निग्रह करता है, इसलिए आभ्यतरिक तप में शामिल है।

(११) **ध्यान**—किसी भी विषय पर मन को एकाग्र करना ध्यान

है। ध्यान के चार प्रकारों में से आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान अशुभ होने के कारण त्याज्य हैं, इसलिए यहाँ ध्यान शब्द से धर्मध्यान और शुक्लध्यान ही समझना चाहिए। इन दोनों ध्यानों का परिचय गुणस्थानों के प्रसग मे दिया जा चुका है।

(१२) उत्सर्ग या व्युत्सर्ग उत्सर्ग यानी त्याग, व्युत्सर्ग माने विशेष त्याग। दोनों शब्द यहाँ त्याग के अर्थ में ही समझने चाहिए। व्युत्सर्ग दो प्रकार का है द्रव्य व्युत्सर्ग और भावव्युत्सर्ग। द्रव्यव्युत्सर्ग के चार प्रकार हैं—(१) गणव्युत्सर्ग यानी लोकसमूह का त्याग करके एकाकी विचरना। (२) शरीरव्युत्सर्ग यानी शरीर की ममता छोड़ देना। (३) उपाधिव्युत्सर्ग यानी वस्त्र, पात्र आदि उपाधियों की ममता छोड़ देना। (४) भुक्तपान व्युत्सर्ग यानी आहार-पानी का त्याग करना। इसे सथारा कहते हैं। भावव्युत्सर्ग के तीन प्रकार हैं (१) कषायव्युत्सर्ग यानी कषायों का सम्पूर्ण त्याग करना। (२) ससारव्युत्सर्ग यानी ससार का त्याग करना और (३) कर्मव्युत्सर्ग यानी आठों प्रकार के कर्मों का त्याग करना। इस तप में शरीर-व्युत्सर्ग यानी कायोत्सर्ग की गणना विशेष रूप से होती है। उसम काया को एक आसन से, वचन को मौन से और मन को ध्यान से काबू में रखना होता है।

कुछ सूचनाएँ

तप निर्जरा का मुख्य साधन है, इसलिए उसकी आराधना कर्म-निर्जरा के ही लिए करना चाहिए। तप से कितनी ही सिद्धियाँ मिलती हैं और लाभ भी होता है, पर इन हेतुओं से तप नहीं करना चाहिए।

तप शक्ति के अनुसार करना चाहिए। और धीरे-धीरे आगे बढ़ना चाहिए। जिस तप से आत्मा के परिणाम गिरें और तप की भावना ही नष्ट होती हो ऐसा शक्ति-बाह्य तप नहीं करना चाहिए। गुरु

के आज्ञानुसार ही तप करना चाहिए। गुरु की आज्ञा के विरुद्ध तप करने से विराधकता आती है।

आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना के लिए जैसा पुरुषार्थ करना है, वैसा ही इन बारह प्रकार के तपों के लिए भी करना है, कारण कि, इससे कर्मों की निर्जरा होती है और आत्मशुद्धि प्राप्त होती जाती है। आखिर एक दिन सब कर्मों का नाश हो जाता है और आत्मा शुद्ध, बुद्ध, निरंजन बन जाता है।

कर्म की व्याख्यानमाला यहाँ पूरी होती है। अब धर्म के विषय में अवसर पर कहा जायेगा।

आत्मतत्व-विचार

तीसरा खण्ड

धर्म

चौंतीसवाँ व्याख्यान

धर्म की आवश्यकता

महानुभावो !

तत्त्वज्ञ पहले आत्मा का, फिर कर्म का विचार करते हैं। और, अब धर्म का विचार किया जाता है। षट्स्थान की प्ररूपणा देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। वह इस प्रकार है —

(१) आत्मा है।
(२) वह नित्य है।
(३) वह कर्म का कर्ता है।
(४) वह कर्मफल का भोक्ता है।
(५) वह कर्मों को तोड़ने की शक्ति से युक्त है।
(६) कर्मों को तोड़ने का उपाय सुधर्म है।

जैसे वर के बगैर बरात नहीं होती, वैसे ही आत्मा की मान्यता के अभाव में कर्म अथवा धर्म की विचारणा नहीं हो सकती। अगर आत्मा न हो तो कर्म कौन बाँधे और उनका फल कौन भोगे? लकड़ी, लोहा या पत्थर में कर्म बाँधने की या उनके फल भोगने की शक्ति नहीं होती। आत्मा को कर्म का बन्धन है और उसका फल भोगना पड़ता है, इसीलिए उसके तोड़ने का विचार करना पड़ता है। यदि आत्मा को कर्म का बन्धन न हो, और उन्हें भोगना न पड़ता होता, तो उनके तोड़ने की बात पर विचार करने की आवश्यकता ही न रहती। हम रस्सी से बँधे होते हैं, तभी छूटने पर विचार करना पड़ता है। जो बँधा ही न होगा, वह छूटेगा

क्या ? तो अब प्रश्न है कि, कर्म बन्धन से छूटने का क्या उपाय है ? कर्म-बन्धन के तोड़ने का विचार करते हुए धर्म-सुधर्म पर आना पड़ता है। अगर सुधर्म का आराधन योग्य रीति से हो तो ही कर्म का बन्धन टूटे और आत्मा उसके प्रभाव से मुक्त होकर अपना शुद्ध स्वरूप प्रकाशित कर सके। इसीलिए हमने पहले आत्मा का और फिर कर्म का विषय चलाया और अब धर्म का विषय चलाते हैं।

आत्मा और कर्म का विवेचन करते समय भी धर्म के सम्बन्ध में कुछ छुटपुट कहा गया था। अब उसकी पद्धति के अनुसार क्रमबद्ध विचारणा की जाती है। अपेक्षा विशेष से तो यह सारी ही व्याख्यानमाला धर्म सम्बन्धी ही है, क्योंकि हम धर्म के अतिरिक्त और किसी विषय पर व्याख्यान देते ही नहीं। हमारे शास्त्रकारों का कथन है कि मुनि को चाहिए कि भुक्त-कथा, स्त्री कथा, देश-कथा, राज-कथा आदि विकथाओं का त्याग करे और परम धर्म-कथा ही कहे, जिससे कि स्वय को स्वाध्याय का लाभ हो और श्रोताओं को धर्म का लाभ हो।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र पवित्र जिनागम है और वह मुमुक्षुओं को धर्म प्राप्त करा देने के लिए ही पढा जाता है। उसके छत्तीसवें अध्ययन के अल्प ससारी आत्मा के वर्णन से इस व्याख्यानमाला का उद्भव हुआ है—यह तो आप जानते ही हैं।

महानुभावो ! आजकल सारे जगत पर भौतिकवाद का भूत सवार है। वह सफल होगा या नहीं यह अलग बात है, पर आज तो परिस्थिति खराब है।

पहले तो बालक पर गर्भावस्था मे ही धर्म के सस्कार डाले जाते थे। जन्मने के बाद वह धार्मिक वातावरण में ही परवरिश पाता था। बड़े होने पर भी जो शिक्षण दिया जाता था, उसमें भी धर्म की प्रधानता रहती थी। समाज और राज्य दोनों पर धर्म का वर्चस्व था। इसलिए पहले

शायद ही कभी यह प्रश्न उठता रहा होगा कि 'धर्म की आवश्यक्ता ही क्या है ?' परन्तु, आज तो अच्छे-अच्छे घरों के लड़के ऐसा प्रश्न पूछते हैं !

कल की ही बात है कि, एक सुशिक्षित युवक ने हमसे पूछा—"धर्म न करें तो न चले ?" हमने उत्तर दिया—"भाग्यशाली ! अगर विकट जगल में प्रवास करनेवाले को मार्गदर्शक बिना चल सके, व्यापार करनेवाले को द्रव्य बिना चल सके, या औदारिक शरीर को आहार के बिना चल सके, तो निश्चय ही आदमी को धर्म किये बिना चल सकता है।"

हमारा यह उत्तर सुनकर वह युवक बोला—"अगर मार्गदर्शक न हो तो जगल में रास्ता भूल जायें और शेर भेड़िये के शिकार हो जायें या चोर लुटेरों द्वारा लूट लिये जायें, पास में द्रव्य न हो तो बाजार में साख न जमे और व्यापार न हो सके, शरीर को आहार न दें तो कमजोर होकर नष्ट हो जायें, परन्तु धर्म न करें तो जीवन में कोई काम रुका नहीं रह सकता। बहुत से लोग जीवन में कोई धर्म किये बिना भी सुखी होते हैं और समाज में भी मान पान पाते हैं।'

जो विचार आज वातावरण में फैल रहे हैं, उनकी ही प्रतिध्वनि इन दलीलों में है। 'हाँडी में जो हो सो ही चमचे में आता है!' हमने कहा—"भाग्यशाली ! इतना ही क्यों ? तुम आगे बढ़कर यह भी कह सकते हो कि, जगत् में पशुओं की सख्या बहुत ज्यादा है। वे धर्म के बिना चला लेते हैं, तो आदमी क्यों नहीं चला सकता ? या उससे भी आगे बढ़कर यह कह सकते हो कि, पृथ्वी में कीड़े मकोड़ों की तादाद असख्य है, वे धर्म नहीं करते, तो हम क्यों करें ?"

युवक ने कहा—"कीड़े मकोड़ों या पशुओं के साथ मनुष्य की बराबरी करना उचित नहीं है।"

हमने कहा—"क्यों उचित नहीं है ? वे भी प्राणी हैं और तुम भी प्राणी हो। जो प्राण को धारण करे सो प्राणी ! एक प्राणी की दूसरे प्राणी के साथ बराबरी हो, इसमें अनुचित क्या है ?'

युवक ने कहा—"जैसे वृक्ष वृक्ष में अन्तर है, फूल फूल में अन्तर है, वैसे ही प्राणी-प्राणी में अन्तर होता है। मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ है, इसलिए उसकी बराबरी क्षुद्र कोटि के प्राणियों के साथ नहीं की जा सकती।"

हमने कहा—"तुम सब प्राणियों में मनुष्य को श्रेष्ठ किस बात में मानते हो?"

युवक ने कहा—"मनुष्य में मन है, बुद्धि है, इसलिए उसे सब प्राणियों में श्रेष्ठ मानते हैं। मनुष्य अपनी बुद्धि से अपना स्वार्थ समझ सकता है और उसके लिए आवश्यक प्रवृत्ति कर सकता है।"

हमने कहा—"इसका अर्थ तो यह हुआ कि, अन्य प्राणी निस्वार्थी हैं और मनुष्य स्वार्थी है। लेकिन, स्वार्थी होना, केवल अपने पेट की चिंता करना, कोई श्रेष्ठता का लक्षण नहीं है। जो लोग स्वार्थी होकर दूसरों का अहित करते हैं, उन्हें हम श्रेष्ठ नहीं कहते, बल्कि अधम या नीच कहते हैं।"

यहाँ वह युवक सहमा! अब उसे कोई नयी दलील न सूझी। हमने कहा—"महानुभाव! तुमने शिक्षा तो अच्छी प्राप्त की, लेकिन हमारे महापुरुषों ने जो कहा है, उसे पढ़ा सोचा नहीं है। तुम्हे शेक्सपियर, शेली, या मिल्टन के काव्य रुचिकर लगते हैं, पर अपने सन्त पुरुषों के सुभाषित रुचिकर नहीं लगते। अपने एक सुभाषित में कहा है—

बुद्धेः फलं तत्त्वविचारणं च,
देहस्य सारं व्रतधारणं च।
अर्थस्य सारं किल पात्रदानम्,
वाचः फलं प्रीतिकरं नराणाम्॥

—बुद्धि का फल तत्त्व की विचारणा है, देह का फल व्रतधारण है, धन का फल सुपात्र दान है, और वाणी का फल दूसरों को प्रीतिकर होना है।

तात्पर्य यह है कि, मनुष्य को बुद्धि मिली है, तो उसे उसके द्वारा तत्त्व की विचारणा करनी चाहिए। इससे वह सत्य असत्य और हित-अहित को समझ सकता है और कल्याणमार्ग पर चलने में समर्थ हो सकता है। जो मनुष्य बुद्धि पाकर भी तत्त्व की विचारणा नहीं करते, उनमें और पशुओं में वास्तव में कोई अन्तर नहीं है।

एक सुभाषित और सुनिये —

येषां न विद्या न तपो न दानं,
न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता,
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

—जिन्होंने बुद्धि मिलने पर भी विद्याध्ययन नहीं किया, शील की आराधना नहीं की, कोई अच्छा गुण प्राप्त नहीं किया या धर्म का आचरण नहीं किया, वे इस जगत् में पृथ्वी पर भार-स्वरूप हैं और मनुष्य के रूप में पशुओं की तरह ही अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

युवक ने कहा—"यह बात तो मैं भी मानता हूँ।"

हमने कहा—"अगर यह बात मानते हो तो **'मैं कहाँ से आया और मेरा कर्त्तव्य क्या है?'** इस पर बराबर विचार करो। मनुष्य यूँ ही इस जगत् में टपक पड़ा। कुछ कहते हैं कि, माता-पिता ने विषय भोग किया, इसलिए हमारा जन्म हो गया। लेकिन, केवल शुक्र और रज के सयोग से जीवन उत्पन्न नहीं हो जाता। यह तो पौद्‌गलिक क्रिया है। इसलिए माता-पिता का विषयभोग तो निमित्तमात्र है, उपादान कारण आत्मा के पूर्वजन्म में बाँधे हुए कर्म हैं।

आत्मा कर्मवशात् अनादिकाल से ससार में परिभ्रमण कर रहा है, वह अपने कर्मानुसार विभिन्न गतियों और योनियों में उत्पन्न होता है। यह करते हुए उसके पास पुण्य की जब पूँजी इकठी हो जाती है, तब मनुष्य

जन्म पाता है। शास्त्रकारों ने मनुष्य-जन्म को दश-दृष्टान्त दुर्लभ कहा है, अर्थात् आत्मा बड़े कष्ट से और दीर्घकाल के बाद मनुष्य-जन्म पाती है। तुमने पहले कहा कि, 'बहुत से लोग जीवन में कोई भी धर्म किये बिना सुखी रहते हैं और समाज में मान-पान पाते हैं', यह इस पुण्य की पूँजी का प्रभाव है। अब इस पर विचार करो कि, पुण्य की पूँजी खाकर खत्म कर देनी चाहिए या बढ़ानी चाहिए। मनुष्य का कर्त्तव्य यही है कि, वह रोज धर्म करता रहे और अपनी पुण्य की पूँजी में वृद्धि करे।

"यदि मनुष्य अपनी सञ्चित कमाई बैठा-बैठा खा जाये और उसमें अभिवर्द्धन की कोई युक्ति न करे तो फिर उसकी दशा अंत में क्या होती है, यह आप जानते ही हैं। पैसे-पैसे की मुहताजी आ जाती है और दूसरे पर आश्रय लेना पड़ता है। उसके विरुद्ध जो व्यक्ति पूँजी खाता तो है, पर उसमें नित्य कुछ डालता जाता है, उसकी दशा वह नहीं होती। वह सदा सुखी रहता है। उसकी प्रतिष्ठा प्रकट रहती है। सुज्ञ व्यक्ति ऐसी ही दशा पसंद करते हैं। मनुष्य का कर्त्तव्य यही है कि, वह नित्य पुण्य करके अपने धर्म में वृद्धि करता रहे।

"तुमने कहा—'धर्म बिना जीवन में कोई काम अटका नहीं रहता' पर मोटर तभी तक चलती है, जब तक उसमें पेट्रोल है, बाद में रुक कर खड़ी हो जाती है। उसी तरह जहाँ तक मनुष्य का पुण्य है, तभी तक सब अमन-चमन और सुखसाहिबी है। पुण्य के समाप्त हो जाने पर उस सबका एकाएक अन्त आ जाता है। कहा है—

> पुण्य-विवेक-प्रभाव से निश्चय लक्ष्मीनिवास
> जब तक तेल प्रदीप में तब तक ज्योतिप्रकास

जीवन तो सबका देर या सबेर से पूरा हो जाता है। पर, जीवन वही

सार्थक है, जो अधिक-से अधिक धर्माराधन में गुजारा जाता है। और, ऐसे धर्मात्माओं का ही नाम अमर रहता है।

जो धर्म का यथाविधि आराधन करते हैं, उन्हें देवता भी नमस्कार करते हैं। नदिषेण मुनि की कथा सुनिए, आपको इसकी प्रतीति हो जायेगी।

नदिषेण मुनि की कथा

नदिषेण मुनि उत्कट त्यागी और तपस्वी थे। कालक्रम से वे गीतार्थ बने और उन्होंने साधुओं का वैयावृत्य करने का अभिग्रह किया। इस अभिग्रह के अनुसार वे बाल, शैक्ष्य, ग्लान आदि मुनियों का अनन्य और अद्‌भुत् वैयावृत्य करते थे। उनके इस अभिग्रह की बात सर्वत्र फैल गयी थी और उसकी सुवास स्वर्गलोग में भी पहुँची थी।

एक दिन इन्द्र ने देवसभा में नंदिषेण मुनि के अद्‌भुत् वैयावृत्य की प्रशसा की। वह एक देव से बात सहन न हुई। देवों में भी मत्सर, असूया आदि दोष होते हैं। उस देव ने नदिषेण मुनि की परीक्षा लेने का निर्णय किया।

देव क्षणभर में चाहे जो रूप धारण कर सकते हैं और पल भर में चाहे जहाँ पहुँच सकते हैं। वह देव नदिषेण मुनि के गाँव के पास आया और यहाँ उसने दो साधुओं का रूप धारण किया। उन दो साधुओं में एक बूढ़ा रोगी बना और दूसरा जवान साधु बना। इस जोड़ी ने नदिषेण की कैसी कठिन परीक्षा ली यह देखिए।

नदिषेण मुनि का वह दिन पारणा करने का दिन था, इसलिए योग्य आहारपानी लाकर वे पारणा करने की तैयारी कर रहे थे। तब वह जवान साधु वहाँ आ पहुँचा और नंदिषेण मुनि से बोला—"हे भद्र! इस नगर के बाहर अतिसार रोग का एक बूढ़ा मुनि क्षुधा और तृषा से

पीड़ित है और तुम यहाँ पारणा करने बैठ गये ! तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा का भी ध्यान है ?"

ये शब्द सुनते ही नंदिषेण मुनि ने परणा स्थगित कर दी और शुद्ध पानी लाकर वे नगर के बाहर मुनि वाली जगह पर आये। उन्हें देखते ही वह बूढ़ा साधु तड़क कर बोला—"अरे अधम! मैं यहाँ ऐसी अवस्था में पड़ा हूँ और तू झटपट पारणा करने बैठ गया। तेरी वैयावृत्त की प्रतिज्ञा को धिक्कार है।"

आप सेवामण्डलों की स्थापना करते हैं और सेवा करने की प्रतिज्ञा लेते हैं, पर अगर कोई दो शब्द कह दे तो कितने गर्म हो जाते हैं—'तुम्हारे बाप के नौकर नहीं हैं। एक तो मुफ्त काम करते हैं और ऊपर से ऐसे शब्द सुनाते हो। अब हमें इस मण्डल में नहीं रहना है। हम अभी स्तीफा देते हैं।' ऐसा कहकर आप त्यागपत्र दे देते हैं, पर नंदिषेण मुनि आक्रोशपूर्ण शब्द सुनकर अपने सेवाव्रत को त्याग देनेवाले नहीं थे। उन्होंने क्षमा, नम्रता, सरलता, निर्लोभ, शौच, सन्तोष, दया आदि गुण जीवन में अच्छी तरह उतारे थे, इसलिए शांति से बोले—"हे मुनिवर! आप मेरे अपराध को क्षमा करें। अब मैं आपको थोड़ी ही देर में तैयार कर दूँगा। मैं अपने साथ शुद्ध पानी लेता आया हूँ।"

फिर उस मुनि को पानी पिलाया और उसके कपड़े, शरीर आदि साफ करके बैठने के लिए पूछा। वह मुनि फिर भड़क कर बोला—"अरे मूर्ख! तू देखता नहीं कि, मैं कितना अशक्त हूँ? इस हालत में बैठ कैसे सकता हूँ?"

नंदिषेण मुनि ने ये शब्द भी शांति से सुन लिये और बोले—"मैं आपको अभी बिठाये देता हूँ।" उसे धीमे से बिठाया और विनयपूर्वक कहा—"हे मुनिवर! अगर आपकी इच्छा हो तो मैं आपको नगर में ले चलूँ। वहाँ आपको अधिक साता रहेगी।"

मुनि ने कहा—"जो ठीक लगे सो कर, इसमें मुझसे पूछता क्या है?"

नंदिषेण मुनि ने उसे अपने कन्धे पर बिठाया और धीमे धीमे चलने लगे। निरन्तर तपस्या करने से नंदिषेण मुनि का शरीर दुर्बल हो गया था, इसलिए वे धीरे धीरे चलते थे और देख देखकर कदम रखते थे। लेकिन, उस मुनि को तो परीक्षा ही करनी थी, इसलिए उसने अपना वजन धीरे-धीरे बढ़ाना शुरू कर दिया। देव जैसे चाहे वैसा आकार धारण कर सकते हैं। वैसे ही धारण किये हुए वजन को भी घटा बढ़ा सकते हैं। मनुष्य हठयोग से ऐसी सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। अष्ट महासिद्धि में जो गरिमालब्धि है, वह इसी प्रकार की है।

वजन बढ़ने से नंदिषेण मुनि काँपने और लड़खड़ाने लगे। उस समय उस मुनि ने कहा—"अरे अधम! तू यह क्या कर रहा है? तूने तो मेरे सारे शरीर को हचमचा दिया। सेवा करने का तेरा ढंग अच्छा है!"

वचन बड़े कर्कश थे, पर नंदिषेण मुनि क्षुभित नहीं हुए। उन्होंने पूर्ववत् शांति से कहा—"मेरे इस प्रकार चलने से आपको दुःख हुआ हो तो क्षमा करना। अब मैं ठीक तरह चलूँगा।"

रास्ते में उस मुनि ने कंधे पर टट्टी कर दी। उसकी दुर्गंध असह्य थी। पर, नंदिषेण मुनि अविचलित भाव से चलते रहे और मुनि को किसी तरह की तकलीफ न हो इसका ध्यान रखते रहे। रास्ते में चलते-चलते नंदिषेण मुनि सोचते जाते थे कि, इन मुनि का रोग मिटाने के लिए क्या उपाय किया जाये?

वे अपनी वसति पर आये। देव ने अवधिज्ञान से देखा और जान लिया कि, यह मुनि अपनी प्रतिज्ञा में अटल है। इसलिए, अपनी माया समेट ली और विष्ठा और दोनों साधु अदृश्य हो गये, तुरन्त ही वह देव अपना स्वरूप प्रकट करके, मुनि को तीन प्रदक्षिणा देकर, नमस्कारपूर्वक

कहने लगा—"हे मुनि ! आप धन्य हैं । आप मानवकुल की शोभा हैं । इन्द्र ने आपका जैसा वर्णन किया था, आप वैसे ही हैं । इससे मैं भी प्रसन्न हुआ हूँ । आप जो माँगें सो देने को तैयार हूँ ।"

कोई देव प्रसन्न होकर आपसे माँगने को कहे तो आप क्या माँगें ? एक अविवाहित अंधे बनिये से किसी देव ने प्रसन्न होकर कहा था कि 'तू कोई एक वस्तु माँगले ।' तब उसने माँगा कि, 'मेरे मँझले लड़के की बहू सातवीं मंजिल पर सोने की मथानी में छाछ करती हो यह मैं रत्नजटित हिंडोला से बैठा हुआ नजर से देख सकूँ ।' इससे उसने कितना माँग लिया ! 'मँझले लड़के की बहू' यानी कम से कम तीन पुत्र और वे सब विवाहित । शादी के बगैर पुत्र हों नहीं, इसलिए इसमें उसकी शादी भी आ गयी । 'सातवीं मंजिल पर सोने की मथानी में छाछ करती हो' यानी सात मंजिल की हवेली और उसमें उच्चतम जाति का साजो सामान—उसके बगैर सोने की मथानी कैसे हो सकती है ? फिर 'रत्नजटित हिंडोले पर बैठा-बैठा नजर से देख सकूँ' यानी अपार वैभव और अपने अंधेपन का दूर हो जाना । इसमें दीर्घ आयुष्य भी आ गया, कारण कि उसके बिना तीन पुत्र योग्य उम्र के होकर विवाहित हो नहीं सकते । आप शायद इससे भी ज्यादा माँगें, पर कम नहीं !

यहाँ नंदिषेण मुनि ने क्या जवाब दिया सो सुनिये—"हे देव ! महादुर्लभ धर्म मैंने प्राप्त किया है । उससे बढ़कर इस जगत् में कौन सी चीज अच्छी है कि, आपसे माँगूँ ? मैं अपनी स्थिति में सन्तुष्ट हूँ । मुझे किसी चीज की अपेक्षा नहीं है ।"

नंदिषेण मुनि की ऐसी निस्पृहता देखकर देव का मस्तक फिर उनके प्रति झुक गया और वह मुक्त कंठ से उनकी प्रशंसा करता हुआ अपने स्थान पर चला गया ।

हमारे इस उत्तर से उस युवक के मन का समाधान हुआ और वह जीवन में धर्म की आवश्यकता मानने लगा ।

धर्म जीवन में आवश्यक वस्तु न हो तो महापुरुष उसका उपदेश किसलिए करें ? सब तीर्थंकर केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति के बाद धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं, जिससे संसार के प्राणी उसका आधार लेकर अपार संसार-सागर तरने में समर्थ होते हैं।

असाधारण प्रज्ञाधारी गणधर भगवंत उस धर्म को सबसे पहले स्वीकार करते हैं। और, उसका उपदेश तथा प्रचार करने में जीवन का साफल्य मानते हैं। आचार्य, उपाध्याय तथा साधु मुनि भी उसी मार्ग का अनुसरण करते हैं और, धर्म का पालन करने कराने में तत्पर रहते हैं। क्या आपको लगता है कि, ये समझे बिना ही धर्म की बातें करते हैं ?

निर्ग्रंथ वचन में कहा है—

लद्धूण माणुसत्तं कहचि अइदुल्लहं भवसमुद्दे ।
सम्मं निउंजियव्वं, कुसलेहि सया वि धम्मंमि ॥

—भवसमुद्र में अतिदुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर चतुर मनुष्य को किसी भी प्रकार सदा उसे धर्म में अच्छी तरह लगाना चाहिए।

अन्य दर्शनों ने भी धर्म का उपदेश किया है, उनका लक्ष्य है कि, मनुष्य संस्कारी बने, श्रेय का मार्ग समझे और आध्यात्मिक प्रगति साध सके। पर, आज तो यह कहनेवाले निकल पड़े हैं कि, 'धर्म अफीम जैसा है, कारण कि उसका सेवन करनेवाले को साम्प्रदायिकता का जुनून चढ़ता है। उस जुनून से आपसी झगड़े होते हैं और समाज का संघटन टूट जाता है। इसलिए धर्म की आवश्यकता ही नहीं है!'

यहाँ हमें कहना है कि, बिना विचारे कुछ भी बोलना सत्पुरुष का लक्षण नहीं है। अपनी आँखों पर हरे रंग का चश्मा चढ़ा लें और फिर ऐलान करें कि दुनिया हरे रंग की है, तो यह कौन मानेगा ? उसमें तो लाल, पीला, काला, सफेद आदि रंग प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं।

सुज्ञ पुरुष को चाहिए कि, किसी भी मत का प्रतिपादन करने से

पहले उसके साधक-बाधक प्रमाणों का पूरा विचार करे। परन्तु, ऊपर के कथन में ऐसा कोई विचार किया गया नहीं मालूम होता।

इस जगत् में एक ही प्रकार का धर्म होता और वह साम्प्रदायिकता का जुनून चढ़ाने का काम करता होता तो उपर्युक्त कथन उचित माना जाता, पर इस जगत् में अनेक प्रकार के धर्म हैं और उनमें से हर एक का स्वरूप अलग-अलग है। इसलिए, सबके प्रति एक सामान्य अभिप्राय प्रकट करना उचित नहीं है। यह तो 'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' वाला न्याय होगा।

इस जगत् में कितने ही धर्म ऐसे हैं कि जो विश्वमैत्री, विश्वबंधुत्व या विश्ववात्सल्य का उपदेश करते हैं और सब जीवों के साथ मैत्रीपूर्ण, सहानुभूतिपूर्ण, वर्ताव करने का अनुरोध करते हैं। उन्हें आप साम्प्रदायिकता का जुनून चढ़ानेवाले कैसे कहेंगे? अगर, वे साम्प्रदायिकता का जुनून चढ़ानेवाले नहीं हैं, तो अफीम-जैसे कैसे हैं? और, आपसी झगड़े करानेवाले कैसे हैं? अगर गहरा विचार करेंगे, तो देखेंगे कि, जगत् को जो आजतक थोड़ी-बहुत शांति मिली है, वह धर्म से ही मिली है। धर्म समाज का संघटन तोड़ता नहीं है, बल्कि समाज से सर्वोदय, सर्वकल्याण की तरफ नजर रखने का अनुरोध करता है। अगर, धर्म को गैरजरूरी बताकर मनुष्य-जीवन को धर्मरहित बना दिया जायेगा, तो उस जीवन में कोई सार नहीं रहेगा। मनुष्य का जीवन धर्म से ही शोभित होता है और धर्म से ही विकास पाता है। इस विषय में हमारे महापुरुषों ने कहा है कि —

> निर्दन्तः करटी हयो गतजवश्चन्द्रो विना शर्वरी,
> निर्गन्धं कुसुमं सरो गतजलम् छायाविहीनस्तरुः।
> रूपं निर्लवणं सुतो गतगुणश्चारित्रहीनो यतिः—
> निर्देवं भवनं न राजति तथा धर्मं विना मानवः॥

—'करटी' से तात्पर्य है कुंजर अथवा हाथी। उसे दंतशूल हो, तो वह उसे शोभा देता है। उसके बिना वह शोभता नहीं है।

—'हय' से तात्पर्य है अश्व अथवा घोड़ा। उसकी चाल में झड़प हो तो उसे शोभेगा। वह रुक-रुक कर चले या माँड-माँड कर चले तो उस वह बात शोभती नहीं है। आज तो बड़े बड़े नगरों में घोड़ों की दौड़ पर बाजी लगायी जाती है कि, कौन घोड़ा आगे बढता है? झड़पवाला कि, बिना झड़प का? 'विन' 'प्लेस' आदि घोड़े की झड़प पर निर्भर है।

—'शर्वरी' अर्थात् रात्रि! यदि चन्द्रमा हो तभी वह शोभती है। चन्द्रमा उगा न हो अथवा अस्त हो गया हो, तो रात्रि भयकर हो जाती है। रसोत्सव पूर्णिमा को होता है, अमावस्या को नहीं।

—'कुसुम' अर्थात् फूल। यदि सुगन्ध हो तो फिर फूल की शोभा है। मोगरा आदि सुगन्धित फूल सब पसद करते हैं। बिना सुगन्धिवाले फूल को कोई पसन्द नहीं करता।

—'सर' अर्थात् सरोवर। पानी हो तभी उसकी शोभा है। उसमें पानी भरा हो, कमल खिले हों, अनेक प्रकार के पक्षी वहाँ चहकते हों और मनुष्य जहाँ नौका पर जलक्रीड़ा कर सके वहीं उसकी शोभा है। अन्यथा सब व्यर्थ! पानी के अभाव में सरोवर की सारी शोभा समाप्त हो जाती है। उसमें तब न कमल होगा, उसके तट पर न पक्षी होंगे और न उसमें नौका होगी।

—'तरु' अर्थात् वृक्ष! वह तभी शोभता है, जब उसमें छाया हो। छाया न हो तो उसकी क्या शोभा? वट, आम आदि अपनी छाया से ही शोभायमान हैं। ताड़ के छाया हीन वृक्ष की क्या शोभा?

—'रूप'! यदि लावण्य हो तो उसकी शोभा। सफेद चमड़ी तो जगत् में अनेक की है। पर, सब सुन्दर नहीं कहे जाते।

—'सुत' अर्थात् पुत्र! यदि गुणवाला हो तो ही पुत्र की शोभा!

'वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्ख शतान्यपि' इस कहावत से बात स्पष्ट हो जाती है।

—'यति' अर्थात् साधु! यदि वह चरित्रवाला हो, तभी शोभता है। चरित्रहीन साधु की भला कौन वंदना करेगा?

—'भवन' अर्थात् मकान! पर, यहाँ उससे मंदिर का तात्पर्य है। यदि उसमें देव हों तभी मंदिर की शोभा है।

—और, 'मनुष्य' वह है जिसमें धर्म हो! यदि उसमें धर्म न हो तो उसमें भला क्या शोभा?

मानवजीवन–धर्म=०

अगर मनुष्य में से धर्म निकाल दिया जाये, तो शेष शून्य रहता है। खाना पीना, ऐश आराम करना तो प्राकृत क्रियाएँ हैं, आध्यात्मिक दृष्टि से उनका कुछ मूल्य नहीं है।

धर्म व्यक्ति का विकास-साधक है। वह समाज को सुव्यवस्थित रखता है, राष्ट्र की उन्नति करता है और विश्व को एक कुटुम्ब मानने की बुद्धि पैदा करता है।

जिस जीव ने भी मोक्ष प्राप्त किया है, धर्म के आराधन से ही प्राप्त किया है। एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो धर्म के बिना मोक्ष तक पहुँचा हो। सिद्ध शिला पर अधर्मी व्यक्ति पहुँच ही नहीं सकता, यह बात सनातन सत्य है।

विनय, नम्रता, सरलता, उदारता, शांति, धैर्य, क्षमा, संयम, दया, परोपकार, ये सब धर्माराधन के प्रत्यक्ष फल हैं। इनका अनुभव कोई भी आत्मा कर सकती है।

जिस समाज में धर्म की गहरी भावना होती है, वह काल सरीखे आक्रमण के सामने भी टिकी रह सकती है और वह प्राय सुखी होता है। लेकिन, धर्म को छोड़ देनेवाला समाज कुछ ही समय में अंधाधुंधी म

फँस जाता है और नष्ट हो जाता है। जिन राष्ट्रों ने पशुबल पर आधार रखा, वे कुछ ही समय में पृथ्वीतल से मिट गये, पर जिन्होंने धर्म का सम्मान किया, धर्म को जीवन में उतारा वे विषम-संयोगों में भी टिके रहे। भारतवर्ष पर कम हमले नहीं हुए। अफगान, पठान, मुगल और अन्त में अंग्रेजों ने उसे अनेक प्रकार के आघात पहुँचाये, फिर भी वह टिका रहा, कारण कि उसके खून में धर्म की भावना भरी हुई थी और उसमें सहनशीलता आदि गुण थे।

अगर धर्म का व्यवस्थित प्रचार हो, तो राष्ट्र छीना रखना छोड़ दें, दूसरों के हकों को मान दें और सबको एक मानवकुल की संतान मानकर शांतिपूर्वक रहें। विश्व में शांति की स्थापना के लिए धर्म—सुधर्म के सिवाय और कोई उपाय नहीं है।

महानुभावो! आत्मा को कर्म की बला अनादिकाल से लगी हुई है। उसी के कारण जन्म, मरण, आधि, व्याधि, उपाधि आदि अनेक खराबियाँ हैं। इसलिए, हमें यह कर्म की बला नहीं चाहिए। पर, 'नहीं चाहिए' कहने मात्र से वह चली नहीं जाती।

चूहे कहते हैं कि, बिल्ली बिलकुल नहीं चाहिए, तो क्या इससे वह चली जाती है? उसे दूर करना हो तो कोई उपाय करना चाहिए। एक बार सब चूहों ने मिलकर विचार किया कि, 'बिल्ली ऐसी चुपके-से आती है कि हमें उसकी खबर नहीं होती, इसलिए उसके गले में एक घंटी बाँध देनी चाहिए, ताकि उसके आने पर घंटी की आवाज हो और हम सब छिप जायें। सबको यह उपाय बड़ा पसन्द आया, लेकिन बिल्ली के गले में घंटी बाँधने कौन जाये? यह सवाल खड़ा हुआ, तब सब एक-दूसरे का मुँह देखने लगे और कोई भी आगे न आया। इसलिए, बात जहाँ-की-तहाँ रही और चूहे उसी हालत में अपना जीवन गुजारने लगे।

अपनी स्थिति भी वस्तुतः ऐसी ही है। जब कर्म से होनेवाली खराबियों का विचार करते हैं, तो हमारे मन म यह उत्साह उत्पन्न होता

'वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्ख शतान्यपि' इस कहावत से बात स्पष्ट हो जाती है।

—'यति' अर्थात् साधु ! यदि वह चरित्रवाला हो, तभी शोमता है। चरित्रहीन साधु की भला कौन वंदना करेगा ?

—'भवन' अर्थात् मकान ! पर, यहाँ उससे मंदिर का तात्पर्य है। यदि उसमें देव हों तभी मदिर की शोभा है।

—और, 'मनुष्य' वह है जिसमें धर्म हो ! यदि उसमें धर्म न हो तो उसमें भला क्या शोभा ?

मानवजीवन–धर्म=०

अगर मनुष्य में से धर्म निकाल दिया जाये, तो शेष शून्य रहता है। खाना पीना, ऐश आराम करना तो प्राकृत क्रियाएँ है, आध्यात्मिक दृष्टि से उनका कुछ मूल्य नहीं है।

धर्म व्यक्ति का विकास साधक है। वह समाज को सुव्यवस्थित रखता है, राष्ट्र की उन्नति करता है और विश्व को एक कुटुम्ब मानने की बुद्धि पैदा करता है।

जिस जीव ने भी मोक्ष प्राप्त किया है, धर्म के आराधन से ही प्राप्त किया है। एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो धर्म के बिना मोक्ष तक पहुँचा हो। सिद्ध शिला पर अधर्मी व्यक्ति पहुँच ही नहीं सकता, यह बात सनातन सत्य है।

विनय, नम्रता, सरलता, उदारता, शाति, धैर्य, क्षमा, सयम, दया, परोपकार, ये सब धर्माराधन के प्रत्यक्ष फल हैं। इनका अनुभव कोई भी आत्मा कर सकती है।

जिस समाज में धर्म की गहरी भावना होती है, वह काल मरीखे आक्रमण के सामने भी टिकी रह सकती है और वह प्राय सुखी होता है। लेकिन, धर्म को छोड़ देनेवाला समाज कुछ ही समय में अधोगति म

फँस जाता है और नष्ट हो जाता है। जिन राष्ट्रों ने पशुबल पर आधार रखा, वे कुछ ही समय में पृथ्वीतल से मिट गये, पर जिन्होंने धर्म का सम्मान किया, धर्म को जीवन में उतारा वे विषम-सयोगों में भी टिके रहे। भारतवर्ष पर कम हमले नहीं हुए। अफगान, पठान, मुगल और अन्त में अग्रेजों ने उसे अनेक प्रकार के आघात पहुँचाये, फिर भी वह टिका रहा, कारण कि उसके खून में धर्म की भावना भरी हुई थी और उसमें सहनशीलता आदि गुण थे।

अगर धर्म का व्यवस्थित प्रचार हो, तो राष्ट्र कीना रखना छोड़ दें, दूसरों के हकों को मान दें और सबको एक मानवकुल की सतान मानकर शातिपूर्वक रहें। विश्व में शाति की स्थापना के लिए धर्म—सुधर्म के सिवाय और कोई उपाय नहीं है।

महानुभावो! आत्मा को कर्म की बला अनादिकाल से लगी हुई है। उसी के कारण जन्म, मरण, आधि, व्याधि, उपाधि आदि अनेक खराबियाँ हैं। इसलिए, हमें यह कर्म की बला नहीं चाहिए। पर, 'नहीं चाहिए' कहने मात्र से वह चली नहीं जाती।

चूहे कहते हैं कि, बिल्ली बिलकुल नहीं चाहिए, तो क्या इससे वह चली जाती है? उसे दूर करना हो तो कोई उपाय करना चाहिए। एक बार सब चूहों ने मिलकर विचार किया कि, 'बिल्ली ऐसी चुपके-से आती है कि हमें उसकी खबर नहीं होती, इसलिए उसके गले में एक घंटी बाँध देनी चाहिए, ताकि उसके आने पर घटी की आवाज हो और हम सब छिप जायें। सबको यह उपाय बड़ा पसन्द आया, लेकिन बिल्ली के गले में घटी बाँधने कौन जाये? यह सवाल खड़ा हुआ, तब सब एक-दूसरे का मुँह देखने लगे और कोई भी आगे न आया। इसलिए, बात जहाँ-की-तहाँ रही और चूहे उसी हालत में अपना जीवन गुजारने लगे।

अपनी स्थिति भी वस्तुतः ऐसी ही है। जब कर्म से होनेवाली खराबियों का विचार करते हैं, तो हमारे मन म यह उत्साह उत्पन्न होता

है कि, हमें 'कर्म' का नाश कर डालना चाहिए। पर, आगे जिस पुरुषार्थ की अपेक्षा है, उसका प्रश्न आने पर हम ठंडे पड़ जाते हैं। इस कारण कर्म की सत्ता अबाधित रह जाती है और हमारी यातनाओं का अन्त नहीं आ पाता।

एक व्यक्ति का वर्तन आपको नहीं रुचता। वह आपको दुष्ट और अवाछनीय लगता है तो आप उससे कह देते हैं—"भई! तुम हमारे घर में मत आया करो!" यदि इतने पर भी वह घर में आ जाता है तो आप पूछ बैठते हैं—"तुमने यहाँ क्यों पैर रखा? यहाँ से जल्दी-से जल्दी चले जाओ, नहीं तो ठीक नहीं होगा।" और, इस पर भी वह न गया तो आप उसे बाँधकर या धक्का देकर बाहर कर देते हैं। पर, कर्म सरीखे दुष्ट और अवाछनीय के साथ आपका व्यवहार ऐसा नहीं होता! इसे आमन्त्रित करके आप अपने घर में स्थान देते हैं! और, सदा पड़ा रहने देते हैं। और, जब बाद में वह अपनी दुष्टता का चमत्कार दिखाता है, तो आप कहते हैं—"अरेरे! कर्मों ने यह हमारी बड़ी दुर्गति की!" पर, बाद में इस विचार से क्या होने का? जब आपने उसे आश्रय देते समय विचार नहीं किया तो अब सोचने से क्या होनेवाला है?

दुष्ट को आश्रय देने की एक पुरानी कहानी

राजा का विशाल पलंग था। उस पर दूध सी सफेद चादर बिछी थी। इस चादर के एक कोने में एक जूँ रहती थी। वह कोने से निकलती और राजा का खून पीती और अपने स्थान पर जाकर छिप कर बैठ जाती। राजा नित्य मधुर-मधुर भोजन करता। अत उसका रक्त उस जू को बहुत ही अच्छा लगता। और, इस प्रकार वह बड़े सुख से अपना दिन काटती।

एक बार एक मकड़ा वहाँ आ पहुँचा। और, जूँ से बोला—"बहन मुझे अन्यत्र कहीं आश्रय नहीं है। अत तुम्हारे आश्रय में आया हूँ।

तुम मुझे आश्रय दो। मैं तुम्हारा उपकार आजीवन मानूँगा। एक ही रात ठहर कर मैं स्वत चला जाऊँगा।" जूँ बोली—"भाई! तुम्हें आश्रय देने में कोई बाधा नहीं है, पर तुम्हारा स्वभाव अति चपल है।" मकड़े ने कहा—"मेरा स्वभाव तो निश्चय ही चपल है, पर तुम्हारे पास रहकर भला मैं क्या चपलता दिखाऊँगा? तुम निश्चिन्त रहो, मैं किसी प्रकार का तूफान नहीं करनेवाला हूँ।"

जूँ भली थी। अत उसने माँकड़े के वचन पर विश्वास करके आश्रय दे दिया और मकड़ा भी वहीं एक ओर ठहर गया।

रात होने पर राजा पलग पर लेटा। उसके रक्त के गन्ध से मकड़े का जी उछलने लगा। पलग के साँधे से बाहर निकल कर वह राजा को काटने की तैयारी करने लगा। वह यह भूल गया कि, जूँ से उसने क्या वादा किया है। दुष्ट को भला वचन का क्या मूल्य? स्वार्थ सधता हो तो दुष्ट कुछ भी वचन दे सकता है, पर उसका पालन तो दूर की बात है? 'तुम्हारी गाय हूँ, मुझे छोड़ दो। तुम्हारे देश में फिर न आऊँगा,' कहकर मुहम्मद गोरी ६ बार पृथ्वीराज के हाथ से निकल गया। पर, सातवीं बार उसने चढ़ायी की और पृथ्वीराज को हराकर कैद कर ले गया।

अस्तु! मकड़ा निकला और उसने राजा का मीठा रक्त चखा। राजा को नींद नहीं आयी थी अत मकड़े के काटते ही वह उठ बैठा। और पलग में यत्र तत्र देखने लगा। इतने में सेवक वहाँ आ पहुँचे और पूछने लगे—"महाराज क्या बात है?" राजा ने कहा—"इस चादर में लगता है मकड़ा है।" अत लोग मकड़े को देखने लगे।

मकड़ा तो अपने स्वभाव के अनुसार रक्त पीकर रफूचक्कर हो गया था। सेवकों के हाथ में भला कैसे आने लगा? पर, जूँ तो चादर की साँध में छिप कर बैठी ही थी। नौकरों के हाथ में आ गयी। सेवकों ने सोचा कि, उसीने राजा को काटा। उन लोगों ने जूँ को मार डाला। बाद में राजा फिर पलग पर लेटा। इस बार उसे नींद आने लगी।

दुष्ट मकड़े को एक रात के लिए आश्रय देने के ही कारण बिचारी जूँ को अपने प्राण से हाथ धोना पड़ा। पर, आपने तो दीर्घकाल से दुष्ट कर्मों को आश्रय दे रखा है, फिर आपका क्या होनेवाला है, यह आप स्वय समझ सकते हैं।

आप कहेंगे—"यह मैं जानता हूँ। इसका विषद परिणाम हमें भोगना पड़ेगा।" पर, ये शब्द तो आपके होठों से निकलते हैं—हृदय से नहीं निकलते! यदि हृदय से निलकते तो स्थिति भिन्न होती। आप शान्त होकर बैठे न रहते! यदि आप सड़क से चले जा रहे हों और कोई चिल्लाये 'साँप साँप!' तो आप क्या करेंगे? चलते ही जायेंगे या रास्ता बदलेंगे! बगल में आग लगी हो और घटे आध घटे में उसकी लपटें आपका घर पकड़नेवाली हों तो आप क्या करेंगे? पलग पर लेटे लेटे करवटें बदलेंगे या भागेंगे?

सन् १९४२ की बात आप भूले न होंगे? सिंगापुर का पतन हो चुका था और हवा थी कि, अब बम्बई पर बम पड़ने ही वाला है। हजारों रुपये का घर बार बेचकर लोग बोरिया बिस्तर लिए स्टेशन की ओर भागे जा रहे थे। ६-६—८-८ घटा ट्रेन का वक्त देखते लोग बैठे रहते। उस समय लोगों में अपार घबराहट थी कि, कब ट्रेन में बैठें और देश पहुँच जायें।

तो आप साँप से बचने के लिए, आग से बचने के लिए इतनी जहमत उठाते हैं तो फिर इनकी अपेक्षा अनेक गुना भयकर कर्म के लिए कितनी जहमत की आवश्यकता है? परन्तु, आप तो सुस्त और चुपचाप बैठे हैं—यह बड़ी खेदजनक स्थिति है। पुरुषार्थ करने से ही मुँह मोड़ लेने पर भला कर्म की सत्ता कैसे टूटेगी?

'कर्म कटने होंगे तो कट जायेंगे' ऐसा मानकर बैठे रहोगे तो पता खाओगे! वे अपने आप कभी नहीं कटनेवाले है! कर्म की जजीरों को इस

भव में नहीं तोड़ोगे तो दूसरे, तीसरे, पाँचवें, दसवें, सौवें या हजारवें भव में उसे तोड़ना ही पड़ेगा। तो फिर आज ही क्यों नहीं?

आप अगर यह मानते हों कि, 'आगे कोई अच्छा मौका आयेगा तब कर्मों को तोड़ डालेंगे और उनका फैसला कर डालेंगे,' तो इससे अच्छा मौका आपके पास कौन-सा आनेवाला है? अनन्तानत भवभ्रमण करते हुए मनुष्य भव प्राप्त हुआ है। यह कर्मों को तोड़ने का बड़ा से बड़ा मौका है। जिन-जिन आत्माओं ने कर्मों के साथ घमासान युद्ध करके उनका नाश किया, मनुष्य भव में ही किया। भविष्य में भी जो जो आत्मा कर्मों का सम्पूर्ण नाश करनेवाले हैं, वे मनुष्य भव में ही करने वाले हैं। आप स्वर्ग का सुख चाहते हैं, (कोई विमान या रॉकेट स्वर्ग में ले जाये तो सबसे पहले जाने को तैयार हो जायें!), पर देव स्वय मनुष्य-जन्म चाहते हैं, ताकि कर्मों को भस्म करके उनका अन्त ला सकें।

महानुभावो! ऐसा मौका बार-बार नहीं मिलता, इसलिए उठिये, खड़े हो जाइये और कर्मनाश का प्रशस्त पुरुषार्थ कीजिये! कर्मों को नष्ट करने का प्रशस्त पुरुषार्थ ही धर्म का आराधन है।

विशेष अवसर पर कहा जायेगा।

—०—

पैंतीसवाँ व्याख्यान

धर्म की शक्ति

आज के युग में जिस विचारणा की अत्यन्त आवश्यकता है, वह कल के व्याख्यान से प्रारम्भ हो चुका है। गत व्याख्यान में 'धर्म की आवश्य कता' पर विचार किया गया, उसी के अन्तर्गत आज 'धर्म की शक्ति' पर विचार किया जायेगा।

कर्म की सत्ता समस्त जगत पर—समस्त प्राणिवर्ग पर—लागू है। बलदेव, वासुदेव अथवा चक्रवर्ती तक उसकी सत्ता से मुक्त नहीं है—तो फिर दूसरों की बात ही क्या ? पर, उस कर्म की सत्ता को भी तोड़नेवाला 'धर्म' है।

साँप और नेवले की लड़ाई में अन्त में कौन विजयी होता है ? साँप नेवले को काटता है तो नेवला अपनी बिल में जाकर नोलवेल सूँघ आता है और साँप के विष से मुक्त हो जाता है। साँप की लम्बाई, उसके आकार प्रकार और साँप के दो-दो तीक्ष्ण दाँतों से वह किञ्चित् मात्र नहीं डरता। वह अपना वीरतापूर्ण युद्ध जारी रखता है और अन्त में साँप को मात करके ही रहता है।

धर्म भी इसी प्रकार की चीज है। कर्म सत्ता अति बलवान् है, पर उसके सम्मुख वह बड़े शौर्यपूर्ण रूप में युद्ध करता है और अन्त म कर्म को मात देकर ही छोड़ता है। कर्म के साथ संघर्ष में धर्म ही विजयी होता है। इसीलिए, धर्म की सत्ता है, धर्म का सम्मान है और इसीलिए धर्म की प्रशंसा होती है। धर्म की यही उपादेयता है। यदि कर्म के साथ हुए संघर्ष में धर्म पराजित हो गया होता, तो धर्म का नाम ही कौन लेता ! संसार

तो सदा विजयी को ही स्मरण करना रहा है। धारा-सभा की सदस्यता के लिए निर्वाचन-सघर्ष होता है। उसका जब प्रतिफल बाहर निकलता है, तो आप जीते हुए उम्मीदवार का स्वागत-सत्कार करते हैं, या हारे हुए का ? पार्टियाँ जीते हुए के सम्मान में होती हैं, या हारे हुए के ?

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, यदि धर्म में इतनी अद्‌भुत् शक्ति है, तो अनन्त आत्माएँ इस प्रकार धक्के क्यों खा रही हैं ? आज तक उन्होंने मोक्ष क्यों नहीं प्राप्त किया ? इसका उत्तर यह है कि, इस जगत में लोहा भी है और उसे सोना बनानेवाला पारस भी है। पर, सब लोहा सोना तो नहीं बन गया ? इसका कारण है कि, लोहे को पारस का सम्पर्क ही नहीं हुआ। यदि सम्पर्क हो तो लोहा सोना बन जाये ! यही बात आप आत्माओं के भी साथ समझ लें। आत्मा को धर्म का अपेक्षित सम्पर्क न प्राप्त होने से आत्माएँ इस जगत में धक्के खाया करती हैं। यदि आत्मा का धर्म से उस प्रकार का सम्पर्क हो जाये, जैसा अपेक्षित है तो निश्चय ही आत्मा जगत से मुक्त होकर मोक्ष पद प्राप्त कर ले।

बम्बई के बैंकों में करोड़ों रुपये पड़े हैं, पर बम्बई में ही मनुष्य दारिद्रय का भोग करता मिलेगा और मेहनत-मजदूरी करके पेट भरता मिलेगा। इसका क्या कारण है ? इसका कारण है कि, वह इस रुपये का मालिक नहीं है—अथवा यह कहें कि, इस रुपये के मालिक होने का अधिकार उसे प्राप्त नहीं है। यदि वह एन केन-प्रकारेण यह अधिकार प्राप्त कर ले तो निश्चय ही उसकी तंगी जाती रहेगी और वह श्रीमन्त बन जायेगा। यही बात धर्म के सम्बन्ध में भी है। ज्ञानियों द्वारा वर्णित धर्म की सत्ता इस जगत में है—देर केवल इस बात की है कि आप उस पर अधिकार प्राप्त कर लें।

लाठी के प्रयोग से शत्रु दूर रखा जा सकता है और अपना बचाव भी किया जा सकता है। पर, यदि वह लाठी अपने से दस बीस हाथ दूरी पर

हो तो ? लाठी हाथ में हो तभी बचाव सम्भव है। इसी प्रकार धर्म धारण करें और उसका समुचित रूप से पालन करें तभी कर्म को तोड़कर आप मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं—अन्यथा नहीं।

प्रश्न—कर्म की सत्ता से मुक्त होनेवाला भाग कितना है ?

उत्तर—बहुत थोड़ा—अनन्तवाँ भाग।

प्रश्न—क्या इससे यह साबित नहीं होता कि, कर्म की सत्ता धर्म की सत्ता से बहुत बड़ी है ?

उत्तर—नहीं! केवल क्षेत्र की व्यापकता से सत्ता का बड़ा होना साबित नहीं होता। भारतवर्ष की तुलना में इग्लैण्ड बहुत छोटा है, फिर भी उसने भारतवर्ष की प्रजा पर वर्चस्व जमाया और उसे डेढ़ सौ वर्ष तक पराधीन रखा। आग की एक जरा-सी चिनगारी घास के बड़े ढेर को भस्मीभूत कर देती है। इसलिए, विस्तार के साथ शक्ति का सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ प्रसगवशात् बहुमत के विषय मे भी कुछ स्पष्टीकरण कर दें। बहुमत का पक्ष हमेशा सत्य नहीं होता। अल्पमत हमेशा गलती पर ही नहीं होता। (महात्मा गाधी ने कहा है कि 'अगर एक आदमी भी सत्य के पक्ष में है तो वह बहुमत में है, चाहे सारी दुनिया उसके खिलाफ बोलती रहे।') बन्दरों की कथा सुनिए, आपको यह बात स्पष्ट हो जायगी।

बहुमत पर बन्दरों की कथा

एक राजमहल में कुछ बन्दर पाले गये थे। राजसेवक उन्हें नहलाते-धुलाते, राजकुमार उन्हें अच्छा अच्छा खिलाते और खेलकूद कराते। इससे बन्दरों को राजमहल खूब रुचिकर लगने लगा था।

उसी महल में घेंटों का एक टोला भी पाला गया था। उन पर राजकुमार सवारी करते और आनन्द मनाते। उस टोले में एक घेंटा बिगड़ैल था। वह नित्य राजा के रसोड़े मे घुस जाता और जो देखता खा जाता।

रसोइये उसे लकड़ी, पत्थर आदि से मारकर भगाते, मगर वह अपनी आदत नहीं छोड़ता।

एक बूढ़ा बन्दर यह सब देखा करता। उसे लगा कि, 'यह ठीक नहीं होता। राजा का रसोइया क्रोधी है और घेंटा हठीला है। एक दिन यह रसोइया उसे जलती लकड़ी से मारेगा और जलता हुआ घेंटा पास की अश्वशाला में घुसेगा। वहाँ घास में आग लगेगी और घोड़े जलेंगे। ये घोड़े राजा को बहुत प्रिय हैं। वह उपाय पूछेगा। उसके लिए बन्दरों की चर्बी लगाने की सिफारिश की जायेगी और तब हम सब की मौत आयेगी। इसलिए, यहाँ से अभी से चला जाना अच्छा।'

उसने सब बन्दरों को एकान्त में इकट्ठा किया और कहा—"भाइयो! राजा के रसोइये और घेंटे के बीच रोज लड़ाई होती है। उसमें हम लोगों का कभी निकन्दन निकल जायगा। इसलिए, हम पर कोई आफत आये, उससे पहले ही यहाँ से वन में चल दें। वहाँ फल फूल खायेंगे और आनन्द करेंगे।"

यह सुनकर एक बन्दर ने कहा—"यह तो अजीब बात है! रसोइया और घेंटा रोज लड़े, इसमें हमारा क्या?"

दूसरे बन्दर ने कहा—"अगर रसोइये और बन्दर की लड़ाई से कोई आफत आनेवाली होती तो कभी की आ गयी होती। वह अभी तक नहीं आयी, इसी से प्रकट है कि जो भय दिखलाया जा रहा है मिथ्या है।"

तीसरे ने कहा—"जहाँ किसी आफत की आशंका न हो, आशंका मानकर वहाँ से चल देना, यह समझदारी की बात नहीं है!"

चौथे ने कहा—"जो सुख यहाँ मिलता है, वह वन में क्या मिलनेवाला है? जानबूझकर दुःख में पड़ने का क्या मतलब?"

बन्दरों के इन विचारों को सुनकर बूढे बन्दर को लगा कि इनमें से कोई भी गभीरता से विचार करनेवाला नहीं है, इसलिए सारी बातें खोलकर बताना फिजूल है। उसने सक्षेप में इतना ही कहा—"मैंने इस बारे में पूरा विचार किया है। अगर आपको मानना हो तो मानिये।"

एक बन्दर ने कहा—"यह बात बड़ी गभीर है, इसलिए एक के मतानुसार नहीं चला जा सकता। इसके लिए सब बन्दरों के मत लो।"

सब बन्दरों के मत लिये गये। बूढे बन्दर की बात का किसी ने समर्थन नहीं किया। और, एकमत विरुद्ध प्रबल बहुमत से निर्णय किया गया—"हम जिस तरह राजमहल में रहते हैं, उसी तरह रहना चालू रखें।"

अपने भाइयों की यह हालत देखकर बूढे बन्दर को बहुत दु ख हुआ और वह अकेला राजमहल छोड़कर वन में चला गया। सब उसे मूर्ख मानकर हँसने लगे।

कुछ दिनों बाद वही हुआ, जो बूढे बन्दर ने सोचा था। रसोइये ने घेंटे को जलती लकड़ी मारी और घेंटा जल उठा। वह चीखता चिल्लाता पास की अश्वशाला में घुसा और जमीन पर लोटने लगा। वहाँ जमीन पर पड़ी हुई घास जल उठी और पास में भरी हुई घास में भी आग लग गयी। देखते-देखते अश्वशाला जलने लगी और उस आग में कितने ही घोड़े मर गये और कई सख्त जख्मी हुए। राजा ने पशुचिकित्सक को बुलाकर झुलसे हुए घोड़ों का इलाज पूछा। जवाब मिला—"बन्दरों की ताजी चर्बी लगाई जाये, तो ये घोड़े अच्छे हो जायें।"

राजा ने कहा—"यह तो आसानी से हो सकता है। हमारे महल म ही बन्दरों का एक टोला पाला हुआ है।" राजा का हुक्म पाकर राजसेवकों ने बन्दरों को मारकर उनकी ताजी चर्बी का उपयोग किया।

व्यवहार में भी बहुत-सी बातें ऐसी हैं कि, जिनमें बहुमत का उपयोग नहीं हो सकता। घर में बहुत-से लोगों के होते हुए भी बुजुर्गों का कहना

ही माना जाता है। आठ अधकचरे वैद्यों की नहीं सुनी जाती, एक कुशल वैद्य की बात पर अमल किया जाता है। सौ मजदूरों की बात नहीं मानी जाती, एक इन्जीनियर के परामर्श को मान्यता दी जाती है।

धर्मशास्त्र कहते हैं—"हजार अज्ञानी भी एक ज्ञानी का मुकाबला नहीं कर सकते। इसलिए सच्चे ज्ञानी का ही वचन मानना चाहिए। इस जगत् में ज्ञानी कम हैं, अज्ञानी अधिक हैं, धर्मी कम हैं, अधर्मी ज्यादा हैं। इसलिए, धर्म के विषय में बहुमत की नीति अपनाने में पतन की पूर्ण आशंका है।

'बहुत से लोग करते हैं, इसलिए करना', ऐसी मनोवृत्ति आज लोगों में दिखायी देती है, मगर वह उचित नहीं है। जो सत्य हो, हितकर हो, कल्याणकर हो उसी का आचरण करना चाहिए, फिर भले ही बहुत ही थोड़े लोग उसका आचरण कर रहे हों।

अशरणों का शरण धर्म है

कर्म की सत्ता से छूटना हो, कर्म के बन्धन को तोड़ना हो, तो धर्म की शरण लेनी होगी। हमारे महापुरुषों ने कहा है कि—

> व्यसनशतगताना क्लेशरोगातुराणां,
> मरणभयहताना दु:खशोकार्दितानाम्।
> जगति बहुविधाना व्याकुलानां जनाना,
> शरणमशरणाना नित्यमेको हि धर्म ॥

—दु:ख, आपत्ति या कष्ट, एक के बाद एक आते ही रहते हैं। तब सगे-सम्बन्धी, मित्र-स्नेही सब दूर रह जाते हैं, केवल धर्म ही शरण देता है।

जब कि, आदमी विविध क्लेशों या रोगों से घिर गया हो तब भी धर्म ही शरण देता है। पूना के पास तलेगाँव नामक गाँव है। वहाँ के

एक श्रावक को डायबिटिस (पेशाब में शक्कर जाने) का रोग था। उसने कभी तपश्चर्या नहीं की थी, न उससे हो पाती थी। परन्तु, एक बार श्र विजय यशोदेव सूरिजी वहाँ पधारे। उनकी प्रेरणा से उसने अष्टाह्निका का तप शुद्ध धर्म भावना से पूरा किया। उसके बाद उसका रोग मूल से जाता रहा। जो रोग बहुत सी दवायें करने पर भी न मिटा, वह आठ दिन के धार्मिक अनुष्ठान से मिट गया! डाक्टर यह देखकर चकित रह गये। उन्हें विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने उस श्रावक को शक्कर खिलायी, मगर वह उसके पेशाब में बिलकुल नहीं आयी।

अनाथी मुनि ने स्वय कहा है—"अनेक विध उपचारों से भी मेरा रोग नहीं मिटा। पर, शुद्ध धार्मिक सकल्प करने से नष्ट हो गया।" ऐसे और भी बहुत-से दृष्टान्त हैं।

मरण भय से घबराये हुओं को सिवाय धर्म के किसकी शरण है? उस वक्त माता, पिता, भाई, बहिन, काका, काकी, मामा, मामी या कोई सगा सम्बन्धी शरण नहीं दे सकता। बड़े-बड़े धनिकों या अधिकारियों से मेल-मुलाकात हो तो भी उस वक्त वह काम नहीं आती। मौत के वारट के आने पर धर्म ही एक शरण है। किसी का जवान पुत्र मर गया हो। या पत्नी का अकाल अवसान हो गया हो य । बुजुर्ग चले गये हों, अथवा व्यापार धधा चौपट हो गया हो या उसमें बड़ा नुकसान आया हो, उस वक्त मनुष्य शोकातुर हो जाता है। उस वक्त धर्म का आराधन ही उसके शोक को दूर कर सकता है ।

इस तरह जगत् में दु खी जनों के लिए मात्र धर्म ही नित्य शरण भूत है। धर्म की यह कैसी महान शक्ति है!

धर्म से होनेवाले अनेक लाभ

महानुभावो! आप व्यापार-वाणिज्य करनेवाले पक्के बनियाँ हैं। हर चीज में आपकी दृष्टि लाभ पर ही रहती है। जिसम आपको थोड़ा

भी लाभ नजर आता हो, आप उसे करने में तत्पर हो जाते हैं। इसी दृष्टि से आपको यह बताना है कि, धर्माराधन लाभ का सौदा है—इसमें घाटे की किञ्चित् आशका नहीं है। उसमें क्या-क्या लाभ है, इसे ध्यान से समझने का प्रयास कीजिए।

धर्माज्जन्म कुले शरीरपटुता सौभाग्यमायुर्बल,
धर्मेणैव भवन्ति निर्मलयशो विद्यार्थसंपत्तय।
कान्ताराच्च महाभयाच्च सतत धर्म परित्रायते,
धर्म सम्यगुपासितो भवति हि स्वर्गापवर्गप्रद.॥

—जो धर्म की योग्य आराधना करता है, उसका जन्म उच्च कुल में सस्कारी कुल में होता है। जिसका जन्म अधम कुलों में होता है, वह प्रारम्भ से ही पाप-कर्म करना सीखता है और उसमें लिप्त रहता है। कोली, कसाई, चमार, चोर डाकू के कुल में जन्म लेनेवालों की दशा देखें तब आप उच्च कुल का मूल्य आँक सकने में समर्थ होंगे।

धर्म के उचित आराधन से पाँचों इन्द्रियों में पूर्णता प्राप्त होती है। इस लाभ का महत्त्व भी आप ऐसे नहीं आँक सकते। किसी को हाथ न हो, या पाँव न हो या जिह्वा से स्पष्ट उच्चारण न हो सकता हो, कान से बहरा हो या आँख में कोई खराबी हो तो उसे जीवन में कितना कष्ट सहन करना पड़ता है। उनकी तुलना में पाँचों इन्द्रियों में पूर्ण व्यक्ति कितना सुखी गिना जाता है, इसकी आप सहज कल्पना कर सकते हैं।

धर्म की योग्य आराधना से सौभाग्य प्राप्त होता है। सौभाग्य सभी को प्रिय लगता है। आप सब कैवन्ना सेठ के सौभाग्य की बात करते हैं, पर कयवन्ना सेठ को यह सौभाग्य कैसे प्राप्त हुआ था? इस पर विचार नहीं करते। कयवन्ना को यह सौभाग्य धर्म की आराधना से ही मिला था।

धर्म की योग्य आराधना से दीर्घ आयुष्य मिलता है। कितने ही माता के गर्भ में ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं, कितने ही अल्पावस्था में

ही इहलीला समाप्त करते हैं। इन आत्माओं को मनुष्यभव प्राप्त करने की क्या सार्थकता है? यदि दीर्घ आयुष्य हो, तभी आत्मा मनुष्य-भव प्राप्त करके तीर्थयात्रा, जप-तप आदि अनेक विधियों से कर सकता है और मानव भव को सार्थक कर सकता है। इस प्रकार दीर्घ आयुष्य के अनेक लाभ हैं।

धर्म के आराधन से बल प्राप्त होता है। जो निर्बल है, उसे सभी सताते हैं। उसका जीवन ही वस्तुत बरबाद है। इस प्रकार बल भी जीवन-साफल्य का एक अग है।

धर्म के योग्य आराधन से निर्मल यश, विद्या तथा अर्थ—सम्पत्ति—की प्राप्ति होती है। यश किसको भला नहीं लगता? चार आदमी किसी को बुलाएँ और आगे बैठाएँ तो तुरत छाती फूल जाती है। इस प्रकार जीवन मे सर्वत्र यश की प्राप्ति करने का उपाय धर्म की आराधना है।

विद्वान् का सभी आदर करते हैं। यह विद्या प्राप्ति भी धर्माराधन के आधीन है।

और, 'अर्थ' अर्थात् लक्ष्मी यह भी धर्माराधन के तावे में है। जिसने धर्म का भली प्रकार आराधन किया हो, उसे ही लक्ष्मी की प्राप्ति सम्भव है।

यदि कोई प्रवास में निकला हो, और घने जगल में पहुँच जाये तो वहाँ व्यक्ति की रक्षा धर्म के अतिरिक्त भला और कौन कर सकता है? हाथी, सिंह, सर्प, भूत, पिशाच आदि का वहाँ भय होता है। उन भयों से व्यक्ति को उसका धर्म ही बचाता है।

स्वर्ग के सुख की बात सुन कर तो आप सभी के मुँह में पानी आ जाता है। पर, यह सुख ऐसे ही नहीं प्राप्त हो जाता। इसके लिए धर्माराधन आवश्यक है। और, मोक्ष सुख जिसमे अनिर्वचनीय सुख होना है, उसकी प्राप्ति भी धर्माराधन से ही सम्भव है।

इस प्रकार धर्म के कितने ही लाभ हैं, पर उनकी प्राप्ति के लिए योग्य धर्माराधन आवश्यक है।

धन चाहिए या धर्म ?

कुछ लोग कहते हैं कि, "हमें धर्म नहीं धन चाहिए। कारण कि, धन से अन्न, वस्त्र और इज्जत तीनों उपलब्ध हैं।" धन से अन्न-वस्त्र मिल जाते हैं, पर प्रतिष्ठ धन मात्र से ही नहीं मिलती। लाखों की हैसियतवालों की भी समाज में कोई प्रतिष्ठा नहीं होती, बल्कि समाज उन्हें धिक्कारता है, लोग सुबह उठकर उनका नाम तक लेने में पाप मानते हैं! जिन धनिकों की समाज में प्रतिष्ठा होती है, वे उदारतापूर्वक अपने धन को परोपकार में खर्च करते हैं। इसलिए, उनकी प्रतिष्ठा का श्रेय धन को नहीं, बल्कि धन खर्च करने के पीछे रहनेवाली धर्म-भावना को है।

यह मान भी लिया जाये कि, धन से अन्न-वस्त्र प्रतिष्ठा तीनों मिल जाते हैं। पर, स्वय धन धर्म से ही प्राप्त होता है। मात्र मेहनत-मजदूरी से धन मिलता होता, तो समान मेहनत करनेवालों को समान धन प्राप्त होता। पर, ऐसा देखा नहीं जाता। एक आदमी थोड़ी मेहनत से ही बहुत कमा लेता है, दूसरा उचित परिश्रम से उचित धन प्राप्त कर लेता है, तीसरा कड़ा परिश्रम करने पर भी कुछ धन नहीं पाता, चौथे को अति परिश्रम करने पर भी नुकसान उठाना पड़ता है। यह फर्क किस कारण है ?

अगर जवाब में कहेंगे—'भाग्य' तो भाग्य के भी दो हिस्से करने पड़ेंगे—एक अच्छा भाग्य, दूसरा खराब भाग्य। फिर अच्छे और बुरे भाग्य के कारणों पर भी विचार करना पड़ेगा। जिसने पूर्व भव में अच्छे कर्म किये, पुण्य किया, धर्म किया, उसे अच्छा भाग्य मिला। और जिसने खराब कर्म किये, पाप किया, अधर्माचरण किया, उसे बुरा भाग्य मिला। इसलिए मूल आधार तो धर्म ही है। हमारे अनुभवी पुरुष कहते हैं—

ही इहलीला समाप्त करते हैं। इन आत्माओं को मनुष्यभव प्राप्त करने की क्या सार्थकता है? यदि दीर्घ आयुष्य हो, तभी आत्मा मनुष्य-भव प्राप्त करके तीर्थयात्रा, जप-तप आदि अनेक विधियों से कर सकता है और मानव भव को सार्थक कर सकता है। इस प्रकार दीर्घ आयुष्य के अनेक लाभ हैं।

धर्म के आराधन से बल प्राप्त होता है। जो निर्बल है, उसे सभी सताते हैं। उसका जीवन ही वस्तुतः बरबाद है। इस प्रकार बल भी जीवन-साफल्य का एक अंग है।

धर्म के योग्य आराधन से निर्मल यश, विद्या तथा अर्थ—सम्पत्ति—की प्राप्ति होती है। यश किसको भला नहीं लगता? चार आदमी किसी को बुलाएँ और आगे बैठाएँ तो तुरत छाती फूल जाती है। इस प्रकार जीवन में सर्वत्र यश की प्राप्ति करने का उपाय धर्म की आराधना है।

विद्वान् का सभी आदर करते हैं। यह विद्या प्राप्ति भी धर्माराधन के आधीन है।

और, 'अर्थ' अर्थात् लक्ष्मी यह भी धर्माराधन के तात्रे में है। जिसने धर्म का भली प्रकार आराधन किया हो, उसे ही लक्ष्मी की प्राप्ति सम्भव है।

यदि कोई प्रवास में निकला हो, और घने जंगल में पहुँच जाये तो वहाँ व्यक्ति की रक्षा धर्म के अतिरिक्त भला और कौन कर सकता है? हाथी, सिंह, सर्प, भूत, पिशाच आदि का वहाँ भय होता है। उन भयों से व्यक्ति को उसका धर्म ही बचाता है।

स्वर्ग के सुख की बात सुन कर तो आप सभी के मुँह में पानी आ जाता है। पर, यह सुख ऐसे ही नहीं प्राप्त हो जाता। इसके लिए धर्माराधन आवश्यक है। और, मोक्ष सुख जिसमें अनिर्वचनीय सुख होता है, उसकी प्राप्ति भी धर्माराधन से ही सम्भव है।

इस प्रकार धर्म के कितने ही लाभ हैं, पर उनकी प्राप्ति के लिए योग्य धर्माराधन आवश्यक है।

धन चाहिए या धर्म ?

कुछ लोग कहते हैं कि, "हमें धर्म नहीं धन चाहिए। कारण कि, धन से अन्न, वस्त्र और इज्जत तीनों उपलब्ध हैं।" धन से अन्न-वस्त्र मिल जाते हैं, पर प्रतिष्ठ धन मात्र से ही नहीं मिलती। लाखों की हैसियतवालों की भी समाज में कोई प्रतिष्ठा नहीं होती, बल्कि समाज उन्हें धिक्कारता है, लोग सुबह उठकर उनका नाम तक लेने में पाप मानते हैं। जिन धनिकों की समाज में प्रतिष्ठा होती है, वे उदारतापूर्वक अपने धन को परोपकार में खर्च करते हैं। इसलिए, उनकी प्रतिष्ठा का श्रेय धन को नहीं, बल्कि धन खर्च करने के पीछे रहनेवाली धर्म-भावना को है।

यह मान भी लिया जाये कि, धन से अन्न-वस्त्र-प्रतिष्ठा तीनों मिल जाते हैं। पर, स्वयं धन धर्म से ही प्राप्त होता है। मात्र मेहनत-मजदूरी से धन मिलता होता, तो समान मेहनत करनेवालों को समान धन प्राप्त होता। पर, ऐसा देखा नहीं जाता। एक आदमी थोड़ी मेहनत से ही बहुत कमा लेता है, दूसरा उचित परिश्रम से उचित धन प्राप्त कर लेता है, तीसरा कड़ा परिश्रम करने पर भी कुछ धन नहीं पाता, चौथे को अति परिश्रम करने पर भी नुकसान उठाना पड़ता है। यह फर्क किस कारण है ?

अगर जवाब में कहेंगे—'भाग्य' तो भाग्य के भी दो हिस्से करने पड़ेंगे—एक अच्छा भाग्य, दूसरा खराब भाग्य। फिर अच्छे और बुरे भाग्य के कारणों पर भी विचार करना पड़ेगा। जिसने पूर्व भव में अच्छे कर्म किये, पुण्य किया, धर्म किया, उसे अच्छा भाग्य मिला। और जिसने खराब कर्म किये, पाप किया, अधर्माचरण किया, उसे बुरा भाग्य मिला। इसलिए मूल आधार तो धर्म ही है। हमारे अनुभवी पुरुष कहते हैं—

निपानमिव मण्डुकाः, सरः पूर्णमिवाण्डजाः।
शुभकर्माणमायान्ति, विवशाः सर्वसम्पदः॥

—जैसे भरे तालाब में मेंढक आते हैं और भरे सरोवर पर पक्षी आते हैं, वैसे ही जहाँ शुभ कर्मों का सचय है, वहाँ सर्व सम्पत्तियाँ विवश होकर आती हैं।

कुछ कहते हैं—'धर्मबुद्धि रखने से धन नहीं आता। उसके लिए अन्याय, अनीति या पाप का सेवन करना ही पड़ता है।' परन्तु, यह कथन भी भ्रमपूर्ण है। इसका उत्तर धर्मबुद्धि और पापबुद्धि की बात से मिल जायेगा।

धर्मबुद्धि और पापबुद्धि की बात

एक नगर में दो बनिये रहते थे। एक का नाम धर्मबुद्धि और दूसरे का नाम पापबुद्धि था। इन दोनों को आँख की पहिचान थी, और प्रसग आने पर एक दूसरे का काम भी करते थे, इसलिए दोनों में मित्रता थी।

धन कमाने के लिए दोनों मित्र परदेश गये। वहाँ बुद्धि और साहस से काम लेकर अच्छी कमाई की। फिर, अपने वतन की ओर लौटे।

जब नगर के पास आये तो पापबुद्धि की बुद्धि बदली। वह विचार करने लगा—"अगर किसी तरह इस धर्मबुद्धि का धन उड़ा लूँ तो एकदम धनवान बन जाऊँ।" इसके लिए उसने युक्ति लड़ायी। वह धर्मबुद्धि से कहने लगा—"भाई! इस धन के कमाने में हम बड़ा पसीना बहाना पड़ा है। अब यह ठीक-ठिकाने न हो जाये इसकी सावधानी रखनी चाहिए। अगर, हम इस तमाम धन को घर ले जायेंगे तो सगे सबधी माँगे बिना नहीं रहेंगे और हमें शर्म के मारे यह धन देना पड़ेगा। इसलिए, अच्छा यह है कि, इस धन का अधिकाश हम यहीं पेड़ की जड़ में दबा दें

और आवश्यकता भर ही घर ले चलें। जरूरत पड़ने पर फिर ले जायेंगे।"

धर्मबुद्धि सरल था। उसके पेट में किसी तरह का पाप नहीं था। इसलिए उसने पापबुद्धि का कहना मान लिया और दोनों ने अपने धन का अधिकाश पेड़ की जड़ में गाड़ दिया और थोड़ा सा धन लेकर घर आये।

पापबुद्धि का मन उस धन में लगा हुआ था, इसलिए रात दिन उसी का विचार करता था। यह भी शका होती थी कि, कहीं धर्मबुद्धि वहाँ जाकर अकेला ही सारा धन न निकाल ले। पापी को सर्वत्र शका रहती है। अत एक दिन वह वहाँ जाकर सारा धन निकाल लाया।

कुछ दिनों बाद, धर्मबुद्धि को धन की आवश्यकता पड़ी, इसलिए वह पापबुद्धि को साथ लेकर धनवाली जगह गया। जमीन खोदी तो कुछ न निकला। यह देखते ही पापबुद्धि पत्थर से सर फोड़ने लगा कि, 'हाय! हाय! अब क्या करूँ? मेरा तो सर्वस्व इसी में था। यह बात सिवाय हम दोनों के कोई नहीं जानता था। इसलिए मालूम होता है तू ही अकेला आकर वह धन निकाल ले गया। तू मेरे भाग का धन दे दे, वर्ना मुझे राजदरबार में जाना पड़ेगा।'

धर्मबुद्धि ने कहा—"अरे दुष्ट! तू यह क्या बकता है? मैं चोर नहीं हूँ, पर लगता है कि वह धन तू ही अकेला निकाल ले गया है। इसलिए चुप-चाप मेरा हिस्सा लौटा दे, वर्ना मैं ही तुझे राजदरबार में घसीट ले जाऊँगा।"

पर, पापबुद्धि यूँ थोड़े ही माननेवाला था! उल्टा वह धर्मबुद्धि को धमकाने लगा। इस तरह वादविवाद करते हुए दोनों धर्माधिकारी के पास पहुँचे। दोनों की बात सुनकर धर्माधिकारी ने कहा—"इस विषय में दिव्य करना पड़ेगा।' तब पापबुद्धि बोला—'यह न्याय ठीक नहीं है। पत्र और साक्षी का अभाव हो तो ही दिव्य करना चाहिए। पर, मेरा तो वृक्ष

देवता साक्षी है, वह बता देगा कि हममें से दोषी कौन है और निर्दोष कौन।' इस पर धर्माधिकारी ने दोनों की जमानत ली और अगले दिन सुबह बुलाया।

पापबुद्धि ने घर जाकर सारी हकीकत अपने पिता को कह सुनायी और सुझाया कि, 'यह धन मैंने चुराया है, पर यह आपके वचन से मुझे पच सकता है।'

पिता ने पूछा—'वो कैसे?'

पापबुद्धि ने कहा—"पिताजी! उस प्रदेश में खीजड़े का एक बड़ा पेड़ है। उसमें एक बड़ी कोटर है। उसमे आप अभी से छिप जायें ताकि किसी को खबर न पड़े। बाद में सुबह धर्माधिकारी आदि के साथ मैं वहाँ आऊँगा और पूछूँगा—'हे वृक्षदेवता! तुम हम दोनों के साक्षी हो, कह दो कि हममें से चोर कौन है?' उस समय आप कहियेगा—'धर्मबुद्धि चोर है।'

पापबुद्धि का पिता उस जैसा पापी नहीं था। उसने कहा—"यह उपाय ठीक नहीं है। मुझे लगता है कि इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा।" पर, पापबुद्धि ने हठ की और बताया—"अगर आप इस तरह नहीं करेंगे तो हम सब के बारह बज जायेंगे। फिर मुझसे न कहियेगा कि, यह क्या हुआ!" पापी आदमी दूसरे को भी पाप में घसीटता है और दुःखी करता है।

दूसरा उपाय न होने से पिता ने यह बात स्वीकार कर ली और रात के अँधेरे में उस पेड़ के कोटर में छिप गया।

सुबह हुई और धर्मबुद्धि और पापबुद्धि धर्माधिकारी आदि कई राज्याधिकारियों के साथ धनवाली जगह आये। वृक्ष में से वचन निकले—"धर्मबुद्धि चोर है।"

उन वचनों को सुनकर अधिकारियों को आश्चर्य हुआ। वे विचार करने लगे कि धर्मबुद्धि को क्या दंड दिया जाये। उधर धर्मबुद्धि की स्थिति

बड़ी कुढ़गी हो गयी। स्वयं द्रव्य लिया नहीं है, फिर भी चोर ठहरा दिया गया! इसका उसे बड़ा दु ख होने लगा। उसने उस वृक्ष के आसपास कुछ सूखी घास इकट्ठी करके आग लगा दी। उसमें और भी सूखी लकड़ियाँ डाल दीं। इससे सारा पेड़ धू धू करके जलने लगा। उस समय उसमें से भयकर रूप से चीखता हुआ एक आदमी अधजली हालत में निकला।

राज्याधिकारियों ने उसे घेर लिया और पूछने लगे—"तू कौन है? सचसच बता।"

उस अर्धदग्ध आदमी ने लिथड़ती वाणी में कहा—"मेरे दुष्ट पुत्र ने मेरी यह दशा की है।" और वह लड़खड़ाकर जमीन पर गिर पड़ा। उसके सौ के सौ वर्ष वहीं पूरे हो गये। राज्याधिकारी समझ गये कि धर्मबुद्धि को दोषी ठहराने के लिए ही पापबुद्धि ने यह षड्यंत्र रचा था और अपने पिता को वहाँ छिपाकर वैसे वचन कहलवाये। उन्होंने पापबुद्धि को अपराधी घोषित किया, उसके घर की तलाशी ली और धर्मबुद्धि के धन को वापस दिलाया। पापबुद्धि पर विश्वासघात, झूठ, धोकाजनी, झूठी गवाही दिलाने आदि जुर्मों का दोषी ठहराकर फाँसी की सजा दी।

पाप अन्याय-अधर्म से धन पाने की लालसा का क्या परिणाम आया यह देखिये! धन मिला नहीं, पिता जलकर मर गया और खुद फाँसी पर लटकना पड़ा। ऐसे उदाहरण आज भी देखने में आते हैं।

अन्याय अनीति-अधर्म का आचरण करके इकट्ठा किया हुआ धन पारे की तरह फूट निकलता है और उसे प्राप्त करनेवाले को सुख-शाति का अनुभव नहीं होने देता। अगर वह धन दूसरे को दिया जाये तो उसकी हालत भी बुरी हो जाती है। एक सन्यासी के हाथ में अन्याय से कमाई हुई अशर्फी आने पर उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी और उसे वेश्यागमन का विचार आया। ऐसे अनेक उदाहरण देखते-जानते हुए भी मनुष्यों की बुद्धि न सुधरती है न धर्म में स्थिर होती है, यह कितनी शोचनीय बात है!

धर्म की शक्ति अचिन्त्य है

धर्म की शक्ति अगाध है, अज्ञेय है, अचिन्त्य है। उसका सेवन करने-वाले को अवश्य लाभ होता है। यह अनुभवगम्य है। अनेक महापुरुषों ने इस वस्तु का अनुभव लेने के बाद ही कहा है कि—

सुखार्थं सर्वं भूतानां, मता सर्वप्रवृत्तयः।
सुखं नास्ति विना धर्मं, तस्माद्धर्मपरो भवेत्॥

—सब प्राणियों की सब प्रवृत्तियाँ सुख के लिए ही मानी गयी हैं और वह सुख धर्म बिना नहीं मिलता, इसलिए मनुष्य को धर्म में तत्पर होना चाहिए।

विशेष अवसर पर कहा जायेगा।

छत्तीसवाँ व्याख्यान

धर्म की पहिचान

महानुभावो !

पिछले दो व्याख्यानों में यह स्पष्ट किया गया कि जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए हर मनुष्य को धर्म अवश्य करना चाहिए। धर्म की शक्ति अगाध, अपरिमित, अचिन्त्य है, लेकिन धर्म क्या है ? धर्म के लक्षण क्या हैं ? धर्म की पहिचान क्या है ?—यह जाने बिना धर्म नहीं हो सकता। इसलिए, इस व्याख्यान में इन विषयों पर प्रकाश डालेंगे।

धर्म क्या है ?—इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न लोग विभिन्न प्रकार से देते हैं। कोई धर्म को सेवा बताता है, कोई उसे कर्त्तव्य, फर्ज, नीति, सदाचार, प्रभुभक्ति, दान, सुविचार, ज्ञानोपासना, कुलाचार बताता है। कोई उसे शास्त्र में कथित विधि और निषेध बताता है। परन्तु, ये व्याख्याएँ अपूर्ण हैं, इसलिए धर्म का यथार्थ भाव नहीं दर्शा सकतीं।

धर्म का अर्थ सेवा मान लें, तो यह प्रश्न होता है कि सेवा किसकी ? लोग अपना पेट भरने के लिए अनेक लोगों की अनेक प्रकार से सेवा करते हैं, तो क्या वह धर्म है ? कितने ही बीबी बच्चों की सेवा करते हैं, क्या उसे धर्म मानेंगे ? कितने ही आदमी समाज देश सेवा के नाम पर मेवा उड़ाते हैं और विशुद्ध स्वार्थी प्रवृत्तियों में भी सेवा का रंग भरते हैं। ऐसा भी भ्रम फैला हुआ है कि, सेवा के लिए पाप भी किया जा सकता है। इसलिए 'धर्म माने सेवा' यह व्याख्या स्वीकार्य नहीं है।

धर्म का अर्थ कर्तव्य या फर्ज मानें तो भी धर्म का वास्तविक रूप

सामने नहीं आता। क्योंकि, दुनिया मे कर्तव्य या फर्ज के विषय में तरह तरह के विचार फैले हुए हैं। कोई कहता है कि, प्रजा उत्पन्न करना अपना फर्ज है। जैसे हमारे पिता ने हमे पैदा किया उसी तरह हमें भी सन्तानें पैदा करनी चाहिए। पुत्र उत्पन्न न करेंगे तो वंश कैसे चलेगा? कोई कहता है कि इस जगत् में सब चीजें भोगने के लिए पैदा हुई हैं, इसलिए विविध प्रकार के भोग भोगना अपना कर्तव्य है। कोई कहता है कि मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन का सेवन करने से देव प्रसन्न होता है, इसलिए इन पंच मकार का सेवन करना अपना कर्तव्य है। कोई कहता है कि, देव देवियाँ पशुबलि-नरबलि से प्रसन्न होते हैं, इसलिए बलि देना अपना कर्तव्य है। कोई कहता है कि, श्रीमंतों को लूटकर गरीबों को दान देना हमारा कर्तव्य है, क्योंकि इसके बगैर दुनिया में समानता नहीं लायी जा सकती।

किसान खेती का काम करे, व्यापारी व्यापार करे, दर्जी कपड़ा सिए, मोची जूते बनावे, कुम्भार बासन बनाये, बढ़ई मेज बनाये, लुहार औजार बनावे, चमार मेरे ढोरों को ले जाये, भंगी झाड़ू मारे, चोर चोरी करे, वेश्या वेश्याचार करे और कसाई जानवरों को मारे—यह उनका कर्तव्य माना जाता है। इस सब को धर्म माना जाये तो पाप-जैसी कोई चीज ही नहीं रहती। करार के मुताबिक नौकरी करना फर्ज माना जाता है। फिर वह नौकरी चाहे जिस प्रकार की हो। मिसाल के तौर पर ६ घंटे की नौकरी हो तो शिक्षक ६ घंटे तक पढ़ावे, गुमाश्ता ६ घंटे तक नाम लिखे, उघरानी को जाये या सेठ का बताया हुआ दूसरा काम करे। मजदूर हो तो ६ घंटे मजदूरी करे। पुलिस हो तो ६ घंटे चौकीदारी करे, चोरों को पकड़ने जाये या गुंडों की मार-पीट करे और कारीगर हो तो ६ घंटे कारीगरी का काम करे। किसी ने कसाईखाने में या कलाल के यहाँ नौकरी स्वीकारी हो, तो वहाँ जानवरों को मारना पड़े या लोगों को शराब पिलानी पड़े।

इन सब बातों को धर्म मानने जायें तो बात कहाँ पहुँचेगी इसका विचार कीजिये।

'धर्म' को 'नीति' कहने से भी धर्म का सच्चा मर्म प्रकाश में नहीं आता, कारण कि देशकालानुसार नीति अनेक प्रकार की होती है और उसमें अच्छी और बुरी दोनों बातों का समावेश होता है। उदाहरण के लिए, नीति विशारदों ने साम, दाम, दंड और भेद इन चार प्रकार की नीति मानी है। इनमें साम अर्थात् सिखावन देना अच्छी बात है। अगर कोई सीख देने से ही अन्याय, अनीति, दुराचार या अधर्म का सेवन छोड़ दे, तो वाछनीय है। परन्तु, दाम यानी पैसा देना, लालच-रिशवत देना और उससे स्वार्थ का काम करा लेना, अच्छी बात नहीं है। दंड देना, नाश करना भी खराब ही है। उसी प्रकार भेद अर्थात् प्रपच खेलकर विरुद्ध पक्ष में फूट डलवाना और उसे विनाश के मार्ग पर ले जाना भी अच्छी बात नहीं है। इस प्रकार 'धर्म' दाम, दंड और भेद भी नहीं है।

नीति का अर्थ केवल व्यवहार-शुद्धि किया जाये, तो यह भी पूर्ण परिभाषा नहीं है। उसमें धर्म का अश अवश्य है, परन्तु धर्म का वास्तविक अर्थ सामने नहीं आता।

'धर्म माने सदाचार' यह व्याख्या ऐसी है, जैसे भारतवर्ष को बम्बई कहना। भारतवर्ष केवल बम्बई मात्र ही नहीं है। उसमें और भी बहुत से नगर, पर्वत, नदी, सरोवर आदि हैं। उसी प्रकार धर्म में भी सदाचार के बाद श्रद्धा, ज्ञान, भावना आदि अनेक अन्य वस्तुएँ सम्मिलित हैं।

दोयम, सदाचार का अर्थ भी विभिन्न लोग विभिन्न प्रकार से करते हैं। कुछ लोग प्रात साय नहाना धोना, किसी को न छूना, इसे ही सदाचार कहते हैं, तो कुछ लोग ब्राह्मणों को जिमाना, दक्षिणा देना, पीपल को पानी देना, गाय को घास खिलाना, भगत-भिखारी को भोजन कराने को सदाचार कहते हैं। इसलिए 'धर्म' को 'सदाचार' कहना भी ठीक नहीं है।

'धर्म माने प्रभु भक्ति', इस व्याख्या को भी अपूर्ण ही समझना चाहिए। प्रथम तो प्रभु का स्वरूप विभिन्न प्रकार का माना गया है और दूसरे उसकी भक्ति करने की रीतियाँ भी विविध प्रकार की हैं। इसलिए प्रभु-भक्ति का सच्चा अर्थ लगा सकना भी एक पहेली है। दूसरे, धर्म का अर्थ मात्र प्रभुभक्ति करें तो ज्ञान, कर्म (सत्-क्रिया) आदि का समावेश किसमें करें ? प्रभु-भक्ति को धर्म का अंग मानने में अवश्य ही कोई बाधा नहीं है, लेकिन धर्म को प्रभु भक्ति मात्र कहना निश्चित् ही अनुचित है।

'धर्म यानी दान', इस कथन में भी अव्याप्ति-दोष है। यह व्याख्या धर्म के सब अगों को स्पर्श नहीं करती। उदाहरणत शील, तप और भाव भी धर्म के अग हैं। धर्म का अर्थ दान करने पर उनका समावेश कैसे होगा ?

'धर्म माने सुविचार', यह व्याख्या भी अव्याति दोष वाली है। अगर कोई आदमी इस व्याख्या के अनुसार केवल अच्छे विचार ही करता बैठा रहे, तो उसका उद्धार कैसे होगा ? सद्विचार के साथ सत्कर्म की भी आवश्यकता है। परन्तु, इस व्याख्या में उसका समावेश नहीं होता।

'धर्म माने ज्ञानोपासना' ऐसा अर्थ करने पर तो सब अनुष्ठानों, सब क्रियाओं या विधि-विधानों का निषेध हो जाता है, इसलिए यह भी स्वीकार करने योग्य नहीं है।

'धर्म माने कुलाचार', यह व्याख्या बड़ी सकुचित है और इसमे धर्म के नाम पर अधर्म हो जाने की आशका है। किसी का कुलाचार श्राद्ध के दिन भैंसा मारना हो, तो क्या वह धर्म कहलायेगा ? देश और जाति के अनुसार कुलाचार अनेक प्रकार का होता है और उसमे पारस्परिक विरुद्धता भी होती है। जिसे एक कर सकता है, उसे दूसरा नहीं कर सकता। जैसे किसी के कुलाचार के अनुसार बहू की पहली प्रसूति

पीहर में ही हो तो दूसरे के कुलाचार के अनुसार उसे पीहर भेजा ही नहीं जा सकता।

'शास्त्र के विधि निषेध ही धर्म हैं,' यह अर्थ भी सन्तोषकारक नहीं है, कारण कि शास्त्र अनेक प्रकार के हैं और उनके विधि निषेध भी तरह-तरह के होते हैं। जैसे, एक शास्त्र कहता है कि रात में भोजन नहीं करना, तो दूसरा शास्त्र कहता है कि चन्द्रमा के उदय होने पर विधि-पूर्वक भोजन करें। एक शास्त्र कहता है कि, योगसाधक को शरीर-सत्कार बिलकुल नहीं करना चाहिए, तब दूसरा शास्त्र कहता है कि योगसाधक को बराबर शरीर की सँभाल रखनी चाहिए और स्नान आदि नियमित करने चाहिए। इन विरोधी बातों में से किसे स्वीकार करें किसे न करें? इसलिए धर्म का अर्थ शास्त्रोक्त विधि निषेध पालन करना योग्य नहीं है।

कुछ दिनों पहले एक सामाजिक कार्यकर्ता ने समाज और देश के नेताओं को पत्र लिखकर धर्म का अर्थ पूछा था। उसके उपर्युक्त उत्तर आये थे। इससे समझा जा सकता है कि, जिन्हें समाज के 'बड़े आदमी' कहा जाता है, उन्होंने भी धर्म के अर्थ पर समुचित विचार नहीं किया।

धर्म का अर्थ

शब्द का अर्थ करने का काम वास्तव में बड़ा कठिन है। उसके लिए व्याकरण, कोश, परम्परा तथा विविध शास्त्रों का गहरा ज्ञान चाहिए। लेकिन, हमारे शास्त्रकार इस विषय में निपुण हैं, इसलिए उसका अर्थ यथार्थ रूप से कर सकते हैं और उसे ही हमें मान्य करना चाहिए।

शास्त्रीय शब्दों के अर्थ दिमागी तौर पर नहीं किये जा सकते। ऐसा करने से बड़ी गड़बड़ होती है और उत्सूत्र भाषण का दोषी बनना पड़ता है। कुछ दिन हुए, एक विद्वान ने पंचपरमेष्ठी के 'उपाध्याय' पद का अर्थ 'शिक्षक' किया था। उसे कौन मान्य करेगा? उपाध्याय का अर्थ तो

जिनागम, पढ़ानेवाला त्यागी साधु है और उसे वन्दना करने की बात कही गयी है। यदि उसका अर्थ 'शिक्षक' करें, तो गृहस्थावस्था में रहनेवाले सब शिक्षकों को वन्दना करनी होगी। उसका फल क्या होगा?

धर्म शब्द धृ धातु से बना है। और धृ धातु का अर्थ है—'धारण करना', 'धारण किये रहना'। उसे लक्ष्य में रखकर हमारे शास्त्रकारों ने कहा है कि **'जो प्राणियों को दुर्गति में गिरने से धारण किये रहे, उसे धर्म कहते हैं।'** यह व्याख्या कितनी स्पष्ट और सुन्दर है—जो विचारणा, मार्ग, विधिविधान, क्रिया या अनुष्ठान प्राणियों को दुर्गति या अधोगति या दुर्दशा में गिरने से रोके, बचाये, उसे धर्म कहते हैं।

यही नहीं कि, धर्म प्राणी को दुर्गति में जाने से बचाता है, बल्कि सद् गति की ओर ले जाता है। यह बात नीचे के श्लोक में स्पष्ट की गयी है—

दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्, यस्माद् धारयते पुनः।
धत्ते चैतान् शुभेस्थाने, तस्माद् धर्म इति स्मृतः॥

—दुर्गति की ओर जाते हुए जीवों का उद्धार करके उन्हें पुनः शुभ स्थान पर स्थापित करता है, इसलिए धर्म कहलाता है।

धर्म का लक्षण

हर वस्तु लक्षण से जानी जाती है। सज्जन, दुर्जन, चतुर, मूर्ख आदि लक्षण से ही जाने जाते हैं। कोई आदमी शक्ति होते हुए भी उद्यम न करता हो, आत्मश्लाघा करता हो, जुए से धन पाने की आशा रखता हो, शक्ति से ज्यादा काम हाथ में लेता हो, कर्ज लेकर घर बनाता हो, बूढ़ा होकर भी विवाह करता हो तो आप फौरन कहेंगे कि, यह बेवकूफ है। उसी प्रकार जो बिना अवसर बोलता हो, लाभ के समय कलह करता हो, भोजन के समय क्रोध करता हो, कामी लोगों के साथ स्पर्धा करने

धन उड़ाता हो, अहकारवश दूसरे के हितवचन न सुनता हो या कृतघ्न से प्रत्युपकार की आशा रखता हो तो उसे भी मूर्ख ही कहा जायगा।

मनुष्य की तरह धर्म भी उसके लक्षण से जाना जाता है। हमारे ज्ञानी पुरुषों ने धर्म को पहचानने के लिए कुछ लक्षण बताये हैं, उन्हें श्री शय्य भव सूरि महाराज ने श्री दशवैकालिक सूत्र की प्रारभिक गाथा में निम्न लिखित रूप में बतलाया है—

धम्मो मंगल मुक्किठ्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवावि तं नमसति, जस्स धम्मे सया मणा॥

—धर्म उत्कृष्ट मगल है। वह अहिंसा, सयम और तप लक्षण रूप है। ऐसा उत्तम लक्षणोंवाला धर्म जिसके मन में बसता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

यहाँ सूत्रों के विषय में कुछ कहना चाहते हैं। सूत्र थोड़े शब्दों में बहुत कहते हैं और उनका प्रत्येक वचन टकसाली होता है। उस पर ज्यों-ज्यों विचार किया जाये, त्यों-त्यों नया प्रकाश प्राप्त होता जाता है। ऊपर की गाथा भी ऐसी ही है। आज तक लाखों श्रमण श्रमणियों ने उनका अध्ययन किया है और उसमें से धर्म सम्बन्धी मूलभूत प्रश्नों का समाधान पाया है। हर एक मुमुक्षु के मन में पहला प्रश्न यह उठता है कि जगत् में उत्कृष्ट मगल क्या है? उसका उत्तर कि '**धम्मो मगलं मुक्किट्ठ**' (धर्म उत्कृष्ट मगल है,) इन शब्दों से मिल जाता है। आप पूछेंगे 'पचपरमेष्ठि नमस्कार' को भी उत्कृष्ट मगल कहते हैं, वह क्यों? इसका उत्तर यह है कि, पचपरमेष्ठी को किया जानेवाले नमस्कार भी धर्म क्रिया है और धर्म है। इसीलिए उसे उत्कृष्ट मगल कहते हैं। यदि उसमें धर्मत्व अथवा धर्म भाव न होता तो उसे उत्कृष्ट मगल न कहते। उसमें धर्म की उत्कृष्ट मगलता है।

मुमुक्षुओं के मन में, दूसरा प्रश्न यह उठता है कि, 'दुनिया में बहुत से

धर्म फैले हुए हैं, तो क्या उनमें से हर एक को उत्कृष्ट मगल-रूप समझें ?' इसका उत्तर **'अहिंसा संजमो तवो'** (अहिंसा, सयम और तप) से मिल जाता है। हर धर्म उत्कृष्ट मगलरूप नहीं है, जिस धर्म में अहिंसा, सयम और तप है, वही उत्कृष्ट मगलरूप है और इसलिए उसी का अनुसरण करना चाहिए।

मुमुक्षु के मन में तीसरा प्रश्न यह उठता है कि, 'इस धर्म के पालन करने का फल क्या है ?' इसका उत्तर **'देवावि तं नमसति जस्स धम्मे सया मणो'** इन शब्दों में मिल जाता है कि, 'जो ऐसे उत्तम धर्म का पालन करता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।' जब देव भी नमस्कार करें, तो मनुष्यों का तो कहना ही क्या ! अर्थात्, वह विश्व-वन्दनीय होकर अपना जन्म सफल कर लेता है।

इससे धर्म की शक्ति और असाधारणता का अनुमान लगाया जा सकता है। पारसमणि लोहे को सोना बना देती है, पर धर्म तो कनिष्ठ मनुष्य को राजराजेश्वर देवाधिदेव बना देता है। सत दृढ़प्रहरी की कथा सुनिए, उससे आपको इस बात की प्रतीति हो जायगी—

सन्त दृढ़प्रहारी की कथा

ब्राह्मण का एक लड़का था। उसका नाम दुर्धर था। वह बचपन से आवारा लड़कों के साथ में पड़ गया। वह सारे दिन जुआ खेलता। माता-पिता ने उसे बहुत समझाया—"तू जुआ खेलना छोड़ दे। जुए से बड़े बड़े भूपतियों का पतन हो गया तो तू किस बिसात म है ? जुआ आपदाओं का घर है, वह तुझे नष्ट कर देगा।" लेकिन, दुर्धर ने उनका कहना नहीं माना। जब भाग्य दुर्बल होता है, तो किसी के भी हितकर वचन असर नहीं करते।

जुए के लिए पैसे की बारबार जरूरत होने लगी, इसलिए वह चोरी

करने लगा। पर, चोरी कहाँ तक चलती ? एक बार वह पकड़ा गया और राजा के सामने पेश किया गया। राजा ने उसे देशनिकाला दे दिया।

उन दिनों रिवाज यह था कि, जिसका देशनिकाला करते उसके सर के बाल साफ कर देते, उस पर चूना लगाते।

गले में जूतों का हार पहनाते, और उसे गधे पर बैठाकर उसे नगर से बाहर ले जाते। वहाँ से उसे देश छोड़कर चला जाना पड़ता।

घूमता फिरता वह एक अटवी में पहुँचा। वहाँ उसे चोरों ने ले जाकर अपने सरदार के सामने पेश किया। सरदार आदमी का पारखी था। उसने दुर्धर के लक्षणों से जान लिया कि, यह आदमी हमारे काम का है। उसने दुर्धर की इच्छा पूछी। उसने कहा कि, 'अगर आप मुझे अपने साथ रखना चाहते हैं, तो मैं रहने को तैयार हूँ।'

उस दिन से दुर्धर चोरों के साथ रहने लगा और उनके बताये हुए तमाम काम करने लगा। इससे सरदार बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने उसे अपना पुत्र बनाकर चोरों का राजा बना दिया।

दुर्धर बड़ा साहसी था। बड़ी बड़ी चोरियाँ करता तथा डाके भी डालता। जो उसका सामना करता उसका वह सर उड़ा देता। उसका प्रहार कभी खाली नहीं जाता था, इसलिए उसका नाम दृढ़प्रहारी पड़ गया।

एक बार उसने कुशस्थल नगर पर डाका डाला। वह नगर सैनिकों से रक्षित था। इसलिए, उसे लूटना आसान नहीं था। पर, दृढ़ प्रहारी ने अपने साथ बहुत से जाँबाज चोर ले लिये। उन्होंने सैनिकों को मार भगाया और नगर में निर्द्वन्द्व लूटपाट प्रारम्भ कर दी।

उस समय एक चोर एक ब्राह्मण के घर में घुसा। ब्राह्मण बहुत गरीब था और भिक्षाचरी से निर्वाह करता था। उसके घर में लूटने योग्य कुछ नहीं था। पर, उस रोज बालकों के हठ करने पर माँग जाँच कर ब्राह्मण

ने खीर की सामग्री इकट्ठी की थी और ब्राह्मणी ने खीर बनायी थी। और, कुछ नहीं तो खीर ही ठीक है, यह सोचकर चोर ने खीर का बरतन उठाया।

यह देखकर ब्राह्मण को बहुत बुरा लगा। अपने लड़के टुकुर टुकुर देखते रह जायें और एक अधम उन्हें वंचित कर जाये, यह विचार उसे असह्य हो उठा। वह चोर के मुकाबले पर खड़ा हो गया और गुत्थमगुत्थ होने लगी। इतने में दृढप्रहारी वहाँ आ पहुँचा। उसने अपनी तलवार खींची और एक ही वार में ब्राह्मण का सर धड़ से अलग कर दिया।

पति की एकाएक निर्मम हत्या होते देखकर, ब्राह्मणी विचलित हो उठी और लड़के थरथर काँपने लगे। पास ही ब्राह्मण की गाय बँधी हुई थी। ब्राह्मण उसके प्रति अत्यन्त ममता रखता था। वह उसका शिरच्छेद देखकर फुनफुना उठी और बन्धन तोड़कर दृढप्रहारी का सामना करने लगी। (जानवरों में भी मालिक के प्रति कैसी वफादारी होती है यह देखिये!) परन्तु, सामने यम सरीखा दृढप्रहारी खड़ा था। उसने गाय को आता देखा तो तलवार से उसका भी सर धड़ से अलग कर दिया।

प्यारे पति और प्रिय गाय की हत्या देखकर, ब्राह्मणी भड़क उठी और वह गालियाँ देती हुई दृढ़प्रहारी को मारने दौड़ी। भड़की हुई हालत में आदमी आगे-पीछे का विचार नहीं कर सकता। हिरनी बाघ का सामना करे तो नतीजा क्या आयेगा? दृढप्रहारी ने उसके पेट में तल्वार घुसेड़ दी। वह जमीन पर आ पड़ी। ब्राह्मणी गर्भवती थी। उसके गर्भ का लोचा बाहर निकल आया।

यह दृश्य देखकर दृढप्रहारी का हृदय हिल उठा। वह सोचने लगा—'यह मैंने क्या किया? एक साथ चार हत्याएँ! और वह भी ब्राह्मण, गाय, स्त्री और बालक की!! मैंने सचमुच बड़ा पाप किया! मुझ जैसा पापी, अधम, दुष्ट हत्यारा और कौन होगा? मैंने दुष्टता की हद कर दी!'

वह ऐसे विचार करता हुआ, अपने साथियों के साथ कुशस्थल छोड़कर चला गया। मगर वह करुण दृश्य उसकी नजरों से दूर नहीं हुआ। वह अपने दुष्ट कृत्य की बारबार निन्दा करने लगा। उसका हृदय पिघलने लगा और आँखों से पश्चात्ताप के आँसू झरने लगे।

पश्चात्ताप में भी अद्भुत् शक्ति होती है। वह वज्र हृदय को भी पुष्प-कोमल बना देता है। कवि कलापी ने कहा है कि, 'पश्चात्ताप का विपुल झरना स्वर्ग से उतरा है। पापी उसमें डुबकी लगाकर पुण्यशाली बनते हैं!'

आगे चलकर जंगल आया। वहाँ एक तपस्वी ध्यानी मुनि उसकी नजर आये। वह उनके पास गया और उनके चरण पकड़कर फूट फूटकर रोने लगा। मुनिवर ने कहा—"वत्स, शांत हो! इतना शोक-सन्ताप क्यों करता है?"

दृढ़प्रहारी ने कहा—"प्रभो! मैं महा अधम, पापी, हत्यारा हूँ। आज अकिंचित कारणवश ब्राह्मण, गाय, स्त्री और बालक की हत्या कर दी। अब मेरा क्या होगा? हे कृपालु! मुझे बचाओ, मेरी रक्षा करो!"

मुनिवर ने कहा—"महानुभाव! जो हुआ सो हुआ। अब भविष्य में ऐसी भूल न करने के लिए तैयार हो तो मार्ग निकल सकता है। श्री जिनेश्वर भगवतों ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों का उत्तम शील बताया है। तू उसे धारण कर और सब पापों से मुक्त होकर पवित्र हो जा।"

मुनिवर के इन वचनों से दृढ़प्रहारी का समाधान हुआ और उसने पंचमहाव्रतों से सुशोभित उत्तम शील धारण किया। अपरिग्रह को तो यहाँ तक धारण किया—"जब तक मुझे ये चार हत्याएँ याद आती रहेंगी, तब तक अन्न जल ग्रहण नहीं करूँगा।" महानुभावो! निर्ग्रन्थमुनि तपश्चर्या के लिए अनेक प्रकार के अभिग्रह धारण करते हैं। परन्तु, ऐसा अभिग्रह अत्यन्त उग्र है। किसी चीज की याद दूर करने के लिए कितने उच्चकोटि का

ने खीर की सामग्री इकट्ठी की थी और ब्राह्मणी ने खीर बनायी थी। और, कुछ नहीं तो खीर ही ठीक है, यह सोचकर चोर ने खीर-का बरतन उठाया।

यह देखकर ब्राह्मण को बहुत बुरा लगा। अपने लड़के टुकुर टुकुर देखते रह जायें और एक अधम उन्हें वंचित कर जाये, यह विचार उसे असह्य हो उठा। वह चोर के मुकाबले पर खड़ा हो गया और गुत्थमगुत्थ होने लगी। इतने में दृढप्रहारी वहाँ आ पहुँचा। उसने अपनी तलवार खींची और एक ही वार में ब्राह्मण का सर धड़ से अलग कर दिया।

पति की एकाएक निर्मम हत्या होते देखकर, ब्राह्मणी विचलित हो उठी और लड़के थरथर काँपने लगे। पास ही ब्राह्मण की गाय बँधी हुई थी। ब्राह्मण उसके प्रति अत्यन्त ममता रखता था। वह उसका शिरच्छेद देखकर फुनफुना उठी और बन्धन तोड़कर दृढप्रहारी का सामना करने लगी। (जानवरों में भी मालिक के प्रति कैसी वफादारी होती है यह देखिये !) परन्तु, सामने यम सरीखा दृढप्रहारी खड़ा था। उसने गाय को आता देखा तो तलवार से उसका भी सर धड़ से अलग कर दिया।

प्यारे पति और प्रिय गाय की हत्या देखकर, ब्राह्मणी भड़क उठी और वह गालियाँ देती हुई दृढ़प्रहारी को मारने दौड़ी। भड़की हुई हालत में आदमी आगे-पीछे का विचार नहीं कर सकता। हिरनी बाघ का सामना करे तो नतीजा क्या आयेगा ? दृढप्रहारी ने उसके पेट में तलवार घुसेड़ दी। वह जमीन पर जा पड़ी। ब्राह्मणी गर्भवती थी। उसके गर्भ का लोचा बाहर निकल आया।

यह दृश्य देखकर दृढ़प्रहारी का हृदय हिल उठा। वह सोचने लगा—'यह मैंने क्या किया ? एक साथ चार हत्याएँ ! और वह भी ब्राह्मण, गाय, स्त्री और बालक की !! मैंने सचमुच बड़ा पाप किया ! मुझ जैसा पापी, अधम, दुष्ट हत्यारा और कौन होगा ? मैंने दुष्टता की हद कर दी।'

वह ऐसे विचार करता हुआ, अपने साथियों के साथ कुशस्थल छोड़कर चला गया। मगर वह करुण दृश्य उसकी नजरों से दूर नहीं हुआ। वह अपने दुष्ट कृत्य की बारबार निन्दा करने लगा। उसका हृदय पिघलने लगा और आँखों से पश्चात्ताप के आँसू झरने लगे।

पश्चात्ताप में भी अद्भुत् शक्ति होती है। वह वज्र हृदय को भी पुष्प-कोमल बना देता है। कवि कलापी ने कहा है कि, 'पश्चात्ताप का विपुल झरना स्वर्ग से उतरा है! पापी उसमें डुबकी लगाकर पुण्यशाली बनते हैं!"

आगे चलकर जगल आया। वहाँ एक तपस्वी ध्यानी मुनि उसकी नजर आये। वह उनके पास गया और उनके चरण पकड़कर फूट फूटकर रोने लगा। मुनिवर ने कहा—"वत्स, शात हो! इतना शोक-सन्ताप क्यों करता है?"

दृढ़प्रहारी ने कहा—"प्रभो! मैं महा अधम, पापी, हत्यारा हूँ। आज अकिंचित कारणवश ब्राह्मण, गाय, स्त्री और बालक की हत्या कर दी। अब मेरा क्या होगा? हे कृपालु! मुझे बचाओ, मेरी रक्षा करो!"

मुनिवर ने कहा—"महानुभाव! जो हुआ सो हुआ। अब भविष्य में ऐसी भूल न करने के लिए तैयार हो तो मार्ग निकल सकता है। श्री जिनेश्वर भगवतों ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों का उत्तम शील बताया है। तू उसे धारण कर और सब पापों से मुक्त होकर पवित्र हो जा।"

मुनिवर के इन वचनों से दृढप्रहारी का समाधान हुआ और उसने पचमहाव्रतों से सुशोभित उत्तम शील धारण किया। अपरिग्रह को तो यहाँ तक धारण किया—"जब तक मुझे ये चार हत्याएँ याद आती रहेंगी, तब तक अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा!" महानुभावो! निर्ग्रन्थमुनि तपश्चर्या के लिए अनेक प्रकार के अभिग्रह धारण करते हैं। परन्तु, ऐसा अभिग्रह अत्यन्त उग्र है। किसी चीज की याद दूर करने के लिए कितने उच्चकोटि का

ध्यान और तप चाहिए ! परन्तु, भावुक सत दृढ़प्रहारी ने ऐसा उग्र अभिग्रह धारण किया और कुशस्थल नगर के दरवाजे पर आकर ध्यान-मग्न हो गये।

उस नगर को उनने और उनके साथियों ने बुरी तरह लूटा था, इस लिए लोग उन्हें देखकर मनमानी बातें कहने लगे। कोई उन्हें धूर्त कहता, तो कोई ढोंगी ! लोगों ने उनपर ईंट-पत्थर धूल की वर्षा तक की। पर, वे अपने दृढ़ सकल्प से जरा भी विचलित नहीं हुए। जब ईंट-पत्थरों का ढेर नाक तक पहुँच गया, तब वे उससे बाहर निकल कर नगर के दूसरे दरवाजे पर ध्यानस्थ हो गये। वहाँ भी लोगों ने उनकी वही हालत थी। लोकसमूह का अर्थ भेड़ियाधसान है। एक के बाद दूसरा वही करता गया। वहाँ भी जब ईंट पत्थरों का ढेर नाक तक आ गया, तो उससे भी निकलकर तीसरे दरवाजे पर आ गये। इस तरह ६ महीने तक उस नगर में घोर तप करते रहे। तब उनकी आत्मा की पूर्ण शुद्धि हो गयी और उन्होंने अद्वितीय केवलज्ञान प्राप्त किया।

अब लोग समझ गये कि, दृढ़प्रहारी ढोंगी या धूर्त नहीं है, बल्कि एक सच्चे सन्त और महात्मा हो गये हैं। वे उनकी वन्दना करने लगे और उनकी चरणरज मस्तक पर धारण करने लगे।

धर्म की परीक्षा

महानुभावो ! शास्त्रकारों ने उत्तम धर्म के जो तीन लक्षण बताये हैं। उन्हें सदा ध्यान में रखिये। जब कोई वस्तु धर्म के रूप में आपके सामने पेश हो, तो पहले यह देखिये कि, उसमें अहिंसा का स्थान क्या है ? अगर वह हिंसा का समर्थक नहीं है, तो उसे अपने लिए अनुपयोगी समझिये। प्राणियों को यज्ञ में होमना, देव देवियों को प्रसन्न करने के लिए प्राणियों की बलि देना, जीव हिंसा करना, ये सब हिंसा के रूप हैं। पर, इन्हें धर्म के नाम पर

कहा जाता है, इसलिए धर्म की परीक्षा करते समय सावधान रहना चाहिए।

धर्म में दूसरी चीज जो आपको देखनी चाहिए वह संयम है। अगर उसमें किसी न किसी प्रकार से मौज शौक या भोग विलास की छूट दी गयी हो, या इन्द्रियदमन पर विशेष बल न दिया गया हो, तो उस धर्म को श्रेयस्कर न समझना।

धर्म में तीसरी चीज तप देखनी चाहिए। अगर उसमें तप पर विशेष जोर न दिया गया हो तो वह कर्मनाश नहीं कर सकता। कुछ लोग कायिक तप को निरर्थक मानकर सिर्फ मानसिक तप पर जोर देते हैं। उनकी जीवनचर्या इस श्लोक में दिखलायी गई है—

मृद्वीशय्या प्रातरुत्थाय पेया, मध्ये भक्तं पानकं चापराह्णे।
द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्धरात्रे, मुक्तिश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टा॥

—कोमल शय्या पर सोना, सुबह उठकर दूध या रबड़ी पीना, दोपहर को पूरा भोजन करना, पिछले पहर मदिरापान करना और आधी रात को द्राक्ष और शक्कर का उपयोग करना, ऐसे धर्म से मुक्ति मिलती है, यह शाक्यपुत्र ने देखा।'

महानुभावो! धर्म को पहिचानने की यह मुख्य चाभी है और वह ज्ञानी भगवतों ने हमें दे दी है। इसलिए उसका उपयोग करते रहेंगे तो आपको उत्तम सत्य धर्म की प्राप्ति होगी और उसके द्वारा संसारसागर पार हो जायेंगे।

विशेष अवसर पर कहा जायगा।

सैंतीसवाँ व्याख्यान

धर्म का आराधन

[१]

महानुभावो !

कर्म भी ढाई अक्षर का और धर्म भी ढाई अक्षर का, पर इन ढाई अक्षर के इन दो शब्दों के काम में कितना अन्तर है ! कर्म आत्मा को नीचे गिराता है, उसे सताता है और भयकर भव-अटवी में बारबार भ्रमण कराकर विविध प्रकार के दुःखों का अनुभव करता है, जबकि धर्म आत्मा को ऊँचा चढ़ाता है, अत्यन्त आनन्द देता है और अक्षय-अनन्त—अपार सुखमय सिद्धिसदन की सैर कराता है !

कर्म और धर्म के उत्तर के डेढ़ अक्षर तो समान ही हैं। अन्तर मात्र प्रारम्भ के एक अक्षर में है। पर, यह एक अन्तर दोनों के सम्पूर्ण रूप को ही बदल देता है। 'भक्षण' और 'रक्षण' तथा 'मरण' और 'शरण' में मात्र प्रथम अक्षर के अन्तर से उनके स्वरूप में कितना अन्तर पड़ जाता है ? एक में मानव का भक्षण और नाश है और दूसरे में उसका रक्षण और बचाव है। एक में मनुष्य का मरण अर्थात् इस जीवन का अन्त है तो दूसरे में शरण अथवा जीवन की सुरक्षा है। दो मनुष्य की एक समान पीठ होने पर भी उनकी आकृति में भेद सम्भव है और उससे उनके व्यक्तित्व में ही अन्तर आ जायेगा। कर्म और धर्म की भी बात ऐसी ही है।

कर्म को धर्म नहीं सुहाता और धर्म को कर्म नहीं सुहाता। इसका कारण यह है कि, दोनों की दिशा ही पूर्णतः भिन्न है, उनका मार्ग और

कर्त्तव्य सब भिन्न है। स्वभाव ही जिसका विरुद्ध हो वह भला क्यों भला लगे? स्वाद में भले ही अच्छा हो, पर उसे घोड़े के सामने तो रखें, या शक्कर मीठी होने पर भी यदि उसे गधे के सामने रखें तो क्या होगा? स्वभाव विरुद्ध होने से यह उन्हें नहीं रुचता। वधकर्ता को दया की बात अथवा वेश्या को शील की बात भला क्या रुचेगी?

कर्म स्वभाव से कौरवों के समान हैं। वे कुटिल नीति आजमाते रहते हैं। वे आत्मा को शांत नहीं बैठने देते। जब आत्मा धर्म करने जाता है तो वे बाधक होते हैं और धर्म नहीं करने देते। आप व्याख्यान सुनने आते हैं और ऊँघने लग जाते हैं, यह कर्म की करामात है। अथवा, आप किसी गरीब की मदद करना चाहते हैं, पर रुक जाते हैं, यह भी कर्म की करामात है। आपने अर्से से तीर्थयात्रा का विचार कर रखा हो, पर बीबी या बच्चे बीमार पड़ जाते हैं, व्यापार की बड़ी उपाधि के कारण या सगे-सम्बन्धियों के किसी काम से रुक जाना पड़ता है, इसमें भी कर्म की कुटिलता ही कारणभूत है।

धर्म सत्ता अति बल्वान है, यह बात आपने अब तक अनेक बार सुनी है और उसे सुन सुनकर हताश, पस्त हिम्मत, भी हुए हैं; कि ऐसी प्रबल सत्ता के सामने हमारा क्या वश चलेगा? परन्तु आज जान लीजिए कि, कर्मसत्ता से धर्मसत्ता अधिक बलवान है। जरासंध बलवान था, पर कृष्ण उससे अधिक बलवान थे। रावण से लक्ष्मण अधिक बलवान था। तभी तो जरासंध कृष्ण के हाथों और रावण लक्ष्मण के हाथों मारा गया।

धर्मसत्ता अधिक बलवान है, ऐसा जान जाने के बाद आप उसकी प्रतिष्ठा करते हैं। उगते सूर्य को सभी पूजते हैं, अस्त होते सूर्य को कोई नहीं पूजता। एक बार आप राजाओं के सामने नतमस्तक होते थे, पर अब उसे देखकर सर नहीं झुकाते। इसका कारण यह है कि, आज उनकी सत्ता समाप्त हो चुकी है। आज तो कोई मिनिस्टर

आनेवाला हो तो आप विशेष धूम-धाम और मान-सम्मान करते हैं। तथा प्रयत्न करते हैं कि, उसके साथ आपका सम्पर्क बढ़े। पर, कल जब वह मिनिस्टर कुर्सी छोड़ देता है तो भी क्या आप उसके आगमन पर धूमधाम करेंगे?

अगर कर्म का वश चले तो एक भी आत्मा को अपनी जकड़ से मुक्त न होने दे, लेकिन धर्म की शक्ति के सामने वह लाचार हो जाता है। धर्म-सत्ता कर्मसत्ता को नष्ट कर देती है और आत्मा को कर्मबन्धन से छुड़ाकर पूर्णरूप से स्वतंत्र कर देती है।

महानुभावो! आपने कर्म की दोस्ती बहुत दिनों की, पर उसका कोई अच्छा परिणाम आपको नहीं मिला। अब धर्म की दोस्ती करके देखिये कि, उसका परिणाम कैसा सुन्दर आता है!

धर्म की मैत्री करने से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, सम्यक्त्व की दृढता होती है और विरति के परिणाम जाग्रत होते हैं, जिससे सयम और तप की आराधना सुलभ होती है। सयम की आराधना से कर्म के आगमन पर कड़ा पहरा बैठ जाता है और वह आत्मा मे प्रवेश नहीं कर सकता। और, तप की आराधना से आत्मा में घुसे हुए कर्म नष्ट होने लगते हैं। सब कर्मों के नष्ट हो जाने पर आपकी आत्मा परमात्मा हो जाती है और उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, क्षायकसम्यक्त्व तथा अनन्त वीर्य आदि गुण प्रकट हो जाते हैं।

किसी श्रीमन्त अथवा बड़े अधिकारी से मैत्री करनी होती है तो आप उससे अनेक बार मिलते हैं, बात-चीत करते हैं, उसके साथ बैठकर चाय पानी पीते हैं। उसके साथ रहने के लिए आप प्रसग उत्पन्न करते हैं और उसका सहवास प्राप्त करते हैं। पर, धर्म की सगत के लिए कोई भी इस प्रकार प्रयास करता नहीं दिखता।

बाल्यकाल में विचारशक्ति विशेष विकसित नहीं होती, इसलिए

कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान न होने से लगभग सारा समय खेलकूद में नष्ट हो जाता है। पूर्व भव की किसी सस्कारी आत्मा को उस समय धर्म करने का विचार आता है, तो माता पिता मोहवश उसके धर्माराधन में बाधक हो उठते हैं। बाल्यकाल में किसी पुण्यशाली आत्मा की दीक्षा लेने की भावना होती है, तो तुरत शोर मचने लगता है—"आठ-नौ वर्ष के बालक को दीक्षा कैसे दी जा सकती है? जब पढ़ लिख कर अठारह वर्ष का होगा, तब दीक्षा लेने की भावना होगी तो दी जा सकती है।"

बालदीक्षा के विरुद्ध बड़ौदा राज्य में पहले एक 'बिल' उपस्थित किया गया था। उसके कानून बन जाने पर बड़ौदा-सरकार ने बाल-दीक्षा पर रोक लगा दी थी। पर, बड़ौदा-राज्य के विलय के साथ ही यह कानून भी समाप्त हो गया।

उसके बाद अहमदाबाद के प्रभुदास बालूभाई पटवारी ने ऐसा ही एक 'बिल' बम्बई की धारा-सभा में उपस्थित किया। उस समय उसके सम्मुख कैसा प्रबल विरोध हुआ, यह आप जानते ही होंगे। वह 'बिल' लोकमत जानने के लिए वितरित किया गया और उसके विरुद्ध इतने मत आये कि, 'बिल' सरकार की सलाह से समाप्त हो गया।

फिर, पजाब के दीवानचन्द्र शर्मा ने इसे लोकसभा में उपस्थित किया, वहाँ पक्ष-विपक्ष में बहुत-कुछ कहा गया और अन्त में यह निश्चित हुआ कि, बाल-दीक्षा रोकने के लिए फिलहाल किसी कानून की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार यह 'बिल' रद्द कर दिया गया।

शास्त्र में आठ वर्ष से कम उम्रवाले को दीक्षा देने की मनहाई की गयी है, कारण कि उससे दीक्षा का यथार्थ पालन नहीं हो सकता। लेकिन, आठ वर्ष की उम्र का बालक दीक्षा के लायक लगे तो उसे दीक्षा देने की मनहाई नहीं है। जिन शासन में ऐसी अनेक दीक्षायें हुई हैं। श्री हेम

चन्द्रसूरि, श्री जिनचन्द्रसूरि (खरतरगच्छ), श्री देवसूरि, श्री महेन्द्र सिंह सूरि (अचलगच्छ), श्री सोमप्रभसूरि, श्री जिनचन्द्रसूरि, (ख०) श्री जिनकुशलसूरि (ख०), श्री सिंहतिलकसूरि, श्री ज्ञान सागरसूरि, श्री कुलमडनसूरि, श्री जयकीर्तिसूरि, श्री हीरविजयसूरि, श्री ज्ञानविमलसूरि, श्री विजयरत्नसूरि आदि बाल दीक्षित ही थे। उन्होंने बाल्यावस्था में धर्म का सुन्दर आराधन करके अपना ससार अल्प बनाया था।

वैदिक धर्म में भी ध्रुव, प्रह्लाद, शकराचार्य, नामदेव आदि ने बाल्यावस्था में विरक्त होकर ईश्वर भक्ति की थी।

बालक को अगर बचपन से ही धर्म के सस्कार दिये जायें, तो वह व्रत-नियम तप बड़ी अच्छी तरह कर सकता है। सस्कारी कुटुम्बों म बालक ६-७ वर्ष की उम्र म चौविहार करते हैं, मातापिता के साथ सामायिक करने बैठ जाते हैं, नियमित देवदर्शन करने जाते हैं और पर्व दिवसों में उपवास भी करते हैं। छोटी उम्र के बालकों के अट्ठाई जैसी तपस्या करने के उदाहरण आज भी मौजूद हैं। इससे आप समझ सकते हैं कि, 'बालक धर्म म क्या समझे?' यह कहनेवाले कितनी गलती पर हैं।

जिन्होंने अपने जीवन में धर्म को मित्र नहीं बनाया, इन्द्रियों के एक भी विषय को नहीं जीता और सयम तथा तप के प्रति अनुराग प्रकट नहीं किया, वे ही आज यह कहने बाहर निकल पड़े हैं कि, "बालक धर्म के सम्बन्ध में क्या समझे? बालक से धर्मपालन हो ही नहीं सकता?" परन्तु, यह विधान तो ऐसा ही है, जैसे कोई मछलीमार कहे कि, 'जगत् म जीव दया पालना शक्य ही नहीं है।' अथवा कोई व्यभिचारी पुरुष कहे कि 'इस दुनिया मे ब्रह्मचर्यपालन सभव नहीं है।' सुज्ञ पुरुष ऐसे धर्महीन वचन बोलनेवालों का किसी तरह से विश्वास कैसे कर सकते हैं?

अगर, धर्म को आप कल्याणकारी मित्र मानते हों तो अपने बालकों को बचपन से ही उसका परिचय और मैत्री कराइये और यथाशक्ति आराधन कराइये। धर्म-प्रिय, धर्म सस्कारी कुटुम्ब में जन्मा हुआ बालक अगर धर्म न पाले तो मानो वह भरे सरोवर में प्यासा रहा। इसमें जीवन की सार्थकता क्या है?

महानुभावो! काल कब आयेगा और किस तरह आयेगा यह हम नहीं जानते। ऐसे सयोगों में धर्मपालन को बड़ी उम्र पाने तक स्थगित रखने को बुद्धिमानी कैसे माना जा सकता है?

अगर, बालकों के प्रति आप सच्चा स्नेह रखते हैं तो उन्हें सिर्फ नहलाने-धुलाने, खिलाने पिलाने, पहनाने-उढ़ाने में ही सन्तोष न मानें। उन्हें कुछ धर्म करना भी सिखायें, ताकि उनका भविष्य सुधरे और उनका आपके यहाँ जन्म लेना सार्थक हो।

यौवन में आपका अधिकाश समय विषयासक्त रहने में बीतता है और आप मुख्य साधन रूप द्रव्य की प्राप्ति में व्यस्त रहते हैं। व्यवहार की बातों के सामने आपको धर्म से मैत्री करने का अवसर ही नहीं रहता। उस समय आप सोचते हैं—"अभी तो मौज शौक कर लूँ—वृद्धावस्था में धर्म चिन्तन करूँगा।" परन्तु, आप वृद्ध होंगे, इसे जानता कौन है? आप अपने सगे-सम्बधी, हित-मित्र से पूछें कि, उनमें कितने ही जवानी में ही चलते बने। रात को स्वस्थ व्यक्ति सोता है, सुबह सोकर नहीं उठता। लोग पूछते हैं कि, क्या हुआ? तो उत्तर मिलता है—"हार्टफेल कर गया! मौज-शौक में अरमान ही अधूरा रह गया!" उस समय भला आत्मा की क्या दशा होती होगी?

दूसरों की ही यह दशा होगी, मेरी न होगी, यह मानने का कोई कारण नहीं है। अत धर्म चिन्तन स्थगित रखने का कोई अर्थ नहीं है। काल का डका अहर्निश बज रहा है—फिर भी मनुष्य समझता नहीं!

शास्त्रकार कहते हैं —

जहेह सिंहो य मिगं गिहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अंतकाले।
न तस्स माया न पिया व माया,
कालम्मि तस्स सहरा भवन्ति ॥

—जैसे सिंह हिरनों की टोली में घुसकर किसी हिरन को लेकर चल देता है, उसी तरह मृत्यु भी अन्तकाल में कुटुम्बीजनों में कूदकर उनमें से किसी जन को पकड़कर चल देती है। उस समय पत्नी, पिता या माता कोई भी उसके सहायक नहीं होते।

जो अनेक प्रकार की वासनाओं से घिरे रहकर मरण पाते हैं, उनकी गति कैसे सुधर सकती है? उसके लिए तो शुरू से धर्म से दोस्ती करनी चाहिए और आत्मा को शुभ लेश्यावाला बनाना चाहिए।

आजकल युवकों की स्थिति खोखली है। एक तो उनमें धर्म के संस्कार नहीं होते, दूसरी ओर भौतिकवाद का जबरदस्त आकर्षण होता है। इसलिए, वे अक्सर भौतिकवाद की ओर खिंच जाते हैं। वहाँ उन्हें क्या मिलता है—देह, वस्त्र, आभूषण, सुन्दर निवास स्थान, बाग बगीचा, गान तान, पर ये सब कुछ दिनों तक अच्छे लगते हैं। बाद में, वे आनन्द नहीं दे पाते। भौतिकवाद की बड़ी कमी यह है कि, वह चित्त को शांति दे सकने में असमर्थ है—हालाँकि शांति की ही हर मनुष्य को खास जरूरत है। इसलिए, जवानों को दूसरे झझट छोड़कर धर्माराधन में मन लगाना चाहिए। कहा है कि—

व्याकुलेनापि मनसा, धर्मः कार्यो निरन्तरम्।
मेढीबद्धोपि हि भ्राम्यन्, घासग्रास करोति गौ ॥

—मन अनेक प्रकार की आधि, व्याधि और उपाधि से व्याकुल हो

तो भी निरन्तर धर्म करते रहना चाहिए। जैसे तेली की घानी से बँधा हुआ बैल चलता चलता भी घासचारा चरता रहता है।

प्राय लोग यह कहते हैं कि, बुढ़ापे में 'गोविन्द-गुण गायेंगे'। पर उस समय तो इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, शरीरबल घट जाता है, दाँत गिर जाते हैं, कानों से कम सुनाई देने लगता है, आँखों से कम दिखाई देने लगता है, कमर झुक जाती है, लकड़ी के सहारे के बिना चला नहीं जाता, खाना बराबर हज्म नहीं होता, कफ आदि का उपद्रव बढ़ जाता है, और भी दूसरे रोग आ घेरते है। उपरात अनेक प्रकार की चिन्ताएँ घेरे रहती हैं। ऐसी हालत में धर्म का आराधन कैसे हो? आराधन तो दूर—एकाग्रचित्त होकर धर्मश्रवण तक नहीं होता। बहुतों का हाल तो गोमती-डोसी (बुढ़िया) जैसा होता है।

गोमती-डोसी का दृष्टान्त

श्रीपुर-नामक एक नगर था। उसमें बसु-नामक एक सेठ रहता था। उसके गोमती नामक स्त्री थी और धनपाल नामक पुत्र था। आयुष्य की डोरी टूटने पर बसु सेठ मरण को प्राप्त हुए और घर का सारा भार गोमती-डोसी पर आ पड़ा। इस बुढ़िया की वाणी बड़ी कड़वी थी, इसलिए, पुत्रवधू के साथ रोज तकरार होती थी। इससे उकता कर एक बार धनपाल ने कहा—"माँजी, अब तो आपके धर्म करने के दिन हैं, इसलिए सब चिन्ता फिक्र छोड़कर धर्मकथा सुनो। कल से हमारे यहाँ एक बहुत अच्छा पण्डित कथा बाँचने आयेगा।" और, उसने पण्डित का इन्तजाम कर दिया।

दूसरे दिन पण्डितजी महाभारत की पोथी लेकर गोमती डोसी के घर आये और एक ऊँचे आसन पर विराजमान हुए। गोमती सुनने बैठी। तब पण्डितजी ने बाँचना शुरू किया—"**भीष्म उवाच**—भीष्म बोले।" तब कथा सुनने बैठी गोमती का ध्यान खिड़की में खड़े हुए कुत्ते की तरफ

गया कि, वह उठ खड़ी हुई और हाथ में लकड़ी लेकर 'हड़हड़' करती उसके पास गयी और उसे एक लकड़ी लगाया। फिर, लकड़ी को ठिकाने रखकर कथा सुनने बैठी।

पडितजी ने फिर शुरुआत की—**भीष्म उवाच** कि, डोसी की नजर रसोई पर पड़ी। वहाँ एक बिल्ली चुपके से दूध की तपेली की ओर जा रही थी। यह देखते ही डोसी भड़कने लगी—"यह राँड तो सारा दूध पी जायेगी। कोई बराबर ध्यान ही नहीं देता।" फिर, बिल्ली को भगाकर, चीजों को ढाँकढूँक कर वापस आकर अपने आसन पर बैठ गयी।

डोसी थोड़ी देर के लिये स्थिर बैठे तो पडित जी कथा आगे चलायें। पर, डोसी का चित्त घर में चारों तरफ घूमता था, इसलिए स्थिर नहीं बैठती थी। तीसरी बार पडितजी ने शुरू किया—**भीष्म उवाच**—कि डोसी ने देखा कि बछड़ा खुल गया है। चढ़ न आवे इसलिए उठकर बाँधने गयी। खूँटे से बाँधकर आयी और फिर कथा सुनने बैठ गयी।

पडितजी को यह बड़ा विचित्र लगता था, पर यजमान से क्या कहे ! उन्होंने चौथी बार कथा बाँचना शुरू किया—'**भीष्म उवाच**—कि डोसी उठ बैठी और हाथ में लकड़ी लेकर छप्पर पर बैठे हुए कौवे को उड़ाने लगी—"यह निगोड़ा 'का का' करके कथा ही नहीं सुनने देता।"

कौवे को उड़ाकर वह अपने स्थान पर फिर आ गयी और पडितजी की ओर ध्यान देने लगी। पडितजी समझे कि अब कथा ठीक तरह चलेगी, इसलिए वह उत्साह के आवेग में आकर बोले—'**भीष्म उवाच**' उसी समय डोसी दरवाजे पर खड़े हुए एक भिखारी को देखकर बड़बड़ाने लगी और पडितजी की धारणा गलत निकली। डोसी ने भिखारी से कहा—"तुझ-जैसे इधर रोज चले आते हैं। कितनों को दिया जाये ? वक्त बेवक्त चले आते हैं। कथा चल रही कि आन पहुँचा ! चल यहाँ से !"

इस तरह लगभग एक पहर बीत गया, पर पंडितजी, '**भीष्म उवाच**'

से आगे न बढ़ सके। दूसरे दिन से उन्होंने उस घर में कथा कहने से हाथ जोड़ दिये।

जिसने सारी जिन्दगी घर बार और व्यवहार में ही गुजारी हो उनकी स्थिति प्राय ऐसी होती है—'सूरदास की काली कमरिया चढ़े न दूजा रग।' जिन्हें बचपन से ही धर्म का रग लगा हो तो आगे चलकर और वृद्धि पा सकता है, पर जिन्होंने धर्म की ओर कभी दृष्टिपात भी न किया हो, वह बुढ़ापे में क्या धर्म करेगा ? दोयम, धर्माराधन करने में कुछ उत्साह और जोश भी चाहिए, लेकिन बुढ़ापे में उसका प्राय अभाव होता है, इसलिए समुचित धर्म-पालन नहीं हो पाता। इसलिए, जब शरीर स्वस्थ और इन्द्रियाँ सक्रिय हैं, तब धर्माराधन करने में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

धर्माराधन के लिए चार अयोग्य पुरुष

धर्म भी यह देखता है कि वह किसके साथ दोस्ती करे। वह चार प्रकार के लोगों से दोस्ती नहीं करता एक तो दुष्ट यानी दया रहित के साथ, दूसरे, मूढ़ यानी अविवेकी के साथ, तीसरे, कदाग्रही यानी जो अपनी खोटी मान्यता को भी न छोड़ता हो, और चौथे, पक्षपाती यानी अन्यायी के साथ! यह बात दृष्टान्त से ज्यादा स्पष्ट हो जायगी।

दुष्टता पर लुब्धक का दृष्टान्त

नरपति-नामक एक राजा था। उसके सेवकों में लुब्धक-नामक सेवक बड़ा दुष्ट था। वह किसी की भलाई नहीं देख सकता था। किसी ने धन कमाया हो या सुन्दर मकान बनाया हो, तो वह किसी-न किसी अपराध का दोषी बनाकर उसे दंड दिला लेता तभी उसका ईर्ष्यालु हृदय शाति पाता।

सगे-सम्बन्धियों और मित्रों ने लुब्धक को यह टेव छोड़ देने की

नसीहत की और कई साधु सन्तों द्वारा उपदेश दिलाया, लेकिन उसने अपनी वह आदत नहीं छोड़ी। दुष्ट आदमी अपनी कुटेव इस तरह थोड़े ही छोड़ता है!

लुब्धक जबान का मीठा था, इसलिए उसका दर्जा धीरे-धीरे बढ़ता गया। एक दिन सारे राज्य में उसकी तूती बोलने लगी। उसकी वक्र दृष्टि से बचने के लिए और उसकी महरबानी प्राप्त करने के लिए गरजमन्द लोग उसे सलाम भरने लगे और नजराने देने लगे।

लुब्धक धर्म को नहीं जानता था, सदाचार या सन्नीति को नहीं मानता था, परभव का कोई डर नहीं रखता था, इसलिए वह रिश्वत ले लेकर मालदार बन गया।

लुब्धक के गाँव के नजदीक तुगभद्र नामक एक कुनबी रहता था। वह पैसे-टके से सुखी था। जाति-बिरादरी में भी उसकी अच्छी इज्जत थी। वह एक सक्षम व्यक्ति माना जाता था। वह बड़ा दान पुण्य करता, साधु-सतों को जिमाता और गरीब, निराधार या या अपग लोगों को भी यथाशक्ति सहायता देकर सन्तुष्ट करता। उसकी इस उदारता और सेवा परायण वृत्ति के कारण उसे लोग 'भगत' कहने लगे। सब लोग उसका बड़ा सम्मान करते थे।

यह देखकर लुब्धक का ईर्ष्यालु हृदय जलने लगा। उसे विचार हुआ—"बैल का दुम पकड़नेवाला यह पटेल पाँच भिखमगों को रोटी का टुकड़ा फेंक कर बड़ा धर्मात्मा बन बैठा है और मुझे कभी सलाम करने भी नहीं आता। अत, उसे अवश्य देख लेना चाहिए।"

तुगभद्र सलाम करने नहीं आता था, यह उसका भयकर गुनाह था और इसलिए उसे दण्ड देने की तैयारी! इस जगत म दुष्ट व्यक्ति की दुष्टता भी किस हद तक जाती है? लुब्धक ने तुगभद्र को फँसाने के लिए जाल फैलाया, पर वह व्यर्थ गया! तुगभद्र उसमें नहीं फँसा! दूसरी बार भी

लुब्धक ने जाल फैलाया। वह भी निष्फल गया। पर, तीसरी बार भी वैसा ही रहा।

अब तुगभद्र को परीशान करने के लिए लुब्धक नये उपाय सोचने लगा। पर, पुण्यात्मा को कष्ट देना कुछ सरल काम नहीं है। स्पष्ट कहें तो कहना होगा कि, पुण्यात्मा को कष्ट देना बड़ा कठिन काम है—लगभग अशक्य ही है! चाहे कितना ही कोई प्रयास करे पर निष्फल ही रहता है।

वह तुगभद्र का अनिष्ट चाहने से वह बीमार पड़ गया और बीमारी दिनों दिन बढ़ने लगी। पास में पैसे की कुछ कमी थी नहीं, अच्छे-से-अच्छे चिकित्सकों द्वारा उपचार प्रारम्भ हुआ। पर, उनका कुछ नहीं चला। अपना मरण समय निकट जान कर उसके मन में बड़ा उथल-पुथल हुआ। जीवन में यदि धर्म की भली प्रकार आराधना किया होती तो इस समय शान्ति होती। पर, लुब्धक ने तो कभी धर्म की ओर आँख उठा कर देखा भी नहीं था।

लुब्धक को इतना परीशान देखकर उसके बच्चों ने पूछा—"पिता जी! आप इतने परीशान क्यों हैं? यदि आपकी कोई इच्छा अधूरी हो तो बताइये। हम उसे पूरी करेंगे। आप कहें तो गाय का शृंगार करके दान कर दें, अथवा ब्राह्मणों को शैया का दान करें, या आपको रुपये से तौलकर उस रुपये को पुण्यकार्य में व्यय करें, जिससे आपकी आत्मा को शान्ति मिले।"

लुब्धक बोला—"मेरे लिए इस प्रकार दान-पुण्य की आवश्यकता नहीं है। तुम लोग इतना जान लो कि, मैंने कितनों की ही माल मिल्कियत जप्त करा डाली, पर एक तुगभद्र ही उसमें न फँस सका। उसे दण्ड मिले, ऐसा कोई उपाय करो।"

पुत्रों ने कहा—"पिताजी! इस प्रकार की बात न करें। अभी तो आप प्रभु के नाम का स्मरण करें और दान पुण्य जो बन पड़े करें।

नसीहत की और कई साधु सन्तों द्वारा उपदेश दिलाया, लेकिन उसने अपनी वह आदत नहीं छोड़ी। दुष्ट आदमी अपनी कुटेव इस तरह थोड़े ही छोड़ता है।

लुब्धक जबान का मीठा था, इसलिए उसका दर्जा धीरे धीरे बढ़ता गया। एक दिन सारे राज्य में उसकी तूती बोलने लगी। उसकी वक्र दृष्टि से बचने के लिए और उसकी मेहरबानी प्राप्त करने के लिए गरजमन्द लोग उसे सलाम भरने लगे और नजराने देने लगे।

लुब्धक धर्म को नहीं जानता था, सदाचार या सन्नीति को नहीं मानता था, परभव का कोई डर नहीं रखता था, इसलिए वह रिश्वत ले लेकर मालदार बन गया।

लुब्धक के गाँव के नजदीक तुगभद्र-नामक एक कुनबी रहता था। वह पैसे-टके से सुखी था। जाति-बिरादरी में भी उसकी अच्छी इज्जत थी। वह एक सक्षम व्यक्ति माना जाता था। वह बड़ा दान पुण्य करता, साधु-सतों को जिमाता और गरीब, निराधार या या अपग लोगों को भी यथाशक्ति सहायता देकर सन्तुष्ट करता। उसकी इस उदारता और सेवा परायण वृत्ति के कारण उसे लोग 'भगत' कहने लगे। सब लोग उसका बड़ा सम्मान करते थे।

यह देखकर लुब्धक का ईर्ष्यालु हृदय जलने लगा। उसे विचार हुआ—"बैल का दुम पकड़नेवाला यह पटेल पाँच भिखमगों को रोटी का टुकड़ा फेंक कर बड़ा धर्मात्मा बन बैठा है और मुझे कभी सलाम करने भी नहीं आता। अत, उसे अवश्य देख लेना चाहिए।"

तुगभद्र सलाम करने नहीं आता था, यह उसका भयकर गुनाह था और इसलिए उसे दण्ड देने की तैयारी! इस जगत में दुष्ट व्यक्ति की दुष्टता भी किस हद तक जाती है! लुब्धक ने तुगभद्र को फँसाने के लिए जाल फैलाया, पर वह व्यर्थ गया! तुगभद्र उसमें नहीं फँसा! दूसरी बार भी

लुब्धक ने जाल फैलाया। वह भी निष्फल गया। पर, तीसरी बार भी वैसा ही रहा।

अब तुगभद्र को परीशान करने के लिए लुब्धक नये उपाय सोचने लगा। पर, पुण्यात्मा को कष्ट देना कुछ सरल काम नहीं है। स्पष्ट कहें तो कहना होगा कि, पुण्यात्मा को कष्ट देना बड़ा कठिन काम है—लगभग अशक्य ही है। चाहे कितना ही कोई प्रयास करे पर निष्फल ही रहता है।

वह तुगभद्र का अनिष्ट चाहने से वह बीमार पड़ गया और बीमारी दिनों दिन बढ़ने लगी। पास में पैसे की कुछ कमी थी नहीं, अच्छे-से-अच्छे चिकित्सकों द्वारा उपचार प्रारम्भ हुआ। पर, उनका कुछ नहीं चला। अपना मरण समय निकट जान कर उसके मन में बड़ा उथल पुथल हुआ। जीवन में यदि धर्म की भली प्रकार आराधना किया होती तो इस समय शान्ति होती। पर, लुब्धक ने तो कभी धर्म की ओर आँख उठा कर देखा भी नहीं था।

लुब्धक को इतना परीशान देखकर उसके बच्चों ने पूछा—"पिता जी! आप इतने परीशान क्यों हैं? यदि आपकी कोई इच्छा अधूरी हो तो बताइये। हम उसे पूरी करेंगे। आप कहें तो गाय का शृंगार करके दान कर दें, अथवा ब्राह्मणों को गैया का दान करें, या आपको रुपये से तौल्कर उस रुपये को पुण्यकार्य में व्यय करें, जिससे आपकी आत्मा को शान्ति मिले।"

लुब्धक बोला—"मेरे लिए इस प्रकार दान-पुण्य की आवश्यकता नहीं है। तुम लोग इतना जान लो कि, मैंने कितनों की ही माल-मिल्कियत जप्त करा डाली, पर एक तुगभद्र ही उसमें न फँस सका। उसे दण्ड मिले, ऐसा कोई उपाय करो।"

पुत्रों ने कहा—"पिताजी! इस प्रकार की बात न करें। अभी तो आप प्रभु के नाम का स्मरण करें और दान पुण्य जो बन पड़े करें।

लुब्धक ने उत्तर दिया—"मुझे प्रभु अथवा दान-पुण्य की आवश्यकता नहीं है। यदि तुम मेरे सच्चे पुत्र हो तो मेरी यह इच्छा पूर्ण करो।"

पिता के हठ के ऊपर पुत्रों को झुकना पड़ा। उन लोगों ने बात स्वीकार कर ली। लुब्धक बोला—"इस दृष्टि से जो मैं कहूँ, उसे करो। अन्य कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। तुम लोग मेरी लाश को तुंगभद्र के खेत में रख आना और शोर मचाना कि, उसने मुझे मार डाला है। शोर मचाने पर राजकर्मचारी आयेंगे और वह दण्डित होगा।"

पुत्रों ने स्वीकार कर लिया और लुब्धक ने अंतिम साँस ली।

बाद में पुत्रों ने क्या किया और उसका क्या परिणाम रहा, यह एक लम्बी कथा है और यहाँ कहने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो कहने का तात्पर्य यह कि, मनुष्य जो प्रकृत्या अति दुष्ट हो, वह जीवन में धर्म प्राप्त नहीं कर सकता।

मूढ़ता पर भूतमति का दृष्टान्त

कठापुर-नामक एक गाँव था। उसमें भूतमति नामक एक ब्राह्मण रहता था। यह ब्राह्मण काशी जाकर विद्याभ्यास कर आया था। पर, निर्धन होने के कारण बड़ी अधिक उम्र तक उसका विवाह नहीं हुआ। एक पाठशाला चलाकर वह अपना निर्वाह करता।

एक बार यजमानों ने उसे विवाह करने के लिए एकत्र करके धन दिया। उस पैसे से उसने यज्ञदत्ता-नामक एक सुन्दर ब्राह्मणी से विवाह कर लिया।

भूतमति की पाठशाला में बहुत से विद्यार्थी अन्य ग्रामों से आकर पढ़ते थे। इसी प्रकार का देवदत्त-नामक एक विद्यार्थी बाहर से आकर पढ़ता था। वह बड़ा निर्धन था, इसलिए भूतमति ने उसके भोजन-पानी की व्यवस्था अपने घर में कर दिया। और, उसे सोने बैठने के लिए घर से बाहर एक बारान्दा बनवा दिया।

देवदत्त पढ़ने में होशियार था। इसलिए, पढ़ायी लिखायी में उसने अच्छी प्रगति की। भूतमति का वह कृपा भाजन बन गया था और वह देवदत्त को घर के प्राणी की तरह रखता।

यज्ञदत्ता नवयौवना थी। अत, उसका मन भूतमति से तुष्ट न था। उसकी दृष्टि देवदत्त पर पड़ी और वह उसके साथ परिचय बढ़ाने लगी। इसी बीच भूतमति को मथुरा के एक बृहत् यज्ञ में सम्मिलित होने का आमत्रण मिला। इस यज्ञ में भाग लेने से पैसे की प्राप्ति होती और प्रतिष्ठा में वृद्धि होती, इसी दृष्टि से उसने आमत्रण स्वीकार कर लिया।

चलते समय भूतमति ने कहा—"तुम्हें छोड़कर जाने की मेरी इच्छा नहीं होती, पर मजबूरी है। पास का पैसा समाप्त हो गया है, अत जाना आवश्यक है। वहाँ मुझे चार महीने लगेंगे, तू घर की सार-सँभाल करना।

यह सुनकर यज्ञदत्ता बोली—"पर, मेरा तो तुम्हारे बिना एक दिन नहीं चलने का। अत अच्छा हो, मथुरा जाना स्थगित कर दें।"

भूतमति ने उत्तर दिया—"मेरी भी दशा तो तुम्हारे ही जैसी है। अत, शीघ्र ही राजी करके छुट्टी लेकर मैं लौट आऊँगा।"

यज्ञदत्ता राजी हो गयी और उसने भूतमति को जाने की अनुमति दे दी।

भूतमति मथुरा चल पड़े।

यज्ञदत्ता अब अकेली हो गयी। उसने देवदत्त से कहा—"अब तुम मेरे साथ नि सकोच भोग भोगो, क्योंकि यौवन का फल भोग विलास ही है।" देवदत्त ने पहले तो इनकार किया, पर अन्त में वह भी पाप कर्म में लिप्त हो गया। इस प्रकार चार मास बीत गये। देवदत्त ने कहा—"अब तो तुम्हारे पति आते ही होंगे और अवश्य ही मुझे घर से निकाल बाहर करेंगे।"

यज्ञदत्ता बोली—"तुम इसकी चिंता मत करो। मैं ऐसा प्रपञ्च रचूँगी कि, हम दोनों साथ ही रहेंगे।"

उसके बाद यज्ञदत्ता स्मशान में गयी और एक स्त्री तथा एक पुरुष का लाश ले आयी। उन लाशों को घर में रखकर बाहर से कुन्डी बन्द कर दी। और, घर में से जो लेते बना लेकर घर में आग लगा दिया।

आग धीरे धीरे बढ गयी और लोगों की भीड़ लग गयी। दूसरे घरों तक आग न पहुँचे, इसलिए लोग बुझाने का प्रयास करने लगे। आग काबू में आयी। लोग अन्दर गये तो एक स्त्री और एक पुरुष की लाश उसमें मिली। लोगों ने अनुमान लगा लिया कि, यज्ञदत्ता और देवदत्त जल मरे। सब ओर हाहाकार मच गया। गुप्त रूप से यह समाचार भूतमति तक पहुँचा।

भूतमति यह सुनकर लौट कर कठापुर आया और उसने सर्वनाश का दृश्य देखा। उसे मूर्छा आ गयी। जब मूर्छा हटी तो वह यज्ञदत्ता के लिए विलाप करने लगा।

यज्ञदत्ता और देवदत्त के सम्बन्ध की गध एक ब्राह्मण को मिल गयी थी। वह बोला—"पडित गयी वस्तु की चिंता नहीं करते। नारी तो बहुत करके कपट क्रियावाली होती है। इसलिए, उस पर इतना अधिक मोह रखना उचित नहीं है।"

ये शब्द तो सच्चे थे पर, जिसका मन मोह से मूढ हो गया हो, उसके गले भला ये शब्द क्यों उतरने लगे। भूतमति बोला—"मुझ जैसे पडित को तुम उपदेश देनेवाले कौन हो? यज्ञदत्ता कैसी थी या कैसी नहीं थी, इसे तू क्या जाने? उसके रूप और गुण मेरी स्मृति से क्यों जाने लगे?" और, वह फिर विलाप करने लगा।

पहलेवाले स्नेही ब्राह्मण ने कहा—"अति मोह से पडित की बुद्धि कुंठित हो गयी है! फिर, हित के वचन उसे कैसे सुहायें? स्त्री उसकी है, जिसे वह चाहे। उस पर से मोह हटा लो और परमात्मा का भजन करो जिससे भावी जीवन न बिगड़े।"

सभी हितेच्छु दिलासा देकर चले गये। भूतमति ने फिर दो लाशें देखीं। एक को यज्ञदत्ता और दूसरे को देवदत्त मानकर उन्हें गगा में प्रवाह करने सुबह घर से चल पड़ा।

योगानुयोग क्या हुआ अब यह सुनें। जिस ग्राम में यज्ञदत्ता और देवदत्त रहते थे, वह ग्राम रास्ते में पड़ा और उसमें प्रवेश करते ही वे दोनों सामने पड़ गये। भूतमति ने उन्हें देख लिया था। अत, दोनों ही पडित के चरण पर गिर कर क्षमायाचना करने लगे।

भूतमति बोला—"अरे तुम दोनों कौन हो? और, किसके साथ बात कर रहे हो?"

देवदत्त ने कहा—"आपने देखा नहीं! यह आपकी प्रियतमा यज्ञदत्ता है और मैं आपका शिष्य देवदत्त हूँ। मैं कठापुर में विद्यादान करनेवाले पडित भूतमति से बात कर रहा हूँ।"

भूतमति के दिमाग में यह बात भी नहीं आयी। वह कहने लगा—"अरे दुष्टों! तुम क्या कह रहे हो? तुम लोग निश्चय ही मुझे बेवकूफ बना रहे हो, पर मैं इस चक्कर में आनेवाला नहीं हूँ। मेरी पत्नी यज्ञदत्ता और मेरा शिष्य देवदत्त तो आग में जलकर मर गये। मैं उनकी अस्थि प्रवाहित करने जा रहा हूँ। तुम लोग यज्ञदत्ता और देवदत्त से लगते अवश्य हो, पर निश्चय ही तुम दोनों वह नहीं हो! कदाचित् तुम दोनों प्रेत हो! प्रेत प्राय आदमी को भ्रम में डालते हैं। पर, याद रखो मैं चाहूँ तो मन्त्रबल से तुम्हें भस्म कर दूँ। तुम दोनों मेरी नजर के सामने से हट जाओ नहीं तो परिणाम बुरा होगा।"

यज्ञदत्ता और देवदत्त जो चाहते थे, वही उन्हें मिल गया। वे दोनों जल्दी जल्दी भागे। इधर भूतमति गगातट पर पहुँचा और अस्थि प्रवाह करते हुए बोला—"हे भगवन्! जहाँ भी यज्ञदत्ता और देवदत्त हों सुखी रहें। वे बड़े पवित्र हैं और आपकी दया के पात्र हैं।"

मोह से मूढ़ हुआ पुरुष अपनी शक्ति का कितना भ्रमपूर्ण उपभोग करता है। तथा सामने प्रत्यक्ष रहने पर भी वह उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं होता। ऐसे व्यक्ति को सत्य प्रत्यक्ष ही नहीं होता, जो सत्य ही समक्ष न पड़े तो फिर धर्म की प्राप्ति कैसे हो?

अब कदाग्रह पर एक दृष्टान्त सुनिये —

कदाग्रह पर अन्धे राजकुमार का दृष्टान्त

एक राजा का पुत्र जन्म से अंधा था। पर, वह स्वभाव से बड़ा उदार था। वह अपने पास का पैसा याचकों को दान में दे देता। मंत्री को यह बात पसंद नहीं थी। उसे लगा कि, यह राजकुमार यदि इस प्रकार याचकों को दान देता रहेगा तो नया पैसा आयेगा कहाँ से?

एक दिन उसने राजा से कहा—"महाराज! लक्ष्मी का तीन उपयोग है–दान, भोग और नाश! इन तीनों में दान सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इससे अपना भी हित होता है और पराये का भी हित होता है। पर, यदि यह दान भी मर्यादा में रहे तभी तक भला! अति सर्वत्र वर्जयेत्! मेरे कहने का तात्पर्य यह कि, राजकुमार यदि इसी रीति से दान देते रहे तो *अल्पावधि में ही* कोष रिक्त हो जायेगा।"

राजा ने उत्तर दिया—"मंत्रीश्वर! तुम्हारी बात तो ठीक है। पर, मैं कुमार का दिल नहीं दुखाना चाहता। इसलिए, कोई ऐसा उपाय करो कि, कुमार के मन को ठेस भी न लगे और कोष भी न खाली हो।"

मंत्री ने राजा की बात स्वीकार कर ली और एक उपाय की योजना बनायी। उसने राजकुमार को बुलाकर कहा—"कुमारश्री! आपको आभूषणों का बड़ा शौक है। अतः आपके पूर्वजों के बनवाये आभूषण मैंने कोष से बाहर निकलवाये हैं। यदि आप यह स्वीकार करें कि, किसी अन्य को न दे देंगे तो उन्हें मैं आपको पहनने के लिए दे दूँ। इन आभूषणों

को धारण करके आप या तो राजेश्वर से लगेंगे या देवकुमार से। पर, यह ध्यान में रखें कि, इस जगत् में स्वार्थियों की कमी नहीं है। अत जो भी इन आभूषणों को देखेगा उसकी नीयत बिगड़ जायेगी और वह इन्हें प्राप्त कर लेने के लिए कितने ही प्रपञ्च रचेगा। कोई ऐसा भी कहेगा कि, 'इन आभूषणों में क्या रखा है? ये आपके योग्य नहीं हैं! ये तो लोहे के बने हैं। मुझे दे दो', पर इन बातों पर आप ध्यान न दीजियेगा।"

कुमार ने उत्तर दिया—"तुम्हारी शर्त मुझे स्वीकार है। मैं इन आभूषणों को किसी को न दूँगा। जो कहेगा कि, ये तो लोहे के हैं, उनकी बराबर खबर लूँगा। इन्हें पहनने के लिए मुझे दे दो।"

इस प्रकार कुमार का मन पहले से ही व्युद्ग्राहित करके मंत्री ने शुद्ध लोहे के बने आभूषण राजकुमार को पहनने के लिए दे दिया। कुमार के हर्ष का ठिकाना न था। पूर्वजों के बनवाये आभूषण उसे पहनने को मिल गये थे—इसका नशा उसके दिमाग पर चढ़ गया था। प्रसन्नचित्त राजकुमार महल के प्रवेशद्वार के सम्मुख बैठा। इतने में कुछ याचक आये और बोले—"राजकुमार! यह क्या? ये लोहे के आभूषण आपको शोभा नहीं दे रहे हैं।"

इन शब्दों का सुनना था कि, कुमार ने लकड़ी उठायी और दो को धड़ाधड़ चार हाथ दिये—"हरामखोरो! मुझे मूर्ख बनाकर मेरा आभूषण लेना चाहते हो? मैं खूब समझता हूँ! मुझसे दूर ही रहना।"

याचक जान लेकर भागे। थोड़ी देर में राजसेवक आये। उन्हें भी राजकुमार के गले में लोहे का आभूषण देखकर आश्चर्य हुआ और हितबुद्धि से कहने लगे—"राजकुमार! आपने आज जो आभूषण धारण किये हैं, वे आपको बिल्कुल ही नहीं शोभते। अपने खजाने में आभूषणों की क्या कमी है, जो लोहे के इन आभूषणों को आपने धारण किया है?"

राजकुमार ने क्रोधपूर्वक कहा—"सँभलकर बोलना! यदि मेरे

आभूषणों की निन्दा की तो तुम्हारी भी पूरी खबर लूँगा। अपने पूर्वजों के बनवाये इन सुन्दर आभूषणों को पहले मैंने कभी नहीं पहना था।" एक के मुख से इतना ही निकला था—"कुमार साहब," कि, कुमार साहब ने लकड़ी उठायी और एक एक की खबर लेनी शुरू कर दी। सभी राजसेवक अपने-अपने रास्ते चले गये।

इतने में कुछ स्वजन सम्बधी आये और बोले—"लोहे के आभूषण आपको शोभा नहीं दे रहे, इन्हे उतार डालिये।" कुमार ने कहा—"मुझे किसी की सलाह नहीं चाहिए। आप अपना काम चुप चाप करें नहीं तो किसी को बुलाना पड़ेगा।" वे भी वहाँ से चुपचाप चले गये।

इस प्रकार जिन अन्य मित्रों ने कहा कि आभूषण लोहे के हैं, उन्हें भी अपमान का भाजन बनना पड़ा।

इस प्रकार जिस व्यक्ति का मन पहले से व्युद्ग्राहित हो, और कदाग्रही बन गया हो वह किसी शिक्षा को चाहे वह कितनी भी भली क्यों न हो स्वीकार नहीं करनेवाला है। और, धर्म की प्राप्ति नहीं कर सकता।

पक्षपात पर सुभट का दृष्टान्त

सुभट नामक राज्याधिकारी था। उसकी पत्नी का नाम सुरगी था। वह बड़ी भली औरत थी। उन्हें एक पुत्र हुआ और उसका नाम सोनपाल रखा गया। पुत्र के जन्म के बाद सुरगी बीमार हुई और उसका सौंदर्य जाता रहा। अत सुभट का मन उस पर से हट गया। ऐसे ऊपरी प्रेम की उपमा कवि सध्या के बादल से देते हैं—वह उपमा कुछ मिथ्या नहीं है।

कुछ समय बाद सुभट ने कुरगी नामक एक स्त्री से विवाह कर लिया। इस औरत का रग गोरा था और हाव भाव में निपुण थी। अत, इसने सुभट के हृदय पर कब्जा कर लिया और सुभट उसके हाथ की कठपुतली बन गया। इस जगत में कचन और कामिनी दो बड़े आकर्षण की वस्तुएँ

हैं। और, इन दो में भी कामिनी का आकर्षण बढ़कर है। इसीलिए, कवि ने कहा है—

नारी मदन तलावड़ी, बुड्यो सब ससार।
काढन हारा कोउ नहीं, कहाँ करूँ पुकार॥

फुरगी का चमड़ा तो उज्ज्वल था, पर उसका हृदय काला था। उसमें ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान आदि दोष भरे थे। नये नये पुरुषों को देख कर उनसे क्रीड़ा करने की वह इच्छा करती, पर सुरगी उसकी छाती पर बैठी थी, इससे उसकी कामना पूरी न हो पाती। एक तो सौत और दूसरे पीछे यह कारण—अत सुरगी पर उसकी ईर्ष्या नित्यप्रति बढती जाती। वह सुभट का कान भरने लगी और नाना-प्रकार के सच्चे झूठे आरोप उस पर करने लगी।

फुरंगी की कमनीय काया के वश पड़ा सुभट तो उसी की आँख देखता।

एक बार युद्ध का डका बजा और सुभट को युद्ध पर जाना पड़ा। उस समय फुरंगी रुँधे गले से कहने लगी—"नाथ! आपके बिना तो मैं एक दिन भी नहीं रह सकती।

"मेरी स्थिति तो आज जल बिना मछली सी हो रही है। मेरी इच्छा है कि, आप मुझे भी युद्ध में ले चलें।"

समझाते हुए सुभट ने कहा—"लड़ाई बड़ी भयकर चीज है। उसमें भला नारी का क्या काम? और, राजा की कड़ी आज्ञा है कि, कोई युद्ध में पत्नी को साथ न ले जाये। अत प्रिये! यहीं खा पीकर आनन्द में रहो। अपने घर में किसी वस्तु की कमी नहीं है।"

फुरगी ने उत्तर दिया—"आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। इस घर में आपके बिना मेरा पल-पल भारी है। और, आप यह जानते हैं कि, अपना पड़ोसी कितना नटखट है।"

फुरगी से विदा लेकर सुभट युद्ध में गया। अब फुरगी अकेली हुई और उसने अपनी चिरकाल की अभिलाषा पूरी करने का निश्चय किया।

इसी गाँव में एक युवक सोनार रहता था। उसका नाम चगा था। फुरगी की दृष्टि उस पर पड़ी और आभूषण बनवाने के विचार से उसने उसे घर में बुलवाया। थोड़ी इधर-उधर की बात करने के बाद फुरगी ने कहा—"हमारा तुम्हारा अच्छा जोड़ा है। दोनों ही रगीले हैं। अत तुम स्वीकार करो तो हम दोनों ससार-सुख भोगें। यदि तुम मेरी बात स्वीकार न करोगे तो मैं अपघात कर लूँगी और उसका पाप तुम्हें लगेगा।"

चगा में सब दुर्गण थे—शराब पीता, जुआ खेलता, वेश्यागमन करता और जहाँ भी सुन्दर स्त्री को देखता फँसाने की चेष्टा करता। यहाँ तो उसे आमत्रण मिला था। कुटिलतावश वह बोला—"व्यभिचार बड़ा पापकर्म है। पर तू तो अपघात की बात करती है, इसलिए मुझे प्रस्ताव स्वीकार है।" फिर दोनों यथेष्ट रूप में भोग भोगने और पैसा उड़ाने लगे।

दिन जाते कितनी देर लगे। चार महीने बीत गये और सुभट का सन्देश आया—"चार-दिन में घर आ जाऊँगा।" अतः अब चगा ने रही सही सभी चीजें फुरगी से छीन लीं और उसे निर्धन हालत में छोड़ दिया। फुरगी ने व्यभिचार करके क्या फल पाया? एक तो उसका सतीत्व गया। दूसरे उसने पति से विश्वासघात किया और तीसरे घर की पूँजी भी गँवायी। व्यभिचार भयकर दोष है और उसके सेवन करनेवाले अवश्य नरक प्राप्त करते हैं।

सुभट के आने का समय प्रतिपल निकट आता जाता था। उसका दूसरा सदेशा आया—"कल बारह बजे घर पहुँच रहा हूँ। रसोई आदि तैयार रहे।" रसोई क्या तैयार करती, घर मे कुछ बचा ही नहीं था। अत' वह सुरगी के घर गयी। सुरगी उसे देखकर विचार में पड़ गयी कि, क्या बात है कि आज यह मेरे घर आयी। उसने पूछा तो फिर फुरगी

बोली—"बहन! एक बधाई का समाचार लायी हूँ।" सुरगी ने पूछा—"क्या?"

फुरगी ने कहा—"स्वामिनाथ कल बारह बजे घर आनेवाले हैं।"

सुरगी बोली—"पर, वह तो मुझसे बोलते तक नहीं। मैं उनका कैसे स्वागत करूँ।"

फुरगी ने कहा—"तुम इसकी चिन्ता मत करो। मैं समझा दूँगी और वह भोजन तुम्हारे ही घर करेंगे। आप कल भोजन तैयार रखियेगा!"

सुरगी बड़ी प्रसन्न हुई। दूसरे दिन प्रात उठकर स्नानादि से निवृत्त हो भाँति-भाँति के भोजन उसने बनाये। और, फिर पति के आगमन का राह देखने लगी।

ठीक बारह बजे सुभट घर आया। पर, उस समय उसे अपने घर में कुंडी बद मिली। सोचने लगा मैंने सदेश भेज दिया था। सोचा था, फुरंगी स्वागत के लिए द्वार पर खड़ी मिलेगी, पर यहाँ तो कुंडी चढ़ी है। उसने आवाज लगायी—"प्रिये! मैं आ गया हूँ। कुंडी खोलो।" पर, अंदर से कुछ भी उत्तर नहीं मिला। सुभट ने अनेक मधुर वचन कहे, तो फुरंगी ने दरवाजा खोला।

सुभट फुरगी को मनाने लगा—'प्रिये! मेरा ऐसा क्या अपराध है कि, तुम स्नेहपूर्वक बोल नहीं रही हो।'

उस समय फुरगी झनककर बोली—"तुम्हारे जैसे ढोंगी व्यक्ति इस जगत में मिलना कठिन है! स्वय तो सुरंगी के यहाँ कहला दिया कि, खाने तुम्हारे घर आऊँगा" और इतने में सुरगी का भेजा हुआ सोनपाल वहाँ आ पहुँचा और बोला—"पिताजी भोजन तैयार है। घर चलें।"

सुभट को समझ में नहीं आ रहा था कि, यह सब बात क्या है? वह फुरगी का मुख देखता रहा। फुरगी तिरस्कारपूर्वक बोली—"यह ढोंग

रहने दो। तुम अपनी चहेती सुरगी के घर जाओ। वह तुम्हें मन चाहा भोजन खिलायेगी।"

फुरगी के इन कठोर वचनों से झल्लाकर अततोगत्वा सुभट सुरगी के घर गया। सुरगी उसके स्वागत में खड़ी रही। उसने पति का इच्छित रूप से स्वागत किया—गरम पानी से उन्हें स्नान कराया और पीढ़े पर भोजन के लिए बैठा दिया। नाना प्रकार के भोजन उसने सुभट के सम्मुख परस कर रख दिये, पर सुभट ने हाथ भी नहीं बढाया।

सुरगी ने पूछा—"हे स्वामी! आप भोजन क्यों नहीं करते? क्या किसी चीज की कमी रह गयी है?"

सुभट ने कहा—"इसमे एक वस्तु की कमी है। यदि फुरगी के हाथ की बनायी सब्जी भी होती तो भोजन अमृत-जैसा लगता।"

सुरंगी ने कहा—"पर, नाथ! चखे बिना यह कैसे पता चला कि, यह फुरगी के हाथ-सी स्वादिष्ट नहीं है?"

सुभट ने कहा—"यह तो मैंने सोच-समझ कर कहा है। इसमे चखने की आवश्यकता ही नहीं है।"

सुरगी समझ गयी कि, पति में सौत के प्रति पक्षपात आ गया है अत: कितनी भी दलील करूँ ये माननेवाले नहीं हैं। अत वह उठी और फुरगी के घर गयी और बोली—"बहन! स्वामी का मन तो तुम में बसता है। अत, उन्हें मेरे हाथ का पक्वान्न अथवा शाक भला नहीं लगता। अपने हाथ का बनाया थोड़ा शाक दो तो फिर उनका हाथ उठे।"

फुरगी ने देखा कि, इतने तिरस्कार के बावजूद सुभट का मन उस पर लगा है। इससे स्पष्ट है कि, वह मुझे अन्तस् मे प्रेम करते हैं। अत वह बोली—"थोड़ी देर बैठ जाओ। गरम गरम शाक तैयार करके देती

हूँ।" फुरगी घर के पीछे गयी और ताजा गोबर ले आयी। उसमें आटा मसाला आदि डालकर उसका बड़ा बनाया और सुरगी को दे दिया।

सुरगी उसे लेकर गयी और सुभट के आगे रखकर बोली—"देखो! शाक में से कितनी सुन्दर बास आ रही है। सुभट भोजन करने लगा। उसने सुरगी के हाथ का भोजन कम और फुरगी का शाक अधिक खाया। और, बार-बार फुरगी के शाक की प्रशंसा करता रहा।

इस दृष्टान्त से आप समझ गये होंगे कि, पक्षपात से जिसका मन अंधा हो गया हो, वह सत्य बात नहीं समझ सकता।

विशेष अवसर आने पर!

अड़तीसवाँ व्याख्यान

धर्म का आराधन

[२]

महानुभावो !

गणित का एक प्रश्न है कि—'एक गोकलगाय (कीट-विशेष) दिन में दो इंच ऊपर चढ़ती है और रात को पौने दो इंच नीचे उतर पड़ती है, तो ६० फुट के खभे के शिरे पर वह कब पहुँचेगी ?' इसका उत्तर कोई भी साधारण गणितज्ञ बता देगा।

दिन में २ इंच चढ़े और पौने दो इंच नीचे उतरे तो २४ घंटे के एक अहोरात्र में वह पाव इञ्च मात्र चढ़ती है। इस प्रकार प्रतिदिन पाव इञ्च चढ़कर वह ४ दिनों में १ इञ्च चढ़ेगी। ४८ दिनों में १ फुट चढ़ेगी और २८८० दिनों में वह उसके शिरे पर पहुँचेगी।

इस गति से शिरे तक पहुँचने में उसे ८ वर्ष लगेगा।

आप कहेंगे, इतनी मंदगति ! पर, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। धर्म के विषय में आपकी गति इससे भी मंद है ! धर्म के '६० फुट ऊँचे खभे के शिखर पर' आप अस्सी वर्ष में भी नहीं पहुँच पाते।

धर्म के मामले में बहुतों की गति मन्द, मन्दतर, मन्दतम होती है। कुछ लोग तो दो इञ्च चढ़कर दो इञ्च उतर पड़ते हैं। ऐसे लोग भला शिखर पर कब पहुँचेंगे ?

मनुष्य का आयुष्य १०० वर्षों का गिना जाता है। पर, यह १०० वर्ष पूरा करने वाले बहुत ही कम आदमी मिलेंगे। ६०, ७० अथवा

८० वर्ष की उम्र जिसे मिली, उसे हम लम्बी उम्रवाला कहते हैं। अधिकाश तो ५० से ६० के बीच ही सिधार जाते हैं। परम पूज्य आचार्य विजय-सिद्धि सूरि जी का १०४ की उम्र में स्वर्गवास हुआ, उसे हम उपमा-रहित मानते हैं।

गोलगाय नित्य पाव इच ऊपर चढती है तो ८ वर्षों में ६० फुट ऊपर चढ जाती है, पर आप तो ८० वर्ष की उम्र में भी उस शिखर तक नहीं पहुँच पाते। तो, फिर आप ही कहें कि आपकी गति क्या है? कितने तो इस समय तक १/२, १/४ या १/६ मात्र चढे रहते हैं। इसका गणित करें तो आपको अपनी गति का हिसाब समझ में आ जाये! यदि ८० वर्ष में पूरा स्तम्भ चढ जायें तो आपकी गति १/४० इच होगी। और, अगर चौथाई मात्र चढ पाये तो गति १/१६० इच होगी। केवल छठभाग चढ पाये तो गति १/२४० इञ्च की होगी। और, यदि १/८ मात्र चढ पाये तो गति १/३२० इञ्च मात्र होगी। इतनी मदगति! पर, इस गति से भी चढा नहीं जाता।

साधु सतों के समागम में आकर, उपदेश सुनकर, स्वाध्याय करके उत्साह में आकर कुछ धर्म करना शुरू करते हैं कि प्रमाद, आलस्य, उपेक्षा और व्यवहार-जजाल आ धमकता है और धर्म कर्म एक तरफ धरा रह जाता है। यह दो इच चढकर दो इञ्च नीचे उतरना नहीं तो क्या है?

जीवन का योग

जैसे दिवाली पर आप अपने नफा नुकसान का हिसाब लगाते हैं, वैसे ही आप अपने साठ सत्तर या अस्सी वर्ष की उम्र का हिसाब लगाकर क्यों नहीं देखते कि, क्या पाया और क्या खोया?

आप खाने-पीने में, नहाने धोने में, घूमने फिरने में, बैठे रहने में, सोते रहने में, भोग विलास म, गप शप में, निन्दा स्तुति में, खेल कूद में, नाटक-

अड़तीसवाँ व्याख्यान
धर्म का आराधन
[२]

महानुभावो !

गणित का एक प्रश्न है कि—'एक गोकलगाय (कीट-विशेष) दिन में दो इंच ऊपर चढ़ती है और रात को पौने दो इंच नीचे उतर पड़ती है, तो ६० फुट के खंभे के शिरे पर वह कब पहुँचेगी ?' इसका उत्तर कोई भी साधारण गणितज्ञ बता देगा।

दिन में २ इंच चढ़े और पौने दो इंच नीचे उतरे तो २४ घंटे के एक अहोरात्र में वह पाव इञ्च मात्र चढ़ती है। इस प्रकार प्रतिदिन पाव इञ्च चढ़कर वह ४ दिनों में १ इञ्च चढ़ेगी। ४८ दिनों म १ फुट चढ़ेगी और २८८० दिनों में वह उसके शिरे पर पहुँचेगी।

इस गति से शिरे तक पहुँचने में उसे ८ वर्ष लगेगा।

आप कहेंगे, इतनी मदगति ! पर, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। धर्म के विषय में आपकी गति इससे भी मद है ! धर्म के '६० फुट ऊँचे खंभे के शिखर पर' आप अस्सी वर्ष में भी नहीं पहुँच पाते।

धर्म के मामले में बहुतों की गति मन्द, मन्दतर, मन्दतम होती है। कुछ लोग तो दो इञ्च चढ़कर दो इञ्च उतर पड़ते हैं ! ऐसे लोग भला शिखर पर कब पहुँचेंगे ?

मनुष्य का आयुष्य १०० वर्षों का गिना जाता है। पर, यह १०० वर्ष पूरा करने वाले बहुत ही कम आदमी मिलेंगे। ६०, ७० अथवा

८० वर्ष की उम्र जिसे मिली, उसे हम लम्बी उम्रवाला कहते हैं। अधिकाश तो ५० से ६० के बीच ही सिधार जाते हैं। परम पूज्य आचार्य विजय-सिद्धि सूरि जी का १०४ की उम्र में स्वर्गवास हुआ, उसे हम उपमा-रहित मानते हैं।

गोल्गाय नित्य पाव इच ऊपर चढती है तो ८ वर्षों में ६० फुट ऊपर चढ जाती है, पर आप तो ८० वर्ष की उम्र में भी उस शिखर तक नहीं पहुँच पाते। तो, फिर आप ही कहें कि आपकी गति क्या है? कितने तो इस समय तक १/२, १/३ या १/४ मात्र चढे रहते हैं। इसका गणित करें तो आपको अपनी गति का हिसाब समझ में आ जाये! यदि ८० वर्ष में पूरा स्तम्भ चढ जायें तो आपकी गति १/४० इच होगी। और, अगर चौथाई मात्र चढ़ पाये तो गति १/१६० इच होगी। केवल छठमाश चढ पाये तो गति १/२४० इञ्च की होगी। और, यदि १/८ मात्र चढ पाये तो गति १/३२० इञ्च मात्र होगी। इतनी मदगति! पर, इस गति से भी चढ़ा नहीं जाता।

साधु सतों के समागम में आकर, उपदेश सुनकर, स्वाध्याय करके उत्साह में आकर कुछ धर्म करना शुरू करते हैं कि प्रमाद, आलस्य, उपेक्षा और व्यवहार-जजाल आ धमकता है और धर्म कर्म एक तरफ धरा रह जाता है। यह दो इच चढ़कर दो इञ्च नीचे उतरना नहीं तो क्या है?

जीवन का योग

जैसे दिवाली पर आप अपने नफा-नुकसान का हिसाब लगाते हैं, वैसे ही आप अपने साठ सत्तर या अस्सी वर्ष की उम्र का हिसाब लगाकर क्यों नहीं देखते कि, क्या पाया और क्या खोया?

आप खाने-पीने में, नहाने धोने म, घूमने-फिरने में, बैठे रहने म, सोते रहने मे, भोग विलास में, गप शप में, निन्दा-स्तुति में, खेल कूद में, नाटक

सिनेमा में, रगड़े झगड़े में और हारी बीमारी में जो वक्त गँवाते हैं, उसे उधार की तरफ समझें। और, साधु सतों के समागम में, धर्मोपदेश सुनने में, स्वाध्याय करने म, प्रभुभक्ति मे, परोपकार करने में, धर्मध्यान में जो समय लगायें उसे जमा की ओर समझें। इनका ठीक ठीक आँकड़े निकालें तो वास्तविक स्थिति का आपको ही ज्ञान हो जायगा।

जिसकी रकम घटती जाती है और देना बढ़ता जाता है वह अन्त में दिवालिया हो जाता है और उसकी आबरू नीलाम हो जाती है। अगर आपका कारबार दिवालिया हो तो स्थिति अभी से सँभालना ही ठीक है।

शास्त्रकार भगवत तो स्पष्ट कहते हैं कि—

सामाइय-पोसह-संठिआस्स जीवस्स जाइ जो कालो।
सो सफलो बोधव्वो, सेसो ससारफलहेऊ॥

—सामायिक और पौषध में जानेवाले समय को सफल समझिये और शेष को ससारफल का हेतु जानिये अर्थात् ससार बढ़ानेवाला समझना।

यहाँ सामयिक, पौषध के साथ उपलक्षण से प्रभु पूजा आदि सब धार्मिक क्रियाएँ समझनी चाहिएँ। धार्मिक क्रियाओं में जानेवाला समय कर्म को घटानेवाला, कर्म को तोड़नेवाला होने से सफल गिना जाता है और शेष समय जो व्यवहार के कामों में जाता है, वह कर्म को लानेवाला, कर्म को बाँधनेवाला होने से विफल गिना जाता है[1], और ससार को बढ़ानेवाला गिना जाता है।

हमने इस व्याख्यानमाला के प्रारम्भ में ही 'जिणवयणे अणुरत्ता'

---

१ सामाइय-पोसह- संठिअस्स, जीवस्स, जाइ जो कालो।
सो सफलो बोधव्वो, सेसो पुण जाण विफलत्ति॥
ऐसा पाठ भी मिलता है।

आदि शब्दों से शुरू होनेवाली गाथा के अर्थ में कहा था—"जो आत्माएँ जिन वचन में अनुरक्त हैं, श्रद्धावान हैं; जिनवाणी में प्ररूपित अनुष्ठानों को हार्दिक उल्लासपूर्वक करती हैं, जो मलरहित हैं तथा संक्लेशरहित परिणामवाली हैं, वे परिमित संसारी बनती हैं।

संसार घटानेवाली चार वस्तुएँ

संसार घटाने के लिए, अल्पसंसारी होने के लिए चार वस्तुओं की आवश्यकता है। पहली वस्तु जिन-वचन में अनुरक्तता, श्रद्धा है। 'जो जिनेश्वर भगवन्त ने कहा है, वह सत्य है। उसका अनुसरण करने में ही मेरा कल्याण है, मेरी आत्मा का उद्धार है,' ऐसी दृढ़ मान्यता से ही उनके बताये हुए मार्ग पर चला जा सकता है। हमने पूर्व व्याख्यानों में बताया है कि दान, शील, तप, पूजा, तीर्थयात्रा, दया, व्रतपालन आदि सम्यक्त्वपूर्वक हों तभी सफल हो सकते हैं। मजबूत नींव के बिना इमारत नहीं टिक सकती। परन्तु, जिन वचन में श्रद्धा कैसे प्रकट हो? कुछ आत्माओं में वह नैसर्गिक रूप से प्रकट होती है, परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है। शेष में तो वह अधिगम यानी गुरु के समागम-उपदेश से ही प्राप्त होती है। आप गुरुमुख से धार्मिक व्याख्यान सुनें, तो जिन वचन में श्रद्धा उत्पन्न होती जायेगी और वज्रलेप के समान दृढ़ हो जायगी। फिर, आपसे कोई चाहे जैसे सवाल पूछे तो आप विचलित न होंगे।

कुछ लोग देव गुरु की भक्ति करनेवाले से पूछते हैं—"धर्म का अर्थ क्या है?" अगर वह आदमी समुचित उत्तर न दे सके, तो वह उसे दबाकर वे कहते हैं कि—"लो, तुम तो धर्म का अर्थ भी नहीं जानते, और धर्म-क्रिया करते हो! ऐसी ज्ञानशून्य क्रिया से क्या लाभ?" यह सुनकर सीधा-सादा आदमी उलझन में पड़ जाता है और जो स्वल्प धर्मक्रिया करता हो, उसे भी छोड़ देता है। परन्तु, आप उलट कर पूछ सकते हैं—"समझकर क्रिया करने का क्या मतलब? क्या शब्द का अर्थ जान लेने से ही क्रिया

ज्ञानमय हो जाती है ? प्रतिक्रमणसूत्र का अर्थ जानकर क्रिया करें तो क्या वह क्रिया ज्ञानपूर्ण हो जायगी ?'' यहाँ विपक्षी ढील पड़ जायेगा, क्योंकि वह पूर्णज्ञानी, केवलज्ञानी, नहीं है। उसकी समझ भी अधूरी है। वह भी अपनी स्वल्प समझ के अनुसार ही क्रिया करता होता है।

अगर आप धार्मिक वातावरण में रहें, धार्मिक पुस्तकों का वाचन करते रहें और सद्गुरु का सम्पर्क प्राप्त करते रहें, तो अवश्य समझ जायेंगे कि, धर्म आत्मा के कल्याण के लिए है, कर्म को तोड़ने के लिए है और मुक्ति देने के लिए है। यह समझ ही सच्ची समझ है। इसलिए, इतना समझकर धर्म क्रिया करो तो वह ज्ञानमय क्रिया कहलायेगी।

जिन्हें धर्म पर श्रद्धा नहीं है, जो भौतिकवाद में रँगे हुए हैं और लगभग नास्तिक हैं, वे धार्मिक क्रियाओं का मजाक उड़ाने के लिए तरह-तरह की कुयुक्तियाँ लड़ाते हैं और बात को ऐसी सफाई से रखते हैं कि, भले व्यक्ति भी विचार में पड़ जायें। परन्तु, आप ऐसे लोगों की बात न सुनें, सुनें भी तो उस पर विचार न करें, विचार भी करें तो उस पर किसी प्रकार से विश्वास न लायें।

शास्त्रकारों ने श्रद्धा के चार अंग बताये हैं, उनमें व्यापन्नदर्शनी और कुदृष्टित्याग पर विशेष भार दिया है। जैसा कि—

परमत्थसंथवो खलु, सुमुणियपरमत्थजइ जणसेवा।
वावन्नकुदिट्ठीण य, वज्जणमिह चउहसद्दहणं॥

—(१) परमार्थ-संस्तव, (२) परमार्थ जाननेवाले मुनियों की सेवा (३) व्यापन्नदर्शनी और (४) कुदृष्टि का त्याग, ये श्रद्धा के चार अंग हैं।

परमार्थ-संस्तव अर्थात् तत्त्व की विचारणा। परमार्थ को जाननेवाले मुनियों की सेवा यानी गीतार्थ की सेवा। व्यापन्न-दर्शनी अर्थात् जिनका दर्शन व्यापन्न, नष्ट हो गया है। तात्पर्य यह है कि कभी जिसकी जीव,

अजीव आदि तत्त्वों और उनकी सूक्ष्म विचारणा भर शुद्धा थी, पर बाद में कदाग्रह, मिथ्याग्रह या मिथ्यात्व का उदय होने पर उसकी श्रद्धा चली गयी, वह व्यापन्नदर्शनी है। उनका संग भयंकर परिणाम लानेवाला होने के कारण त्याज्य माना गया है। अन्यत्र भी कहा गया है कि—

> कुसंगते कुबुद्धिः स्यात्, कुबुद्धे कुप्रवर्तनम्।
> कुप्रवृत्तेर्भवज्जन्तु-र्भाजनं दुःख सन्तते ॥

—कुसंगति से कुबुद्धि पैदा होती है, कुबुद्धि से कुप्रवर्तन होता है और कुप्रवर्तन से प्राणी दुःख परम्परा का भाजन बनता है। कुदृष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि !

सम्यक्त्व का रक्षण करने के लिए, सम्यक्त्व को निर्मल बनाने के लिए उसके ६६ बोल ठीक तरह समझ लेना चाहिएँ। उनका विवेचन हम इसके बाद एक स्वतंत्र व्याख्यान में करेंगे।

'जिनवयणे अणुरत्ता' इस गाथा की चार वस्तुओं मे से दूसरी वस्तु जिन-वचन में कहे धर्म का हार्दिक उल्लासपूर्वक अनुष्ठान है। जिन वचन को सत्य मानें, उसमें बतायी हुई क्रियाओं को अच्छी कहें, पर उनका अनुष्ठान न करें, तो कर्म का नाश कैसे होगा ? कोई आदमी यह जानता हो कि, अमुक दवा से मेरा रोग मिट जायेगा, पर वह उस दवा को प्राप्त न करे या उपभोग न करे, तो उसका रोग कैसे मिट जायेगा ? इसलिए श्रद्धा और ज्ञान के साथ चारित्र का अनुष्ठान आवश्यक है।

कुछ लोग कहते हैं कि, ज्ञान मात्र से मुक्ति मिल जाती है और कुछ कहते हैं कि क्रिया मात्र से मुक्ति मिल जाती है, पर ये दोनों एकान्त-वाद हैं। एकान्वाद अर्थात् मिथ्यात्व ! अनेकान्तवाद तो कहता है कि, ज्ञान और क्रिया दोनों हों तभी मुक्ति मिल सकती है। इस विषय में जैन-महर्षियों ने अंध पंगु न्याय कहा है, उसे लक्ष्य में रखना चाहिए।

अंध-पंगु-न्याय

एक नगर में आग लग गयी। सब लोग नगर खाली कर गये, पर एक अंधा और एक लँगड़ा रह गये। अंधा देखता ही नहीं था, कैसे जाता! और लँगड़ा तो चलने में ही असमर्थ था। उधर आग कुलाँचें मारती हुई आगे बढ़ती आ रही थी और प्रतिपल उन दोनों के निकट आती जा रही थी, पर उन्हें बाहर निकलने का उपाय नहीं सूझ रहा था। लँगड़े को तदबीर सूझ गयी। उसने अंधे से कहा—"भाई सूरदास! तू मुझे कंधे पर बिठा ले, मैं तुझे रास्ता दिखाता चलूँगा। इस तरह हम दोनों बच जायेंगे।"

अंधे ने यह बात मंजूर कर ली। उसने लँगड़े को अपने कंधों पर बिठा लिया। लँगड़ा रास्ता बताता गया। इस तरह दोनों की जान बच गयी।

यहाँ अन्धे को ज्ञानरहित समझिये। और, पंगु को क्रियारहित समझिये। जैसे अकेला अंधा या अकेला लँगड़ा नगर से बाहर नहीं निकल सकते थे, वैसे ही अकेला ज्ञान या अकेली क्रिया मनुष्य को तार नहीं सकती। जब इन दोनों का संयोग होता है, तभी संसार-रूपी प्रज्वलित नगर से बाहर निकला जा सकता है।

पाँच प्रकार के अनुष्ठान

क्रिया का अनुष्ठान सब मनुष्य एक ही भाव से नहीं करते, विभिन्न भावों से करते हैं, इसलिए शास्त्रकारों ने उनकी कक्षा समझने के लिए उनके पाँच प्रकार बताये हैं (१) विषानुष्ठान, (२) गरानुष्ठान, (३) अननुष्ठान, (४) तद्धेत्वनुष्ठान और (५) अमृतानुष्ठान। अब इनका सामान्य परिचय कर लीजिये।

जो अनुष्ठान विषतुल्य है, वह विषानुष्ठान है। दृष्टि के विकृत होने पर

अनुपम फल देनेवाला अनुष्ठान भी विषतुल्य बन जाता है। जो अनुष्ठान लब्धि, कीर्ति, सांसारिक भोग आदि प्राप्त करने की इच्छा से किये जाते हैं, वे भी विषानुष्ठान हैं। ऐसे अनुष्ठानों को विष की तरह त्याग कर देना चाहिए।

जो अनुष्ठान गरतुल्य है, वह गरानुष्ठान है। इस लोक के भोगों के प्रति निःस्पृहता, परन्तु परलोक के दिव्य भोगों को भोगने की अभिलाषा-पूर्वक जो अनुष्ठान किये जाते हैं, वे गरानुष्ठान हैं। विषानुष्ठान से यह कुछ अच्छा है, फिर भी हेय तो है ही। इस लोक की भोगेच्छा छोड़ दी, पर परलोक के भोगों की इच्छा रखी, तो भोगेच्छा तो कायम रही ही। मूल बात यह है कि, इहलोक या परलोक के भोगों की इच्छा रखकर धार्मिक अनुष्ठान करना योग्य नहीं है।

जो अनुष्ठान अन् यानी न करने के समान है उसे अननुष्ठान कहते हैं। जहाँ इस बात का ही ख्याल न हो कि अनुष्ठान किसलिए किया जा रहा है, वह अननुष्ठान है। यह अनुष्ठान धर्म-मुग्ध जीवों को किंचित उपकारक होता है, इसलिए इसे कथञ्चित् उपादेय माना गया है।

जो अनुष्ठान तद् हेतुवाला हो वह तद्+हेतु+अनुष्ठान=तद्धेत्व-नुष्ठान है। तद् यानी वह हेतु, मोक्ष का हेतु। तात्पर्य यह कि, जो अनुष्ठान मोक्ष, परमपद या निर्वाण प्राप्त करने के हेतु से शुभ भावपूर्वक किया जाये उसे तद्धेत्वनुष्ठान समझना चाहिए। इस अनुष्ठान की उपादेयता स्पष्ट है।

जो अनुष्ठान अमृततुल्य हो, वह अमृतानुष्ठान है। जो अनुष्ठान शुद्ध श्रद्धापूर्वक परम संवेग से भावित मन द्वारा केवल निर्जरा के लिए किया जाये वह अमृतानुष्ठान है। यह अनुष्ठान सर्वश्रेष्ठ है।

अनुष्ठानों के उपर्युक्त प्रकारों से यह स्पष्ट होता है कि क्रिया भले ही एक ही प्रकार की हो, पर हेतु के अनुसार वह उत्तम, मध्यम या जघन्य हो जाती है। क्रिया का हेतु ऊँचा होना चाहिए। जो क्रिया

मोक्ष प्राप्ति के लिए की जायेगी वह ऊँची है और जो सासारिक सुखभोग की इच्छा से की जायेगी वह नीची है।

दो आदमी एक सा भोजन करें, लेकिन उनमें से एक शरीर को टिकाने लायक करे ताकि यथाशक्ति धर्माराधन कर सके। और, दूसरा देह पुष्ट करके विषय भोगने की इच्छा करे तो पहले की क्रिया प्रशस्त और दूसरे की अप्रशस्त कही जायेगी। इसलिए, क्रिया करते समय हेतु हमेशा उच्च रखना चाहिए।

गाथा की चार वस्तुओं में तीसरी वस्तु मलरहितता है। मिथ्यात्व आदि दोष अन्तर के मैल हैं। काम, क्रोध, लोभ, मान, मत्सर और हर्ष ये ६ भी अन्तर के मल हैं। जप, तप, ध्यान अन्तर के मैल को दूर करने की खास क्रियाएँ हैं।

गाथा की चार वस्तुओं में चौथी वस्तु सक्लेषरहितता है। रागद्वेष के परिणाम को सक्लेष कहा जाता है। सक्लेष दूर हो तो समभाव आये और आत्मा अपने मूल स्वभाव का दर्शन कर सके। ऐसों का ससार अत्यन्त अल्प बन जाये, इसमें आश्चर्य क्या ?

महानुभावो ! श्रद्धा, क्रियातत्परता, आतरिक शुद्धि और समता इन चार वस्तुओं द्वारा आत्मा अल्पससारी बनता है और ये चार वस्तुएँ धर्म के आराधन से ही प्राप्त होती हैं।

विशेष अवसर पर कहा जायेगा।

उन्तालीसवाँ व्याख्यान

धर्म के प्रकार

महानुभावो !

धर्म का विषय चल रहा है और तत्सम्बन्धी विचारणा में हम एक क्रम से आगे बढ़ रहे हैं। धर्म की आवश्यकता पर विचार किया गया, धर्म की शक्ति का परिचय प्राप्त किया, धर्म की व्याख्या जानी और उसके लक्षणों से परिचित हुए, और यह स्पष्ट किया गया कि, धर्म का आराधन कब और कैसे करना। लेकिन, अभी उसके सम्बन्ध में कितने ही महत्त्वपूर्ण मुद्दे बाकी हैं।

आपने आत्मा सम्बधी व्याख्यान सुने, कर्म सम्बधी व्याख्यान सुने और अब धर्म-सम्बधी बातें चल रही हैं। कुछ लोग कहते हैं कि, "जितना नहाये उतना पुण्य। अन्तिम कुछ व्याख्यान न सुने तो क्या हुआ ?" लेकिन, आधा सुनना आधा न सुनना उचित नहीं है। अन्तिम व्याख्यानों में विषय का सार होता है। इसलिए, उन्हें तो सुनना ही चाहिए।

आप दही बिलोना शुरू करें और बीच में ही छोड़ दें तो क्या मक्खन निकलेगा ? या बम्बई से अहमदाबाद जाना हो और बीच में सूरत, भड़ौंच या बड़ौदा उतर पड़ें तो क्या आप अहमदाबाद पहुँच गये ? नीतिविशारदों ने '**आरब्धस्यान्तगमन**'—शुरू करें उसके अन्त तक जायें—यह उत्तम नीति बतलायी है। सब सत्पुरुष इसी नीति का अनुसरण करते हैं, आप भी करें।

दुनिया में बहुत-से धर्म प्रचलित हैं। उनमें जैन-धर्म अति प्राचीन है, वैदिक धर्म प्राचीन है, बौद्ध, खिस्ती और इस्लाम धर्म तो पच्चीस सौ से

पन्द्रह सौ वर्ष के अन्दर स्थापित हुए हैं, और सिक्ख, आर्यसमाज, ब्रह्म-समाज, प्रार्थनासमाज आदि पाँच सौ से सौ वर्ष के अन्दर स्थापित हुए हैं।

'जूना सो सोना (ओल्ड इज गोल्ड)'—इस न्याय को लागू करें तो जैनधर्म सर्वश्रेष्ठ ठहरेगा, क्योंकि वह प्राचीनतम धर्म है। कुछ लोग समझते हैं कि, जैनधर्म श्री महावीर प्रभु से प्रारम्भ हुआ, लेकिन यह ठीक नहीं है। उनसे पहले भी जैनधर्म के तेईस तीर्थंकर हो चुके थे। कुछ लोग यह समझते हैं कि, श्री ऋषभदेव से धर्म का प्रारम्भ हुआ, लेकिन यह बात भी ठीक नहीं है। इस अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से हम श्री ऋषभदेव भगवान् को जैन-धर्म के संस्थापक अर्थात् युग आदि देव कह सकते हैं, पर कालचक्र की अपेक्षा से तो इस लोक में ऐसी कितनी ही अवसर्पिणियाँ और उत्सर्पिणियाँ व्यतीत हो गयी हैं। और, उस हर अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल में तीर्थंकर हुए हैं और उन्होंने जैनधर्म का प्रवर्तन किया है, इसलिए हम कहते हैं कि, जैनधर्म अनादि है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'प्राचीनतम् श्रेष्ठतम भी है, यह मानना ठीक नहीं है।' पर, कोई चीज बहुत पुरानी क्यों हुई, इस पर भी विचार करना चाहिए। एक पेढ़ी दो सौ वर्ष से काम कर रही हो तो बाजार में उसकी साख अधिक होती है और लोग निर्द्वन्द्व होकर उसके साथ लेन देन का व्यवहार करते हैं। नयी पेढ़ी के साथ ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता। यह तो सिर्फ दलील के लिए कहा गया, वैसे जैन धर्म तो गुण की कसौटी में भी सबसे आगे रहनेवाला है।

कुछ कहते हैं कि, 'प्राचीनता को लक्ष्य में लेते हैं तो संख्या को भी लीजिये और जिसकी संख्या सब-से-ज्यादा हो उसे श्रेय मानिये। वह धर्म श्रेष्ठ न हो तो उसके अनुयायी अधिक कैसे हों?' लेकिन, हम पहले बतला चुके हैं कि, संख्या से श्रेष्ठता की कसौटी करना अनुचित है। किसी दूकान पर ग्राहक अधिक आने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता। वह दूकान न्याय

से ही चलती है। कारण कि, ग्राहक तो इसलिए भी ज्यादा आ सकते हैं कि, दुकान मौके की हो, अथवा प्रचार ज्यादा हो, अथवा छूटछाट ज्यादा हो और आसपास वैसी दुकान हो अथवा ग्राहकों को सच्ची समझ न हो। इसलिए धर्म की श्रेष्ठता का निर्णय उसकी सत्यता से करना चाहिए।

कितने ही लोग कहते हैं—"विभिन्न धर्मों की बात सुनकर हमारी मति भ्रम में पड़ जाती है। अत एक ही धर्म निर्धारित कर दिया जाये तो क्या हानि है? फिर कोई धर्म मानने का--प्रश्न तो नहीं रह जायेगा।" परन्तु यह कथन जगत को वास्तविक समस्या समझे बिना कहा गया है। एक ही धर्म की कल्पना करनेवाले को यह समझना चाहिए कि, ससार के प्राणिमात्र एक समान ही वस्त्र क्यों नहीं पहनते? एक सरीखा भोजन क्यों नहीं करते? एक समान रीति रिवाज का पालन क्यों नहीं करते? यदि ये बातें शक्य हो जायें तो एक धर्म की बात भी शक्य हो जाये! पर, आज तो स्थिति यह है कि, एक घर की चार नारियाँ भी एक समान वस्त्र नहीं पहनतीं। एक गुजराती वेशभूषा पसद करती है तो दूसरी दक्षिणी, तीसरी पजाबी और चौथी बगाली! यदि घर में विवाह अथवा अन्य कोई प्रसग आ पड़े तो एक नारी दिन में दस दस बार वस्त्र बदलती है और ऐसा करने में उसे आनन्द आता है। इतनी वैविधा के रुचिवाले जगत में भला एक धर्म किस प्रकार सम्भव है?

जिन विचारों के पीछे वास्तविकता न हो, उन्हें हम 'शेखचिल्ली का तर्क' कहते हैं। एक मियाँ तालाब के किनारे बड़ के पेड़ के नीचे बैठे थे। वे विचार करने लगे कि 'अगर तालाब का सारा पानी घी हो जाये और बड़ के पत्ते रोटियाँ हो जायें तो बन्दा दबा-दबा कर खाये!' मगर तालाब का पानी घी कैसे बने? और, बड़ के पत्ते रोटियाँ कैसे बनें? अगर नहीं बन सकते तो 'बन्दा' दबा कर खा कैसे सकता है?

कुछ लोग कहते हैं कि, 'सब धर्मों के बजाये एक धर्म भले ही न हो सके, पर हमें सभी धर्मों को मान देना चाहिए और उनसे अच्छी बातें

ग्रहण करनी चाहिए।' लेकिन, यह सोचना भी गलत है। हम किसी भी धर्म का अपमान न करें, पर मान तो गुण-दोष की परीक्षा में अच्छा निकलनेवाले धर्म को ही दिया जा सकता है। परीक्षा के बिना सबको अच्छा मान लेना और मान देना तो हीरे और काँच को समान मान लेना है। 'जो धर्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों तक के प्रति दया पालने की बात कहता है, वह भी अच्छा और जो पशुबध की छूट देता है वह भी अच्छा! जो धर्म मास-मदिरा के सम्पूर्ण त्याग की बात कहता है, वह भी अच्छा और जो मासाहार या मदिरापान की छूट देता है, वह भी अच्छा!'—ऐसा मानना वस्तुत एक प्रकार का बुद्धिभ्रम है।

अच्छी बात हर जगह से ग्रहण करने में आपत्ति नहीं है, पर प्रश्न यह है कि, 'अच्छी बात' कहा किसे जाये? इसकी नीति शास्त्रकारों ने निर्धारित कर दी है—"जिसमें अहिंसा हो, सयम हो, तप हो वह अच्छी बात है और जिसमे उसका अभाव है, या अल्पता है वह खराब बात है।" इस नीति के अनुसार हम अच्छी वस्तु को अवश्य ग्रहण कर सकते हैं।

महानुभावो! आज धर्म के प्रकारों के विषय मे विवेचन करना है, उसमें इतनी प्रासगिक बातें हो गयीं। आजकल युवक-युवतियाँ स्कूल कालेजों की सभा-सोसाइटियों से अनेक विचार ले आते हैं और उन्हें आदर्श मानकर उनका अनुशीलन करने लगते हैं, इसलिए उनका यह भ्रम भग करना आवश्यक है।

अब धर्म के प्रकारों पर आयें। यहाँ एक महानुभाव प्रश्न करते हैं— "नमस्कार-मत्र मे देव और गुरु की वन्दना आती है, पर धर्म की वन्दना नहीं आती, इससे यह सिद्ध होता है कि, धर्म मूलभूत वस्तु नहीं है। फिर उसके प्रकारों का वर्णन किसलिए?" उक्त महोदय से पूछना चाहिए कि क्या आप 'नमस्कार मत्र' का अर्थ भी ठीक ठीक जानते हैं? नमस्कार मत्र के पाँच पदों के बाद 'एसो पच नमुक्कारो, सव्वपाव-

प्पणासणो। **मंगलाणं च सव्वेसिं, पढम हवइ मंगल ॥'** ये पद आते हैं। यहाँ पच परमेष्ठी को किये जानेवाले नमस्कार को धर्म दर्शाया है। इस धर्म को सर्व पाप-प्रणाशक और सर्व मगलों में उत्कृष्ट मगल कहा है। वह इसकी स्तुतिरूप वन्दना है, इसलिए धर्म मूलभूत वस्तु है।

नमस्कार मत्र के प्रथम पद में अरिहतदेव (तीर्थंकरों) को नमस्कार किया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि, वे धर्मप्रवर्तन करते हैं। फिर आचार्य, उपाध्याय और साधु भगवतों को तीसरे, चौथे और पाँचवें पद में वन्दन किया गया है, इसका कारण यह है कि, वे भाविकों को धर्म-लाभ कराते हैं। इस प्रकार नमस्कार मत्र में धर्म ओतप्रोत है। अत , मानना पड़ेगा कि, नमस्कार-मत्र में धर्म ही मुख्य मूलभूत वस्तु है।

प्रश्न—यहाँ, पहले, तीसरे और चौथे पद में नमस्कार का सम्बध आपने धर्म से प्रदर्शित किया पर दूसरे पद का धर्म से कोई सम्बन्ध आपने नहीं बताया। फिर आप कैसे कह सकते हैं कि, नमस्कार-मत्र में धर्म ओतप्रोत है ?

उत्तर—दूसरे पद में सिद्ध-भगवतों को नमस्कार किया गया है। वे धर्माराधन से प्राप्त मोक्ष के साक्षी हैं। सिद्ध-भगवत उत्कृष्ट धर्माराधन से अपने सब कर्मों का नाश करके मोक्ष प्राप्त करनेवाले शुद्धात्मा हैं। अत , उनका नमस्कार भी धर्म-प्रबोधक है।

प्रश्न—"अभी भी एक प्रश्न पूछना है ?"

उत्तर—"पूछिये ?"

प्रश्न—"एक बार आपने धर्म की परिभाषा बताते हुए कहा कि, जो दुर्गति में पड़ते प्राणी को रोक रखे और स्वर्गादि उच्च गति में स्थापित करे वह धर्म और अब कहते हैं कि, पच परमेष्ठी को नमस्कार करना धर्म है, तो इन दो में से कौन-सी बात सच है ?

उत्तर—दोनों सत्य हैं। प्राणियों को दुर्गति में गिरने से धारण किये

ग्रहण करनी चाहिए।' लेकिन, यह सोचना भी गलत है। हम किसी भी धर्म का अपमान न करें, पर मान तो गुण-दोष की परीक्षा में अच्छा निकलनेवाले धर्म को ही दिया जा सकता है। परीक्षा के बिना सबको अच्छा मान लेना और मान देना तो हीरे और काँच को समान मान लेना है। 'जो धर्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों तक के प्रति दया पालने की बात कहता है, वह भी अच्छा और जो पशुवध की छूट देता है वह भी अच्छा। जो धर्म मास मदिरा के सम्पूर्ण त्याग की बात कहता है, वह भी अच्छा और जो मासाहार या मदिरापान की छूट देता है, वह भी अच्छा!'—ऐसा मानना वस्तुत एक प्रकार का बुद्धिभ्रम है।

अच्छी बात हर जगह से ग्रहण करने में आपत्ति नहीं है, पर प्रश्न यह है कि, 'अच्छी बात' कहा किसे जाये? इसकी नीति शास्त्रकारों ने निर्धारित कर दी है—"जिसमें अहिंसा हो, सयम हो, तप हो वह अच्छी बात है और जिसमें उसका अभाव है, या अल्पता है वह खराब बात है।" इस नीति के अनुसार हम अच्छी वस्तु को अवश्य ग्रहण कर सकते हैं।

महानुभावो! आज धर्म के प्रकारों के विषय में विवेचन करना है, उसमें इतनी प्रासगिक बातें हो गयीं। आजकल युवक-युवतियाँ स्कूल कालेजों की सभा-सोसाइटियों से अनेक विचार ले आते हैं और उन्हें आदर्श मानकर उनका अनुशीलन करने लगते है, इसलिए उनका यह भ्रम भग करना आवश्यक है।

अब धर्म के प्रकारों पर आयें। यहाँ एक महानुभाव प्रश्न करते हैं—"नमस्कार मत्र में देव और गुरु की वन्दना आती है, पर धर्म की वन्दना नहीं आती, इससे यह सिद्ध होता है कि, धर्म मूलभूत वस्तु नहीं है। फिर उसके प्रकारों का वर्णन किसलिए?" उक्त महोदय से पूछना चाहिए कि क्या आप 'नमस्कार मत्र' का अर्थ भी ठीक ठीक जानते हैं? नमस्कार मत्र के पाँच पदों के बाद 'एसो पच नमुक्कारो, सव्वपाव-

प्पणासणो। **मंगलाणं च सव्वेसिं, पढम हवइ मंगलं** ॥' ये पद आते हैं। यहाँ पच परमेष्ठी को किये जानेवाले नमस्कार को धर्म दर्शाया है। इस धर्म को सर्व पाप-प्रणाशक और सर्व मगलों में उत्कृष्ट मगल कहा है। वह इसकी स्तुतिरूप वन्दना है, इसलिए धर्म मूलभूत वस्तु है।

नमस्कार मत्र के प्रथम पद में अरिहतदेव (तीर्थंकरों) को नमस्कार किया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि, वे धर्मप्रवर्तन करते हैं। फिर आचार्य, उपाध्याय और साधु भगवतों को तीसरे, चौथे और पाँचवें पद में वन्दन किया गया है, इसका कारण यह है कि, वे भाविकों को धर्म-लाभ कराते हैं। इस प्रकार नमस्कार मत्र में धर्म ओतप्रोत है। अत, मानना पड़ेगा कि, नमस्कार-मत्र में धर्म ही मुख्य मूलभूत वस्तु है।

प्रश्न—यहाँ, पहले, तीसरे और चौथे पद में नमस्कार का सम्बध आपने धर्म से प्रदर्शित किया पर दूसरे पद का धर्म से कोई सम्बन्ध आपने नहीं बताया। फिर आप कैसे कह सकते हैं कि, नमस्कार मत्र में धर्म ओतप्रोत है?

उत्तर—दूसरे पद में सिद्ध-भगवतों को नमस्कार किया गया है। वे धर्माराधन से प्राप्त मोक्ष के साक्षी हैं। सिद्ध-भगवत उत्कृष्ट धर्माराधन से अपने सब कर्मों का नाश करके मोक्ष प्राप्त करनेवाले शुद्धात्मा हैं। अत, उनका नमस्कार भी धर्म-प्रबोधक है।

प्रश्न—"अभी भी एक प्रश्न पूछना है?"

उत्तर—"पूछिये?"

प्रश्न—"एक बार आपने धर्म की परिभाषा बताते हुए कहा कि, जो दुर्गति में पड़ते प्राणी को रोक रखे और स्वर्गादि उच्च गति में स्थापित करे वह धर्म और अब कहते हैं कि, पच-परमेष्ठी को नमस्कार करना धर्म है, तो इन दो में से कौन-सी बात सच है?

उत्तर—दोनों सत्य हैं। प्राणियों को दुर्गति में गिरने से धारण किये

रहे और स्वर्गादि उच्चगति में स्थापित करे सो धर्म है, यह व्याख्या लक्षण से हुई, और पचपरमेष्ठी को किया जानेवाला नमस्कार धर्म है, यह व्याख्या स्वरूप से हुई। पचपरमेष्ठी को किया जानेवाला नमस्कार प्राणियों को दुर्गति मे गिरने से रोकता है और स्वर्गादिक उच्च गतियों मे स्थापित करता है। शास्त्र में स्पष्ट कहा है—

जे केइ गया मुक्खं, गच्छंति य केऽवि कम्ममलमुक्का।
ते सव्वेच्चियजाणसु जिणनवकारप्पभावेण ॥

—नवकारफलप्रकरण, गाथा १७

—जो कोई मोक्ष गये और जो कोई कर्ममल से रहित होकर मोक्ष जाते हैं, वह सब भी श्री जिननवकार के ही प्रभाव से है, ऐसा जानो।

कोई अगर नमस्कार के प्रभाव से उसी भव में किसी कारणवश मोक्ष न पाये, तो उच्च कोटि के देव की गति अवश्य पाता है। इसके अनेक दृष्टान्त जिन शासन में प्रसिद्ध हैं। काष्ठ मे जलते हुए नाग ने नवकारमंत्र सुना और वह धरणेन्द्र हुआ।

अब प्रस्तुत विषय पर आवें। धर्म के अनेक प्रकार हो सकते हैं। धर्म एक प्रकार का हो सकता है, दो प्रकार का हो सकता है। तीन, चार, पाँच और छ प्रकारों के हो सकते हैं। आत्मशुद्धि धर्म का एक प्रकार है। आत्मशुद्धि से तात्पर्य है—विभाव दशा दूर करना। ज्यों ज्यों विभावदशा दूर होती जाती है, त्यों-त्यों आत्मा शुद्ध होती जाती है और अपने मूल स्वरूप में आती जाती है।

वत्थुसहावो धम्मो

—वस्तु के स्वभाव को भी धर्म कहते हैं। जैसे मिर्च का धर्म उसका तीखापन, गुड़ का मिठापन और नीम का कड़वापन है, उसी प्रकार

आत्मा का स्वभाव 'धर्म' है। आत्मा का मूल स्वभाव ज्ञान, दर्शन, चारित्र है, यह आप जानते ही हैं।

प्रश्न—धर्म की इस नयी व्याख्या से पहली व्याख्या बाधित तो नहीं होती ?

उत्तर—बिलकुल नहीं ! आत्मा शुद्ध होता जाता है, इसलिए उसकी दुर्गति रुकती है और वह अवश्य सद्गति का भागी होता है।

असद्निवृत्ति और सत्प्रवृत्ति ये धर्म के दो प्रकार हैं। जो मिथ्या है, अनिष्ट है, पापकारी है, कर्मबन्धन पैदा करनेवाला है, वह 'असत्' है। उससे निवृत्त होना, उससे छूटना अर्थात उसका त्याग करना असद्निवृत्ति है। और, जो सत्य है, हितकारी है, श्रेयस्कर है, कर्मबन्धन को काटनेवाला है, वह 'सत्' है। उसमें प्रवृत्ति करना, अर्थात् उसकी आराधना करना सत्प्रवृत्ति है। अठारह पापस्थानकों का त्याग असद्निवृत्ति में आयेगा और सामायिक, प्रभुपूजा, प्रतिक्रमण, पोषध, चारित्रपालन, दान-दया आदिक सत्प्रवृत्ति में आयेगा।

निश्चय और व्यवहार ऐसे दो भेदों से भी धर्म के दो प्रकार होते हैं। इनमें जो निश्चय दृष्टि का अनुसरण करे, वह निश्चय धर्म और व्यवहार दृष्टि का अनुसरण करे वह व्यवहार धर्म है। निश्चयदृष्टि तत्वलक्षी होने के कारण आत्मा के शुद्ध स्वरूप को धर्म मानती है और व्यवहारदृष्टि साधनलक्षी होने के कारण आत्मा का साक्षात्कार करानेवाले सब उपायों को धर्म मानती है। यह नहीं समझना चाहिए कि, इनमें एक दृष्टि सच्ची और दूसरी झूठी है। निश्चय का आधार व्यवहार है और व्यवहार का लक्ष्य निश्चय है।

कुछ कहते हैं कि, 'अमुक ने आज तक अनेक प्रकार की क्रियाएँ कीं, फिर भी आत्मा का कल्याण नहीं हुआ, इसलिए क्रियाकाडों को छोड़ो और आत्मा को पहचानने का ही प्रयत्न करो !' लेकिन, साधन बिना

आत्मा को पहचान ही कैसे सकते हैं ? गुरु, व्याख्यान, पुस्तक आदि उसके साधन हैं ।

कुछ यह कहते हैं कि, 'क्रिया ही करो, कारण कि, क्रिया बिना किसी की मुक्ति नहीं हुई ।' परन्तु, क्रिया में भी लक्ष्य तो आत्मशुद्धि का ही होना चाहिए। जिनका लक्ष्य आत्मशुद्धि नहीं है, वे क्रियाएँ कभी भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं करा सकतीं !

इस तरह निश्चय और व्यवहार दोनों की समान आवश्यकता है। जिसने एक को अपना कर दूसरे की उपेक्षा की उसकी दुर्दशा हुई है।

द्रव्य और भाव से भी धर्म के दो प्रकार होते हैं। इनमें द्रव्यधर्म व्यवहारधर्म है और भावधर्म निश्चयधर्म है।

शास्त्रकारों ने श्रुतधर्म और चारित्रधर्म—धर्म के ये भी दो प्रकार प्रतिपादित किये हैं। इनमें श्रुतधर्म द्वादशांग तथा तत्सम्बन्धी साहित्य का स्वाध्याय है और चारित्रधर्म सयमपालन है। इसके अतिरिक्त सर्वविरति और देशविरति—धर्म के ऐसे भी दो भेद प्रसिद्ध हैं। इनमें सर्वविरति साधु का धर्म है और देशविरति गृहस्थ का धर्म है।

मनोदड, वचनदड और कायदड से विरमना धर्म के तीन प्रकार हैं। मनोदड से विरमना, यानी किसी को मन से दड नहीं देना, किसी का अशुभ चिन्तन न करना। वचनदंड से विरमना, यानी किसी का वचन द्वारा अहित न करना, वचन से दु ख न उपजाना। और, कायदंड से विरमना, यानी काय की प्रवृत्ति से किसी को आघात न पहुँचाना, परिताप न पहुँचाना, किसी की हिंसा न करना।[1]

सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का आराधन—ये भी धर्म के तीन प्रकार हैं। श्री उमास्वाति महाराज ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के प्रारम्भ में इन तीन वस्तुओं को ही मोक्षमार्ग कहा है—

---

१ जरथुस्त्र-धर्म में भी मन, वचन, काया की पवित्रता को धर्म माना है।

"सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः"

ज्ञान दर्शन, चारित्र और तप की आराधना—ये धर्म के चार प्रकार हैं। इनके विषय में शास्त्रों में कहा है कि—

> **नाणं च दंसणं चेव, चारित्तं च तवो तहा।**
> **एवमग्गमणुपत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं॥**

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, इस मार्ग को प्राप्त हुए जीव सद्-गति में जाते हैं।

यहाँ धर्म का यह लक्षण बराबर लागू पड़ता है कि, 'जो दुर्गति में जाने से रोके और सद्गति में ले जाये वह धर्म। नवपदजी के छठे, सातवें, आठवें तथा नवें पदों में धर्म के इन चार प्रकारों का वर्णन है।

दान, शील, तप और भाव—ये धर्म के चार प्रकार हैं। इनके विषय में शास्त्रों में कहा है कि—

> **दानशीलतपोभाव भेदैर्धर्मश्चतुर्विध।**
> **भवाब्धियानपात्राभः प्रोक्तोऽर्हद्भिः कृपापरैः॥**

परम कृपालु अर्हत् देवों ने संसार सागर को तरने में जहाज-जैसा धर्म दान, शील, तप और भावना भेद से चार प्रकार का कहा है। और, यह भी कहा है कि—

> **दानं च शीलं च तपश्च भावो,**
> **धर्मश्चतुर्धा जिनबान्धवेन।**
> **निरूपितो यो जगता हिताय,**
> **स मानसे मे रमतामजस्रम्॥**

—परम कारुणिक जिनेश्वर देवों ने जगत के हित के लिए दान, शील, तप और भाव चार प्रकार का धर्म कहा है, वह मेरे मन में निरन्तर रमे।

आत्मा को पहचान ही कैसे सकते हैं ? गुरु, व्याख्यान, पुस्तक आदि उसके साधन हैं।

कुछ यह कहते हैं कि, 'क्रिया ही करो, कारण कि, क्रिया बिना किसी की मुक्ति नहीं हुई।' परन्तु, क्रिया में भी लक्ष्य तो आत्मशुद्धि का ही होना चाहिए। जिनका लक्ष्य आत्मशुद्धि नहीं है, वे क्रियाएँ कभी भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं करा सकतीं।

इस तरह निश्चय और व्यवहार दोनों की समान आवश्यकता है। जिसने एक को अपना कर दूसरे की उपेक्षा की उसकी दुर्दशा हुई है।

द्रव्य और भाव से भी धर्म के दो प्रकार होते हैं। इनमें द्रव्यधर्म व्यवहारधर्म है और भावधर्म निश्चयधर्म है।

शास्त्रकारों ने श्रुतधर्म और चारित्रधर्म—धर्म के ये भी दो प्रकार प्रतिपादित किये हैं। इनमें श्रुतधर्म द्वादशांग तथा तत्सम्बन्धी साहित्य का स्वाध्याय है और चारित्रधर्म संयमपालन है। इसके अतिरिक्त सर्वविरति और देशविरति—धर्म के ऐसे भी दो भेद प्रसिद्ध हैं। इनमें सर्वविरति साधु का धर्म है और देशविरति गृहस्थ का धर्म है।

मनोदंड, वचनदंड और कायदंड से विरमना धर्म के तीन प्रकार हैं। मनोदंड से विरमना, यानी किसी को मन से दंड नहीं देना, किसी का अशुभ चिन्तन न करना। वचनदंड से विरमना, यानी किसी का वचन द्वारा अहित न करना, वचन से दुःख न उपजाना। और, कायदंड से विरमना, यानी काय की प्रवृत्ति से किसी को आघात न पहुँचाना, परिताप न पहुँचाना, किसी की हिंसा न करना।[१]

सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का आराधन—ये भी धर्म के तीन प्रकार हैं। श्री उमास्वाति महाराज ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के प्रारम्भ में इन तीन वस्तुओं को ही मोक्षमार्ग कहा है—

---

१. जरथुस्त्र-धर्म में भी मन, वचन, काया की पवित्रता को धर्म माना है।

"सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः"

ज्ञान दर्शन, चारित्र और तप की आराधना—ये धर्म के चार प्रकार हैं। इनके विषय में शास्त्रों में कहा है कि—

नाणं च दंसणं चेव, चारित्तं च तवो तहा।
एवमग्गमणुपत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, इस मार्ग को प्राप्त हुए जीव सद्-गति में जाते हैं।

यहाँ धर्म का यह लक्षण बराबर लागू पड़ता है कि, 'जो दुर्गति में जाने से रोके और सद्गति में ले जाये वह धर्म। नवपदजी के छठे, सातवें, आठवें तथा नवें पदों में धर्म के इन चार प्रकारों का वर्णन है।

दान, शील, तप और भाव—ये धर्म के चार प्रकार हैं। इनके विषय में शास्त्रों में कहा है कि—

दानशीलतपोभाव भेदैर्धर्मश्चतुर्विधः।
भवाब्धियानपात्राभः प्रोक्तोऽर्हद्भिः कृपापरैः॥

परम कृपालु अर्हत् देवों ने संसार सागर को तरने में जहाज-जैसा धर्म दान, शील, तप और भावना भेद से चार प्रकार का कहा है। और, यह भी कहा है कि—

दानं च शीलं च तपश्च भावो,
धर्मश्चतुर्धा जिनबान्धवेन।
निरूपितो यो जगतां हिताय,
स मानसे मे रमतामजस्रम्॥

—परम कारुणिक जिनेश्वर देवों ने जगत के हित के लिए दान, शील, तप और भाव चार प्रकार का धर्म कहा है, वह मेरे मन में निरन्तर रमे।

अपेक्षा विशेष से आचार को धर्म कहा जाता है। वह आचार पाँच प्रकार का है, इसलिए धर्म को भी पाँच प्रकार का माना गया है। वह इस प्रकार—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। इनमें ज्ञानाचार काल, विनय, बहुमान आदि आठ प्रकार का है, दर्शनाचार निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्स आदि आठ प्रकार का है, चारित्राचार पाँच समिति और तीन गुप्ति के भेद से आठ प्रकार का है, तपाचार बाह्य और अभ्यन्तर तप के भेद से दो प्रकार का है और इनमें से हर एक के छह छह भेद गिनने पर कुल बारह प्रकार का है, और वीर्याचार मन, वचन और काय बल से तीन प्रकार का है।

पाँच इन्द्रियों को और मन को विजय करना ६ प्रकार का धर्म है। जो इन्द्रियों और मन को विजय करता है, उसे अध्यात्म का पूरा प्रसाद प्राप्त होता है और दुर्गति का भय बिलकुल नहीं रहता। इस विषय में जैन-शास्त्रों में एक सुन्दर प्रसंग मिलता है।

केशीकुमार-गौतम-वार्ता

श्रमण केशीकुमार भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा में अवतरित हुए थे और श्री गौतम भगवान् महावीर के मुख्य शिष्य थे। एक बार इन दोनों महात्माओं का मिलाप हुआ। तब श्रमण केशीकुमार ने पूछा—"हे गौतम! आप हजारों वैरियों के बीच में बसे हुए हैं और वे वैरी आप पर आक्रमण कर रहे हैं, उन्हें आप किस प्रकार जीतते हैं?"

श्री गौतम ने कहा—"हे महात्मन्! एक को जीतने से पाँच जीत

लिये जाते हैं, पाँच को जीतने से दस जीत लिये जाते है और दस को जीतने से सब जीत लिये जाते हैं। इस प्रकार मैं सर्व शत्रुओं को जीतता हूँ।"

प्रश्न मार्मिक था, इसलिए उत्तर भी मार्मिक दिया गया था। इस वस्तु को विशेष स्पष्ट करने के लिए श्रमण केशीकुमार ने पूछा—"हे गौतम! आप शत्रु किसे गिनते हैं?"

उत्तर में श्री गौतम स्वामी ने कहा—"हे मुनिवर! न जीता हुआ आत्मा (अविजित भावमन) एक शत्रु है। न जीती हुई कषाएँ और इन्द्रियाँ दूसरी शत्रु हैं। उन्हें जीतकर यथा न्याय यानी जिनेश्वरों के बताये हुए मार्गानुसार विचरता हूँ।[1]

कहने का भावार्थ यह था कि, एक मन को जीतने से चार कषायों को जीता जा सकता है, यानी कुल पाँच शत्रुओं को जीता जा सकता है। और, इन पाँच को जीता कि पाँचों इन्द्रियाँ वश में आ जाती हैं। इस तरह कुल दस शत्रु जीते गये कि शेष सब शत्रु पराजित हुए!

इस समय श्रमण केशीकुमार ने एक और भी मार्मिक प्रश्न किया—"हे गौतम! यह महासाहसिक, भयंकर और दुष्ट घोड़ा तीव्र गति से दौड़ रहा है। आप उस पर बैठे हुए उन्मार्ग में क्यों नहीं जाते?"

श्री गौतम ने कहा—"हे महामुनि! उस सरपट दौड़ते हुए घोड़े को मैं श्रुत (शास्त्र) रूपी लगाम से बिलकुल काबू में रखता हूँ, इसलिए वह उन्मार्ग में नहीं जा पाता।"

श्रमण केशीकुमार ने पूछा—"वह घोड़ा कौन-सा है?"

---

१ एगप्पे अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य।
ते जिणित्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी॥
—श्री उत्तराध्ययन सूत्र।

अतिशय आनन्द हो तो इसमें नयी बात क्या है? उस घड़े को कोई देख न ले, इसलिए उसने उसे मिट्टी से ढँक दिया और शायद दूसरा घड़ा भी मिले ऐसी आशा से उसने मिट्टी खोदना चालू रखा। परिश्रम से पसीने से तर हो गया था। सर की पगड़ी भीग न जाये, इसलिए उसने उसे उतार कर एक तरफ रख दी थी।

इधर वह वणिकपुत्र उधर आया कि, कुछ दूर से ही उसे कुम्भार की टाल दिखलायी दे गयी। इससे वह हर्ष के आवेग में आकर बोल उठा कि, 'देख ली! देख ली!'

ये शब्द कुभार के कान में पड़े कि, वह चौंक उठा। उसने बाहर नजर करके देखा तो वणिक् पुत्र दिखा। इससे उसके मन में वहम हुआ कि, जरूर इस छोकरे ने मेरी लक्ष्मी देख ली है और इसीलिए कहता है कि 'देख ली, देख ली।' अब क्या किया जाये? अगर वह राजा के किसी अधिकारी को खबर दे देगा तो आयी हुई लक्ष्मी चली जायेगी और मुझे दरबार में चक्कर खाने पड़ेंगे वह मुफ्त में! इससे तो इस लड़के को मना लेना अच्छा। इसलिए उसने पुकार कर कहा—"सेठ! तुमने देख लिया तो अच्छा किया, पर पास आओ। इसमें मेरा और तुम्हारा आधा आधा हिस्सा!"

बनिये की जात यानी बड़ी चकोर! वह इशारे में सब समझ जाती है। यह लड़का धर्म में पिछड़ा हुआ था, पर अक्ल का कुन्द नहीं था। वह बात को फौरन ताड़ गया। इसलिए पास जाकर कहने लगा—'ओझा! पूरा कौर खाने में मजा नहीं है। इसमें से कुछ भाग राज्याधिकारी को भी देंगे तो ही शेष लक्ष्मी हमारे घर में रह सकेगी।' कुभार बोला—"जैसे तुम कहो!" फिर उसने वणिक्पुत्र की सलाह के अनुसार किया और दोनों मालदार हो गये।

अब वणिक्पुत्र को ऐसा विचार आया कि, मैंने तो मजाक में यह छोटा-सा नियम लिया था, फिर भी उसका परिणाम ऐसा सुन्दर हुआ,

तो समझपूर्वक बड़े नियम लेने से कितना लाभ होगा ! इसलिए अगर वह महात्मा फिर गाँव में आयें तो उनसे दूसरे बड़े नियम लिये जायें।

कुछ दिनों बाद वह महात्मा घूमते-फिरते उस गाँव में आये। वणिक्-पुत्र ने सारी बात कह सुनायी और बड़े नियमों की माँग की। उस समय महात्मा ने कहा—"सबसे बड़े और सुन्दर नियम तो पाँच महाव्रत ही हैं। उनका निरतिचार पालन करने से मनुष्य अनन्त सुख की प्राप्ति कर सकता है।' वणिक्पुत्र ने पाँच महाव्रत ले लिए और उनका निरतिचार पालन करना प्रारम्भ कर दिया। उस व्रत पालन के फलस्वरूप वह मरने के बाद बारहवें स्वर्ग में एक महर्द्धिक देव हुआ।

चार विचित्र नियम

ज्ञानतुंग नामक एक आचार्य अपने शिष्य के साथ, विहार करते हुए, एक पल्ली के सामने आ पहुँचे। बरसात शुरू हो गयी थी, इसलिए उन्होंने वहीं रुकने का विचार किया। वकचूल-नामक एक क्षत्रिय पुत्र उस पल्ली का नायक था। वह चोरी और डाके से ही अपना निर्वाह करता था। उसने उन्हें ठहरने का स्थान तो दे दिया, पर इस शर्त पर कि, जब तक उसकी हद में रहें तब तक किसी को धर्मोपदेश न करें। उसे डर था कि, कहीं उपदेश सुनकर उसके साथी चोरी-डाके का त्याग न कर दें। आचार्य ने शर्त मजूर कर ली और चातुर्मास वहीं पूर्ण किया।

ये आचार्य बड़े ज्ञानी और तपस्वी थे। उनके थोड़े सहवास से ही वकचूल के दिल में उनके प्रति मान उत्पन्न हो गया था, इसलिए विहार करते समय उन्हें विदाई देने के लिए वह सकुटुम्ब उनके साथ चला।

उसकी सीमा के बाहर पहुँच जाने पर, आचार्य ने कहा—"अब तक हम वचन से बँधे हुए थे, इसलिए धर्मोपदेश नहीं किया था। पर, अब तेरे हित के लिए कहते हैं कि, तू कुछ नियम धारण कर।' वकचूल के स्वीकार करने पर आचार्य ने उसे चार नियम दिये—(१) अजाना फल

अतिशय आनन्द हो तो इसमें नयी बात क्या है ? उस घड़े को कोई देख न ले, इसलिए उसने उसे मिट्टी से ढँक दिया और शायद दूसरा घड़ा भी मिले ऐसी आशा से उसने मिट्टी खोदना चालू रखा । परिश्रम से पसीने से तर हो गया था । सर की पगड़ी भीग न जाये, इसलिए उसने उसे उतार कर एक तरफ रख दी थी ।

इधर वह वणिकपुत्र उधर आया कि, कुछ दूर से ही उसे कुम्भार की टाल दिखलायी दे गयी । इससे वह हर्ष के आवेग म आकर बोल उठा कि, 'देख ली ! देख ली !'

ये शब्द कुभार के कान में पड़े कि, वह चौंक उठा । उसने बाहर नजर करके देखा तो वणिक् पुत्र दिखा । इससे उसके मन में वहम हुआ कि, जरूर इस छोकरे ने मेरी लक्ष्मी देख ली है और इसीलिए कहता है कि 'देख ली, देख ली ।' अब क्या किया जाये ? अगर वह राजा के किसी अधिकारी को खबर दे देगा तो आयी हुई लक्ष्मी चली जायेगी और मुझे दरबार में चक्कर खाने पड़ेंगे वह मुफ्त में ! इससे तो इस लड़के को मना लेना अच्छा । इसलिए उसने पुकार कर कहा—"सेठ ! तुमने देख लिया तो अच्छा किया, पर पास आओ । इसमें मेरा और तुम्हारा आधा आधा हिस्सा !"

बनिये की जात यानी बड़ी चकोर ! वह इशारे में सब समझ जाती है । यह लड़का धर्म में पिछड़ा हुआ था, पर अक्ल का कुन्द नहीं था । वह बात को फौरन ताड़ गया । इसलिए पास जाकर कहने लगा—'ओझा ! पूरा कौर खाने म मजा नहीं है । इसमें से कुछ भाग राज्याधिकारी को भी देंगे तो ही शेष लक्ष्मी हमारे घर में रह सकेगी ।' कुभार बोला—"जैसे तुम कहो !" फिर उसने वणिक्पुत्र की सलाह के अनुसार किया और दोनों मालदार हो गये ।

अब वणिक् पुत्र को ऐसा विचार आया कि, मैंने तो मजाक म यह छोटा-सा नियम लिया था, फिर भी उसका परिणाम ऐसा सुन्दर हुआ,

तो समझपूर्वक बड़े नियम लेने से कितना लाभ होगा ! इसलिए अगर वह महात्मा फिर गाँव में आयें तो उनसे दूसरे बड़े नियम लिये जायें।

कुछ दिनों बाद वह महात्मा घूमते-फिरते उस गाँव में आये। वणिक् पुत्र ने सारी बात कह सुनायी और बड़े नियमों की माँग की। उस समय महात्मा ने कहा—"सबसे बड़े और सुन्दर नियम तो पाँच महाव्रत ही हैं। उनका निरतिचार पालन करने से मनुष्य अनन्त सुख की प्राप्ति कर सकता है।' वणिक्पुत्र ने पाँच महाव्रत ले लिए और उनका निरतिचार पालन करना प्रारम्भ कर दिया। उस व्रत पालन के फलस्वरूप वह मरने के बाद बारहवें स्वर्ग में एक महर्द्धिक देव हुआ।

चार विचित्र नियम

ज्ञानतुंग-नामक एक आचार्य अपने शिष्य के साथ, विहार करते हुए, एक पल्ली के सामने आ पहुँचे। बरसात शुरू हो गयी थी, इसलिए उन्होंने वहीं रुकने का विचार किया। बकचूल नामक एक क्षत्रिय-पुत्र उस पल्ली का नायक था। वह चोरी और डाके से ही अपना निर्वाह करता था। उसने उन्हें ठहरने का स्थान तो दे दिया, पर इस शर्त पर कि, जब तक उसकी हद में रहें तब तक किसी को धर्मोपदेश न करें। उसे डर था कि, कहीं उपदेश सुनकर उसके साथी चोरी-डाके का त्याग न कर दें। आचार्य ने शर्त मंजूर कर ली और चातुर्मास वहीं पूर्ण किया।

ये आचार्य बड़े ज्ञानी और तपस्वी थे। उनके थोड़े सहवास से ही बकचूल के दिल में उनके प्रति मान उत्पन्न हो गया था, इसलिए विहार करते समय उन्हें विदाई देने के लिए वह सकुटुम्ब उनके साथ चला।

उसकी सीमा के बाहर पहुँच जाने पर, आचार्य ने कहा—"अब तक हम वचन से बँधे हुए थे, इसलिए धर्मोपदेश नहीं किया था। पर, अब तेरे हित के लिए कहते हैं कि, तू कुछ नियम धारण कर।' बकचूल के स्वीकार करने पर आचार्य ने उसे चार नियम दिये—(१) अजाना फल

न खाना। (२) किसी पर शस्त्र का प्रहार करना हो तो सात कदम पीछे हटकर करना। (३) राजा की रानी के साथ सग नहीं करना। और (४) कौवे का मास नहीं खाना।

वकचूल को लगा कि, इन नियमों के पालन करने में कोई खास कष्ट नहीं होनेवाला है। अत, उसने ये नियम ले लिये और आचार्य अपने रास्ते चले गये।

एक बार वकचूल बहुत से चोरों के साथ किसी गाँव पर डाका डालने गया। वहाँ से लौटते समय वह अटवी में भूल गया और वह और उसके साथी भूख से व्याकुल होने लगे। उसके साथी भोजन की खोज में निकले। उन्होंने एक वृक्ष पर सुन्दर फल देखे और लाकर वकचूल के सामने रख दिये। वकचूल ने उस फल का नाम पूछा। पर, साथी नाम से अनजान थे। वकचूल ने कहा—"मैं यह फल नहीं खा सकता, क्योंकि अजाना फल न खाने का मैंने नियम लिया है।" लेकिन, उसके साथियों ने वे फल खा लिये और थोड़ी देर में मृत्यु को प्राप्त हुए, कारण कि वे किंपाक-वृक्ष के फल थे। वकचूल सोचने लगा—"अहो! एक जरा से नियम ने मेरी जान बचायी।' फिर, वह किसी प्रकार अटवी से बाहर निकल गया और अपने स्थान पर पहुँच गया।

एक बार जब वह बाहर गया हुआ था, तब कुछ नाटकिया (भवाइया) लोग उसकी पल्ली में आये। उन्होंने खेल शुरू करने से पहले पल्लीपति को आमत्रण देना उचित मानकर वकचूल को बुलाने उसके घर आये। उस समय वकचूल की बहन ने देखा कि, "ये लोग तो हमारे शत्रु राजा के गाँव से आये हैं। इन्हें वकचूल की गैरहाजिरी का पता लग जायेगा, तो ये अपने राजा को उसकी खबर दे देंगे और वह एकाएक चढ़ाई करके राजा पल्ली को नष्ट कर डालेगा। इसलिए, इन्हें वकचूल की गैरहाजिरी की खबर नहीं पड़ने देनी चाहिए।" वह बोली—"तुम लोग खेल शुरू करो। वकचूल अभी आता है।"

फिर, उसने बिलकुल वकचूल की सी पोशाक पहनी और वह उसकी पत्नी के साथ बाहर आकर बैठी। नाटक रात को देर तक चलता रहा। फिर, वह नाटकियों को यथेष्ट दान देकर घर में आयी और उस पोशाक में ही अपनी भाभी के साथ सो रही।

भवितव्यता के योग से वकचूल उसी रात को वापस लौटा और रात रहते ही अपने घर आया। वहाँ अपनी पत्नी के साथ एक पुरुष को सोता देखकर वह एकदम गुस्से में आ गया और उसका घात करने के लिए अपनी तलवार म्यान से निकाल ली। उस समय उसे अपना नियम याद आया कि, किसी पर शस्त्र का प्रहार करना हो तो सात कदम पीछे हटना। उस नियम के पालनार्थ वह पीछे हटने लगा। जब सातवाँ डग भरा तो तलवार दीवाल से टकरायी और उसकी आवाज से उसकी बहन जाग गयी और "क्षमा मेरे वीर!" कहती हुई एक तरफ खड़ी हो गयी। फिर, उसकी पत्नी भी जाग गयी! बहन ने सारी बात सुनायी तो उसके मन का समाधान हुआ। दूसरा नियम भी बड़ा लाभकारक निकला, यह विचार कर उसे अत्यन्त आनन्द हुआ। अगर वह नियम न होता तो अपनी बहन का खून अपने ही हाथों हो जाना निश्चित था।

एक बार वकचूल चोरी करने के लिए गुप्त रीति से राजमहल में प्रविष्ट हुआ। उस समय अत्यन्त सावधानी रखने पर भी उसका हाथ रानी से स्पर्श कर गया और वह जाग गयी। उस दिन कारणवश राजा निकटवर्ती खंड में सोया हुआ था, इसलिए रानी अकेली थी। दासियाँ भी बगल के कमरे में सो रही थीं। इस तरह एकान्त और प्रौढ़ पुरुष का योग देख कर रानी का मन विचलित हो गया। वह धीमे से बोली—"ओ पुरुष! तू अगर यहाँ धन माल की इच्छा से आया है, तो मैं धन-माल पुष्कल दूँगी, पर तू मेरे साथ भोग कर!"

वकचूल ने कहा—"मैं नियम से बँधा हुआ हूँ, इसलिए मुझसे ऐसा नहीं हो सकता।" एक राजरानी, फिर यौवनमस्त और बलात्कार से

न खाना। (२) किसी पर शस्त्र का प्रहार करना हो तो सात कदम पीछे हटकर करना। (३) राजा की रानी के साथ सग नहीं करना। और (४) कौवे का मास नहीं खाना।

वकचूल को लगा कि, इन नियमों के पालन करने म कोई खास कष्ट नहीं होनेवाला है। अत, उसने ये नियम ले लिये और आचार्य अपने रास्ते चले गये।

एक वार वकचूल बहुत से चोरों के साथ किसी गाँव पर डाका डालने गया। वहाँ से लौटते समय वह अटवी में भूल गया और वह और उसके साथी भूख से व्याकुल होने लगे। उसके साथी भोजन की खोज में निकले। उन्होंने एक वृक्ष पर सुन्दर फल देखे और लाकर वकचूल के सामने रख दिये। वकचूल ने उस फल का नाम पूछा। पर, साथी नाम से अनजान थे। वकचूल ने कहा—"मैं यह फल नहीं खा सकता, क्योंकि अजाना फल न खाने का मैंने नियम लिया है।" लेकिन, उसके साथियों ने वे फल खा लिये और थोड़ी देर में मृत्यु को प्राप्त हुए, कारण कि वे किंपाक-वृक्ष के फल थे। वकचूल सोचने लगा—"अहो! एक जरा से नियम ने मेरी जान बचायी!" फिर, वह किसी प्रकार अटवी से बाहर निकल गया और अपने स्थान पर पहुँच गया।

एक बार जब वह बाहर गया हुआ था, तब कुछ नाटकिया (भवाइया) लोग उसकी पल्ली में आये। उन्होंने खेल शुरू करने से पहले पल्लीपति को आमत्रण देना उचित मानकर वकचूल को बुलाने उसके घर आये। उस समय वकचूल की बहन ने देखा कि, "ये लोग तो हमारे शत्रु राजा के गाँव से आये हैं। इन्हें वकचूल की गैरहाजिरी का पता लग जायेगा, तो ये अपने राजा को उसकी खबर दे देंगे और वह एकाएक चढ़ाई करके राजा पल्ली को नष्ट कर डालेगा। इसलिए, इन्हें वकचूल की गैरहाजिरी की खबर नहीं पड़ने देनी चाहिए।" वह बोली—"तुम लोग खेल शुरू करो। वकचूल अभी आता है।"

फिर, उसने बिलकुल वंकचूल की सी पोशाक पहनी और वह उसकी पत्नी के साथ बाहर आकर बैठी। नाटक रात को देर तक चलता रहा। फिर, वह नाटकियों को यथेष्ट दान देकर घर में आयी और उस पोशाक में ही अपनी भाभी के साथ सो रही।

भवितव्यता के योग से वंकचूल उसी रात को वापस लौटा और रात रहते ही अपने घर आया। वहाँ अपनी पत्नी के साथ एक पुरुष को सोता देखकर वह एकदम गुस्से में आ गया और उसका घात करने के लिए अपनी तलवार म्यान से निकाल ली। उस समय उसे अपना नियम याद आया कि, किसी पर शस्त्र का प्रहार करना हो तो सात कदम पीछे हटना। उस नियम के पालनार्थ वह पीछे हटने लगा। जब सातवाँ डग भरा तो तलवार दीवाल से टकरायी और उसकी आवाज से उसकी बहन जाग गयी और "क्षमा मेरे वीर!" कहती हुई एक तरफ खड़ी हो गयी। फिर, उसकी पत्नी भी जाग गयी! बहन ने सारी बात सुनायी तो उसके मन का समाधान हुआ। दूसरा नियम भी बड़ा लाभकारक निकला, यह विचार कर उसे अत्यन्त आनन्द हुआ। अगर वह नियम न होता तो अपनी बहन का खून अपने ही हाथों हो जाना निश्चित था।

एक बार वंकचूल चोरी करने के लिए गुप्त रीति से राजमहल में प्रविष्ट हुआ। उस समय अत्यन्त सावधानी रखने पर भी उसका हाथ रानी से स्पर्श कर गया और वह जाग गयी। उस दिन कारणवश राजा निकटवर्ती खण्ड में सोया हुआ था, इसलिए रानी अकेली थी। दासियाँ भी बगल के कमरे में सो रही थीं। इस तरह एकान्त और प्रौढ़ पुरुष का योग देख कर रानी का मन विचलित हो गया। वह धीमें से बोली—"ओ पुरुष! तू अगर यहाँ धन माल की इच्छा से आया है, तो मैं धन-माल पुष्कल दूँगी, पर तू मेरे साथ भोग कर!"

वंकचूल ने कहा—"मैं नियम से बँधा हुआ हूँ, इसलिए मुझसे ऐसा नहीं हो सकता।" एक राजरानी, फिर यौवनमस्त और बलात्कार से

विभूषित, उसमें भी एकान्त का योग और फिर स्वय रानी की इच्छा ! ये सब वस्तुएँ सामान्य मनुष्य का पतन करने के लिए काफी हैं, लेकिन बकचूल ने नियम की रक्षार्थ दृढतापूर्वक इनकार कर दिया।

अपनी माँग का इनकार देखकर रानी ने शोर मचाना शुरू कर दिया। देखते-देखते अनेक राजसेवक आ पहुँचे। उन्होंने बकचूल को पकड़ लिया और सुबह राजा के सामने पेश किया।

कोतवाल ने कहा—"महाराज ! इस दुष्ट ने राजमहल में दाखिल होकर अन्त पुर में पहुँचकर रानी साहिबा से छेड़खानी की है, इसलिए इसे उचित दड दिया जाये ! इस शिकायत पर प्राणदड से कम क्या मिलता, पर बकचूल के प्रवेश के समय राजा जाग गया था और दीवाल के सहारे खड़ा होकर सब कुछ देख रहा था।

राजा ने हुक्म किया—"इस चोर को बधन-मुक्त कर दो।" और, बकचूल से कहा—'तुमने एक महापुरुष जैसा बर्ताव किया है, यह मैंने स्वय अपनी आँखों से देखा है। मैं तुम्हें अपना सामत बनाता हूँ।"

बकचूल यह सुनकर दग रह गया ! जबकि, सर पर मौत मँडरा रही थी, उस समय सामन्त पद ! इसे उसने नियमपालन का चमत्कार माना !

धीरे-धीरे बकचूल राजा का प्रियपात्र बन गया और राजा के चारों हाथ उस पर रहने लगे। एक दिन बंकचूल बीमार पड़ा और वह बीमारी बढती ही चली गयी। बहुत-से उपाय करने पर भी वह मिटी नहीं। अन्त में राजा ने ढिंढोरा पिटवाया कि, जो कोई बकचूल की बीमारी मिटा देगा उसे बड़ा इनाम मिलेगा ! एक वृद्ध वैद्य ने आकार उसे जाँचकर कहा—"अगर इसे कौवे का मास खिलाया जाये, तो यह अच्छा हो जायेगा।"

बकचूल ने कहा—"जान कल जाती हो तो आज चली जाय, पर मै कौवे का मास हर्गिज नहीं खा सकता।"

राजा उसकी नियम-दृढता देखकर अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसकी

बड़ी प्रशंसा करने लगा और उसे शांति दिलाने के लिए जिनदास-नामक एक श्रावक को उसकी देख भाल के लिए रखा। जिनदास ने वंकचूल से कहा—"हे भाई! यह जीव अकेला आता है और अकेला जाता है। माल-मिल्कियत, सगे-सम्बन्धी और यार दोस्त सब मोहजाल हैं, इसलिए उनमे मन न लगाओ। सच्ची शरण परमेष्ठी की है। उनको भावसहित नमस्कार करने से सद्गति प्राप्त होती है, इसलिए मैं तुम्हें परमेष्ठी का नमस्कारमंत्र सुनाता हूँ, उसे शांति से सुनो।" जिनदास मंत्र का एक एक पद बोलता गया और वंकचूल नमस्कार करता गया। इस प्रकार अंतिम समय नमस्कार-मंत्र पाकर वह मरकर बारहवें स्वर्ग में देव हुआ!

लिये हुए नियमों का पालन करने से कितना लाभ होता है यह देखिये!

कहने का मतलब यह है कि, धर्म प्राप्त कराने के लिए महापुरुष जो कोई नियम देते हैं, क्रिया बताते हैं, या अनुष्ठान बतलाते हैं, वे सब धर्म के प्रकार हैं, इसलिए उनकी गिनती नहीं की जा सकती। परन्तु, उन सब प्रकारों में मुख्य लक्ष्य आत्मा का कल्याण करना होता है।

जो आत्मा को ऊँचा ले जाकर उसका उद्धार करे, सो धर्म।

विशेष अवसर पर कहा जायगा।

चालीसवाँ व्याख्यान

पाप-त्याग

महानुभावो !

अब तक के विवेचन से आप समझ गये होंगे कि, 'आत्मा का गुण' ही धर्म है और वही मोक्षमार्ग है। आत्मा के बहुत से गुण हैं, पर मुख्यत तीन है—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र आत्मा के गुण नहीं हैं, बल्कि कर्मजन्य भाव हैं। ये कर्मजन्य भाव ससार को बढ़ानेवाले हैं, जन्म मरण करानेवाले हैं और आत्मा को चौरासी लाख योनियों में बारबार परिभ्रमण करानेवाले हैं।

मिथ्यादर्शन अर्थात् मिथ्यात्व, विपरीत तत्त्व श्रद्धान्त, अथवा गलत मान्यता। पूर्व व्याख्यानों में इनका बहुत विवेचन हो चुका है, इसलिए यहाँ उनका विस्तार नहीं करते।

मिथ्याज्ञान यानी मिथ्यात्वयुक्त ज्ञान, अज्ञान मति-अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभगज्ञान—ये तीन अज्ञान हैं। इनका भी पहले विवेचन हो चुका है।

मिथ्याचारित्र अर्थात् पापाचरण, पापकर्मों का सेवन, पापस्थानकों का सेवन। जब तक पापस्थानकों का सेवन नहीं छूटता, तब तक सम्यक्चारित्र प्रकट नहीं होता, और जब तक सम्यक्चारित्र प्रकट न हो, तब तक आत्मा निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता। जिनागमों में कहा है कि—

नादंसणिस्स नाण, नाणेण विना न हुति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थिमोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण॥

—जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ, उसे सम्यक्ज्ञान प्राप्त नहीं होता, जिसे सम्यक्ज्ञान प्राप्त नहीं होता, उसके सम्यक्चारित्र के गुण प्रकट नहीं होते, जिसके सम्यक्चारित्र के गुण नहीं प्रकट होते, वह कर्म-बन्धन से मुक्त नहीं होता, और जो कर्मबन्धन से मुक्त नहीं होता, उसे निर्वाण प्राप्त नहीं होता।

आज पापस्थानकों के त्याग पर, पापत्याग पर कुछ विवेचन करना है। पाप किसे कहते हैं? पाप की व्याख्या क्या है? इसका उत्तर श्री रत्नशेखर सूरि महाराज ने श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र की अर्थदीपिका-टीका में इस प्रकार दिया है

'पायति-शोषयति पुण्य पांशयति वा गुण्डयति वा जीववस्त्र-मिति पापम्।'

—जो पुण्य का शोषण करे अथवा जीव-रूपी वस्त्र को मलिन करे सो पाप है।

पाप के जो कर्म हैं, स्थान हैं, वे पापस्थानक हैं। ऐसे पापस्थानक अठारह हैं—(१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३) अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) अभ्याख्यान, (१३) कलह, (१४) पैशुन्य, (१५) रतिअरति, (१६) परपरिवाद, (१७) मायामृषावाद और (१८) मिथ्यात्वशल्य।

प्रश्न—प्रतिक्रमणसूत्र में अठारह पापस्थानकों का पाठ आता है, वह गुजराती भाषा में है, तो क्या अठारह पापस्थानकों की गणना हमारे प्राचीन सूत्रों में थी क्या?

उत्तर—पच प्रतिक्रमण में सथारापोरिसी का पाठ आता है। उसमें नीचे की गाथाएँ हैं—

पाणाइवायमलिअ, चोरिक्कं मेहुण दविण-मुच्छं।
कोह माणं मायं, लोह पिज्जं तहा दोसं॥

कलहं अब्भक्खाणं, पेसुन्नं रइ-अरइ-समाउत्तं।
परपरिवायं माया-मोस मिच्छत्त-सल्लं च॥
वोसिरिसु इमाइं मुक्ख-मग्ग-संसग्ग-विग्घभूआइं।
दुग्गइ निबंधणाइं, अट्ठारस, पाव-ठाणाइं॥

प्रवचनसारोद्धार के २३७ वें द्वार म भी अठारह पापस्थानों की गाथाएँ आती हैं और स्थानांगसूत्र म भी उनके नाम बताये गये हैं। पंचमांग श्री भगवतीसूत्र म भी तत्सम्बन्धी प्रश्न आते है, जिनकी आगे चर्चा करेंगे। इस प्रकार अठारह पापस्थानकों की प्ररूपणा बड़ी प्राचीन है, अथवा अनादिकालीन है।

प्राणातिपात—अर्थात् प्राण का अतिपात करना, प्राण का नाश करना। किसी भी प्राणी के प्राण का नाश किया जाये तो उसे प्राणातिपात कहते हैं। मारण, घात, विराधना, आरम्भ-समारभ, हिंसा ये उसके पर्याय वाची शब्द हैं। सब पापों में हिंसा बड़ा पाप है, इसलिए उसको पहला स्थान दिया गया है।

मृषावाद—अर्थात् मृषा बोलना। मृषा यानी अप्रिय, अपथ्य और अतथ्य!! जो वचन प्रिय न हो, कर्कश हो, वह अप्रिय है। जो वचन पथ्य यानी हितकारी न हो, वह अपथ्य है। जिस वचन में वास्तविकता न हो, वह अतथ्य है। व्यवहार में हम मृषावाद को 'झूठ बोलना' कहते हैं। 'अलीक वचन' उसका पर्यायवाची शब्द है।

अदत्तादान—अर्थात् अदत्त का आदान। जो वस्तु उसके मालिक ने प्रसन्नता से न दी हो, वह अदत्त कहलाती है। उसका आदान करना यानी ग्रहण करना अदत्तादान है। व्यवहार में उसे चोरी कहते हैं।

मैथुन—अर्थात् कामक्रीड़ा, अब्रह्मसेवन। मैथुन शब्द मिथुन से बना है। मिथुन का भाव मैथुन है। मिथुन माने स्त्री पुरुष का संसर्ग।

परिग्रह—अर्थात् मालिकी के भाव से वस्तु का स्वीकार। उसके धन-धान्यादि नौ भेद प्रसिद्ध हैं।

क्रोध—अर्थात् गुस्सा, कोप या रोष।

मान—अर्थात् अभिमान, अहङ्कार, मद या गर्व।

माया—अर्थात् कपट, छल, दगा या लुच्चापन।

लोभ—अर्थात् तृष्णा, अधिक पाने की वृत्ति।

राग—अर्थात् आसक्ति।

द्वेष—अर्थात् अनगम, तिरस्कार।

कलह—अर्थात् कजिया, झगड़ा।

अभ्याख्यान—अर्थात् मिथ्या दोषारोपण।

पैशुन्य—अर्थात् चाड़ी चुगली, पीठ पीछे दोषों का प्रकाशन।

रति-अरति—अर्थात् हर्ष-विषाद।

परपरिवाद—अर्थात् परनिंदा, दूसरे की बुराई करना।

मायामृषावाद—अर्थात् मायापूर्वक मृषावाद। उसे व्यवहार में धोखाधड़ी या प्रतारणा करते हैं।

मिथ्यात्वशल्य—अर्थात् मिथ्यात्व रूपी पाप।

पापस्थानकों की इस सख्या में अपेक्षाविशेष से कमीवेशी हो सकती है, पर शास्त्रों में तथा व्यवहार में ये अठारह पापस्थानक ही प्रसिद्ध हैं।

जगत् का कोई भी धर्म पाप करने के लिए नहीं कहता, अगर कहता है, तो वह धर्म नहीं है। धर्म का पहला काम पाप का निषेध करना है। जैन शास्त्रों में बताया है कि '**पावकम्मणो अण्णेसिं ते परिण्णाय मेहावी**—बुद्धिमान को चाहिए कि, पापकर्म का स्वरूप जानकर उसके आचरण से बचे।' यह भी कहा है कि, '**पापकम्म नेव कुज्जा, न कारवेज्जा**—पाप कर्म न स्वय करे न औरों से करावें।' सथारापोरिसी की जो गाथाएँ ऊपर दी गयी हैं, उनमें पापस्थानकों को **दुग्गइ-निवधणाइं** यानी 'दुर्गति का कारण' कहा है।

बौद्धधर्म में भी '**सब्बपावस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा**' आदि वचनों द्वारा पापकर्मों का निषेध किया गया है। वैदिक-धर्म में भी

'**प्रशस्तानि सदा कुर्यात्, अप्रशस्तानि वर्जयेत्**, आदि वचनों द्वारा पाप का निषेध किया गया है।

खिस्ती, इस्लाम, जरथुस्त्र, यहूदी आदि धर्मों में भी पाप न करने के विषय मे स्पष्ट आदेश हैं। इसलिए, आदमी को पाप नहीं करना चाहिए। इस बारे में दुनिया के सभी धर्म एकमत हैं।

पापक्रिया किसे कहें? इस विषय में विभिन्न मत प्रचलित हैं। फिर, भी हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और अतिसंग्रहवृत्ति को दुनिया के सब मान्य धर्म पाप कोटि में रखते हैं। इससे उसकी अनिष्टता या भयकरता समझी जा सकती है।

जैन-शास्त्रों में व्रत, नियम या प्रत्याख्यान की बड़ी ही प्रशसा की गयी है। यह व्रत, नियम या प्रत्याख्यान क्या है? पाप का विरमन, पाप का त्याग।

प्रश्न—नवकारसी का प्रत्याख्यान करने से किस पाप का त्याग होता है?

उत्तर—नवकारसी का प्रत्याख्यान करने से अविरति का त्याग होता है। अविरति भी पाप ही है।

आप प्रत्याख्यान को प्रतिज्ञा या बाधा समझकर चलते हैं, पर उसके वास्तविक अर्थ पर कभी विचार भी किया है? श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने आवश्यकसूत्र की टीका में प्रत्याख्यान इस प्रकार किया है—"**प्रत्याख्यायते निषिध्यतेऽनेन मनो-वाक्-कायजालेन किञ्चि-दनिष्टमिति**"—जिससे मन, वचन और काया के समूह द्वारा किसी भी अनिष्ट का निषेध हो सो प्रत्याख्यान है।" इस प्रत्याख्यान को ही प्राकृत भाषा में 'पच्चक्खाण' कहा जाता है।

व्याख्यान श्रवण का फल क्या है?" "ज्ञान!" "ज्ञान का फल क्या है?" "विज्ञान!" "विज्ञान का फल क्या है?" "प्रत्याख्यान!" सद् गुरु के मुख से वीतराग की वाणी सुनने से ज्ञान होता है। उस ज्ञान की

सत्संग-स्वाध्याय द्वारा वृद्धि करते रहने से विज्ञान, विशेष ज्ञान होता है, जिससे कि, पापकर्म का त्याग करने की वृत्ति होती है, अर्थात् विरतिके परिणाम जाग्रत होते हैं। 'ज्ञानस्य फलं विरति' ज्ञान का सार विरति यानी व्रत नियम की धारणा है। उपदेश सुनें और कोई व्रत नियम या पच्चक्खाण न करें, तो समझें कि व्याख्यान श्रवण का, ज्ञान का, फल ही नहीं मिला। व्याख्यान के अमुक भाग के बाद यथाशक्ति पच्चक्खाण लेना प्राचीन जैन परम्परा है।

कुछ लोग कहते हैं कि, "पहली बात पापत्याग की नहीं, पुण्यवृद्धि की करनी चाहिए। आदमी ने चाहे-जैसे पाप करके पैसा इकठा किया हो, पर वह दीनदुखियों को दान दे, साधु संतों की सेवा में लगाये तथा अन्य परोपकार के कार्य करे तो वह पाप धुल जाता है।" पर, यह कथन अज्ञान-पूर्ण है। धर्मशास्त्र पाप से पैसा पैदा करके, दान-पुण्य करने के लिए कहते ही नहीं हैं। वे तो कहते हैं कि, धन कमाने में किसी प्रकार का अन्याय न हो, अनीति न हो, अधर्म न हो, इसका बराबर ध्यान रक्खो। इस तरह कमाया हुआ धन थोड़ा भी होगा तो भी आप सुखी होंगे और उससे दान-पुण्य करेंगे तो उसका फल अनेक गुना मिलेगा। यहाँ यह स्पष्ट कर दें कि, किये हुए पाप और किये हुए पुण्य दोनों का फल भोगना पड़ता है। इसलिए, जिस आदमी ने अनेक पापस्थानकों का सेवन करके पैसा एकत्र किया हो, उसका फल उसे भोगना पड़ता है, और उसका दान करने से जो कुछ पुण्य प्राप्त होता है उसका फल भी उसे भोगना होता है। इसलिए, पाप का त्याग अवश्य करना चाहिए।

एक लुटेरा श्रीमंतों को लूट कर उसे गरीबों में बाँट देता है, तो यह धर्म है या पाप ? अगर आप इसे धर्म कहेंगे तो दारू के व्यापार को भी धर्म कहना पड़ेगा, कारण कि इसमें दारू बनाना पाप है, पर अनेक लोगों

को उसका पान कराकर उनकी तृष्णा बुझायी जाती है। फिर तो वेश्यागिरी को भी धर्म में ले जानी पड़ेगी। तात्पर्य यह कि, धर्म करने के लिए पाप करने की छूट नहीं है। पाप तो पाप ही है, इसलिए उसका त्याग अवश्य करना चाहिए।

पाप त्याग का उपदेश प्रथम क्यों? अब उत्तर सुनिये। किसी कपड़े पर अच्छा सुन्दर रंग चढ़ाना हो, तो पहले उसे धोकर साफ करना पड़ता है, अन्यथा उस पर सुन्दर रंग नहीं चढ़ सकता। मैले-कुचैले या काले दागोंवाले कपड़े पर अच्छा पीला या अच्छा गुलाबी रंग चढ़ाना हो तो चढ़ेगा? वही बात आत्मा की है। आत्मा अनादिकाल से कर्म-संसर्ग के कारण पाप करता आया है और उसे पाप करने की टेव पड़ गयी है, इसलिए वह पाप करता ही रहता है। अगर उसकी यह पाप प्रवृत्ति न छूटे तो सत्प्रवृत्ति, सत्क्रियाएँ, कैसे कर सकता है?

आदत छुड़ाने का काम सहल नहीं है। किसी आदमी को अफीम खाने का व्यसन लग गया हो, तो उसे छुड़ाने के लिए कैसे-कैसे उपाय करने पड़ते हैं! किसी को चोरी की आदत पड़ गयी हो, तो वह भी बड़ी मुश्किल से छूटती है।

लाली के लक्षण नहीं जाते

लाली नामकी एक लड़की थी। उसे चीज चुराने की आदत पड़ गयी थी। वह चाहे जहाँ जाती और जो चीज उसे भली लगती उसे चुरा लाती। माँ-बाप ने हर प्रकार से समझाया पर उसकी आदत न छूटी। एक बार कुटुम्ब में विवाह पड़ा। सबको वहाँ जाना था तो उसके माँ-बाप ने कहा—"सब तो विवाह में जायेंगे, पर हम लाली को न ले जायेंगे। वह चुराये बिना न रहेगी और हमारी बदनामी होगी।" लाली ने वादा किया कि वह कुछ भी न चुरायेगी।

लाली के बहुत आश्वासन देने पर माँ-बाप उसे साथ ले गये। विवाह पूरा हुआ और सभी गाड़ी में बैठकर अपने घर वापस चले। माँ बाप को सतोष था कि, लाली के कारण कोई उलाहना इस बार सुनने को नहीं मिला।

रास्ते में जब गाड़ी ऊँचे नीचे रास्ते से चलने लगी, तो लाली का कपड़ा भीग गया। पता लगा कि, चलते समय उसने पानी भरा एक मिट्टी का बरतन अपने कपड़े में छिपा लिया था और वह पानी छलक रहा है। इस पर कहावत है—"हाल जाये, हवाल जाये, पर लाली का लक्षण न जाये!"

हमारी आत्मा सद्गुरु का उपदेश सुनकर या पापकर्मों के फलों से काँपकर अनेक बार निर्णय करता है कि, भविष्य में पाप नहीं करूँगा, लेकिन वह पुन पाप करने लगता है और कर्म के बोझ से बोझिल होता जाता है। यहाँ भगवतीसूत्र का एक प्रसग याद आता है।

चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर कौशाम्बी नगरी में पधारे। उस समय उदाथी राजा, उसकी फूफी जयन्ती श्राविका और उसकी माता मृगावती भगवान् के दर्शन को आये।

जयन्ती श्राविका समकितधारी थी! तत्त्वज्ञानी थी। अधिकाश साधु-मुनि उसकी विशाल वस्ती में उतरते। वहाँ निवास और ज्ञान-ध्यान आदि करने की अच्छी व्यवस्था थी। वह स्वय भी साधु-मुनियों की भक्ति उत्तम रीति से करती। भगवान् की तीन लाख अठारह हजार श्राविकाओं में वह इनी गिनी सर्वश्रेष्ठों में से एक थी।

(ये श्राविकायें व्रतधारी थीं। सामान्य श्राविकाओं की इनमें गिनती नहीं की गयी। श्री वीर प्रभु के विशाल परिवार मे चौदह हजार मुनि थे, छत्तीस हजार साध्वियाँ, तीन सौ चौदह पूर्वधारी श्रमण, तेरह सौ अवधि-ज्ञानी, सोलह सौ वैक्रियक लब्धिवाले, उतने ही केवली और उतने ही अनुत्तर विमान को जानेवाले, पाँच सौ मन पर्यवज्ञानी, चौदह सौ वादी,

एक लाख उनसठ हजार श्रावक और तीन लाख अठारह हजार श्राविकाएँ थीं। सामान्य श्रावक-श्राविकाओं की इनम गिनती नहीं है। जबकि व्रतधारी श्रावक-श्राविकायें इतनी थीं, तो सामान्य श्रावक श्राविकायें कितनी होंगी!)

विधिपूर्वक वन्दन करने के बाद जयन्ती श्राविका ने प्रश्न किया—"हे भगवन्! आत्मा भारी कब बनती है और हल्की कब!"

भगवान् ने कहा—"हे श्राविका! अठारह पापस्थानकों से आत्मा भारी बनती है और उनके त्याग से हल्की!" कैसा सुन्दर और मार्मिक उत्तर है।

जैसे शरीर रोग से और वजन से भारी बनता है वैसे आत्मा कर्म से भारी बनती है। परन्तु, हम उस बोझ को दूसरे स्थूल बोझों की तरह महसूस नहीं करते, यही बड़ी खराबी है!

अगर आत्मा पर कर्म का बोझ न होता, तो वह पूर्ण ज्ञानी होता और सब दुःखों से पार हो गया होता। लेकिन, कर्म के बोझ के कारण वह विविध दुःखों का अनुभव किया करता है। परन्तु, हम दुःख को दुःख नहीं समझते यह बड़ा आश्चर्य है! गुरु महाराज का उपदेश आपको उस भार का भान कराने के लिए और दुःख को दुःख से पहचानने के लिए ही है।

आत्मा को कर्म की पराधीनता जबरदस्त है। जो आदमी जो किसी सेठ की नौकरी करता है, वह अपने मालिक के पराधीन है। पर, उसका सेठ कर्म के पराधीन है। उसे दूकान पर आना पड़ता है, चौपड़े देखने पड़ते हैं, गुमाश्तों की खबर रखनी पड़ती है, देशावर से कोई आढ़तिया आया हो, उसका हाल पूछना पड़ता है और बीत्री-चर्चों व तिजोरी की सँभाल रखनी पड़ती है। उसे समय के अनुसार ही भोजन कर लेना पड़ता है। कर्म के आगे किसी का वश नहीं चलता!

कर्म का भार सचमुच बड़ा भयकर है। जो उसे भाररूप समझेगा वही उसे हल्का करने की कोशिश करेगा। **भार का कम होना ही कमाई है और भार का बढ़ना ही नुकसान है।**

महानुभावो! कर्म के बोझ के कारण ही आत्मा जन्म जन्म में मरता है और समय समय में मरता है। हमें विचार करना है कि, यह बोझा कम कैसे हो?

हर एक मुमुक्षु को प्रतिपल यह विचार करना चाहिए कि, मैं इन पापस्थानकों का कितना सेवन करता हूँ और कितना त्याग किये हुए हूँ?

साधु का पच्चक्खाण नौ प्रकार का है—मन, वचन, काय से पापकर्म करना नहीं, कराना नहीं और अनुमोदना नहीं। श्रावकों का पच्चक्खाण ६ कोटि का है—मन, वचन, काय से पापकर्म करना नहीं तथा करना नहीं। श्रावक को अनुमोदन की छूट है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि, वह इस छूट का मनमाना उपयोग करे। किसी ने पच्चीस शाक खाने की छूट रखी हो, इसका मतलब यह नहीं है कि, वह पच्चीस शाक रोज खाये। यह तो शाक खाने की अधिकतम मर्यादा है।

एक आदमी ने चातुर्मास में बीमार साधुओं की दवा करने का नियम किया। वह रोज आकर पूछता। पर, उस चातुर्मास में कोई साधु बीमार नहीं पड़ा, इसलिए उसके द्वारा किसी की दवा न हो सकी। इससे वह पछतावा करने लगा कि, 'हाय! हाय!! कोई साधु बीमार नहीं पड़ा और मेरे नियम का पालन न हो सका!' इसका नाम है अज्ञान—नियम अच्छा; पर भावना अज्ञानपूर्ण!

हमारे यहाँ जयना यानी यत्ना शब्द प्रचार में है। उसका अर्थ यह है कि, छूट चाहे जितनी हो, पर उसका यथाशक्य कम ही उपयोग करना।

प्रश्न—सामायिक म दो घड़ी भी नौ कोटि का पच्चक्खाण क्यों नहीं?

एक लाख उनसठ हजार श्रावक और तीन लाख अठारह हजार श्राविकाएँ थीं। सामान्य श्रावक-श्राविकाओं की इनमें गिनती नहीं है। जबकि व्रतधारी श्रावक-श्राविकायें इतनी थीं, तो सामान्य श्रावक-श्राविकायें कितनी होंगी!)

विधिपूर्वक वन्दन करने के बाद जयन्ती श्राविका ने प्रश्न किया—"हे भगवन्! आत्मा भारी कब बनती है और हल्की कब!"

भगवान् ने कहा—"हे श्राविका! अठारह पापस्थानकों से आत्मा भारी बनती है और उनके त्याग से हल्की!" कैसा सुन्दर और मार्मिक उत्तर है।

जैसे शरीर रोग से और वजन से भारी बनता है वैसे आत्मा कर्म से भारी बनती है। परन्तु, हम उस बोझ को दूसरे स्थूल बोझों की तरह महसूस नहीं करते, यही बड़ी खराबी है!

अगर आत्मा पर कर्म का बोझ न होता, तो वह पूर्ण ज्ञानी होता और सब दुःखों से पार हो गया होता। लेकिन, कर्म के बोझ के कारण वह विविध दुःखों का अनुभव किया करता है। परन्तु, हम दुःख को दुःख नहीं समझते यह बड़ा आश्चर्य है! गुरु महाराज का उपदेश आपको उस भार का भान कराने के लिए और दुःख को दुःख से पहचानने के लिए ही है।

आत्मा को कर्म की पराधीनता जबरदस्त है। जो आदमी जो किसी सेठ की नौकरी करता है, वह अपने मालिक के पराधीन है। पर, उसका सेठ कर्म के पराधीन है। उसे दूकान पर आना पड़ता है, चौपड़े देखने पड़ते हैं, गुमाश्तों की खबर रखनी पड़ती है, देशावर से कोई आढ़तिया आया हो, उसका हाल पूछना पड़ता है और बीबी-बच्चों व तिजोरी की सँभाल रखनी पड़ती है। उसे समय के अनुसार ही भोजन कर लेना पड़ता है। कर्म के आगे किसी का वश नहीं चलता।

कर्म का भार सचमुच बड़ा भयकर है! जो उसे भाररूप समझेगा वही उसे हल्का करने की कोशिश करेगा। **भार का कम होना ही कमाई है और भार का बढ़ना ही नुकसान है।**

महानुभावो! कर्म के बोझ के कारण ही आत्मा जन्म-जन्म में मरता है और समय-समय में मरता है। हमें विचार करना है कि, यह बोझा कम कैसे हो?

हर एक मुमुक्षु को प्रतिपल यह विचार करना चाहिए कि, मैं इन पापस्थानकों का कितना सेवन करता हूँ और कितना त्याग किये हुए हूँ?

साधु का पच्चक्खाण नौ प्रकार का है—मन, वचन, काय से पापकर्म करना नहीं, कराना नहीं और अनुमोदना नहीं। श्रावकों का पच्चक्खाण ६ कोटि का है—मन, वचन, काय से पापकर्म करना नहीं तथा करना नहीं। श्रावक को अनुमोदन की छूट है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि, वह इस छूट का मनमाना उपयोग करे। किसी ने पच्चीस शाक खाने की छूट रखी हो, इसका मतलब यह नहीं है कि, वह पच्चीस शाक रोज खाये। यह तो शाक खाने की अधिकतम मर्यादा है।

एक आदमी ने चातुर्मास में बीमार साधुओं की दवा करने का नियम किया। वह रोज आकर पूछता। पर, उस चातुर्मास में कोई साधु बीमार नहीं पड़ा, इसलिए उसके द्वारा किसी की दवा न हो सकी। इससे वह पछतावा करने लगा कि, 'हाय! हाय!! कोई साधु बीमार नहीं पड़ा और मेरे नियम का पालन न हो सका!' इसका नाम है अज्ञान—नियम अच्छा; पर भावना अज्ञानपूर्ण!

हमारे यहाँ जयना यानी यत्ना शब्द प्रचार में है। उसका अर्थ यह है कि, छूट चाहे जितनी हो, पर उसका यथाशक्य कम ही उपयोग करना।

प्रश्न—सामायिक में दो घड़ी भी नौ कोटि का पच्चक्खाण क्यों नहीं?

उत्तर—कारण कि, उसका पालन नहीं हो सकता। लड़का परदेश से धन लेकर आवे तो खुशी होती है, यानी अनुमोदना हो जाती है।

प्रश्न—साधुपने में ऐसा अनुमोदन नहीं होता ?

उत्तर—साधुपने मे तो 'मेरा लड़का'-जैसी कोई बात रहती ही नहीं। 'मेरा लड़का', 'मेरे सगे', 'मेरा मकान', 'मेरी मिल्कियत'—ये विचार विभाव दशा के हैं। साधु को यह दशा नहीं वर्तती, इसलिए अनुमोदना कहाँ से हो ? इसलिए वहाँ नौ कोटि का पच्चक्खाण है।

प्रश्न—स्थानकवासी लोग आठ कोटि का पच्चक्खाण करते हैं, तो दो कोटि ज्यादा हुई ?

उत्तर—वचन और काया से अनुमोदन न करना, ये दो अधिक कोटियाँ हैं। शास्त्र मे तो श्रावकों के लिए ६ कोटि का ही पच्चक्खाण कहा है। जो पृथक पड़ते हैं, वे अपनी प्रसिद्धि के लिए कुछ नया नया करते हैं।

संस्कृत में एक श्लोक है कि—

घटं भित्वा पटं छित्वा, कृत्वा गर्दभारोहणम्।
येन केन प्रकारेण, प्रसिद्ध पुरुषो भवेत्॥

'घड़ा फोड़कर, कपड़े फाड़कर या गधे पर चढकर भी आदमी प्रसिद्ध हो जाता है।'

यदि अपना बचाव करना हो तो इस प्रकार करें—"देश की दशा बड़ी खराब है। घोड़ा ओछा पशु है, इसलिए गधे पर सवारी करता हूँ !" इस बात पर 'हाँ' करनेवाले भी मिल ही जायेंगे और ताली बजानेवाले भी मिल ही जायेंगे।

गधे पर बैठकर प्रसिद्धि प्राप्त करने का दूसरा तरीका यह है कि, चार को गधे पर बैठाये और स्वयं उसका शुभ प्रारम्भ करके अपनी प्रशंसा कराये। आज धूर्तों के गले में हार पड़ते और अनीति से कमानेवाले को पूजे जाते आपने अनन्त देखे होंगे।

ठाणागसूत्र में कहा गया है कि, जहाँ अपूज्य योगी पूजा जाता है और त्यागी सतों की निन्दा, अवगणना होती है, वहाँ दुष्काल पड़ता है, भय वहाँ उपस्थित रहता है और मरण-सख्या बढ जाती है। आज आप यह सब अपनी नजर से देख रहे हैं।

अगर हृदय म पापत्याग की भावना बसी हुई हो तो, कर्म की बड़ी निर्जरा होती है, और अगर पापसेवन की भावना हो, तो कर्म का बन्ध होता है और आत्मा भारी हो जाती है, चाहे वह भावना उठते, बैठते, सोते, किसी भी हाल्त मे की हो, इसलिए सच्ची आवश्यकता मन से पाप-सेवन की भावना दूर करने की है।

आपकी समझ सुधरे, आपकी देह बुद्धि (काया को आत्मा समझना) दूर हो और सत्सग तथा वैराग्य की भावनाएँ विकसित हो तो पापसेवन की भावना दूर हो। यह आपका सबसे बड़ा लाभ है।

पाप लग जाने पर उसकी शुद्धि के लिए शास्त्रकारों ने निंदा, गर्हा, प्रायश्चित आदि अनेक उपाय बताये हैं और उन्होंने असख्य अनन्त आत्माओं को लाभ पहुँचाया है, परन्तु हमारा कहना यह है कि, पाप में पड़ा ही न जाये, इसके लिए मनुष्य को प्रारम्भ से ही पूरी सावधानी रखनी चाहिए। धर्मी का प्रथम लक्षण यह है कि, वह जहाँ तक बने पाप करता ही नहीं है और जो पाप हो गया हो उसके लिए अत्यन्त दुःखी होता है।

विशेष अवसर पर कहा जायगा।

इकतालीसवाँ व्याख्यान

सम्यक्त्व

[१]

महानुभावो !

हमारे आज तक के व्याख्यानों से आप यह तो समझ ही गये होंगे कि, धर्मपालन, धर्माराधन या धर्माचरण के लिए सम्यक्त्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शास्त्रकार भगवन्त के वचन सुनाकर भी हम आपको यह बतला चुके हैं कि, 'सम्यक्त्व अथवा सम्यग्दर्शन बिना सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, सम्यक्ज्ञान बिना सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं होती, सम्यक्चारित्र बिना सकल कर्मों का नाश नहीं किया जा सकता और सकल कर्मों का नाश किये बिना निर्वाण, मुक्ति, मोक्ष या परमपद की प्राप्ति नहीं हो सकती।' अर्थात् सम्यक्त्व ही धर्माचरण की मूल भूमिका है।

इस सम्यक्त्व की महिमा पर प्रकाश डालते हुए शास्त्रकार भगवन्तों ने बताया है कि—

> **सम्यक्त्वरत्नान्न परं हि रत्नम्,**
> **सम्यक्त्वमित्रान्न परं हि मित्रम्।**
> **सम्यक्त्वबन्धोर्न परो हि बन्धुः,**
> **सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभो ॥**

—सम्यक्त्व से श्रेष्ठ कोई रत्न नहीं है, सम्यक्त्व से श्रेष्ठ कोई मित्र नहीं है, सम्यक्त्व से श्रेष्ठ कोई बन्धु नहीं है, सम्यक्त्व से श्रेष्ठ कोई लाभ नहीं है।

आप लोहे की अपेक्षा ताँबे को, ताँबे की अपेक्षा रूपे को, रूपे की अपेक्षा सोने को, और सोने की अपेक्षा रत्न को अधिक महत्त्व देते हैं। इसका कारण यह है कि, उनका मूल्य उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। पानी और वजन अधिक होने पर रत्न को आप अधिक मूल्यवान मानते हैं।

एक बार एक समाचारपत्र में विश्व के ज्ञात हीरों का विवरण प्रकाशित हुआ था। उसमें हीरों के नाम, वजन तथा मूल्य भी प्रकाशित किया गया था। उस विवरण के अनुसार वर्तमान जगत का सबसे बड़ा हीरा 'ज्युबिली' है। उसका वजन २३९ कैरट है और उसका मूल्य ७० लाख रुपया आँका गया है। दूसरे नम्बर का हीरा 'रीजेण्ट' है। उसका वजन १३७ कैरट है और मूल्य ६७ लाख रुपया आँका गया है। तीसरे नम्बर का हीरा 'ग्रेट मोगल' है। उसका वजन २६९ कैरट है और उसका मूल्य ५५ लाख आँका गया है। और, चौथे नम्बर पर 'कोहेनूर' है, जिसका वजन १०६ कैरट तथा मूल्य ५२ लाख है।

इन हीरों में एक भी हीरा एक करोड़ रुपये का भी नहीं है। पर, मान लें कि, इस जगत में अन्य हीरे हों, जिनका मूल्य १, २ या ३ करोड़ रुपया हो, परन्तु इनमें भी एक भी हीरा ऐसा न होगा, जो सम्यक्त्व की तुलना में ठहर सके! मैं तो यह कहता हूँ कि, यदि जगत के समस्त रत्न अथवा चक्रवर्ती का सम्पूर्ण राज्य भी एक ओर रख दें और दूसरी ओर सम्यक्त्व को रखें तो सम्यक्त्व का ही पल्ड़ा नीचे झुका रहेगा।

हीरे, रत्न, राज्य की ऋद्धि मनुष्य में तृष्णा उत्पन्न करते हैं, उससे अनेक कुकर्म कराते हैं और अन्तत उसे दुर्गति में ले जाते हैं, जबकि सम्यक्त्व मनुष्य को सम्यक्, सच्ची दृष्टि प्रदान करता है, धर्ममार्ग में स्थिर करता है और अन्त में अनन्त-अक्षय सुखपूर्ण सिद्धिसदन में ले जाता है। इसलिए, सम्यक्त्व रत्न से श्रेष्ठ कोई रत्न नहीं है। मैं कहता हूँ कि, सम्यक्त्व की तुल्ना इस जगत का कोई पार्थिव पदार्थ नहीं कर सकता। अत यह बात यथार्थ है कि, 'सम्यक्त्व-रत्न से बड़ा कोई रत्न नहीं है।'

हितोपदेश नामक प्रसिद्ध नीतिग्रन्थ में कहा है—कि **'अपुत्रस्य गृह शून्य, सन्मित्ररहितस्य च** जिसके पुत्र नहीं हैं उसका घर शून्य है, जिसके सन्मित्त नहीं हैं उसका भी घर शून्य है।' यहाँ सन्मित्र शब्द पर विशेष ध्यान दीजिए, कारण कि इस जगत् में मित्रता का ढोंग करके धोखा देनेवाले तथा स्वार्थ के कारण मित्रता करनेवाले बहुत होते हैं। जो कि स्वार्थ के लिए मित्रता करता है, वह अपना स्वार्थ पूर्ण करते ही अलग हो जाता है और ऐसा व्यवहार करने लगते हैं, मानो पहचानता भी न हो। ऐसों को सन्मित्र नहीं कहा जा सकता। सन्मित्र तो उन्हीं को कहा जा सकता है; जो स्नेह करें, हमारे दुःख से दुःखी हों और संकट के समय पूरी पूरी सहायता करें। इस सम्बन्ध में, पंचतंत्रकार ने चार मित्रों की वार्ता कही है, वह जानने लायक है।

चार मित्रों की वार्ता

गोदावरी नदी के किनारे एक सेमल का पेड़ था। उस पर लघुपतनक-नामक एक कौआ रहता था। एक दिन सुबह-ही सुबह उसने एक शिकारी को देखा। वह विचार करने लगा कि, 'आज उठते ही इस कलमुँहे का मुँह देखा है, इसलिए दिन खराब जायेगा।'

शिकारी ने चावल के दाने बखेरे, जाल बिछाया और झाड़ी में छिपकर बैठ गया। आकाश में उड़ते कबूतरों ने वे दाने देखे और नीचे उतरकर चुगने का विचार करने लगे। तब उनके वयोवृद्ध नायक चित्रग्रीव ने कहा कि, 'भाइयो! जो काम करो, विचार कर करो! इस निर्जन वन में अनाज कहाँ से आ सकता है? मुझे कुछ दाल में काला नजर आता है।'

परन्तु, जवान कबूतरों के गले यह बात नहीं उतरी। वे तो दूध से उजले उन चावलों के दानों को चुग ही लेना चाहते थे। वे नीचे उतरे। दानों को चुगने गये कि जाल में फँस गये! अब क्या हो? वे आपस में अनेक प्रकार का तर्क-वितर्क करने लगे। तब चित्रग्रीव ने कहा—

"भाइयो ! यह समय आपस में लड़ने का नहीं है। अभी शिकारी आ पहुँचेगा और हम सब पकड़ लिए जायेंगे, इसलिए जरा भी वक्त गँवाये बिना तुम सब एक साथ जोर लगाओ ताकि हम लोग इस जाल को ही लेकर उड़ चलें और अपने प्राण बचालें।"

जो काम एक व्यक्ति से नहीं हो सकता, वह सघ-समुदाय से हो जाता है। कबूतरों ने अपने नायक की सलाह मानकर मिलकर जोर लगाया, तो जाल की खूँटियाँ उखड़ आयीं और वे जाल को लेकर आकाश में उड़ गये।

यह देखकर शिकारी निराश होकर चला गया। अब लघुपतनक कौआ घटनाक्रम को देखने के लिए कबूतरों के पीछे पीछे उड़ने लगा।

कुछ दूर जाने पर चित्रग्रीव ने कहा—"भाइयो ! हम लोग भय से मुक्त हो गये हैं, अब इस नीचे बहती हुई गण्डकी नदी के किनारे उतरो। यहाँ हिरण्यक नामक चूहों का राजा रहता है। वह मेरा मित्र है। वह हमें इस जाल से छुड़ायेगा।' कबूतर नदी के किनारे हिरण्यक के निवास स्थान के पास उतरे।

हिरण्यक ने चित्रग्रीव का और उसके साथियों का अच्छा सत्कार किया और अपने तीक्ष्ण दाँतों से जाल को काट दिया और सब कबूतरों को बन्धनमुक्त कर दिया। कबूतर खुशी-खुशी अपने स्थान को चले गये।

यह देखकर लघुपतनक विचार करने लगा—"यह हिरण्यक बड़ा बुद्धिशाली मालूम होता है। यद्यपि मैं किसी का विश्वास नहीं करता और यथासम्भव किसी से धोखा नहीं खाता, फिर भी इसके साथ मित्रता करनी चाहिए, 'जरूरत के वक्त मित्र मददगार होता है'—यह सोचकर वह हिरण्यक के यहाँ आकर कहने लगा—"हे हिरण्यक ! मैं लघुपतनक-नामक कौआ हूँ, तुम्हारे साथ मित्रता करना चाहता हूँ।"

हितोपदेश नामक प्रसिद्ध नीतिग्रन्थ में कहा है—कि '**अपुत्रस्य गृह शून्यं, सन्मित्ररहितस्य च** जिसके पुत्र नहीं है उसका घर शून्य है, जिसके सन्मित्त नहीं हैं उसका भी घर शून्य है।' यहाँ सन्मित्र शब्द पर विशेष ध्यान दीजिए, कारण कि इस जगत् में मित्रता का ढोंग करके धोखा देनेवाले तथा स्वार्थ के कारण मित्रता करनेवाले बहुत होते हैं। जो कि स्वार्थ के लिए मित्रता करता है, वह अपना स्वार्थ पूर्ण करते की अलग हो जाता है और ऐसा व्यवहार करने लगते हैं, मानो पहचानता भी न हो। ऐसो को सन्मित्र नहीं कहा जा सकता। सन्मित्र तो उन्हीं को कहा जा सकता है, जो स्नेह करें, हमारे दु ख से दु खी हों और सकट के समय पूरी-पूरी सहायता करें। इस सम्बन्ध मे, पचतत्रकार ने चार मित्रों की वार्ता कही है, वह जानने लायक है।

चार मित्रों की वार्ता

गोदावरी नदी के किनारे एक सेमल का पेड़ था। उस पर लघुपतनक नामक एक कौआ रहता था। एक दिन सुबह-ही-सुबह उसने एक शिकारी को देखा। वह विचार करने लगा कि, 'आज उठते ही इस कलमुँहे का मुँह देखा है, इसलिए दिन खराब जायेगा।'

शिकारी ने चावल के दाने बखेरे, जाल बिछाया और झाड़ी में छिपकर बैठ गया। आकाश में उड़ते कबूतरों ने वे दाने देखे और नीचे उतरकर चुगने का विचार करने लगे। तब उनके वयोवृद्ध नायक चित्रग्रीव ने कहा कि, 'भाइयो! जो काम करो, विचार कर करो! इस निर्जन वन में अनाज कहाँ से आ सकता है? मुझे कुछ दाल में काला नजर आता है।'

परन्तु, जवान कबूतरों के गले यह बात नहीं उतरी। वे तो दूध से उजले उन चावलों के दानों को चुग ही लेना चाहते थे। वे नीचे उतरे। दानों को चुगने गये कि जाल में फँस गये! अब क्या हो? वे आपस मे अनेक प्रकार का तर्क-वितर्क करने लगे। तब चित्रग्रीव ने कहा—

"भाइयो! यह समय आपस में लड़ने का नहीं है। अभी शिकारी आ पहुँचेगा और हम सब पकड़ लिए जायेंगे, इसलिए ज़रा भी वक्त गँवाये बिना तुम सब एक साथ जोर लगाओ ताकि हम लोग इस जाल को ही लेकर उड़ चलें और अपने प्राण बचालें।"

जो काम एक व्यक्ति से नहीं हो सकता, वह संघ-समुदाय से हो जाता है। कबूतरों ने अपने नायक की सलाह मानकर मिलकर जोर लगाया, तो जाल की खूंटियाँ उखड़ आयीं और वे जाल को लेकर आकाश में उड़ गये।

यह देखकर शिकारी निराश होकर चला गया। अब लघुपतनक कौआ घटनाक्रम को देखने के लिए कबूतरों के पीछे-पीछे उड़ने लगा।

कुछ दूर जाने पर चित्रग्रीव ने कहा—"भाइयो! हम लोग भय से मुक्त हो गये हैं, अब इस नीचे बहती हुई गण्डकी नदी के किनारे उतरो। यहाँ हिरण्यक नामक चूहों का राजा रहता है। वह मेरा मित्र है। वह हमें इस जाल से छुड़ायेगा।' कबूतर नदी के किनारे हिरण्यक के निवास-स्थान के पास उतरे।

हिरण्यक ने चित्रग्रीव का और उसके साथियों का अच्छा सत्कार किया और अपने तीक्ष्ण दाँतों से जाल को काट दिया और सब कबूतरों को बन्धनमुक्त कर दिया। कबूतर खुशी-खुशी अपने स्थान को चले गये।

यह देखकर लघुपतनक विचार करने लगा—"यह हिरण्यक बड़ा बुद्धिशाली मालूम होता है। यद्यपि मैं किसी का विश्वास नहीं करता और यथासम्भव किसी से धोखा नहीं खाता, फिर भी इसके साथ मित्रता करनी चाहिए, 'जरूरत के वक्त मित्र मददगार होता है'—यह सोचकर वह हिरण्यक के यहाँ आकर कहने लगा—"हे हिरण्यक! मैं लघुपतनक-नामक कौआ हूँ, तुम्हारे साथ मित्रता करना चाहता हूँ।"

चतुर हिरण्यक बोला—"हे कौआ भाई ! मैं भोज्य हूँ और आप भोक्ता हैं, हमारे आपके बीच प्रीति कैसे हो सकती है ?"

कौए ने कहा—"चूहा भाई ! तुम सच कहते हो, पर ऐसे किसी दुष्ट विचार से मैं मित्रता नहीं करना चाहता। तुम-जैसे आज चित्रग्रीव के काम आये, वैसे मेरे लिए भी कभी सहायक होओ, इसलिए तुम्हारी मित्रता चाहता हूँ। कृपया मेरी माँग स्वीकार करो।"

हिरण्यक ने कहा—"पर भाई ! तुम ठहरे स्वभाव के चचल और चचल के साथ स्नेह करने में सार नहीं। कहा है कि, बिल्ली का, भैंसे का, मेंढे का, कौए का और कायर का कभी विश्वास न करे।"

लघुपतनक ने कहा—"यह सब ठीक है। प्रमाण तो दोनों पक्ष के दिये जा सकते हैं। तुम मेरी भावना की ओर देखो। मैं हर तौर से तुम्हारी मैत्री चाहता हूँ। अगर, तुम मेरी विनती नहीं सुनोगे तो मैं अनाहारी रहकर प्राण त्याग दूँगा।"

लघुपतनक के ऐसे शब्द सुनकर हिरण्यक ने उसकी मैत्री स्वीकार कर ली।

एक बार लघुपतनक ने हिरण्यक से कहा—"मित्र ! इस प्रदेश में तो बड़ा अकाल पड़ा हुआ है, पेट भरना भी कठिन हो गया है। पास ही दक्षिणापथ में कर्पूरगौर-नामक एक सरोवर है। वहाँ मेरा प्रिय मित्र मथरक-नामक कछुवा रहता है। मैं उसके पास जाता हूँ।"

हिरण्यक ने कहा—'कौआ भाई ! तो फिर मैं यहाँ अकेला रहकर क्या करूँगा ? तुम्हारे बिना मुझे यहाँ बिल्कुल अच्छा नहीं लगेगा, इसलिए मैं भी तुम्हारे ही साथ चलूँगा।'

कौए ने चूहे को चोंच में लिया और दोनों उस सरोवर के किनारे पहुँचे। मथरक ने दोनों का स्वागत किया और कहा—"यह स्थान तुम्हारा ही है। आप दोनों यहाँ शौक से रहें और खायें-पियें और मौज करें।" जो सच्चे मित्र होते हैं, वे सकट के समय सहायता करते हैं और यथासम्भव आव-

भगत करते हैं। वर्ना पर्वमित्र सरीखे मित्र कोई न कोई बहाना बनाकर अपना द्वार बन्द कर लेते हैं और मित्र को ईश्वर के आसरे छोड़ देते हैं।

तीनों मित्र सरोवर के किनारे रहने लगे और विविध प्रकार की चर्चा में अपना समय बिताने लगे।

एक दिन चित्रांग-नामक एक हिरन वहाँ पानी पीने आया। उसे देखकर अतिथि सत्कार कुशल मथरक बोला—"पधारो भाई हिरन! आनन्द में तो हो!"

चित्रांग ने कहा—"भाई! कैसा आनन्द! शिकारी कुत्तों से बड़ी कठिनाई से जान बची है!"

मथरक ने कहा—"तुम्हारे स्थान में भय हो, तो यहाँ आ जाओ। यहाँ हरा भरा वन है। उसमें आनन्द से चरा करना और सरोवर का शीतल जल पिया करना।"

चित्रांग ने कहा—"धन्य है, तुम्हारी सज्जनता को! इस दुनिया में अगर तुम जैसे ही भले हों तो कैसा अच्छा हो! पर, यह प्रदेश मेरा अनजाना है, इसलिए मेरा समय आनन्द से कैसे कटेगा! तुम मित्र बनने को तैयार हो, तो यहाँ रहना मैं जरूर पसन्द करूँगा।"

मथरक ने कहा—"भाई हिरन! तुम बड़े साफ दिल हो, तुम्हारी वाणी मधुर है। तुम्हारे साथ मैत्री होना तो एक सौभाग्य है। आज से तुम हमारे मित्र।"

इस तरह लघुपतनक कौआ, हिरण्यक चूहा, मथरक-कछुवा और चित्रांग हिरन ये चार परम मित्र बनकर सुख से अपना समय बिताने लगे।

एक बार बहुत देर हो जाने पर भी चित्रांग नहीं लौटा, इससे सब मित्रों को चिन्ता होने लगी। आखिर लघुपतनक ने उसकी खबर लाना अपने जिम्मे लिया। वह आकाश में ऊँचा उड़कर चारों तरफ देखने लगा। आखिर उसने चित्रांग को एक तालाब के किनारे जाल में फँसा हुआ देखा। यह देखकर लघुपतनक ने पूछा—"भाई! यह हालत कैसे हुई?"

चित्राग ने कहा—"यह बताने का अभी समय नहीं है। तू फौरन् हिरण्यक को यहाँ ले आ, ताकि वह मुझे पाश में से छुड़ावे।"

लघुपतनक केन्द्र पर वापस आया और हिरण्यक को चोंच में उठाकर ले चला। मथरक भी धीरे-धीरे चलता हुआ वहाँ पहुँच गया। यह देखकर हिरण्यक ने कहा—"भाई मंथरक! तूने यह ठीक नहीं किया। तुझे अपना स्थान छोड़कर यहाँ नहीं आना था!"

मथरक ने कहा—"मित्र को मुसीबत में पड़ा जानकर मुझसे वहाँ नहीं रहा गया। मैंने सोचा कि, मैं भी चलकर यथाशक्य सहायता करूँ। अब जो हो सो हो!"

हिरण्यक चित्राग का बन्धन जल्दी-जल्दी काटने लगा। इतने में शिकारी आ गया। यह देखकर हिरण्यक पास के बिल में घुस गया, लघुपतनक आकाश में उड़ गया और चित्रांग जोर मारकर भाग निकला। रह गया मथरक! उसे धीरे-धीरे चलता देखकर शिकारी ने कहा—'हिरन तो भाग गया, पर चलो यह कछुवा ही सही!' और, वह कछुवे को पकड़कर डोर से बाँधकर कमान के सिरे पर लटका कर चलने लगा।

तब तीनों मित्र मिले और किसी उपाय से मथरक को बचाने का निर्णय किया। उन्होंने एक योजना बनायी। उसके अनुसार चित्राग आगे जाकर नदी के किनारे मुर्दा सरीखा बनकर लेट गया और लघुपतनक उसकी आँखें ठोलने का दिखावा करने लगा! यह देखकर शिकारी ने कछुवे को जमीन पर फेंका और हिरन को लेने के लिए आगे लपका। उसी समय हिरण्यक ने मथरक का बन्धन काट दिया और वह नदी के गहरे पानी में सरक गया। उधर चित्राग ने मथरक को मुक्त देखते ही छलांगें मारता हुआ वन में भाग गया। लघुपतनक काँव काँव करता हुआ आसमान में उड़ गया और हिरण्यक पास के बिल में घुस गया!

शिकारी ने लौटकर देखा तो डोरी कटी पड़ी थी और कछुवा गायब था!

फिर, ये मित्र एक दूसरे के सहकार से दीर्घकाल तक खाते पीते मौज करते रहे।

ऐसे मित्र ही सन्मित्र कहे जा सकते हैं। लेकिन, सम्यक्त्व की मैत्री तो इनसे भी कहीं अधिक श्रेष्ठ है, कारण कि वह इस अपार दुःखपूर्ण संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव के लिए उससे बाहर निकलने का मार्ग सरल कर देता है। तात्पर्य यह कि, सन्मित्र से बढ़कर कोई श्रेष्ठ मित्र नहीं है।

सगा सम्बन्धी, सगोत्री, नातेदार बन्धु कहलाता है। वह अच्छे-बुरे वक्त पर साथ देता है और उससे आदमी को बड़ा आश्वासन मिलता है। यद्यपि आजकल तो कलयुग के प्रताप से काका मामा कहने भर के लिए रह गये हैं और पास में चार पैसे हों तो ही भाव पूछते हैं। पास में कुछ न हो तो सगी बहन भी किसी भाव नहीं पूछती। पिता को भी पुत्र तभी प्यारा लगता है कि, चार पैसे कमाकर लाता हो। परन्तु, सम्यक्त्व का सम्बन्ध ऐसा नहीं है। इसके साथ सम्बन्ध कायम हुआ कि, वह आपकी निरन्तर सार-सँभाल रखता है और इस प्रकार सहायता करता रहता है कि, आपकी उन्नति होती रहे। इसीलिए, शास्त्रकार भगवंतों ने श्रेष्ठ बन्धु से उसकी उपमा दी है।

अब रही लाभ की बात! आपको अच्छे भोजन की इच्छा हो और वह मिल जाये तो आप खुश होते हैं, आपको सुन्दर वस्त्राभूषण की इच्छा हो और वह मिल जाये तो आप खुश होते हैं, अथवा आपको लक्ष्मी और अधिकार की प्रबल इच्छा हो और वह मिल जाये तो आप अत्यन्त खुश होते हैं, लेकिन ये सब लाभ सम्यक्त्व के लाभ के आगे किसी बिसात में नहीं हैं। चतुर्दशपूर्वधर श्री भद्रबाहु स्वामी 'उवसग्गहर-स्तोत्र' में कहते हैं—

तुह सम्मत्ते लद्धे, चिंतामणिकप्पपायवब्भहिए।
पावंति अविग्घेण, जीवा अयरामरं ठाणं॥

—हे पार्श्वनाथ प्रभो ! आपका सम्यक्त्व चिन्तामणिरत्न कल्पवृक्ष-से भी बढ़कर है, कारण कि उसका लाभ होने पर जीव बिना विघ्न अजरामर स्थान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

'सम्यक्त्व के लाभ से बढ़कर कोई लाभ नहीं,' ये वचन भी परम सत्य को प्रकट करनेवाले हैं।

शास्त्रकार भगवंतों ने सम्यक्त्व की महिमा प्रकट करते हुए यह भी कहा है कि—

दानानि शीलानि तपांसि पूजा, सत्तीर्थयात्रा प्रवरादया च।
सुश्रावकत्वं व्रतपालनं च, सम्यक्त्वमूलानि महाफलानि॥

—विविध प्रकार के दान, विविध प्रकार का शील, विविध प्रकार के तप, प्रभुपूजा, महान् तीर्थों की यात्रा, उत्तम प्रकार की जीवदया, सुश्रावक-पना और किसी भी प्रकार के व्रतका पालन सम्यक्त्वपूर्वक हो तो ही महाफल देनेवाला होता है।

इसका अर्थ यह हुआ कि, चाहे जैसी धर्मक्रियाएँ करें, चाहे जैसे धार्मिक अनुष्ठान करें, पर उसके मूल में सम्यक्त्व होना आवश्यक है। अगर सम्यक्त्व न हो तो उन सब क्रियाओं का, उन सब अनुष्ठानों का जो फल मिलना चाहिए सो मिलता नहीं है।

सम्यक्त्व की स्पर्शना, सम्यक्त्व की प्राप्ति, सम्यक्त्व का लाभ, ये आत्मविकास के इतिहास में अत्यन्त महान् घटनाएँ हैं, कारण कि, तभी से अपरिमित भवभ्रमण को प्राप्त आत्मा अधिक-से-अधिक अर्धपुद्गल परा वर्तनकाल में तो अवश्य मोक्ष जाता है और जघन्य की दृष्टि से तो अन्त-र्मुहूर्त में भी वह सकल कर्म का नाश करके मोक्षगामी हो सकता है।

तीर्थंकर भगवतों के भवों की गणना भी जब से उनका आत्मा सम्यक्त्व को स्पर्श करता है तभी से होती है। इस सम्यक्त्व की स्पर्शना कैसे संयोगों में किस तरह होती है, यह बात धन सार्थवाह की कथा द्वारा बतायेंगे।

धन-सार्थवाह की कथा

जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह क्षेत्र में क्षितिप्रतिष्ठित-नामक नगर था। वहाँ धन नामक एक श्रीमत सार्थवाह रहता था। औदार्य, गाभीर्य, धैर्य, आदि गुणों से उसका जीवन विभूषित था। जीवन का सच्चा भूषण सुवर्ण मणिमुक्ता नहीं, बल्कि सद्गुण हैं, यह बात हमें हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए।

एक बार धन सार्थवाह ने विचार किया—"गृहस्थ लोग धनोपार्जन से ही शोभा पाते हैं, इसलिए सम्पत्तिशाली होते हुए भी मुझे प्रमाद छोड़कर धनोपार्जन करना चाहिए। पुष्कल जलसमूह से परिपूर्ण होने पर भी क्या सागर नदियों से जलसग्रह नहीं करता? पुण्योदय से व्यापार लक्ष्मी को प्राप्त कराता है। मैं किराना लेकर वसंतपुर जाऊँ।'

यह निर्णय करके उसके नगर में उद्घोषणा करा दी—"हे नगर जनों! धन्-सार्थवाह वसन्तपुर जानेवाला है, इसलिए जिसे चलना हो चले। वह रास्ते में सबके रक्षण-पोषण का प्रबन्ध करेगा।"

यह उद्घोषणा सुनकर, बहुत-से लोग उसके साथ चलने को तैयार हो गये। उस समय क्षांत, दात और निरारंभी धर्मघोष-नामक शातिमूर्ति आचार्य उसके पास आये।

सार्थवाह ने खड़े होकर, दोनों हाथ जोड़कर उन्हें विनयपूर्वक वन्दन किया और आगमन का कारण पूछा। आचार्य ने कहा—"महानुभाव! हम भी सपरिवार तुम्हारे साथ वसन्तपुर चलेंगे।" यह सुनकर धन-सार्थवाह ने कहा—"महाराज! आप बड़ी प्रसन्नता से चलिए। मैं आपकी सब सँभाल रखूँगा।" और, उसने तभी आदमियों को आचार्य-महाराज के और उनके परिवार के खानपान तैयार करने की आज्ञा दे दी। यह सुनकर आचार्य ने कहा—"महानुभाव! साधुओं के लिए किया हुआ, कराया हुआ और सकल्प किया हुआ आहार उन्हें कल्पता नहीं है। कुँआ, बावड़ी, तालाब

—हे पार्श्वनाथ प्रभो! आपका सम्यक्त्व चिन्तामणिरत्न कल्पवृक्ष से भी बढ़कर है, कारण कि उसका लाभ होने पर जीव बिना विघ्न अजरामर स्थान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

'सम्यक्त्व के लाभ से बढकर कोई लाभ नहीं,' ये वचन भी परम सत्य को प्रकट करनेवाले हैं।

शास्त्रकार भगवतों ने सम्यक्त्व की महिमा प्रकट करते हुए यह भी कहा है कि—

दानानि शीलानि तपांसि पूजा, सत्तीर्थयात्रा प्रवरादया च।
सुश्रावकत्वं व्रतपालनं च, सम्यक्त्वमूलानि महाफलानि॥

—विविध प्रकार के दान, विविध प्रकार का शील, विविध प्रकार के तप, प्रभुपूजा, महान् तीर्थों की यात्रा, उत्तम प्रकार की जीवदया, सुश्रावकपना और किसी भी प्रकार के व्रतका पालन सम्यक्त्वपूर्वक हो तो ही महाफल देनेवाला होता है।

इसका अर्थ यह हुआ कि, चाहे जैसी धर्मक्रियाएँ करें, चाहे जैसे धार्मिक अनुष्ठान करें, पर उसके मूल में सम्यक्त्व होना आवश्यक है। अगर सम्यक्त्व न हो तो उन सब क्रियाओं का, उन सब अनुष्ठानों का जो फल मिलना चाहिए सो मिलता नहीं है।

सम्यक्त्व की स्पर्शना, सम्यक्त्व की प्राप्ति, सम्यक्त्व का लाभ, ये आत्मविकास के इतिहास में अत्यन्त महान् घटनाएँ हैं, कारण कि, तभी से अपरिमित भवभ्रमण को प्राप्त आत्मा अधिक-से-अधिक अर्धपुद्गल परावर्तनकाल में तो अवश्य मोक्ष जाता है और जघन्य की दृष्टि से तो अन्तर्मुहूर्त में भी वह सकल कर्म का नाश करके मोक्षगामी हो सकता है।

तीर्थंकर भगवतों के भवों की गणना भी जब से उनका आत्मा सम्यक्त्व को स्पर्श करता है तभी से होती है। इस सम्यक्त्व की स्पर्शना कैसे संयोगों में किस तरह होती है, यह बात धन सार्थवाह की कथा द्वारा बतायेंगे।

धन-सार्थवाह की कथा

जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह क्षेत्र में क्षितिप्रतिष्ठित-नामक नगर था। वहाँ धन नामक एक श्रीमत सार्थवाह रहता था। औदार्य, गाम्भीर्य, धैर्य, आदि गुणों से उसका जीवन विभूषित था। जीवन का सच्चा भूषण सुवर्ण मणिमुक्ता नहीं, बल्कि सद्गुण हैं, यह बात हमें हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए।

एक बार धन सार्थवाह ने विचार किया—"गृहस्थ लोग धनोपार्जन से ही शोभा पाते हैं, इसलिए सम्पत्तिशाली होते हुए भी मुझे प्रमाद छोड़कर धनोपार्जन करना चाहिए। पुष्कल जलसमूह से परिपूर्ण होने पर भी क्या सागर नदियों से जलसग्रह नहीं करता ? पुण्योदय से व्यापार लक्ष्मी को प्राप्त कराता है। मैं किराना लेकर वसंतपुर जाऊँ।'

यह निर्णय करके उसके नगर में उद्घोषणा करा दी—"हे नगर-जनों! धन-सार्थवाह वसन्तपुर जानेवाला है, इसलिए जिसे चलना हो चले। वह रास्ते में सबके रक्षण पोषण का प्रबन्ध करेगा।"

यह उद्घोषणा सुनकर, बहुत-से लोग उसके साथ चलने को तैयार हो गये। उस समय क्षात, दांत और निरारम्भी धर्मघोष-नामक शांतिमूर्ति आचार्य उसके पास आये।

सार्थवाह ने खड़े होकर, दोनों हाथ जोड़कर उन्हें विनयपूर्वक वन्दन किया और आगमन का कारण पूछा। आचार्य ने कहा—"महानुभाव! हम भी सपरिवार तुम्हारे साथ वसन्तपुर चलेंगे।" यह सुनकर धन-सार्थवाह ने कहा—"महाराज! आप बड़ी प्रसन्नता से चलिए। मैं आपकी सब सँभाल रखूँगा।" और, उसने तभी आदमियों को आचार्य-महाराज के और उनके परिवार के खानपान तैयार करने की आज्ञा दे दी। यह सुनकर आचार्य ने कहा—"महानुभाव! साधुओं के लिए किया हुआ, कराया हुआ और सकल्प किया हुआ आहार उन्हें कल्पता नहीं है। कुँआ, बावड़ी, तालाब

का सचित्त जल भी उन्हें नहीं कल्पता।" इतने में किसी ने आकर सार्थवाह के पास पके आमों का थाल रखा। उसने हर्षित होकर कहा—"भगवन्! आप ये ताजा फल ग्रहण करके मुझ पर अनुग्रह करें।"

आचार्य बोले—"हे देवानुप्रिय! साधुओं को सचित्त वस्तुओं का त्याग होता है, इसलिए इन सचित्त फलों को लेना हमें कल्पता नहीं है।"

यह सुनकर धन सार्थवाह को अत्यन्त आश्चर्य हुआ और कहने लगा—"आपके व्रतनियम अति दुष्कर मालूम होते हैं, पर आप मेरे साथ चलें, आपको जैसा कल्पता होगा, वैसा आहार-पानी दूँगा।"

धन-सार्थवाह ने मगल मुहुर्त में बड़े काफिले के साथ प्रयाण किया। धर्मघोष-आचार्य भी सपरिवार उसके साथ चले। वे विषम वनों को पार करते हुए, नदी-नालों को पार करते हुए और ऊँची-नीची भूमि से गुजरते हुए अनुक्रम से एक महा अरण्य में आ पहुँचे। उस समय वर्षा ने अपना ताडव शुरू किया और आने-जाने के सब मार्गों को काँटे, कीचड़ और पानी से भर दिया। आगे बढना अशक्य जानकर धन-सार्थवाह ने उसी अरण्य मे स्थिरता की और सार्थ-सघ के सब आदमियों के लिए वर्षा ऋतु निर्गमन करने के लिए वहाँ छोटे बड़े आश्रय खड़े कर दिये। किसी ने सच ही कहा है—"देशकाल के अनुसार उचित क्रिया करनेवाला दु खी नहीं होता।"

श्री धर्मघोष-आचार्य ने ऐसा एक आश्रय माँग कर उसमें अपने शिष्यों सहित आश्रय लिया और वे स्वाध्याय, तप और धर्म-ध्यान में अपने समय बिताने लगे।

यहाँ अप्रत्याशित रूप से दीर्घकाल तक रुकने के कारण, साथ के लोगों की खान-पान सामग्री समाप्त हो गयी और वे कद, मूल, फल, फूल आदि से अपना निर्वाह करने लगे। यह जानकर धन-सार्थवाह बड़ा चिंतातुर हुआ और सब की फिक्र करने लगा। तभी उसे श्री धर्मघोष-आचार्य की

भी याद आयी कि, वे अपना निर्वाह किस तरह कर रहे होंगे। अब तक उनकी तरफ से बेखबर रहने के कारण उसे बड़ी ही लज्जा हुई।

सुबह होने पर वह उज्ज्वल वस्त्राभूषण धारण कर अपने खास आदमियों को साथ लेकर आचार्य श्री के आश्रय पर आया। वहाँ उसने क्षमा, नम्रता, सरलता और सन्तोष की मूर्तिस्वरूप आचार्य के दर्शन किये। उनके पास अन्य मुनि बैठे हुए थे। उनमें से कोई ध्यानमग्न थे, किन्हीं ने मौन धारण किया हुआ था, किन्हीं ने कायोत्सर्ग का अवलम्बन ले रखा था, कोई स्वाध्याय में लीन था, तो कोई भूमिप्रमार्जन आदि क्रियाओं में लगे हुए था। ज्ञान ध्यान और जप-तप के इस पवित्र वातावरण का धन-सार्थवाह के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। फिर, उसने आचार्य-श्री को वन्दन किया तथा दूसरे मुनियों को भी नमस्कार किया और अन्त में आचार्य-श्री के चरणों के समीप बैठकर गद्‌गद् कठ से कहा—"हे प्रभो! मेरा अपराध क्षमा करो। मैंने आपकी अत्यन्त अवज्ञा की है और कुछ भी उचित सार सँभाल नहीं रखी। अपने इस प्रमाद के कारण मैं अत्यन्त लज्जित हूँ और पश्चात्ताप करता हूँ!"

उत्तर में आचार्य श्री ने कहा—"हे महानुभाव! मार्ग में हिंसक पशुओं से और चोर-चखार से तुमने हमारी रक्षा की है, इसलिए हमारा सब प्रकार से सत्कार हुआ है। दूसरे, तुम्हारे संघ के लोग हमें योग्य अन्नपान आदि देते रहे हैं, इसलिए हमें कोई कष्ट नहीं हुआ, इसलिए तुम जरा भी खेद न करो।"

सार्थवाह ने कहा—"सत्पुरुष तो हमेशा गुणों को ही देखते हैं, इसलिए आप मेरे गुणों को ही देखते हैं, अपराधों को नहीं! हे भगवन्! अब आप प्रसन्न होकर साधुओं को मेरे साथ भिक्षा लेने भेजें, ताकि मैं इच्छानुसार अन्न-पान देकर कृतार्थ होऊँ।"

आचार्य ने कहा—"वर्तमान योग!" तब सार्थवाह अपने निवासस्थान पर आया। दो साधु भी उनके यहाँ भिक्षा लेने के लिए आये। पर, दैवयोग

से उस समय उसके घर में साधु को बहोरने लायक कुछ भी अन्नपान नहीं था। इधर उधर देखा तो ताजा घी का भरा हुआ एक पात्र दिखायी पड़ा। उसने कहा—"भगवन्! यह आपको कल्पेगा?" साधुओं ने अपने आचार के अनुसार 'कल्पेगा' कहकर पात्र रख दिया। धन सार्थवाह ने रोमाञ्चित होकर और प्रबल कृतार्थता और धन्यता की भावनापूर्वक मुनियों को घी बहोरा। फिर, उसने उन मुनियों को वन्दन किया। उन्होंने सर्वकल्याण के सिद्धमंत्र समान 'धर्मलाभ' दिया और वे अपने आश्रय-स्थान पर लौट आये। इस उल्लासपूर्ण दान के प्रभाव से धन सार्थवाह ने मोक्षवृक्ष के बीजरूप सम्यक्त्व को प्राप्त किया।

रात को सार्थवाह फिर आचार्य के आश्रय पर गया और अत्यन्त भक्ति-भाव से वन्दन करके उनके चरणों के पास बैठ गया। उस समय आचार्य-श्री ने गम्भीर वाणी से धर्मोपदेश देते हुए कहा—

"धर्म उत्कृष्ट मंगल है, स्वर्ग और मोक्षदायक है तथा संसार रूपी दुरूह वन को पार करने के लिए श्रेष्ठ मार्गदर्शक है।"

"धर्म माता की तरह पोषण करता है, पिता की तरह रक्षण करता है, मित्र की तरह प्रसन्न करता है, बन्धु की तरह स्नेह रखता है, गुरु की तरह उज्ज्वल गुणों में आरूढ़ करता है और स्वामी की तरह उत्कृष्ट प्रतिष्ठा को प्राप्त कराता है।"

"धर्म सुख का महाहर्म्य है, शत्रु-रूप संकट में अभेद्य बख्तर है और जड़ता का नाश करनेवाला महारसायन है।"

"धर्म से जीव राजा, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती और इन्द्र बनता है तथा त्रिभुवन पूजित तीर्थंकर पद को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि, जगत् की तमाम ऋद्धि-सिद्धियाँ और सकल ऐश्वर्य धर्म के अधीन हैं।"

"इस धर्म का अनुष्ठान दान, शील, तप और भाव की यथार्थ आराधना से होता है। जैसे महाराजेश्वर का निमंत्रण मिलने पर माण्डलिक राजा उसके

पास आते हैं, वैसे सुपात्र-दान से शील आदि शेष धर्म प्रकार भी आत्मा के समीप आते हैं।"

"अगर दान सुपात्र को दिया गया हो, तो वह धर्मोत्पत्ति का कारण बनता है, अगर अन्य को दिया गया हो तो करुणा की कीर्ति को प्रकाशित करता है, अगर मित्र को दिया गया हो तो प्रीति को बढ़ाता है, अगर शत्रु को दिया गया हो तो वैर का नाश करता है, अगर नौकर-चाकर को दिया गया हो तो उनकी सेवावृत्तिको उत्कट बनाता है, अगर राजा को दिया गया हो तो सम्मान और पूजा की प्राप्ति कराता है; और अगर चारण भाट को दिया गया हो तो यश को फैलाता है। इस प्रकार किसी भी जगह दिया गया दान निष्फल नहीं जाता।

"दान से धन का नाश नहीं होता, बल्कि वृद्धि होती है। इसीलिए कहा है—

जो दीजे कर आपणे, ते पामो परलोय।
दीजंता धन नीपजे, कूप वहंतो जोय॥

—हम जो अपने हाथ से देते हैं, वही परभव में पाते हैं। कुँआ अपना पानी निरन्तर देता रहता है, तो उसमें नया पानी भी निरन्तर आता रहता है।

इस तरह नित्य धर्मश्रवण करता हुआ, धन-सार्थवाह धर्म-मार्ग में दृढ़ श्रद्धावन्त हुआ और यथाशक्ति धर्म का आराधन करने लगा।

वर्षा ऋतु पूरी हो जाने पर और मार्ग सरल हो जाने पर वह सब साथियों के साथ वसन्तपुर पहुँचा और किराने के क्रय विक्रय से बहुत-सा धन कमाया। यहाँ से श्री धर्मघोष आचार्य अन्यत्र विहार कर गये और अपनी पतितपावनी देशना द्वारा पृथ्वी को पावन करने लगे।

कालान्तर में धन-सार्थवाह क्षितिप्रतिष्ठित नगर में वापस आया और धर्म-संस्कारों को दृढ़ करता हुआ अनुक्रम से कालधर्म को प्राप्त हुआ।

से उस समय उसके घर में साधु को बहोरने लायक कुछ भी अन्नपान नहीं था। इधर उधर देखा तो ताजा घी का भरा हुआ एक पात्र दिखायी पड़ा। उसने कहा—"भगवन्! यह आपको कल्पेगा?" साधुओं ने अपने आचार के अनुसार 'कल्पेगा' कहकर पात्र रख दिया। धन सार्थवाह ने रोमाञ्चित होकर और प्रबल कृतार्थता और धन्यता की भावनापूर्वक मुनियों को घी बहोरा। फिर, उसने उन मुनियों को वन्दन किया। उन्होंने सर्वकल्याण के सिद्धमंत्र समान 'धर्मलाभ' दिया और वे अपने आश्रय-स्थान पर लौट आये। इस उल्लासपूर्ण दान के प्रभाव से धन सार्थवाह ने मोक्षवृक्ष के बीजरूप सम्यक्त्व को प्राप्त किया।

रात को सार्थवाह फिर आचार्य के आश्रय पर गया और अत्यन्त भक्ति-भाव से वन्दन करके उनके चरणों के पास बैठ गया। उस समय आचार्य-श्री ने गंभीर वाणी से धर्मोपदेश देते हुए कहा —

"धर्म उत्कृष्ट मंगल है, स्वर्ग और मोक्षदायक है तथा संसार रूपी दुरूह वन को पार करने के लिए श्रेष्ठ मार्गदर्शक है।"

"धर्म माता की तरह पोषण करता है, पिता की तरह रक्षण करता है, मित्र की तरह प्रसन्न करता है, बन्धु की तरह स्नेह रखता है, गुरु की तरह उज्वल गुणों में आरूढ़ करता है और स्वामी की तरह उत्कृष्ट प्रतिष्ठा को प्राप्त कराता है।"

"धर्म सुख का महाहर्म्य है, शत्रु-रूप संकट म अभेद्य बख्तर है और जड़ता का नाश करनेवाला महारसायन है।"

"धर्म से जीव राजा, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती और इन्द्र बनता है तथा त्रिभुवन पूजित तीर्थंकर पद को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि, जगत् की तमाम ऋद्धि-सिद्धियाँ और सकल ऐश्वर्य धर्म के अधीन हैं।"

"इस धर्म का अनुष्ठान दान, शील, तप और भाव की यथार्थ आराधना से होता है। जैसे महाराजेश्वर का निमंत्रण मिलने पर माडलिक राजा उसके

पास आते हैं, वैसे सुपात्र-दान से शील आदि शेष धर्म प्रकार भी आत्मा के समीप आते हैं।"

"अगर दान सुपात्र को दिया गया हो, तो वह धर्मोत्पत्ति का कारण बनता है, अगर अन्य को दिया गया हो तो करुणा की कीर्ति को प्रकाशित करता है, अगर मित्र को दिया गया हो तो प्रीति को बढ़ाता है, अगर शत्रु को दिया गया हो तो वैर का नाश करता है, अगर नौकर-चाकर को दिया गया हो तो उनकी सेवावृत्तिको उत्कट बनाता है, अगर राजा को दिया गया हो तो सम्मान और पूजा की प्राप्ति कराता है, और अगर चारण भाट को दिया गया हो तो यश को फैलाता है। इस प्रकार किसी भी जगह दिया गया दान निष्फल नहीं जाता।

"दान से धन का नाश नहीं होता, बल्कि वृद्धि होती है। इसीलिए कहा है—

जो दीजे कर आपणे, ते पामो परलोय।
दीजंता धन नीपजे, कूप वहंतो जोय॥

—हम जो अपने हाथ से देते हैं, वही परभव में पाते हैं। कुँआ अपना पानी निरन्तर देता रहता है, तो उसमें नया पानी भी निरन्तर आता रहता है।

इस तरह नित्य धर्मश्रवण करता हुआ, धन-सार्थवाह धर्म-मार्ग में दृढ़ श्रद्धावन्त हुआ और यथाशक्ति धर्म का आराधन करने लगा।

वर्षा-ऋतु पूरी हो जाने पर और मार्ग सरल हो जाने पर वह सब साथियों के साथ वसन्तपुर पहुँचा और किराने के क्रय विक्रय से बहुत-सा धन कमाया। यहाँ से भी धर्मघोष आचार्य अन्यत्र विहार कर गये और अपनी पतितपावनी देशना द्वारा पृथ्वी को पावन करने लगे।

कालान्तर में धन सार्थवाह क्षितिप्रतिष्ठित नगर में वापस आया और धर्म-संस्कारों को दृढ करता हुआ अनुक्रम से कालधर्म को प्राप्त हुआ।

दूसरे भव में वह उत्तर कुरुक्षेत्र में युगलिया रूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ से कालधर्म पाकर वह सौधर्म स्वर्ग में देव बनकर उत्पन्न हुआ। चौथे भव में वह पश्चिम महाविदेह में वह वैताढ्य पर्वत पर महाबल नामक विद्याधर हुआ और ससार से विरक्त होकर अनगार बना। उसमें अन्त काल में बाईस दिन का अनशन करके कालधर्म पाकर ईशान-नामक स्वर्ग में ललिताग नामक देव हुआ। वहाँ से च्यवकर छठें भव में पूर्व महा विदेह की पुष्कलावती विजय में लोहार्गला नामक नगरी में सुवर्णजघ राजा के यहाँ वज्रजघ नामक कुमार हुआ। अनुक्रम से वह राज्य का मालिक बना और पुत्र को राज्य सौंपकर प्रव्रज्या ग्रहण करने का विचार कर रहा था कि राज्यलोभी पुत्र ने अग्निप्रयोग से उसे मार डाला।

सातवें भव में वह उत्तर कुरुक्षेत्र में फिर युगलिया-रूप से उत्पन्न हुआ, आठवें भव में सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुआ, नवें भव में महाविदेह क्षेत्र के क्षितिप्रतिष्ठित नगर मे सुविधि वैद्य के घर जीवानंद-पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। दसवाँ भव बारहवें स्वर्ग में, ग्यारहवाँ भव महाविदेह में तथा बारहवाँ भव सर्वार्थसिद्धि में गुजार कर तेरहवें भव में वह भरत-क्षेत्र में नाभिकुलकर तथा मरुदेवी के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ और ऋषभदेव-नामक प्रथम तीर्थंकर बनकर जगत् पर अनेक प्रकार के उपकार करके सिद्ध, बुद्ध, निरजन हुये!

तात्पर्य यह कि, सम्यक्त्व की स्पर्शना होने पर धन सार्थवाह का आत्मा अनुक्रम से विकास पाता गया और वह अपनी आत्मा का कल्याण कर सका। इसीलिए, सम्यक्त्व की इतनी प्रशंसा है, सम्यक्त्व का इतना बखान है, सम्यक्त्व का इतना गुणानुवाद है।

सम्यक्त्व के विषय में अभी बहुत कुछ कहना है, वह अवसर पर कहा जायेगा।

बयालीसवाँ व्याख्यान

सम्यक्त्व

[२]

महानुभावो !

सरोवर जैसे कमल से, रात्रि जैसे चन्द्र से, आम जैसे कोयल से और मुख जैसे नासिका से शोभा पाता है, वैसे ही धर्म-धर्माचरण सम्यक्त्व से शोभा पाते हैं। जैसे नींव के बिना भवन नहीं खड़े होते, बरसात बिना खेती नहीं होती और नायक बिना सेना नहीं लड़ सकती, वैसे ही सम्यक्त्व बिना धर्म का आचरण यथार्थ रूप से नहीं हो सकता।

सम्यक्त्वरहित ज्ञान या सम्यक्त्वरहित चारित्र मोक्ष नहीं दिला सकता। गुणस्थान की चर्चा में हमने यह स्पष्ट कर दिया है कि, जब आत्मा सम्यक्त्व से विभूषित होता है तभी वह देशविरति, सर्वविरति आदि आगे की भूमिकाओं को स्पर्श करके अपना विकास साध सकती है।

यह बात ठीक है कि, आप सम्यक्त्व का अर्थ जानते हैं। इस सम्बन्ध में कितनी ही बार विचारणा हो चुकी है। पर, रात्रि-दिवस की साठ घड़ी में अपने धर्माराधन के लिए कितना समय रखा है। बराबर हिसाब करके कहें ? पर, भाग्यशाली यदि धर्म सम्बन्धी विचारणा ही नहीं करेंगे, तो आप सम्यक्त्व का अर्थ किस प्रकार जानेंगे ?

सम्यक्त्व का अर्थ

सम्यक् पद में 'त्व' प्रत्यय लगाने से सम्यक्त्व शब्द बनता है।

सम्यक्त्व का अर्थ सम्यक्पना, अच्छाई या सुन्दरता है। पर, यह सुन्दरता किसकी? आत्मा की—पुद्गलकी नहीं। जब तक आत्मा मिथ्यात्वयुक्त रहती है, तब तक उसमें सम्यक्पना, अच्छाई या सुन्दरता नहीं आती, वह तो मिथ्यात्व का मलिन भाव दूर होने पर ही आती है। तात्पर्य यह है कि, सम्यक्त्व आत्मा का शुद्ध परिणाम है, आत्मा का सौन्दर्य है।

सम्यक्त्व के प्रकार

शास्त्रकार भगवंत कहते हैं—

'एगविहं दुविहं तिविहं, चउहा पचविह दसविह सम्म'

—सम्यक्त्व एक, दो, तीन, चार, पाँच और दस प्रकार का है। अब इस कथन को स्पष्ट करके समझाते हैं।

सम्यक् तत्त्व की रुचि यानी जिन कथिक तत्त्वों में यथार्थपने की बुद्धि—यह सम्यक्त्व का एक प्रकार है। कहा है कि—

जीवाइ नवपयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्त।
भावेण सद्दहंतो, अयाणमाणे वि सम्मत्तं॥

—जीव, अजीव आदि नौ पदार्थों को जो यथार्थ रूप से जानता है, उसे सम्यक्त्व होता है। लेकिन, अगर मद बुद्धि के कारण अथवा छद्मस्थ होने के कारण जो उन्हें नहीं समझता, परन्तु श्रद्धा से जिनवाणी को सत्य मानता है उसे भी सम्यक्त्व होता है!

शास्त्रों में ऐसा भी कहा है कि—

अरिहं देवो गुरुणा, सुसाहुणो जिणमय पमाणं च।
इच्चाइ सुहो भावो, सम्मत विंति जगगुरुणो॥

—अरिहन्त देव हैं, सुसाधु गुरु हैं और जिनमत प्रामाणिक तथा सत्य धर्म है—ऐसा जिस आत्मा का शुद्ध परिणाम है, उसे श्री जिनेश्वर देव सम्यक्त्व कहते हैं।

हमने ऊपर जो 'सम्यक् तत्त्व की अभिरुचि' कहा है, वहाँ तत्त्व शब्द से जीव, अजीव आदि नौ तत्त्व और देव, गुरु, धर्म ये दोनों वस्तुएँ समझनी चाहिए।

नैसर्गिक और आधिगमिक ये सम्यक्त्व के दो प्रकार हैं। नैसर्गिक-सम्यक्त्व स्वाभाविक रीति से होता है और आधिगमिक गुरु के उपदेश आदि निमित्तों से होता है। 'द्रव्य-सम्यक्त्व' और 'भाव-सम्यक्त्व' ऐसे भी उसके दो प्रकार हैं। इनमें श्री जिनेश्वरदेव कथित तत्त्वों में जीव की सामान्य रुचि 'द्रव्य सम्यक्त्व' है और वस्तु को जानने के उपाय रूप प्रमाण नय आदि जीव, अजीव आदि तत्त्वों को विशुद्ध रूप से जानना 'भाव सम्यक्त्व' है।

प्रमाण अर्थात् वस्तु का सर्वग्राही बोध, और नय अर्थात् वस्तु का आंशिक बोध। 'यह घड़ा है', यह वस्तु का सर्वग्राही बोध है। और 'यह घड़ा लाल है', 'यह घड़ा सुन्दर है', यह वस्तु का आंशिक बोध है। प्रमाण और नय का विषय बहुत गहरा है। उस पर अनेक शास्त्र रचे गये हैं। उसका विवेचन फिर कभी करेंगे।

शास्त्रकारों ने 'निश्चय-सम्यक्त्व' और 'व्यवहार-सम्यक्त्व' ऐसे भी दो प्रकार माने हैं। आत्मा का शुद्ध परिणाम 'निश्चय-सम्यक्त्व' है, और उसमें हेतुभूत ६६ भेदों का ज्ञान प्राप्त करके उनका श्रद्धा और क्रियारूप से यथाशक्य पालन करना 'व्यवहार-सम्यक्त्व' है।

औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ये सम्यक्त्व के तीन प्रकार हैं, जिनका विवेचन पूर्व व्याख्यानों में किया जा चुका है।

कारक, रोचक और दीपक भेद से भी सम्यक्त्व के तीन प्रकार माने जाते हैं। श्रद्धा के कारणभूत जप तप आदि क्रियाओं का आदर करना कारक सम्यक्त्व है, शास्त्र का हेतु या उदाहरण जाने बिना भी मात्र रुचि से तत्त्व पर श्रद्धा होना रोचक सम्यक्त्व है, और अपनी श्रद्धा समुचित न

होने पर भी दूसरे को तत्व श्रद्धा करना दीपक सम्यक्त्व है। यह तीसरे प्रकार का सम्यक्त्व मात्र व्यवहार से सम्यक्त्व है, तात्विक दृष्टि से सम्यक्त्व नहीं है। सम्यक्त्व के औपशमिक आदि तीन प्रकारों में सास्वादन सम्मिलित कर दें, तो उसके चार प्रकार हो जाते हैं। गुणस्थानों के प्रसंग में इस सम्यक्त्व का परिचय कराया गया है।

इन चार प्रकारों में वेदक जोड़ दें तो सम्यक्त्व के पाँच प्रकार हो जाते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होने से पहले, सम्यक्त्वमोहनीय के जो चरम दल वेदे जाते हैं, उन्हें वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।

इस पाँच प्रकार के सम्यक्त्व के नैसर्गिक और आधिगमिक में दो दो प्रकार करें तो सम्यक्त्व दस प्रकार का हो जाता है। शास्त्र में उसके दस प्रकार इस प्रकार बताये गये हैं—

(१) **निसर्गरुचि**—श्री जिनेश्वर देव के यथार्थ अनुभूत भावों पर को जीवका अपने-आप जातिस्मरण आदि ज्ञान से जानकर 'वह ऐसा ही है, अन्यथा नहीं' ऐसी अडिग श्रद्धा रखना निसर्गरुचि है।

(२) **उपदेश-रुचि**—केवली या छद्मस्थ गुरुओं द्वारा कहे गये उपर्युक्त भावों पर श्रद्धा रखना उपदेश-रुचि है।

(३) **आज्ञारुचि**—राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, आदि दोषों से रहित महापुरुषों की आज्ञा पर रुचि रखना आज्ञा-रुचि है।

(४) **सूत्र-रुचि**—अंगप्रविष्ट या अंगबाह्य सूत्रों को पढकर तत्त्व म रुचि होना सूत्ररुचि है। वर्तमान शासन मे श्री गौतमस्वामी आदि गणधरों के रचे हुए शास्त्र अंगप्रविष्ट कहलाते हैं। उसके आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति (श्री भगवतीजी), ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपातिकदशांग, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद ऐसे बारह प्रकार हैं। इसे समग्र रूप से द्वादशांगी कहा जाता है। 'स्नातस्या' स्तुति की तीसरी थोय तो आप सबको याद ही होगी—

अर्हद्वक्त्र-प्रसूत गणधररचितं द्वादशांगं विशाल,
चित्रं बह्वर्थयुक्तं मुनिगण-वृषभैर्धारितं बुद्धिमद्भिः।
मोक्षाग्रद्वारभूतं व्रत-चरण-फल-ज्ञेय भाव-प्रदीपं,
भक्त्याया नित्यं प्रपद्ये श्रुतमहमखिलं सर्वलोकैकसारम् ॥

—श्री जिनेश्वर देव के मुख से अर्थ रूप से प्रकटे हुए और गणधरों द्वारा सूत्र रूप से गूँथे हुए, बारह अंगवाले, विस्तीर्ण अद्भुत् रचना-शैलीवाले, बहुत-से अर्थों से युक्त, बुद्धिनिधान श्रेष्ठ मुनियों द्वारा धारण किये गये, मोक्ष द्वार समान, व्रत और चारित्र रूपी फलवाले, जानने योग्य पदार्थों को प्रकाशित करने में दीपक के समान और सकल विश्व म अद्वितीय सारभूत ऐसे समस्त श्रुत का मैं भक्तिपूर्वक अहर्निश आश्रय लेता हूँ।

इससे आप भलीभाँति समझ सकते हैं कि द्वादशागी कैसी है! इसके उपरांत जैन श्रुत में श्री भद्रबाहु स्वामी आदि चतुर्दशपूर्वधरादि वृद्ध आचार्यों द्वारा रचे हुए अन्य सूत्र भी हैं। वे अनगप्रविष्ट कहलाते हैं।

(५) **बीज-रुचि**—जैसे एक बीज बोने से अनेक बीज उत्पन्न होते है, वैसे ही एक पद, एक हेतु या एक दृष्टान्त सुनकर बहुत-से पदों, बहुत से हेतुओं और बहुत-से दृष्टान्तों पर श्रद्धावान् होना बीज रुचि है।

(६) **अभिगम-रुचि**—शास्त्रों का विस्तृत बोध कराकर तत्त्व पर रुचि होना अभिगम रुचि है।

(७) **विस्तार-रुचि**—६ द्रव्यों को प्रमाण और नयों द्वारा जानना अर्थात् विस्तार से बोध पाकर तत्त्व पर रुचि होना विस्तार-रुचि है।

(८) **क्रिया-रुचि**—अनुष्ठानों मे कुशल होना तथा क्रिया करने में रुचि होना क्रिया-रुचि है।

(९) **संक्षेप-रुचि**—कम सुनकर भी तत्त्व पर रुचि का होना

संक्षेप-रुचि है। चिलातीपुत्र महात्मा उपशम, विवेक और संवर इन तीन पदों को सुनकर ही तत्त्व में रुचि लेने लगे थे।

(१०) **धर्म-रुचि**—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि पदार्थों का निरूपण करनेवाले जिन वचनों को सुनकर श्रुत चारित्र रूप धर्म पर श्रद्धा होना धर्मरुचि है।

सम्यक्त्व के सड़सठ बोल

व्यवहार सम्यक्त्व का पालन करने के लिए सड़सठ भेदों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए उसका यहाँ विवेचन करेंगे। श्री प्रवचन सारोद्धार में उन भेदों को दर्शानेवाली दो गाथाएँ दी हैं—

चउसद्दहण-तिलिंगं, दसविणय-तिसुद्धि पंचगयदोसं।
अट्ठपभावण-भूसण-लक्खण-पंचविहसंजुत्तं ॥१॥
छव्विह जयणागारं, छब्भावणभाविअं च छट्टाणं।
इय सत्तसट्ठि लक्खण भेयविसुद्धं च सम्मत्तं ॥२॥

—चार सद्दहना, तीन लिंग, दस विनय, तीन शुद्धि, पाँच दूषण का त्याग, आठ प्रभावक, पाँच भूषण, पाँच लक्षण, ६ जयना, ६ आगार, ६ भावना और ६ स्थान—इन सड़सठ भेदों से युक्त सम्यक्त्व शुद्ध होता है।

चार सद्दहना

सद्दहना का अर्थ है—श्रद्धा! उसके विषय में शास्त्रकारों ने चार बोल कहे हैं—(१) परमार्थसंस्तव, (२) परमार्थज्ञातृसेवन, (३) व्यापन्नवर्जन और (४) कुदृष्टिवर्जन।

ये चार बोल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, इसलिए पहले इनकी विचारणा की जाती है।

परमार्थसत्तव अर्थात् परमार्थभूत जीवाजीवादि तत्त्वों का परिचय। उनकी श्रद्धा इस प्रकार करनी चाहिये—

(१) शुभ अशुभ कर्मों का कर्ता, शुभ-अशुभ कर्मों का भोक्ता, संसर्ता-परिनिर्वाता, चैतन्यवत, उपयोग लक्षण जीव पहला तत्त्व है। इस जीव तत्त्व की पहचान कराने के लिए हमने इस व्याख्यानमाला के प्रारम्भ में सोलह व्याख्यान दिये हैं।

(२) चैतन्यरहित धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पाँच द्रव्य दूसरा अजीव तत्त्व है। व्याख्यानमाला में इस तत्त्व का भी यथार्थ परिचय दिया है।

(३) शुभकर्म अथवा पुण्य तीसरा तत्त्व है।

(४) अशुभकर्म अथवा पाप चौथा तत्त्व है।

(५) जिससे कर्म का आत्मा की ओर आगमन हो, वह आश्रव-नामक पाँचवाँ तत्त्व है।

(६) जिससे कर्मों का आत्मा की ओर आना रुके, वह संवरनामक छठा तत्त्व है।

(७) बाह्य-अभ्यन्तर तप द्वारा कर्म को आत्मा से अमुक अंश में अलग करना निर्जरा नामक सातवाँ तत्त्व है। कर्म निर्जरा पर एक स्वतन्त्र व्याख्यान (तैंतीसवाँ व्याख्यान) दिया जा चुका है।

(८) कर्मों का आत्मप्रदेशों के साथ क्षीरनीरवत् सम्बन्ध होना बन्ध-नामक आठवाँ तत्त्व है।

(९) कर्मों का आत्मप्रदेश से सर्वथा पृथक होना मोक्ष नामक नवाँ तत्त्व है।

इन तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा जमे तो ही आत्मविकास साधा जा सकता है।

प्रश्न—इनमें कोई तत्त्व कम माना जाये तो ?

संक्षेप रुचि है। चिलातीपुत्र महात्मा उपशम, विवेक और संवर इन तीन पदों को सुनकर ही तत्त्व में रुचि लेने लगे थे।

(१०) धर्म-रुचि—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि पदार्थों का निरूपण करनेवाले जिन वचनों को सुनकर श्रुत चारित्र रूप धर्म पर श्रद्धा होना धर्मरुचि है।

सम्यक्त्व के सड़सठ बोल

व्यवहार सम्यक्त्व का पालन करने के लिए सड़सठ भेदों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए उसका यहाँ विवेचन करेंगे। श्री प्रवचन सारोद्धार में उन भेदों को दर्शानेवाली दो गाथाएँ दी हैं—

चउसद्दहण-तिलिंगं, दसविणय-तिसुद्धि पंचगयदोसं।
अट्ठपभावण-भूसण-लक्खण-पंचविहसंजुत्तं ॥१॥
छव्विह जयणागारं, छब्भावणभाविअं च छट्ठाणं।
इय सत्तसट्ठि लक्खण भेयविसुद्धं च सम्मत्तं ॥२॥

—चार सद्दहना, तीन लिंग, दस विनय, तीन शुद्धि, पाँच दूषण का त्याग, आठ प्रभावक, पाँच भूषण, पाँच लक्षण, ६ जयना, ६ आगार, ६ भावना और ६ स्थान—इन सड़सठ भेदों से युक्त सम्यक्त्व शुद्ध होता है।

चार सद्दहना

सद्दहना का अर्थ है—श्रद्धा। उसके विषय में शास्त्रकारों ने चार बोल कहे हैं—(१) परमार्थसंस्तव, (२) परमार्थज्ञातृसेवन, (३) व्यापन्नवर्जन और (४) कुदृष्टिवर्जन।

ये चार बोल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, इसलिए पहले इनकी विचारणा की जाती है।

परमार्थसंस्तव अर्थात् परमार्थभूत जीवाजीवादि तत्त्वों का परिचय। उनकी श्रद्धा इस प्रकार करनी चाहिये—

(१) शुभ अशुभ कर्मों का कर्ता, शुभ-अशुभ कर्मों का भोक्ता, ससर्ता-परिनिर्वाता, चैतन्यवत, उपयोग लक्षण जीव पहला तत्त्व है। इस जीव तत्त्व की पहचान कराने के लिए हमने इस व्याख्यानमाला के प्रारम्भ में सोलह व्याख्यान दिये हैं।

(२) चैतन्यरहित धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पाँच द्रव्य दूसरा अजीव तत्त्व है। व्याख्यानमाला में इस तत्त्व का भी यथार्थ परिचय दिया है।

(३) शुभकर्म अथवा पुण्य तीसरा तत्त्व है।

(४) अशुभकर्म अथवा पाप चौथा तत्त्व है।

(५) जिससे कर्म का आत्मा की ओर आगमन हो, वह आश्रव-नामक पाँचवाँ तत्त्व है।

(६) जिससे कर्मों का आत्मा की ओर आना रुके, वह संवरनामक छठा तत्त्व है।

(७) बाह्य-अभ्यन्तर तप द्वारा कर्म को आत्मा से अमुक अंश में अलग करना निर्जरा नामक सातवाँ तत्त्व है। कर्म निर्जरा पर एक स्वतन्त्र व्याख्यान (तेंतीसवाँ व्याख्यान) दिया जा चुका है।

(८) कर्मों का आत्मप्रदेशों के साथ क्षीरनीरवत् सम्बन्ध होना बन्ध-नामक आठवाँ तत्त्व है।

(९) कर्मों का आत्मप्रदेश से सर्वथा पृथक होना मोक्ष नामक नवाँ तत्त्व है।

इन तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा जमे तो ही आत्मविकास साधा जा सकता है।

प्रश्न—इनमें कोई तत्त्व कम माना जाये तो?

उत्तर—तो आत्मविकास की भावना खण्डित हो जायेगी और भव भ्रमण करते रहना पड़ेगा।

प्रश्न—कुछ लोग पुण्य पाप को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानते ?

उत्तर—जो पुण्य पाप को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानते, वे उनका समावेश आश्रव में करते हैं। शुभ कर्म का आश्रव पुण्य है, अशुभ कर्म का आश्रव पाप है—अर्थात् वे किसी तत्त्व को मूल से नहीं उड़ाते। जो नौ तत्त्वों में से किसी को मूल से उड़ाते है, उनका अनन्त भव भ्रमण चालू ही रहता है। जैसे कोई जीव को माने पर बन्ध मोक्ष को न माने, तो उन्हें किसी प्रकार के धर्म का आचरण करना रहा ही कहाँ ? जहाँ आत्मा को किसी प्रकार का कर्मबन्ध नहीं होता, वहाँ उसके छुटकारे के लिए प्रयत्न किस-लिए करना ? इस विचार से वे धर्माचरण मे शिथिल बल्कि विमुख हो जाते हैं।

परमार्थज्ञातृसेवन अर्थात् जीवाजीवादि तत्त्वों के जानकार, संवेग रंग में रंगे हुए, शुद्ध धर्म के उपदेशक गीतार्थ मुनियों की सेवा करना। गीत अर्थात् सूत्र और उसका अर्थ अर्थात् भाव या रहस्य को ठीक-ठीक जानना गीतार्थ है। गीतार्थ महापुरुषों में 'शास्त्रज्ञान के साथ संवेग, निर्वेद आदि गुण भी उत्कृष्ट भाव से खिले होते हैं और वे श्री जिनेश्वरदेव-कथित शुद्ध धर्म का उपदेश करते हैं। उनकी सेवा, आराधना, उपासना करने से जीवाजीवादि तत्त्वों का यथार्थ बोध होता है और उनमें श्रद्धा उत्पन्न होती है और क्रमशः बढ़ती रहती है। तत्त्व के विषय में कोई शंका पैदा हो, तो ऐसे गीतार्थ महापुरुष उसका अच्छा समाधान करते हैं और उससे श्रद्धा—सम्यक्त्व—निर्मल रहती है। इसलिए, हर मुमुक्षु को चाहिए कि, परमार्थ के ज्ञाता गीतार्थ महापुरुषों की यथासंभव सेवा किया करे।

'जो सद्गुरु की सेवा नहीं करते, उन्हें अध्यात्मज्ञान प्राप्त नहीं

होता,' सब ऋषि महर्षि इस बात को कहते आये हैं। अनुभव भी इसका अनुमोदन करता है।

पुस्तकें पढ़कर आप चाहे जैसा ज्ञान प्राप्त कर लें; परन्तु वह सद्गुरु के दिये हुए ज्ञान के समान निश्चित और उज्ज्वल नहीं होता। इसलिए, पण्डितों और विद्वानों को भी सद्गुरु की सेवा करनी चाहिए।

सद्गुरुकृपा से प्राप्त हुआ तत्त्व-बोध दूषित न हो, इसके लिए शास्त्रकारों ने तीसरा और चौथा बोल कहा है। तीसरा बोल है व्यापन्नवर्जन, अर्थात् व्यापन्नदर्शनी का त्याग। जिसका दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व व्यापन्न यानी खण्डित हो गया हो, उसे व्यापन्नदर्शनी कहते हैं। तात्पर्य यह कि, जो कभी नौ तत्त्वों में श्रद्धावान् रहा हो, पर बाद में उससे विचलित हो गया हो, उसे व्यापन्नदर्शनी समझना चाहिए। उसका परिचय रखने से अपना सम्यक्त्व मलीन होता है, बल्कि सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जाने का भी प्रसंग आ जाता है!

चौथा बोल है कुदृष्टिवर्जन। कुदृष्टि अर्थात् कुत्सित दृष्टिवाला अर्थात् मिथ्यात्वी। मिथ्यात्वी के संसर्ग का भी परिणाम बुरा ही आता है। आज लोगों के आचार विचार में जो शिथिलता देखी जाती है, वह मिथ्यात्वियों के विशेष संसर्ग का परिणाम है। इस पर आज हम आपका विशेष ध्यान दिलाना चाहते हैं।

तीन लिंग

लिंग अर्थात् चिह्न—पहचानने का निशान! सम्यक्त्वी आत्मा को पहचानने के लिए शास्त्रकार भगवन्तों ने तीन लिंग बताये हैं—पहला है परमागम की सुश्रूषा, दूसरा है धर्म साधन में परम अनुराग, और तीसरा है देव तथा गुरु का नियमपूर्वक वैयावृत्त्य!

परमागम अर्थात् श्री जिनेश्वर देव प्ररूपित आगम! यहाँ 'परम' विशेषण अन्य धर्म ग्रन्थों से श्रेष्ठता दर्शाने के लिए लगाया है। सुश्रूषा

अर्थात् सुनने की जिज्ञासा! मतलब यह है कि, जिनागम को सुनने की उत्कट जिज्ञासा होना सम्यक्त्व का प्रथम लिंग है। जिसे अरिहंतदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और सर्वज्ञ कथित शुद्ध धर्म पर दृढ़ श्रद्धा हो गयी हो, उसे भगवान् के वचन सुनने की उत्कट इच्छा होगी ही। अगर न हो, तो वहाँ सम्यक्त्व ही नहीं होगा। जिस देश के नेता अथवा विद्वान् को आप अच्छा मानते हैं, उसका भाषण सुनने की आप कितनी प्रतीक्षा करते हैं? चाहे बैठने की जगह न मिले, होहल्ला हो, दो-चार मील चलना पड़े, फिर भी आप भाषण सुनकर संतोष प्राप्त करते हैं। उनके वचन को आप जीवन का पथप्रदर्शक मानते हैं और प्रामाणिक मानते हैं।

धर्मसाधन में परम अनुराग होना, सम्यक्त्व का दूसरा लिंग है। 'धर्म हुआ तो भी ठीक! न हुआ तो भी ठीक!!' ऐसी मिश्र भावना को धर्म का अनुराग नहीं कह सकते। श्रीमद्यशोविजय जी महाराज कहते हैं कि—

भूख्यो अटवी उतर्योरे, जिमि द्विज घेबर चंग।
इच्छे जिमि ते धर्म नेरे, तेहिज बीजू लिंग रे प्राणी॥

— कोई ब्राह्मण अटवी उतर कर आया हो, उसे कड़ाके की भूख लग रही हो, तब उत्तम घेवर देखकर उसे खाने की जैसी तीव्र इच्छा होती है, वैसी इच्छा धर्म का आराधन करने के लिए हो, तब समझना चाहिए कि सम्यक्त्व का 'धर्म-साधन में परम अनुराग' नामक दूसरा लिंग प्रकट हुआ।

आज आपका धर्माराधन कैसा है? इसकी निरन्तर जाँच करते रहना चाहिए। यदि राग बाँधा हो तो फिर परम राग की बात क्या? कोई नयी फिल्म आयी हो तो उसे देखने की उत्सुकता होती है। कोई क्रिकेट की 'टीम' बाहर से खेलने आयी हो, तो उसकी ऐसी उत्सुकता होती है कि, यदि उसका टिकट मिलता हो आप उसका टिकट किसी दर पर ले लेते हैं। कोई नाचरंग हो या मुशायरा हो तो सामने की 'सीट' 'रिजर्व' करा लेते हैं और समय पर पहुँच ही जाते हैं। पर, यदि धर्म-साधन की बात हो तो कहते हैं कि, 'समय नहीं है!' यदि धर्म-साधन में अनुराग हो, तो ऐसा वचन

बिलकुल न निकले। धर्मसाधन में परम अनुरागवाला व्यक्ति व्यर्थ के कामों में अपना समय नष्ट नहीं करता। जो भी समय उसे मिलता है, उसे वह धर्मसाधन में ही लगाता है। और, अधिक से-अधिक धर्म कर लेने का प्रयास करता है। सयम के छोटे-से-छोटा टुकड़ा भी वह व्यर्थ नहीं जाने देना चाहता। वह रिक्त समय में जितना भी सम्भव हो 'नमस्कार मंत्र' आदि का स्मरण करके आत्मा को शुभ परिणामवाला बनाने का प्रयास करता है।

देव और गुरु का नियमपूर्वक वैयावृत्य सम्यक्त्व का तीसरा लिंग है। जैसा विद्यासाधक विद्या का नित्यनियमित आराधन करता है, वैसे ही समकितधारी आत्मा देव तथा गुरु का नित्य नियमित आराधन करे। इस आराधन में वह इतना अभ्यस्त हो जाना चाहिए कि, उसे इसके बिना चैन ही न पड़े।

रावण को नित्य जिनपूजा करने का नियम था। वह जिनपूजा किये बिना भोजन नहीं करता था। एक बार वह विमान में प्रवास कर रहा था। दोपहर के समय जब विमान नीचे उतारा गया, तो सेवक को याद आया कि, जिन प्रतिमा तो घर ही रह गयी है! अब क्या हो? सेवकों ने वहीं वेलू की एक मूर्ति बनायी। रावण ने उसका यथाविधि पूजन किया, उसके बाद ही भोजन किया। उसके बाद उसने वह मूर्ति पास के एक सरोवर में पधरादी। वह बाद में अंतरिक्ष पार्श्वनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुई।

सद्गुरु-सेवा के लिए भी समकितधारी के हृदय में ऐसा ही आग्रह होना चाहिए। नजदीक ही गुरुदेव विराजमान हों तो उनके दर्शन किये बिना, उनकी सुखसाता पूछे बिना, उनका विधिपूर्वक वन्दन किये बिना सच्चे सम्यक्त्वी को चैन पड़ेगा ही नहीं।

दस प्रकार का विनय

सम्यक्त्व की शुद्धि के लिए, सम्यक्त्व के संरक्षण के लिए दस प्रकार

का विनय होना आवश्यक है। यहाँ विनय से प्रणाम, अन्तरंग प्रेम, गुणानुवाद, अवगुणवर्जन और आशातना वर्जन ये पाँच वस्तुएँ समझनी चाहिए। मतलब यह कि, जिनका विनय करना हो, उन्हें प्रणाम अवश्य करना चाहिए। फिर, उनके प्रति अन्तरंग प्रेम प्रकट करना चाहिए। हाथ जोड़े, मस्तक नमावें, पर उनके प्रति अन्तरग प्रेम न हो तो वह शिष्टाचार रूखा हो जाता है। जिनका विनय करना हो, उनका गुणानुवाद करना चाहिए। गुणानुवाद अर्थात् गुण की स्तुति, न कि झूठी खुशामद। उसी प्रकार जिसका विनय करना हो उसके अवगुणों को ढाँकना चाहिए और इस प्रकार वर्तना चाहिए कि, उनकी आशातना न हो।

विनय दस वस्तुओं का करना है। इस विषय में कहा है कि—

अरिहंत सिद्ध चेइय, सुए अ धम्मे अ साहुवग्गे य।
आयरिय उवज्झाए, पवयणे दंसणे विणओ॥

'अर्हत्, सिद्ध, चैत्य, श्रुत, धर्म, साधु, आचार्य, उपाध्याय, प्रवचन और दर्शन इन दस का विनय करना चाहिए।'

अर्हत् का विनय अर्थात् वर्तमान काल में विहरते हुए श्री सीमंधर स्वामी आदि का विनय। सिद्धों का विनय यानी आठों कर्मों को खपाकर सिद्धशिला पर विराजे हुए सिद्ध भगवंतों का विनय। चैत्य का विनय यानी जिनप्रतिमा और जिनमंदिर का विनय।

जिनमंदिर में जानेवाले को ८४ प्रकार की आशातना वर्जनी चाहिए।

जिनमंदिर में वर्तने के ८४ नियम

(१) कफ आदि नहीं डालना।
(२) जुआ नहीं खेलना।
(३) कलह नहीं करना।

(४) धनुर्वेद का अभ्यास नहीं करना।

(५) कुल्ला नहीं करना।

(६) पान सुपारी नहीं खाना।

(७) पान आदि का कूचा नहीं डालना।

(८) किसी को गाली नहीं देना।

(९) टट्टी या पेशाब नहीं जाना।

(१०) स्नान नहीं करना।

(११) बाल नहीं काढ़ना।

(१२) नख नहीं काटना।

(१३) लहू मास आदि नहीं डालना।

(१४) भुना हुआ धान्य आदि नहीं खाना।

(१५) चमड़ा आदि नहीं डालना।

(१६) औषध खाकर उलटी नहीं करना।

(१७) उल्टी नहीं करना।

(१८) दातुन नहीं करना।

(१९) आराम नहीं करना, पैर नहीं दबवाना।

(२०) पशुओं को नहीं बाँधना।

(२१ से २७) दाँत, आँख, नख, गडस्थल, नाक, सर आदि का मैल नहीं डालना।

(२८) सोना नहीं।

(२९) मत्र, भूत, राजा, आदि का विचार नहीं करना।

(३०) वाद-विवाद नहीं करना।

(३१) नामाँ लेखा नहीं करना।

(३२) धन आदि नहीं बाँटना।

(३३) अपना द्रव्यभंडार वहाँ नहीं रखना।

(३४) पैर पर पैर रखकर नहीं बैठना।

(३५) कडे नहीं थापना ।

(३६) कपड़े नहीं सुखाना ।

(३७) दाल आदि को अकुरित करने नहीं डालना ।

(३८) पापड़ नहीं वेलना ।

(३९) सेव बनाना, बरी तोड़ना, आदि काम नहीं करना ।

(४०) राजा आदि के भय से वहाँ नहीं छिपना ।

(४१) शोक नहीं करना ।

(४२) भोजन-कथा, स्त्री-कथा, राज-कथा, देश-कथा—ये विकथाएँ नहीं करना ।

(४३) बाण, तलवार, आदि हथियार बनाना या सजना नहीं ।

(४४) गाय, भैंस नहीं रखना ।

(४५) तापनी करके तापना नहीं ।

(४६) अन्नादि नहीं राँधना ।

(४७) पैसा नहीं परखना ।

(४८) 'निस्सीहि' कहे बिना मदिर में दाखिल नहीं होना ।

(४९ से ५२) छत्र, चँवर, हथियार तथा जूते पहने प्रवेश नहीं करना ।

(५३) मन को चचल नहीं रखना ।

(५४) तेल आदि की शरीर पर मालिश नहीं करना ।

(५५ सचित्त फूल, फलादिक अन्दर नहीं लाना ।

(५६) वस्त्राभूषण बाहर रखकर शोभारहित होकर अन्दर दाखिल नहीं होना ।

(५७) भगवत को देखते ही हाथ जोड़ना ।

(५८) उत्तरासग विना पूजा नहीं करना ।

(५९) मस्तक पर मुकुट धारण नहीं करना ।

(६०) मुख, पगड़ी आदि का 'बुकाना' हो तो अलग कर देना।
(६१) फूल के हार हों तो सर से उतार देना।
(६२) शर्त नहीं लगाना।
(६३) गेंदबल्ला नहीं खेलना।
(६४) रिश्तेदार आदि को जुहार नहीं करना।
(६५) माइमवैया का खेल नहीं खेलना।
(६६) किसी को आवाज देकर नहीं बुलाना।
(६७) लेनदेन के बारे में जिनमदिर में आकर तकाजा नहीं करना।
(६८) रणसग्राम नहीं करना।
(६९) सर के बाल खोलना या खुजाना नहीं।
(७०) पालथी मारकर नहीं बैठना।
(७१) खड़ाऊँ पहनकर नहीं चलना।
(७२) पैर फैलाकर नहीं बैठना।
(७३) इशारे के लिए सीटी नहीं बजाना।
(७४) पैर का मैल नहीं निकालना।
(७५) कपड़े नहीं झटकना।
(७६) खटमल, जूँ आदि नहीं डालना।
(७७) मैथुन क्रिया नहीं करना।
(७८) जीमन नहीं करना।
(७९) क्रय-विक्रय नहीं करना।
(८०) दवा-दारू नहीं देना।
(८१) खाट नहीं खखेरना।
(८२) गुह्यभाग उघाड़ना या सँभालना नहीं।
(८३) मुक्काबाजी या मुर्गे आदि का युद्ध नहीं कराना।
(८४) चौमासे में पानी इकट्ठा करके उसमें स्नान नहीं करना, पीने के लिए पानी का पात्र नहीं रखना।

श्रुत का विनय अर्थात् सामायिक से लेकर बिन्दुसार पर्यन्त जिनागम का विनय। धर्म का विनय यानी देशविरति और सर्वविरति रूप चारित्र का विनय। साधु का विनय अर्थात् सर्वविरति को धारण करनेवाले सत्ताईस गुणयुक्त महापुरुषों का विनय। आचार्य का विनय अर्थात् आचार पालने वाले और पलवानेवाले विशिष्ट पद से विभूषित धर्माचार्य का विनय। उपाध्याय का विनय यानी साधुओं को श्रुत का अध्ययन करानेवाले तथा क्रिया-मार्ग की शिक्षा देनेवाले विशिष्ट पद से विभूषित उपाध्याय का विनय। प्रवचन का विनय यानी श्रमण प्रधान चतुर्विध संघ का विनय और दर्शन का विनय यानी क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक इन तीन प्रकार के सम्यक्त्व का विनय।

तीन प्रकार की शुद्धि

सम्यक्त्व को निर्मल रखने के लिए दस प्रकार के विनय के उपरांत तीन प्रकार की शुद्धि है। जिनमत के अतिरिक्त दूसरों को असार मानना मन शुद्धि है। जिनागमों में जीवाजीवादि तत्त्वों का जो स्वरूप जिस रीति से दर्शाया है, उससे विपरीत नहीं बोलना वचनशुद्धि है। और, खड्ग आदि से छेदे जाने पर भी या बन्धन से पीड़ित किये जाने पर भी श्री जिनेश्वरदेव के सिवाय अन्य किसी को नमस्कार नहीं करना काय शुद्धि है।

महाकवि धनपाल पहले ब्राह्मणधर्मी थे, पर बाद में जिनेश्वर कथित मार्ग में स्थिर हुए और दृढ़ समकिती बने। एक बार भोजराज राजा अन्य पंडितों के साथ उन्हें भी अपने साथ शिकार खेलने ले गया। रास्ते में एक शिवालय आया। राजा ने उसमें प्रवेश किया। सब पंडित शिव की स्तुति करके नमस्कार करने लगे, पर महाकवि धनपाल शांत खड़े रहे। उन्होंने अपना मस्तक शिव को नहीं नमाया। यह देखकर राजा ने कहा

"धनपाल ! सब पडित शिव को नमस्कार कर रहे हैं, तुम कैसे चुप खड़े हो !" तब धनपाल ने निस्संकोच कहा—

> जिनेन्द्रचन्द्रप्रणिपातलालस,
> मया शिरोऽन्यस्य न नाम नम्यते ।
> गजेन्द्रगल्लस्थलदान लालस,
> शुनीमुखे नालिकुलं निलीयते ॥

—हे राजन् ! जिनेन्द्र-रूपी चन्द्र को नमस्कार करने के लिए तड़पते हुए अपने सर को मैं किसी और के सामने नहीं झुकाता । मदोन्मत्त हाथी के गडस्थल से झरता हुआ मद पीने के लिए उत्सुक भौंरों का समूह क्या कभी कुत्ते के मुख से निकलती हुई लार पर लीन होता है ?

यह जवाब राजा को बड़ा बुरा लगा, पर महाकवि ने उसकी परवा न-की । समकितधारी आत्मा कैसा दृढ़ होता है, यह इससे समझा जा सकता है ।

पाँच प्रकार के दूषण

शास्त्रकार भगवतों ने कहा है कि—

> शंका-कांक्षा-विचिकित्सा,-मिथ्यादृष्टिप्रशंसनम् ।
> तत्संस्तवश्च पञ्चापि, सम्यक्त्व दूषयन्त्यमी ॥

—शका, काक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि-प्रशसा और मिथ्यादृष्टि-सस्तव—ये पाँच सम्यक्त्व को दूषित करते हैं ।

वदित्तु सूत्र की छठी गाथा में **शका कंखा विगिच्छा** पद से शुरू होनेवाली गाथा में इन पाँच वस्तुओं को अतिचार कहा गया है । अतिचार से व्रत मलिन होता है, व्रत में दूषण लगता है, अतिचार और दूषण एक ही वस्तु हैं ।

तेतालीसवाँ व्याख्यान

सम्यक्त्व

[३]

महानुभावो !

शास्त्रकार भगवंतों ने जिसे अतुलगुणनिधान, सर्व कल्याण बीज, ससार-सागर तरने के लिए जहाज के समान, पापवृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ा और भव्यजीवों का एक लक्षण बताया है, उस सम्यक्त्व का वर्णन चल रहा है। सम्यक्त्वधारी की श्रद्धा कैसी होती है ? उसके लक्षण क्या है ? उसको किनका विनय करना चाहिए ? उसे कैसी शुद्धि रखनी चाहिए और कैसे दोषों से बचना चाहिए ?—इसका वर्णन हो गया। उस विचारणा के क्रम में अब हम प्रभावकों का वर्णन करेंगे।

आठ प्रभावक

प्रभावक उन महापुरुषों को कहते हैं, जो अपनी शक्ति से सम्यक्त्व के प्रभाव का विस्तार करते हैं। चूँकि जिनशासन अनादि काल से चला आया है, इसलिए ऐसे प्रभावक अनन्त हो चुके हैं। वे आठ प्रकार के होते हैं। शास्त्र में कहा है कि—

पावयणी धम्मकही, वाई नेमित्तियो तवस्सी य।
विज्जा-सिद्धो अ कवी, अट्ठेव पभावगा भणिया॥

—प्रावचनिक, धर्मकथी, वादी, नैमित्तिक, तपस्वी, विद्यावान, सिद्ध और कवि ये आठ प्रभावक कहे गये हैं।

जो महापुरुष विद्यमान जिनागमों के पारगामी बनकर शासन की प्रभावना करते हैं, वे प्रावचनिक प्रभावक हैं, जैसे कि, हरिभद्र सूरीश्वर जी महाराज।

जो महापुरुष धर्मकथा करने की, दूसरों को धर्म प्राप्त करा देने की अद्भुत् शक्ति रखते हैं, वे धर्मकथी-प्रभावक हैं, जैसे कि, महर्षि नंदिषेण।

जिन-शासन में नंदिषेण नाम के तीन महात्मा प्रसिद्ध हैं। एक हैं मुनियों का अद्भुत वैयावृत्य करनेवाले, दूसरे हैं श्री अजितशांति के कर्त्ता, और तीसरे हैं धर्मकथी। ये धर्मकथी नंदिषेण मुनि श्रेणिक राजा के पुत्र थे और उन्होंने श्री महावीर प्रभु की धर्म देशना सुनकर प्रतिबोध प्राप्त किया था। उन्होंने भोगेच्छाओं को दबाने के लिए उग्र तपस्या की थी और उसके दौरान में विशिष्ट लब्धि प्राप्त की थी। कहा है कि—

कर्म खपावे चीकणा, भावमंगल तप जाण।
पचास लब्धि उपजे, जय-जय तप गुणखाण॥

एक बार नंदिषेण मुनि भिक्षार्थ निकले। एक ऊँचा धवल घर देखकर उसमें प्रवेश किया और 'धर्मलाभ' कहकर खड़े हो गये। उस समय घर की मालिकिन बोली—"महाराज! यहाँ धर्मलाभ की नहीं, अर्थलाभ की आवश्यकता है।" ये शब्द सुनते ही मुनिवर को चाबुक लगा। उन्होंने छप्पर में से एक तृण खींचा कि, अशर्फियों की वृष्टि होने लगी।

यह देखकर वह स्त्री (वेश्या) कहने लगी—"हे प्रभो! मूल्य दिया है तो फिर माल लिए बगैर नहीं जा सकते। आप मुझ पर दया करें। अगर आप मेरी उपेक्षा या तिरस्कार करके चले जायेंगे, तो आपको स्त्री-हत्या का पाप लगेगा।"

ये वचन सुनकर मुनिश्री की दबी हुई भोगेच्छा जाग्रत हो गयी और

वे वेश्या के यहाँ रह गये। निमित्त को शास्त्रकारों ने इसीलिए बलवान कहा है। वह कब कैसा परिणाम लायेगा, कहा नहीं जा सकता।

नदिषेण मुनि वेश्या के यहाँ रह तो गये, पर उस समय यह नियम किया कि, 'प्रतिदिन दस आदमियों को धर्म दिलाकर ही भोजन करूँगा' वे इस नियम का पालन करते हुए रहने लगे। यहाँ विचारणीय यह है कि, वेश्या के यहाँ आनेवाले अधिकाश लोग दुराचारी होते थे, फिर भी वे उन्हे वीत राग-कथित शुद्ध धर्म प्राप्त कराते थे और चारित्र लेने भेजते थे! उनकी धर्म शक्ति कितनी बड़ी होगी!

यह क्रम बारह वर्षों तक चला। एक दिन नौ आदमियों को तो प्रतिबोध करा दिया गया, पर दसवाँ आदमी प्रतिबोध नहीं पा रहा था। नदिषेण ने उसे समझाने के लिए पूरा प्रयत्न किया, परन्तु व्यर्थ! इतने में वेश्या ने आकर कहा—"हे स्वामी! अब तो भोजन-बेला बीती जा रही है। चलिए। भोजन कर लीजिए, आज दसवाँ आदमी प्रतिबोध पाता नहीं दीखता।"

नदिषेण ने कहा—"उसके बिना भोजन नहीं किया जा सकता", ये शब्द सुनकर वेश्या हँसती हुई बोली—"दसवें तो आप स्वयं ही प्रतिबोध भले पावें!"

उसी समय नदिषेण की मोहनिद्रा टूट गयी। उन्होंने पास में रखे हुए अपने साधु के कपड़े और उपकरण सँभाले। हँसी में खसी देखकर वेश्या अनुनय-विनय करने लगी, पर नदिषेण डिगे नहीं। फिर, वे श्री महावीर प्रभु के पास आये और योग्य प्रायश्चित ग्रहण करके, सयम की साधना द्वारा आत्मकल्याण किया।

जो महात्मा प्रमाण, युक्ति और सिद्धान्त के बल से परवादियों के साथ वाद करके उनके एकान्त मत का उच्छेद कर सकें, वे वादी प्रभावक हैं—जैसे कि श्री मल्लवादि सूरि! उन्होंने द्वादशारनयचक्र आदि न्याय के

महान ग्रन्थ लिखे थे और भड़ौच में बौद्धाचार्य के साथ वाद करके उसे पराजित किया था।

जो महात्मा अष्टांग निमित्त तथा ज्योतिषशास्त्र के पारगामी होकर शासन की प्रभावना करें, वह नैमित्तिक-प्रभावक हैं—जैसे कि श्री भद्र-बाहुस्वामी।

श्री भद्रबाहुस्वामी का वराहमिहिर नामक एक भाई था। उसने जैनदीक्षा ली थी, पर कारणवशात् छोड़ दी और ज्योतिषशास्त्र द्वारा अपनी महत्ता बताकर जैन-साधुओं की निन्दा करने लगा। एक बार उसने राजा के पुत्र की कुंडली बनायी और उसमें लिखा कि—"पुत्र सौ वर्ष का होगा।" इससे राजा को बड़ा हर्ष हुआ और वह वराहमिहिर का बहुमान करने लगा। इस मौके का लाभ लेकर वराहमिहिर ने कहा—"महाराज! आपके यहाँ पुत्रजन्म होने पर सब बधाई देने आये पर जैनों के आचार्य भद्रबाहु नहीं आये। इसके कारण को तो जानें!"

राजा ने मालूम करने के लिए आदमी भेजा, तब श्री भद्रबाहु स्वामी ने कहा—"फिजूल दो बार आने जाने की आवश्यकता क्या है? यह पुत्र तो सातवें दिन बिल्ली से मरण पानेवाला है।"

आदमी ने यह बात राजा से कही। इस पर राजा ने नगर की तमाम बिल्लियों को पकड़वाकर दूर करा दिया और पुत्र की रक्षा के लिए सख्त पहरा बिठा दिया।

सातवें दिन जब कि धाय दरवाजे में बैठी हुई पुत्र को दूध पिला रही थी, इतने में अकस्मात लकड़ी का खंभा पुत्र के मस्तक पर गिरा और वह मर गया! इससे वराहमिहिर बड़ा शर्मिन्दा हुआ और अपना मुँह छिपाने लगा। उस समय श्री भद्रबाहु स्वामी राजा के पास गये और उनने राजा को संसार का स्वरूप समझाकर आश्वासन दिया। राजा ने उनके ज्योतिष-विषयक अगाध ज्ञान की प्रशंसा की और साथ ही यह भी पूछा—"बिल्ली से मरण होगा, यह बात सच्ची क्यों नहीं निकली?" तब श्री भद्रबाहु स्वामी

ने लकड़ी के उस खम्भे को मँगवाया। देखा कि, उस पर बिल्ली का मुँह बना हुआ है। इस प्रकार बालक के बिल्ली द्वारा मरण पाने की बात भी सच्ची ही थी। इससे राजा उनका भक्त बन गया और जिन शासन की खूब प्रभावना हुई।

जो महात्मा विविध प्रकार की तपश्चर्या द्वारा शासन की प्रभावना करे, वह तपस्वी-प्रभावक है—जैसे कि श्री विष्णुकुमार मुनि। उनकी कथा हम पहले कह चुके हैं।

जो महात्मा मंत्र तंत्र आदि विद्या का उपयोग शासन की उन्नति के लिए करें, वे विद्यावान-प्रभावक हैं—जैसे कि श्री आर्यखपुटाचार्य।

आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले ये महात्मा विद्यमान थे और वे भड़ोच के निकटवर्ती प्रदेश में विचरते थे। उन्होंने बौद्धों और ब्राह्मणों के आक्रमण के सामने मंत्र-तंत्र की अद्भुत् शक्ति बतायी और जिन-शासन की अच्छी प्रभावना की।

जो महात्मा अंजन चूर्ण-लेप आदि सिद्ध योगों द्वारा श्री जिनशासन का गौरव बढ़ावें, वे सिद्ध-प्रभावक हैं—जैसे कि श्री पादलिप्त सूरि। वे लेप के प्रयोग से आकाशगमन कर सकते थे तथा सुवर्णसिद्धि आदि प्रयोग जानते थे। उन्होंने इस शक्ति द्वारा शासन की सुन्दर प्रभावना की थी। उनका शिष्य बनकर प्रसिद्ध रसशास्त्री नागार्जुन ने आकाशगमन की शक्ति प्राप्त की थी। उसने अपने गुरु की स्मृति में श्री शत्रुञ्जय की तलहटी में पादलिप्तपुरी-नामक नगर बसाया था, जो कि आज पालीताना के नाम से प्रसिद्ध है।

जो महात्मा अद्भुत् काव्यशक्ति द्वारा सब का हृदय मोह लेते हैं वे कविराज-प्रभावक हैं। जैसे कि, श्री सिद्धसेन दिवाकर, श्री बप्पभट्ट सूरि, श्री हेमचन्द्राचार्य आदि।

आप कहेंगे कि, इन दिनों तो कोई महान् प्रभावक आचार्य दिखलायी देते नहीं। वे तो कालान्तर में होते हैं। कभी कभी तो एक साथ अनेक प्रभावक होते हैं। जिस काल में ऐसे प्रभावक दिखलायी न दें, तब निर्मल सयम की साधना करनेवालों तथा विधिपूर्वक तीर्थयात्रा करनेवालों तथा करानेवालों एव धूमधाम से पूजा आदि महोत्सव करानेवालों आदि को प्रभावक समझना चाहिए। श्री यशोविजयजी महाराज ने समकितकी सड़सठ बोल की स्वझाय में यह व्यक्त किया है।

पाँच भूषण

जिससे वस्तु शोभे तथा दीप्त हो, उसे भूषण कहते हैं। सम्यक्त्व को सुशोभित करनेवाली पाँच वस्तुएँ हैं। उन्हें सम्यक्त्व के पाँच भूषण कहा जाता है। पहला भूषण है स्थैर्य, यानी धर्मपालन में स्थिरता, दृढ़ता। लोभ-लालच से डिग जानेवालों का और कठिनाई में धर्म को एक ओर रख देनेवालों का सम्यक्त्व कैसे शोभा दे सकता है? तीसरे व्याख्यान में हमने आपको एक मत्री का दृष्टान्त सुनाया था। चतुर्दशी के दिन उसने पौषध किया था, राजा के बुलाने पर भी वह नहीं गया और कहला दिया—"आज पौषध के कारण नहीं आ सकता।" इस बात पर राजा क्रुद्ध हो जाता है। और, मत्री की मुद्रा वापस मँगा लेता है। फिर भी मत्री नहीं डिगा। बोला—"मुद्रा गयी तो उपाधि गयी। वह धर्मध्यान में बाधा थी। अब निर्बाध धर्म-ध्यान कर सकूँगा। जब आत्मा के परिणाम ऐसे दृढ हों तब समझना कि, स्थैर्य आया।

दूसरा भूषण प्रभावना है। आजकल तो आप बताशे, शक्कर, बादाम, लड्डू या श्रीफल बाँटने को ही प्रभावना समझते हैं। पर, प्रभावना का अर्थ बहुत विशाल है। जिनसे धर्म का प्रभाव बढ़े, उन सब कार्यों को प्रभावना कहते हैं। उसमें धार्मिक महोत्सव, रथयात्रा, आदि आते हैं। अच्छा साहित्य तैयार करके उसका प्रसार प्रचार करना भी प्रभावना के अन्तर्गत

आता है, क्योंकि उससे धर्म का प्रभाव विस्तृत होता है और हजारों आत्मा धर्माभिमुख होते हैं।

तीसरा भूषण भक्ति है। भक्ति माने श्री जिनेश्वरदेव की और श्री गुरु महाराज की भक्ति।

आजकल कितने लोग यह कहनेवाले निकल आये हैं कि, "जैन धर्म तो त्याग वैराग्य का उपदेश करनेवाला धर्म है। उसमें भक्ति की बात वैष्णव सम्प्रदाय अथवा भक्ति मार्गियों से आयी है।" पर, वस्तुत ऐसी बात करनेवाले कौन हैं? ऐसे कहनेवालों ने न शास्त्र का अध्ययन किया है और न इतिहास से परिचित हैं। ऐसा मनमाना कुछ कह देना कोई विधान नहीं हुआ? भला जैनधर्म कब का और वैष्णव धर्म कब का? वैष्णवधर्म तो वल्लभाचार्य ने चलाया और भक्तिमार्ग भी २ हजार वर्ष से पुराना नहीं है। जैनधर्म तो करोड़ों वर्षों से चला आ रहा है और उसकी नींव में ही सम्यक्त्व अर्थात् श्रद्धा-भक्ति तथा समर्पण का सिद्धान्त है। ६ आवश्यक में दूसरा आवश्यक चतुर्विंशति स्तव और तीसरा आवश्यक वदन है।' जिनेश्वरदेव और गुरु-भक्ति का यह स्पष्ट विधान है।

स्मरण, वन्दन, पूजन आदि द्वारा श्री जिनेश्वर देव की भक्ति होती है। पूजन के अनेकविध प्रकार हैं। शास्त्रकार भगवतों ने कहा कि '**भत्तीइ जिणवराणं खिज्जंतीपुव्वसंचिआ कम्मा**—श्री जिनेश्वरदेव की भक्ति करने से पूर्वसञ्चित कर्मों का क्षय हो जाता है।'

विधि से वन्दन करना, सुखशाता की पृच्छा करना, अशनपानादि चारों प्रकार का आहार बहोराना, औषध उपाधि पुस्तक-वसति आदि देना गुरुभक्ति है। उसका फल महान् है। धन सार्थवाह ने ताजा घी बहोर कर गुरुभक्ति की तो सम्यक्त्व पाया और कालांतर में श्री ऋषभदेव नामक प्रथम तीर्थंकर हुआ। नयसार को भी गुरुभक्ति करते ही सम्यक्त्व की स्पर्शना हुई थी और आगे चलकर तीर्थंकर पद प्राप्त हुआ था।

श्री गौतमस्वामी पूछते हैं—"हे भगवन्! गुरु को वन्दन करने से जीव को क्या फल मिलता है?" भगवान् उत्तर देते हैं—"हे गौतम! गुरु को वन्दन करने से जीव आठों कर्मों की प्रकृतियों के गाढ बन्धन को शिथिल बना देता है, कर्मों की दीर्घकालीन स्थिति को अल्प करता है, आठों कर्मों के तीव्र अनुभाव को मन्द करता है, बहुप्रदेशी आठों कर्मों को अल्पप्रदेशी करता है, इससे वह अनादि अनन्त संसार में परिभ्रमण नहीं करता।" गुरुवन्दन का अन्तिम फल मोक्ष है। नमस्कार-मन्त्र के प्रथम दो पद देव के हैं और बाद के तीन पद गुरु के।

चौथा भूषण क्रिया-कुशलता है। श्री जिनेश्वर भगवंतों ने आत्मशुद्धि, आत्मविकास के लिए अनेक प्रकार की क्रियाएँ बतायी हैं। उनमें कुशलता रखना सम्यक्त्व का चौथा भूषण है। तत्त्वबोध यथार्थ हो पर क्रिया में यदि उसका उपयोग न हो तो भला कल्याण कैसे होगा? जिन-शासन में ज्ञान और क्रिया दोनों के योग से ही मुक्ति मानी गयी है।

पाँचवाँ भूषण तीर्थसेवन है। यहाँ तीर्थ शब्द से स्थावर और जंगम दोनों प्रकार के तीर्थ समझना चाहिए। श्री शत्रुञ्जय, श्री गिरनार, श्री सम्मेत शिखर, श्री आबू आदि स्थावर तीर्थ हैं और पंचमहाव्रतधारी त्यागी मुनिवर जंगम तीर्थ हैं। उनका सेवन करने से सम्यक्त्व की शोभा बढ़ती है। श्रावकों को स्थावर तीर्थों की यात्रा वर्ष में एक बार तो अवश्य करनी ही चाहिए, ऐसा शास्त्रकारों का आदेश है, कारण कि उससे जीवन की चालू सरगर्मी से मुक्ति मिलती है और भावोल्लासपूर्वक जिन भक्ति हो सकती है।

पाँच लक्षण

शास्त्रकारों ने सम्यक्त्व के पाँच लक्षण बताये हैं—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य! जैसे, धुएँ से अग्नि के अस्तित्व का ज्ञान होता है, उसी प्रकार इन लक्षणों से सम्यक्त्व के अस्तित्व का ज्ञान होता है।

शम यानी शांति, क्रोधादि अनन्तानुबन्धी कषायों का अनुदय। चाहे जैसे प्रबल कारण उपस्थित हो गये हों, फिर भी क्रोधादि के वश नहीं होना चाहिए। क्षमादि रखना चाहिए, शांति धारण करना चाहिए। यह सम्यक्त्व का पहला लक्षण है।

संवेग यानी मोक्ष की अभिलाषा। शास्त्रकार कहते हैं—

नरविबुहेसरसुक्खं, दुक्खच्चिय भावओ अ मन्नंतो।
संवेगओ न मुक्खं, मुत्तूणं किं पि पत्थेइ॥

—संवेगवाला आत्मा राजा और इन्द्रों के सुख को भी अन्तर से दुःख मानता है। वह मोक्ष के अतिरिक्त किसी और चीज की रुचि नहीं रखता। तात्पर्य यह कि, सम्यक्त्वी आत्मा आत्मसुख को ही सच्चा सुख मानता है और पौद्गलिक सुख को दुःख मानता है, कारण कि, उसका अन्तिम परिणाम दुःख है।

निर्वेद यानी भवभ्रमण। भवभ्रमण में जन्म, जरा, रोग, शोक, मरण आदि अनेक प्रकार के दुःख भरे हुए हैं, लेकिन जब तक उनसे उकताहट न हो, तब तक उनसे छूटने की वृत्ति प्रबल नहीं बन सकती, और जब तक वह वृत्ति प्रबल नहीं बनेगी, तब तक भवभ्रमण को मिटाने के उपायों के लिए हृदय में उत्सुकता नहीं होगी। जैसे कारागार से छूटने की मनोवृत्ति होती है, वैसे ही मनोवृत्ति संसार-कारागार से छूटने की हो जाये, तब समझना चाहिए कि, निर्वेद उत्पन्न हो गया है।

अनुकम्पा यानी दुखियों के प्रति दया की भावना में आसक्ति, करुणा की भावना। समकिती का हृदय कोमल होता है। वह कोई काम निर्दय होकर नहीं करता।

आस्तिक्य यानी जिन वचन पर परम विश्वास, ९ तत्त्व म पूरी श्रद्धा, देवगुरुधर्म के प्रति अडिग निष्ठा। यदि इस प्रकार की निष्ठा न हो तो, सम्यक्त्व का सद्भाव भला क्या होगा?

सम्यक्त्व के लक्षणों का यह क्रम प्रधानता के अनुसार है। उत्पत्ति के क्रम से विचार करें तो आस्तिक्य पहला, अनुकम्पा दूसरा, निर्वेद तीसरा, संवेग चौथा और शम पाँचवाँ है।

सम्यक्त्व के साथ ही तत्त्वार्थ में श्रद्धा उत्पन्न होती है, वही आस्तिक्य है। आस्तिक्य के आते ही आत्मा सबके प्रति दयावान हो जाती है। इस प्रकार आत्मा स्वदया और भावदया म रमने लगा कि, उसे भवभ्रमण के प्रति अत्यन्त खेद उत्पन्न हो जाता है और वही निर्वेद है। ऐसे निर्वेदवान् आत्मा को जीवन म केवल एक ही अभिलाषा रहती है और वह मोक्ष की। जहाँ केवल मोक्ष की अभिलाषा ही वर्तती हो, वहाँ कषायों की जड़ें अपने आप ढीली पड़ जाती हैं और शम का साम्राज्य छा जाता है।

६ यतनाएँ

सम्यक्त्वधारी को किस वस्तु में प्रयत्नशील रहना चाहिए, इसका विवेचन भी शास्त्रों में अच्छी तरह हुआ है। शास्त्रकार भगवत कहते हैं कि, सम्यक्त्वधारी को ६ प्रकार की यतना करनी चाहिए, अर्थात् ६ बातों में प्रयत्नशील रहना चाहिए—

(१-२) परतीर्थिक को, उसके देवों और उनके ग्रहण किये हुए चैत्यों को वन्दन नहीं करना, और न उन्हें पूजना।

(३-४) परतीर्थिक को, उसके देवों को, उसके ग्रहण किये हुए चैत्यों को सुपात्र बुद्धि से दान नहीं देना तथा अनुप्रदान नहीं करना, यानी भेंट आदि न चढ़ाना।

(५-६) परतीर्थिक के बुलाये बिना प्रथम ही उसके साथ बोलना नहीं और न उसके साथ लम्बा वार्तालाप करना।

६ आगार

जैसे कानून बनाते समय उसके अपवाद रखे जाते हैं, उसी प्रकार

शम यानी शांति, क्रोधादि अनन्तानुबन्धी कषायों का अनुदय। चाहे जैसे प्रबल कारण उपस्थित हो गये हों, फिर भी क्रोधादि के वश नहीं होना चाहिए। क्षमादि रखना चाहिए, शांति धारण करना चाहिए। यह सम्यक्त्व का पहला लक्षण है।

संवेग यानी मोक्ष की अभिलाषा। शास्त्रकार कहते है—

नरविबुहेसरसुक्खं, दुक्खंचिय भावओ अ मन्नंतो।
संवेगओ न मुक्खं, मुत्तूणं किं पि पत्थेइ॥

—संवेगवाला आत्मा राजा और इन्द्रों के सुख को भी अन्तर से दुःख मानता है। वह मोक्ष के अतिरिक्त किसी और चीज की रुचि नहीं रखता। तात्पर्य यह कि, सम्यक्त्वी आत्मा आत्मसुख को ही सच्चा सुख मानता है और पौद्गलिक सुख को दुःख मानता है, कारण कि, उसका अन्तिम परिणाम दुःख है।

निर्वेद यानी भवभ्रमण। भवभ्रमण में जन्म, जरा, रोग, शोक, मरण आदि अनेक प्रकार के दुःख भरे हुए हैं, लेकिन जब तक उनसे उकताहट न हो, तब तक उनसे छूटने की वृत्ति प्रबल नहीं बन सकती, और जब तक वह वृत्ति प्रबल नहीं बनेगी, तब तक भवभ्रमण को मिटाने के उपायों के लिए हृदय में उत्सुकता नहीं होगी। जैसे कारागार से छूटने की मनोवृत्ति होती है, वैसे ही मनोवृत्ति संसार-कारागार से छूटने की हो जाये, तब समझना चाहिए कि, निर्वेद उत्पन्न हो गया है।

अनुकम्पा यानी दुखियों के प्रति दया की भावना में आसक्ति, करुणा की भावना! समकिती का हृदय कोमल होता है। वह कोई काम निर्दय होकर नहीं करता।

आस्तिक्य यानी जिन-वचन पर परम विश्वास, ९ तत्त्व में पूरी श्रद्धा, देवगुरुधर्म के प्रति अडिग निष्ठा! यदि इस प्रकार की निष्ठा न हो तो, सम्यक्त्व का सद्भाव भला क्या होगा?

सम्यक्त्व के लक्षणों का यह क्रम प्रधानता के अनुसार है। उत्पत्ति के क्रम से विचार करें तो आस्तिक्य पहला, अनुकम्पा दूसरा, निर्वेद तीसरा, सवेग चौथा और शम पाँचवाँ है।

सम्यक्त्व के साथ ही तत्त्वार्थ में श्रद्धा उत्पन्न होती है, वही आस्तिक्य है। आस्तिक्य के आते ही आत्मा सबके प्रति दयावान हो जाती है। इस प्रकार आत्मा स्वदया और भावदया में रमने लगा कि, उसे भवभ्रमण के प्रति अत्यन्त खेद उत्पन्न हो जाता है और वही निर्वेद है। ऐसे निर्वेदवान् आत्मा को जीवन म केवल एक ही अभिलाषा रहती है और वह मोक्ष की। जहाँ केवल मोक्ष की अभिलाषा ही वर्तती हो, वहाँ कषायों की जड़ें अपने आप ढीली पड़ जाती हैं और शम का साम्राज्य छा जाता है।

६ यतनाएँ

सम्यक्त्वधारी को किस वस्तु में प्रयत्नशील रहना चाहिए, इसका विवेचन भी शास्त्रों में अच्छी तरह हुआ है। शास्त्रकार भगवंत कहते हैं कि, सम्यक्त्वधारी को ६ प्रकार की यतना करनी चाहिए, अर्थात् ६ बातों में प्रयत्नशील रहना चाहिए—

(१-२) परतीर्थिक को, उसके देवों और उनके ग्रहण किये हुए चैत्यों को वन्दन नहीं करना, और न उन्हें पूजना।

(३-४) परतीर्थिक को, उसके देवों को, उसके ग्रहण किये हुए चैत्यों को सुपात्र बुद्धि से दान नहीं देना तथा अनुप्रदान नहीं करना, यानी भेंट आदि न चढ़ाना।

(५-६) परतीर्थिक के बुलाये बिना प्रथम ही उसके साथ बोलना नहीं और न उसके साथ लम्बा वार्तालाप करना।

६ आगार

जैसे कानून बनाते समय उसके अपवाद रखे जाते हैं, उसी प्रकार

प्रतिज्ञा लेते समय कुछ आगार अथवा छूटें, रखी जाती हैं। इससे ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा का भग नहीं होता। सम्यक्त्व के ६ आगार इस प्रकार हैं :—

(१) राजाभियोग यानी अन्तर की इच्छा न हो, पर राजा की आज्ञा से काम करना पड़े तो सम्यक्त्व का भग नहीं होता।

(२) गणाभियोग यानी अन्तर की इच्छा न हो, मगर गण यानी लोक-समूह के आग्रह स कोई काम करना पडे तो सम्यक्त्व का भंग नहीं होता।

(३) बलाभियोग यानी अन्तर की इच्छा न हो, पर किसी अधिक बलवान की इच्छा से कोई काम करना पड़े तो सम्यक्त्व का भग नहीं होता।

(४) देवाभियोग यानी अन्तर की इच्छा न हो, पर देव के हठाग्रह से कोई काम करना पड़े तो सम्यक्त्व का भंग नहीं होता।

(५) गुरुनिग्रह यानी अन्तर की इच्छा न हो, पर माता, पिता, कुलाचार्य आदि के दबाव से कोई काम करना पड़े तो सम्यक्त्व का भग नहीं होता।

(६) वृत्तिकातर यानी आजीविका की पराधीनतावश शुद्ध धर्म से प्रतिकूल विवश होकर कोई प्रवृत्ति करनी पड़े तो सम्यक्त्व का भंग नहीं होता।

६ भावनाएँ

सम्यक्त्व को पुष्ट करने के लिए ६ प्रकार की भावना भाना आवश्यक है।

(१) सम्यक्त्व चारित्रधर्म रूपी वृक्ष का मूल है, ऐसा चिंतन करना प्रथम भावना है। मूल हरा और रसयुक्त रहे तो वृक्ष फूलता फलता है, उसी तरह सम्यक्त्व दृढ हो तो चारित्र-रूपी वृक्ष फूलता फलता है, यह विचार इस भावना से दृढ करना है।

(२) सम्यक्त्व धर्मनगर का प्रवेश द्वार है, यह चिंतन करना दूसरी भावना है। यहाँ यह भाव दृढ करना है कि, अगर सम्यक्त्वरूपी दरवाजा होगा तो ही धर्म-नगर में प्रवेश हो सकेगा और उसकी उत्तमोत्तम वस्तुओं के दर्शन किये जा सकेंगे।

(३) सम्यक्त्व धर्म-रूपी महल की नींव है, यह चिंतन करना तीसरी भावना है। जैसे बुनियाद के बिना महल नहीं टिक सकता, वैसे ही सम्यक्त्व बिना धर्माचरण नहीं टिक सकता।

(४) सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन-चारित्रादि गुणों का खजाना है, ऐसा चिंतन करना चौथी भावना है। अगर सम्यक्त्व-रूपी भंडार न हो तो मूल और उत्तर गुण रूपी रत्नों को राग द्वेष रूपी चोर लूट लें।

(५) सम्यक्त्व चारित्र रूपी जीवन का आधार है, ऐसा चिंतन करना पाँचवीं भावना है। जैसे पृथ्वी सकल वस्तुओं का आधार है, वैसे ही सम्यक्त्व चारित्र रूपी जीवन का आधार है। तात्पर्य यह है कि, शम, दम, तितिक्षा, उपरति आदि गुण तभी तक टिक सकते हैं, जब तक सम्यक्त्व है।

(६) सम्यक्त्व चारित्र रूपी रस का पात्र है, ऐसा चिंतन करना छठी भावना है। श्रुत और चारित्र आत्मविकास के लिए अनुपम वस्तुएँ हैं, पर वे सम्यक्त्व-रूपी पात्र में ही रह सकती हैं।

इस प्रकार सम्यक्त्व संबंधी विभिन्न विचार करने से सम्यक्त्व दृढ़ होता है और निर्मल रहता है।

६ स्थान

सम्यक्त्व को स्थित रखने के लिए तात्त्विक भूमिका की जरूरत है। यह तात्त्विक भूमिका ६ स्थानों या ६ सिद्धान्तों को स्वीकार करने से तैयार होती है। वह इस प्रकार है —

(१) जीव है।

(२) वह नित्य है।

(३) वह शुभाशुभ कर्म का कर्ता है।

(४) वह शुभाशुभ कर्मफल का भोक्ता है।

(५) वह सब कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

(६) मोक्ष का उपाय सुधर्म है।

आत्मा और कर्म विषयक व्याख्यानमाला में इन ६ सिद्धान्तों के विषय मे काफी विवेचन किया है। यहाँ उसकी पुनरुक्ति नहीं करते।

इस प्रकार सम्यक्त्व के सड़सठ भेदों का वर्णन यहाँ पूरा होता है। उन्हें भलीभाँति समझकर चलनेवाला शुद्ध समकिती बन जा सकता है और इस दु खपूर्ण ससार का पार पाया जा सकता है।

विशेष अवसर पर कहा जायेगा।

चौवालीसवाँ व्याख्यान

सम्यक् ज्ञान

महानुभावो !

त्रिकालाबाधित अविच्छिन्न प्रभावशाली श्री जिनशासन में नवपदजी की महिमा बहुत बड़ी है, इसीलिए उसका नित्यनियमित आराधन किया जाता है। उसमें **नमो अरिहंताणं** और **नमो सिद्धाणं** ये दो पद देव के हैं, **नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं** और **नमो लोए सव्व साहूणं** ये तीन पद गुरु के हैं, और **नमो दंसणस्स, नमो नाणस्स, नमो चारित्तस्स** और **नमो तवस्स** ये चार पद धर्म के हैं। इस प्रकार उसमें सुदेव, सुगुरु और सुधर्म के तत्त्व समुचित रीति से सजाये गये हैं।

धर्म के चार पद हैं—दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप। इनमें प्रथम दर्शन (अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व) का सविस्तार विवेचन हो चुका है। अब क्रमप्राप्त दूसरे ज्ञानपद का कुछ विवेचन करना चाहते हैं, उसे आप एकाग्रचित्त होकर सुनें।

एकाग्र चित्त होने के सम्बन्ध में यहाँ यह कह दूँ कि, बहुत-से महानुभाव व्याख्यान सुनने तो आ जाते हैं, पर एकाग्रचित्त न होने से वे व्याख्यान में कही बातों को ग्रहण नहीं कर पाते। जब व्यक्ति विषय को ग्रहण ही नहीं करेगा तो भला वह उस पर चिन्तन-मनन क्या करेगा ?

जिनागम में कहा है—'**सवणे नाणे विन्नाणे**'—सद्गुरु मुख से शास्त्र श्रवण करने से जीवादिक तत्त्वों का ज्ञान होता है और उससे आत्मा को विशिष्ट रीति से जाननेवाले विज्ञान की प्राप्ति होती है। परन्तु, यदि यथार्थ रूप में शास्त्र श्रवण न करेंगे तो ज्ञान विज्ञान की उत्पत्ति होगी कैसे ?

कितने लोग कहते हैं—"मै चित्त अथवा मन के एकाग्र करने का प्रयास तो करता हूँ, पर वह एकाग्र होता नहीं। आप कोई ऐसा उपाय बतायें जिससे मन जल्दी एकाग्र हो जाये।" इसका उत्तर यह है कि, मन को शान्त तथा एकाग्र करने के मुख्य उपाय वैराग्य तथा अभ्यास हैं। आप भी इनका आलम्बन लीजिए।

आपके अन्तर में अनेक प्रकार की आशाएँ और तृष्णाएँ भरी हुई हैं। इसलिए आपका चित्त सदा व्याकुल रहता है। अगर आप आशाओं और तृष्णाओं की शृंखला काट डालें, तो आपका मन इधर-उधर न भटके और शांत हो जाये। और, तब आसानी से वह एकाग्र रहने लगे। दूसरी चीज अभ्यास है। आप रोज सामायिक करें और उसका अभ्यास बढ़ाते जायें, तो आपका मन जल्दी शान्त हो जाये, फिर उसके एकाग्र करने में जरा भी कठिनाई न हो।

मैं आपको नित्य धर्मोपदेश देता हूँ और संसार की असारता समझाता हूँ, वह इसीलिए कि, आपका मन वैराग्य के रंग में रँग जाये और आप शांति का अनुभव करने लगें। लेकिन, जिनका मन संसार के भोग विलासों में लिपटा हुआ है, उन्हें शांति का अनुभव नहीं होता।

आप प्रभु-पूजा करते हैं, माला फेरते हैं, एवं दूसरी क्रियाएँ करते हैं, परन्तु चित्त की स्थिति डावाँडोल होने से वह तन्मय नहीं होता और इस कारण उसका समुचित फल प्राप्त नहीं होता।

इतना प्रसंगोचित। अब प्रस्तुत विषय की विचारणा करें।

सम्यग्दर्शन—सम्यक्त्व—आत्मा का गुण है। ज्ञान भी आत्मा का गुण है। अपेक्षा विशेष से कहें तो वह आत्मा का प्रधान गुण है, कारण कि, उसी के द्वारा वह जड़ से पृथक प्रतीत होता है। एक जैन महर्षि ज्ञान की महिमा प्रकाशते हुए कहते हैं—

गुण अनंत आतम तणा रे, मुख्यपणे तिहा दोय।
तेमा पण ज्ञान ज वडुं रे, जिन थी दंसण होय।

भवियण चित्त धरो,
मन-वच-काय अमायो रे, ज्ञान-भगति करो ॥

—इस विश्व की सब वस्तुएँ अनन्तधर्मात्मक हैं। आत्मा भी अनन्तधर्मात्मक है। उसमें दो गुणों की मुख्यता है (१) ज्ञान और (२) दर्शन। इन दो गुणों में भी ज्ञान बड़ा है, क्योंकि उसके द्वारा सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इसलिए, हे भव्यजीवो! मेरी बात पर ध्यान दो और दम्भरहित होकर मन वचन-काय से ज्ञान की उपासना करो।

आत्मा ज्ञान द्वारा पदार्थ को जानता है और उस पर श्रद्धा करता है, इसलिए ज्ञान द्वारा ही दर्शन की अथवा सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, ये वचन यथार्थ हैं। जिसे ज्ञान नहीं है, उसे कभी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती।

ज्ञाने चारित्रगुण वधे रे, ज्ञाने उद्योत सहाय।
ज्ञाने थिविरपणु लहे रे, आचारज उवज्झाय।
भवियण चित्त धरो, मन०

मोक्ष की प्राप्ति के लिए चारित्र सबसे निकटवर्ती कारण है। उसके गुण हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि। इनकी वृद्धि ज्ञान के कारण ही होती है। अगर ज्ञान न हो तो चारित्र फीका हो जाये, उसकी सारी शोभा मारी जाये।

कल्पना कीजिये कि, एक आदमी जड़प्राय है। वह यह बिल्कुल नहीं जानता कि जीव क्या है? अजीव क्या है? पुण्य की प्रवृत्ति क्या है? पाप की प्रवृत्ति क्या है? तो क्या वह अहिंसादिक गुणों को अपने जीवन में यथार्थ रीति से उतार सकता है? 'मैंने अमुक व्रत लिये हैं—इसलिए मेरा अमुक कर्तव्य है, उन्हें मुझे इस रीति से पालना चाहिए' आदि विचार ज्ञान के अभाव में कैसे आ सकते हैं? अगर ये विचार ही न आयें, तो वे जीवन में खिलेंगे किस तरह? ज्ञानियों का यह सर्वमान्य

अभिप्राय है कि, 'जिसमें ज्ञान नहीं है, विवेक नहीं है, वह किसी भी प्रकार की आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकता।'

एक शास्त्र-वचन है—'**सद्दहमाणो जीवो वच्चइ अयरामरं ठाणं।**' इसका सामान्य अर्थ यह है कि, 'जीवादिकतत्त्वों में श्रद्धा रखने-वाला जीव अजरामर स्थान को पाता है।' इससे यह न समझें कि, 'मात्र तत्त्वों पर श्रद्धा रखने से ही जीव मोक्ष पाता है और ज्ञान की कोई जरूरत नहीं है।' जीव अभव्य है, उसे कभी सम्यक्त्व की स्पर्शना नहीं होती, इसलिए वह जीवादिक तत्त्वों में श्रद्धावान् नहीं बनता, इसलिए पठित होने पर भी मोक्ष नहीं जाता। परन्तु, भव्य जीव को अमुक समय सम्यक्त्व की स्पर्शना होती है, जिससे कि, वह जीवादिक तत्त्वों में श्रद्धावान् बनता है, और वह अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है। यहाँ आशय यह है कि, श्रद्धा के बिना आत्मा मुक्ति में नहीं जा सकता। परन्तु, मुक्ति में जाने के लिए उसे सम्यक्त्व के उपरांत सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की आवश्यकता पड़ती है। अगर आत्मा मात्र सम्यक्त्व से मोक्षगामी बनता हो तो शास्त्रकार '**सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः**'—यह सूत्र कहते ही क्यों? इसलिए हरएक वाक्य की अपेक्षा समझने की जरूरत है।

शास्त्र-वचन की अपेक्षा समझे बिना उसके अर्थ पर विवाद करने-वालों का हाल दो प्रवासियों जैसा होता है—

दो प्रवासी

पुराने जमाने की बात है जबकि, गाँवों में खूब डाके पड़ते थे और शूरवीर पुरुष अपने प्राणों की बाजी लगा कर भी बचाव करते थे। इस तरह एक गाँव में डाका पड़ा, तो एक वीर पुरुष ने गाँव की रक्षा करते हुए अपनी काया का बलिदान दे दिया। इसलिए, गाँव के लोगों ने उसकी स्मृति कायम रखने के लिए उसका एक पुतला खड़ा किया और उसके

एक हाथ में तलवार और एक हाथ में ढाल दी। इस ढाल का एक बाजू सोने का और दूसरी चाँदी की रखा गया।

एक बार दो प्रवासी आमने-सामने की तरफ से वहाँ आ पहुँचे और उस पुतले को देखकर अपना-अपना अभिप्राय प्रकट करने लगे।

एक ने कहा—"परोपकार के लिए प्राण दे देना बहुत बड़ी बात है। मैं इस परोपकारी वीर को धन्यवाद देता हूँ।"

दूसरे ने कहा—"इस दुनिया में वीरता की कद्र करनेवाले बहुत थोड़े होते हैं। परन्तु, इस गाँव के लोगों ने वीरता की कद्र करके वीर पुरुष का पुतला खड़ा किया। इसलिए मैं उनका अभिनन्दन करता हूँ।"

पहले ने कहा—"यह पुतला बहुत सुन्दर है।"

दूसरे ने कहा—"पुतले से ज्यादा सुन्दर तो उसके हाथ की ढाल और तलवार है। उनमें भी यह सोने से मढ़ी हुई ढाल तो बहुत ही सुन्दर है!"

पहले ने कहा—"ए! जरा समझकर बोल! यह ढाल सोने से नहीं, चाँदी से मढ़ी हुई है।"

दूसरे ने कहा—"मेरी आँखें मुझे यथार्थ दिखलाती हैं और मैं जो देखता हूँ वही कहता हूँ। पर, जिसकी आँखें बराबर काम न देती हों, वह चाहे जो कुछ बोले।"

तुरन्त पहला तड़का—"अरे मूर्ख! तू मुझे अन्धा कहता है! यह ढाल चाँदी से ही मढ़ी हुई है। उसे सोने से मढ़ी हुई कहना बेवकूफी की हद है!"

इस तरह विवाद करते हुए दोनों बाँहें चढ़ा कर एक दूसरे के मुकाबले पर आ गये। इतने में गाँव के कुछ समझदार आदमी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने कहा—"ओ भले मुसाफिरों! तुम क्यों लड़ते हो?"

पहले ने कहा—"यह बेवकूफ यह कहता है कि, यह ढाल सोने से मढ़ी

हुई है।'' दूसरे ने कहा—"यह अन्धा यह कहता है कि, यह ढाल चाँदी से मढी हुई है।''

ग्रामवासियों ने कहा—"अगर तुम्हारे लड़ने का कारण यही है तो यह करो कि तुम एक दूसरे की जगह पर आ जाओ, तो सच्ची स्थिति समझ में आ जायेगी।"

दोनों प्रवासियों ने वैसा ही किया, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह ढाल तो सुनहरी भी थी और रुपहरी भी थी। इससे वे लज्जित हुए और अपने अपने स्थान को चले गये।

जैन-शास्त्र निरपेक्ष वचन-व्यवहार को झूठा गिनते हैं और सापेक्ष वचन-व्यवहार को सच्चा! 'यह ढाल सुनहरी ही है'—ऐसा कहना निरपेक्ष वचन-व्यवहार है, कारण कि, उसमें ही शब्द के प्रयोग द्वारा दूसरी अपेक्षा का निषेध किया गया है। इसी प्रकार 'यह ढाल रुपहरी ही है' ऐसा कहना भी निरपेक्ष वचन-व्यवहार है, कारण कि उसमें भी दूसरी अपेक्षा का निषेध है। यहाँ यह कहा जाये कि—"यह ढाल सुनहरी भी है और रुपहरी भी है तो यह वचन व्यवहार सच्चा है, कारण की उसमें दूसरी अपेक्षा को स्थान दिया गया है।"

अपेक्षा का भेद बराबर समझना हो तो नयवाद एव स्याद्वाद का अध्ययन करना चाहिए। जैन-महर्षियों ने इस विषय में बहुत गहरा मथन किया है और इस पर अनेक स्वतत्र ग्रन्थों की रचना की है। परन्तु, आप तो पचप्रतिक्रमण के चार प्रकरण से आगे ही नहीं बढते तो आप इस ग्रन्थ तक कैसे पहुँचें?

ज्ञान से सम्यक्त्व की प्राप्ति और चारित्र-गुणों की वृद्धि होती है एव शास्त्रबोध में सहायता मिलती है।

इस जगत् में अनेक शास्त्र विद्यमान हैं, पर वे अज्ञानी (अल्प-ज्ञानी) के किस काम के? अज्ञानी होना एक बहुत बड़ा दोष है। किसी ने ठीक ही कहा है कि—

अज्ञान खलु कष्टं, द्वेषादिभ्योऽपि सर्वदोषेभ्य. ।
अर्थं हितमहित वा, न वेत्ति येनावृत्तो जीव. ॥

—द्वेष आदि सब दोषों में अज्ञान सबसे बड़ा दोष है, कारण कि उससे आवृत्त जीव हित या अहित नहीं जान सकता ।

आज दुनियाँ में तमाम बुद्धिमान पुरुष ज्ञानप्राप्ति की हिमायत कर रहे हैं, कारण कि, ज्ञान के द्वारा ही आदमी अपना जीवन-व्यवहार अच्छी तरह चला सकता है और जीवन में प्रगति साध सकता है । परन्तु, ज्ञान-प्राप्ति यूँही नहीं हो जाती । उसके लिए बड़ा परिश्रम करना पड़ता है । कुछ उन कष्टों से घबराकर कहते हैं कि—

यथा जड़ेन मर्तव्यं, बुधेनापि तथैव च ।
उभयोर्मरण दृष्ट्वा, कण्ठशोषं करोति कः ॥

—जैसे जड़ मनुष्यों को मरना होता है, वैसे ही विद्वानों, सुशिक्षितों, को भी मरना होता है । जब दोनों को मरना समान है तो शास्त्रों को कण्ठस्थ करने की या अधिक पढ़ने की माथाकूट कौन करे ?

ऐसों को हम मूर्खाधिराज समझते हैं । जिन्होंने परिश्रम किया, कष्ट उठाया और शास्त्रों का भली भाँति अध्ययन किया, वे ही इस जगत् में विद्वान बने और बहुतों के उपकारी बन सके । जिन्होंने मेहनत से घबरा कर विद्याध्ययन नहीं किया, उनकी गणना अपढ़ या मूर्ख में हुई और उन्होंने कौओं और कुत्तों की तरह मात्र अपना पेट भर कर दिन पूरे किये । ऐसों के जीवन का क्या महत्त्व है ?

आप अपने बालकों को अच्छी तरह पढ़ाइये और होशियार बनाइये, पर उसके साथ धर्म का ज्ञान भी दीजिये । अगर उनको धर्म का ज्ञान दिया गया होगा, तो ही वे शास्त्रों का मर्म समझ सकेंगे और सर्वज्ञप्रणीत तत्त्वों में श्रद्धान्वित होकर अपना जीवन सफल कर सकेंगे । परन्तु, आज आप जहाँ व्यवहारिक शिक्षण को अत्यन्त महत्त्व दे रहे हैं, वहाँ धार्मिक

शिक्षण के प्रति उदासीनता दर्शा रहे हैं। आप व्यावहारिक शिक्षण पर जितना खर्च करते हैं, क्या उतना धार्मिक शिक्षण पर करते हैं? अरे! नजदीक में पाठशाला हो और मुफ्त शिक्षण दिया जाता हो, तो भी आप अपने बालकों को उस पाठशाला में पढ़ने के लिए नहीं भेजते। धार्मिक शिक्षण के प्रति आपकी यह उपेक्षा आपको कहाँ घसीट ले जायेगी, क्या इसका आपको भान है?

कुछ लोग कहते हैं कि, 'लड़का हाथ से गया। अब वह किसी का कहा नहीं मानता, मवालियों के साथ घूमता है और अनकरनी करता है।' परन्तु, उसे पहले से ही धार्मिक संस्कार, धार्मिक ज्ञान दिया होता और विनय-विवेक का पाठ पढ़ाया होता, तो क्या यह दशा होती? आप अपने लड़कों के प्रति स्नेह दर्शाकर उन्हें अपनी विरासत देने वाले हैं, पर अगर वे अज्ञानी, उद्धत, उच्छृंखल होंगे, अच्छे संस्कारों से रहित होंगे, धर्म भावना शून्य होंगे, तो वह विरासत कितने रोज टिकेगी? और, उसका परिणाम क्या होगा? उसका विचार कीजिये। इसलिए, अपने बालकों को अभी से ऐसा ज्ञान दीजिये कि, अच्छे संस्कार पड़ें और वे धारणानुसार प्रगति कर सकें।

आचार्य और उपाध्याय का पद बड़ा है, पर उन्हें स्थविर तो तभी कहा जाता है, जबकि वे ज्ञान में निरन्तर वृद्धि करते-करते ज्ञानवृद्ध बनें और गीतार्थ बनें।

उक्त जैन महर्षि ज्ञान की महिमा दर्शाते हुए विशेष कहते हैं कि—

ज्ञानी श्वासोच्छ्‌वास मा रे, कठिन कर्म करे नाश।
वह्नि जेम ईंधण दहेरे, क्षणमा ज्योति प्रकाश॥
भवियण चित्त धरो, मन०

कर्म किसे कहते हैं? उसमें कितनी शक्ति होती है? उसका बंध कितने प्रकार से होता है? वह फल कैसे उदय में आता है? उसकी निर्जरा

कैसे होती है ? आदि बातें हम कर्म की व्याख्यानमाला में विस्तार से समझा चुके हैं। जो कर्म दृढ़ता से बँधे हों वे कठिन कहे जायेंगे। उनको नष्ट करना सरल नहीं है। उसे नष्ट करने में लाखों-करोड़ों वर्ष भी लग जाते हैं। परन्तु, आत्मा ज्ञानी बने, अपनी ज्ञान-शक्ति का सुन्दर विकास करे तो उन कठिन कर्मों को मात्र श्वासोच्छ्वास में नष्ट कर सकता है। जैसे अग्नि लकड़ी को जरा देर में जला देती है, वैसे ही ज्ञानी अपने कर्मों को जला देता है और उनका क्षण मात्र म नाश हो जाने पर आत्मज्योति-का पूर्ण प्रकाश प्रकट हो जाता है।

एक जैन महात्मा कहते हैं —

भक्ष्याभक्ष्य न जे विण लहिये, पेय-अपेय विचार।
कृत्य-अकृत्य न जे विण लहिये, ज्ञान ते सकल आधार रे॥
प्रथम ज्ञान ने पछे अहिंसा, श्री सिद्धान्ते भाख्यु।
ज्ञान ने वंदो ज्ञानननिंदो, ज्ञानीए शिवसुख चाख्युं रे॥

—जिसके बिना भक्ष्य अभक्ष्य पदार्थों की या पेय-अपेय वस्तुओं की जानकारी नहीं होती और जिसके बिना कृत्य और अकृत्य नहीं जाने जा सकते, वह ज्ञान सकल धर्मक्रियाओं का आधार है।

—प्रथम ज्ञान और अहिंसा बाद में—ऐसा श्री जिनेश्वरदेव ने आगम में कहा है, इसलिए ज्ञान का वन्दन करो, उसकी निंदा न करो। जिस किसी ने शिवसुख चखा है, उसने ज्ञान के प्रताप से ही चखा है।

जैनधर्म में ज्ञान पर बड़ा बोर दिया गया है। वह स्पष्ट घोषणा करता है कि '**नाण-किरियाहिं मोक्खो**—ज्ञान और क्रिया से ही मोक्ष मिलता है।' वह तो ज्ञान को अज्ञान और समोह-रूपी अंधकार का नाश करनेवाला सूर्य मानता है और उसे बारबार नमस्कार करता है। यथा

'अन्नाण-संमोह-तमोहरस्स, नमो नमो नाण-दिवायरस्स।'

जैन धर्म का यह स्पष्ट मतव्य है कि— .

पावाओ विणिवत्ती, पवत्तणा तह य कुसल पक्खमि ।
विणयस्स य पडिवत्ती, तिन्नि वि नाणे समप्पिंति ॥

—पापकर्मों से निवृत्ति, कुशल पक्ष में प्रवृत्ति और विनय की प्राप्ति ये तीन बातें ज्ञान से ही होती हैं।

जैन-धर्म ज्ञान को दो प्रकार का मानता है—मिथ्याज्ञान और सम्यक्ज्ञान। मिथ्याज्ञान से संसार-सागर नहीं तरा जा सकता, सम्यक् ज्ञान से तरा जा सकता है, इसलिए हर मुमुक्षु को सम्यक्ज्ञान की आराधना-उपासना करनी चाहिए।

मिथ्याज्ञानी का ज्ञान मिथ्याज्ञान, यानी अज्ञान है, और समकिती का ज्ञान सम्यक्ज्ञान, यानी ज्ञान है। यहाँ ज्ञान की जो प्रशंसा की गयी है, वह इस सम्यक्ज्ञान की ही है।

कभी कभी यह प्रश्न पूछा जाता है कि, 'ज्ञान तो पवित्र है, उसके 'मिथ्या' और 'सम्यक्' ऐसे दो भेद कैसे हो सकते हैं ?' उत्तर यह है कि, पानी पवित्र होते हुए भी सर्प के मुँह में पड़कर क्या अपवित्र या जहरीला नहीं हो जाता ? वही बात यहाँ है। अच्छे शास्त्र पढ़ें तो भी मिथ्यात्वी के लिए उनका परिणमन मिथ्यात्व रूप में होता है, परन्तु मिथ्यात्वी के शास्त्र पढ़ें तो भी समकिती के लिए वे सम्यक्त्व रूप में परिणमते हैं।

सम्यक्ज्ञान की वृद्धि के लिए शास्त्रकारों ने आठ प्रकार का ज्ञानाचार बतलाया है।—

काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तह अनिण्हवणे ।
वंजण-अत्थ-तदुभये, अट्ठविहो नाणमायारो ॥

—ज्ञानाचार काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिह्नवता, व्यंजनशुद्धि, अर्थशुद्धि और तदुभय शुद्धि—इन आठ प्रकारों का है।'

यहाँ 'ज्ञान' शब्द से श्रुतज्ञान समझना है, कारण कि अध्ययन अध्यापन उसीका संभव है। सर्वज्ञ भगवंतों ने तत्त्व का जो स्वरूप बताया है,

उसका अर्थ बोध, श्रुताभ्यास यानी शास्त्र का पठन पाठन करने से होता है। शास्त्र के पठन पाठन के लिए हमारे यहाँ स्वाध्याय शब्द प्रचलित है।

स्वाध्याय साधु और श्रावक दोनों को अपनी भूमिकानुसार करना होता है।

कार्यसिद्धि के लिए काल भी एक महत्त्वपूर्ण कारण माना जाता है, यानी कि अमुक कार्य अमुक समय करने से ही सिद्धि प्राप्त होती है। यह नियम स्वाध्याय में भी लागू है, यानी कि, स्वाध्याय भी अमुक समय ही करना चाहिए।

प्रात काल, मध्याह्न, सध्या और मध्यरात्रि की दो घड़ी, एक सधि समय से पहले की और एक सधि समय के बाद की, स्वाध्याय के लिए निषिद्ध हैं। उनके विषय में शास्त्र में कहा है कि, 'पहली और पिछली सध्या के समय, मध्याह्न और अर्धरात्रि के समय—इन चार सध्याओं के समय—जो मनुष्य स्वाध्याय करता है, वह आज्ञादिक की विराधना करता है।'

लौकिक शास्त्रों में कहा है कि—

चत्वारि खलु कर्माणि, सन्ध्याकाले विवर्जयेत।
आहारं मैथुनं निद्रा, स्वाध्याये च विशेषतः॥

—संध्या समय चार कर्मों का त्याग करना चाहिए। आहार, मैथुन, निद्रा और विशेषत स्वाध्याय। कारण कि, संध्याकाल में आहार करने से व्याधि उत्पन्न होती है, मैथुन करने से दुष्ट गर्भ उत्पन्न होता है, निद्रा करने से धन का नाश होता है, और स्वाध्याय करने से मरण होता है।

इस मान्यता में चाहे जितना तथ्य हो, पर एक बात सच है कि, प्रात काल सायकाल आदि संध्या समय स्वाध्याय करने का काम न रहने से आवश्यक आदि क्रियाओं के लिए आवश्यक समय मिल जाता है।

ज्ञान देनेवाले का, गुण का, ज्ञानी का, ज्ञानाभ्यासी का, ज्ञान का और

पावाओ विणिवत्ती, पवत्तणा तह य कुसल पक्खमि।
विणयस्स य पडिवत्ती, तिन्नि वि नाणे समप्पिंति॥

—पापकर्मों से निवृत्ति, कुशल पक्ष में प्रवृत्ति और विनय की प्राप्ति ये तीन बातें ज्ञान से ही होती हैं।

जैन धर्म ज्ञान को दो प्रकार का मानता है—मिथ्याज्ञान और सम्यक्ज्ञान। मिथ्याज्ञान से संसार-सागर नहीं तरा जा सकता, सम्यक् ज्ञान से तरा जा सकता है, इसलिए हर मुमुक्षु को सम्यक्ज्ञान की आराधना-उपासना करनी चाहिए।

मिथ्याज्ञानी का ज्ञान मिथ्याज्ञान, यानी अज्ञान है, और समकिती का ज्ञान सम्यक्ज्ञान, यानी ज्ञान है। यहाँ ज्ञान की जो प्रशंसा की गयी है, वह इस सम्यक्ज्ञान की ही है।

कभी कभी यह प्रश्न पूछा जाता है कि, 'ज्ञान तो पवित्र है, उसके 'मिथ्या' और 'सम्यक्' ऐसे दो भेद कैसे हो सकते हैं?' उत्तर यह है कि, पानी पवित्र होते हुए भी सर्प के मुँह में पड़कर क्या अपवित्र या जहरीला नहीं हो जाता? वही बात यहाँ है। अच्छे शास्त्र पढ़ें तो भी मिथ्यात्वी के लिए उनका परिणमन मिथ्यात्व रूप में होता है, परन्तु मिथ्यात्वी के शास्त्र पढ़ें तो भी समकिती के लिए वे सम्यक्त्व रूप में परिणमते हैं।

सम्यक्ज्ञान की वृद्धि के लिए शास्त्रकारों ने आठ प्रकार का ज्ञानाचार बतलाया है।—

काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तह अनिण्हवणे।
वंजण-अत्थ-तदुभये, अट्ठविहो नाणमायारो॥

—ज्ञानाचार काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिह्नवता, व्यंजनशुद्धि, अर्थशुद्धि और तदुभय शुद्धि—इन आठ प्रकारों का है।'

यहाँ 'ज्ञान' शब्द से श्रुतज्ञान समझना है, कारण कि अध्ययन अध्यापन उसीका संभव है। सर्वज्ञ भगवंतों ने तत्त्व का जो स्वरूप बताया है,

उसका अर्थ-बोध, श्रुताभ्यास यानी शास्त्र का पठन पाठन करने से होता है। शास्त्र के पठन-पाठन के लिए हमारे यहाँ स्वाध्याय शब्द प्रचलित है।

स्वाध्याय साधु और श्रावक दोनों को अपनी भूमिकानुसार करना होता है।

कार्यसिद्धि के लिए काल भी एक महत्त्वपूर्ण कारण माना जाता है, यानी कि अमुक कार्य अमुक समय करने से ही सिद्धि प्राप्त होती है। यह नियम स्वाध्याय में भी लागू है, यानी कि, स्वाध्याय भी अमुक समय ही करना चाहिए।

प्रात काल, मध्याह्न, सध्या और मध्यरात्रि की दो घड़ी, एक सधि समय से पहले की और एक सधि समय के बाद की, स्वाध्याय के लिए निषिद्ध हैं। उनके विषय में शास्त्र में कहा है कि, 'पहली और पिछली सध्या के समय, मध्याह्न और अर्धरात्रि के समय—इन चार संध्याओं के समय—जो मनुष्य स्वाध्याय करता है, वह आज्ञादिक की विराधना करता है।'

लौकिक शास्त्रों में कहा है कि—

चत्वारि खलु कर्माणि, सन्ध्याकाले विवर्जयेत।
आहारं मैथुन निद्रा, स्वाध्याये च विशेषत ॥

—संध्या समय चार कर्मों का त्याग करना चाहिए। आहार, मैथुन, निद्रा और विशेषत स्वाध्याय। कारण कि, संध्याकाल में आहार करने से व्याधि उत्पन्न होती है, मैथुन करने से दुष्ट गर्भ उत्पन्न होता है, निद्रा करने से धन का नाश होता है, और स्वाध्याय करने से मरण होता है।

इस मान्यता में चाहे जितना तथ्य हो, पर एक बात सच है कि, प्रात काल सायंकाल आदि सध्या समय स्वाध्याय करने का काम न रहने से आवश्यक आदि क्रियाओं के लिए आवश्यक समय मिल जाता है।

ज्ञान देनेवाले का, गुरु का, ज्ञानी का, ज्ञानाभ्यासी का, ज्ञान का और

ज्ञान के उपकरणों का विनय करना यानी उनके प्रति शिष्टाचार और आदर की भावना रखना, यह विनय नामक ज्ञानाचार है।

ज्ञान देनेवाले गुरु का विनय दस प्रकार करना चाहिए—(१) गुरु का सत्कार करना, (२) गुरु के आने पर खड़ा होना, (३) गुरु को मान देना, (४) गुरु को बैठने के लिए आसन देना, (५) गुरु के लिये आसन बिछा देना, (६) गुरु को वन्दन करना, (७) गुरु के सामने दोनों हाथ जोड़कर खड़ा रहना, और कहना कि, मुझे क्या आज्ञा है? (८) गुरु के मन का अभिप्राय जानकर तदनुसार वर्तना, (९) गुरु बैठे हों तब उनके पैर दाबना आदि सेवा करना और (१०) गुरु चलते हों तब उनके पीछे चलना।

इस तरह गुरु का विनय करने से गुरु प्रसन्न होते हैं और वे शास्त्रों का गूढ रहस्य समझा देते हैं। विनय बिना विद्या नहीं; यह उक्ति प्रसिद्ध है। पढ़ानेवाले शिक्षक के प्रति विनयभाव होना चाहिए, परन्तु आज विद्या-गुरु के प्रति कैसा बर्ताव हो रहा है! जमाने के अनुसार शिष्टाचार में परिवर्तन सभव है, परन्तु उनके प्रति आभ्यान्तरिक आदर तो होना ही चाहिए।

ज्ञानी का विनय भी गुरु की तरह ही करना चाहिए।

ज्ञानाभ्यासी का विनय तीन प्रकार करना चाहिए—(१) ज्ञानाभ्यासी को अच्छी सुधारी हुई पुस्तकें देना। पहले ज्ञानाभ्यास हस्तलिखित पुस्तकों के आधार पर होता था। उनमें लिखनेवाले के हाथों भूलें हो जाना विशेष सभव रहता था इसलिए सुधारी हुई पुस्तकों के देने की सूचना है। (२) ज्ञानाभ्यासी को सूत्र और अर्थ की परिपाटी यानी प्रणालिका देना। (३) ज्ञानाभ्यासी को आहार और उपाश्रय देना।

अगर ज्ञानाभ्यासी का इस तरह विनय किया जाये, तो ज्ञानियों की संख्या अच्छी तरह बढेगी और परिणामत समाज में भी ज्ञान का परिमाण बढ़ेगा। अगर समाज में ज्ञानी का मान-सम्मान हो, तो समाज अल्प समय में प्रगति कर सकता है।

ज्ञानी का विनय आठ प्रकार से करना चाहिए—

(१) उपधान आदि विधि द्वारा सूत्र और अर्थ ग्रहण करना तथा अध्ययन करना। उपधान के विषय में विशेष विवेचन आगे करेंगे।

(२) विधि अनुसार दूसरे को सूत्र और अर्थ देना तथा उसमें रहे हुए अर्थ की भलीभाँति भावना करना।

(३) शास्त्र के अनुसार अच्छी तरह अनुष्ठान करना।

(४) स्वय पुस्तकें लिखना।

(५) दूसरों से पुस्तकें लिखाना।

(६) पुस्तकों का शोधन करना अर्थात् उनकी भूलें सुधारना।

(७) वासक्षेप, कर्पूर आदि सुगधित वस्तुओं द्वारा ज्ञान की पूजा करना।

(८) ज्ञानपचमी आदि की तपस्या करना और उसके अन्त में शक्ति के अनुसार उद्यापन करना।

ज्ञानोपकरण का विनय दो प्रकार से करना चाहिए—एक तो ज्ञानोपकर्ण यथासभव अच्छा इकट्ठा करना, और दूसरा उसके प्रति आदर रखना।

ज्ञान देनेवाले गुरु, ज्ञानी आदि के प्रति विनय की तरह बहुमान दर्शाना, यह ज्ञानाचार का तीसरा प्रकार है। यहाँ बहुमान से अन्तर का सद्भाव या भारी आदर समझना चाहिए। बाहरी विनय हो पर अन्तर का बहुमान न हो, तो भी ज्ञान प्राप्ति में प्रगति नहीं की जा सकती, इसीलिए शास्त्रकारों ने बहुमान को ज्ञानाचार का एक खास प्रकार माना है।

शास्त्रों में विनय और बहुमान की चतुर्भंगी बतायी है, वह भी ध्यान में रखने योग्य है—

(१) विनय हो, पर बहुमान न हो।

(२) विनय न हो, पर बहुमान हो।

दूर होगी और उनका चित्त जल्दी एकाग्र होने लगेगा। इसी कारण प्राचीनकाल से उपधान पर खूब जोर दिया जाता रहा है और आज उसका इतना प्रचार है। उपधान के पीछे जो खर्च होता है वह साधर्मिक की सेवा मे और उत्सव का खर्च परमात्मा की भक्ति में और शासन की प्रभावना में होता है। उस खर्च को खोटा खर्च नहीं कह सकते। वह तो धर्म का और पुण्यानुबंधी पुण्य का कारण है। दिवाली पर रोशनी और सजावट करने म लोग कितना खर्च करते हैं! दुकान सजाने से लक्ष्मी आ ही जाये ऐसा नियम नहीं है। पुण्य कार्य म किया गया खर्च खोटा खर्च नहीं है। पापकार्य में किया गया खर्च खोटा खर्च है।

ज्ञान देनेवाले गुरु का या ज्ञान का निह्नव (अपलाप) नहीं करना अनिह्नवता नामक ज्ञानाचार का पाँचवाँ प्रकार है। ज्ञान देनेवाला गुरु अप्रसिद्ध हो या जाति-रहित हो, तो भी उसे गुरु ही कहना, अपना गौरव चढाने के लिए दूसरे किसी युगप्रधान पुरुष का नाम नहीं देना। दूसरे, जितना श्रुत पढे हो उतना ही कहना, उससे कमोबेश नहीं कहना।

गुरु का निह्नव करने म लौकिक शास्त्रों में भी बहुत बड़ा पाप माना गया है। वे कहते हैं —

एकाक्षर प्रदातारं, यो गुरुं नैव मन्यते।
श्वानयोनिं शतं गत्वा, चाण्डालेष्वपि जायते ॥

—जो आदमी एक अक्षर भी देनेवाले को गुरु नहीं मानता, वह सौ बार कुत्ते की योनि में उत्पन्न होकर चांडाल के कुल में जन्मता है।

व्यंजनशुद्धि यह ज्ञानाचार का छठा प्रकार है। यहाँ व्यंजनशुद्धि से शास्त्रपाठ के अक्षरों की शुद्धि समझनी चाहिए। पाठ के अशुद्ध होने से, अर्थात् उसमें किसी अक्षर की हानि-वृद्धि हो या मात्रा, बिन्दी आदि म कमी-बेशी हो जाये तो पाठ बदल जाता है और उसके अर्थ में भी बड़ा अन्तर पड़ जाता है, इससे ज्ञान की महा आशातना होती है और सर्वज्ञ

को आज्ञा के भंग करने का दोष लगता है। इसलिए, श्रुताध्ययन करनेवाले को सूत्रपाठ करते समय व्यंजनशुद्धि पर पूरा लक्ष्य देना चाहिए।

अर्थशुद्धि ज्ञानाचार का सातवाँ प्रकार है। ज्ञान प्राप्ति के लिए अर्थशुद्धि भी व्यंजन-शुद्धि की तरह ही आवश्यक है। अर्थ की शुद्धि न रहने से अनर्थ होता है और उससे स्व-पर को भारी नुकसान होता है। 'अज से यज्ञ करना' इस वाक्य में अज का अर्थ 'तीन वर्ष बाद की डागर' लेने के बदले 'बकरा' लिया जाये, तो डागर होने के बदले बकरे का बलिदान देने का प्रसग आयेगा और उस घोर हिंसा के फलस्वरूप अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ेंगे।

सूत्र का उच्चार शुद्ध करना और साथ ही उसका अर्थ भी शुद्ध विचारना, यह तदुभयशुद्धि-नामक ज्ञानाचार का आठवाँ प्रकार है।

जो इस रीति से ज्ञानाचार का पालन करते हैं, उनके सम्यक्त्व की वृद्धि होती है और परिणामत वे सम्यक्चारित्रधारी बनकर अपना कल्याण कर सकते हैं।

विशेष अवसर पर कहा जायेगा।

---

(३) विनय भी हो, बहुमान भी हो।

(४) विनय भी न हो, बहुमान भी न हो।

इनमें पहला और दूसरा भंग मध्यम है, तीसरा उत्कृष्ट और चौथा कनिष्ठ है।

अब ज्ञानाचार के चौथे प्रकार उपधान पर आयें। शास्त्रकारों ने उपधान शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है। '**उप-समीपे धीयते-क्रियते सूत्रादिकं येन तपसा तदुपधानम्**—जिस तप द्वारा सूत्रादिक समीप किये जायें वह उपधान है।' इससे आप देखेंगे कि उपधान एक प्रकार का तप है और वह सूत्रादि को समीप करने के लिए ही किया जाता है। अर्थात् जो सूत्र अब तक दूर थे, उन सूत्रों को पढ़ने गुणने का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ था, सो इस क्रिया से प्राप्त होता है।

उपधान की क्रिया प्राचीन काल में भी थी ही। श्री समवायांग-सूत्र, श्री उत्तराध्ययन-सूत्र, श्री महानिशीथ सूत्र आदि में इसका स्पष्ट उल्लेख है। **काले विणये बहुमाणे** यह गाथा भी प्राचीन है। उसमें उपधान का जबकि स्पष्ट निर्देश है, तब उसकी प्राचीनता के विषय में शंका होने का कोई कारण नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं कि, 'नमस्कारादि' सूत्र जैन-कुटुम्बों में बचपन से ही सिखाये जाते हैं और बहुतेरों को कंठस्थ होते हैं, तो उन्हें उपधान की क्या जरूरत है ?' इसका उत्तर यह है कि, 'आज बचपन से जो सूत्र सिखाये जाते हैं और कंठस्थ कराये जाते हैं, वे संस्कारों के आरोपणस्वरूप हैं। इससे वे श्रावकों की क्रिया में प्रवृत्त हो सकते हैं, पर उन सूत्रों को गुरु से विधिवत् ग्रहण करने पर ही योग्य परिणाम आ सकता है, इसलिए उपधान जरूरी है।'

कुछ लोग कहते हैं कि, "उपधान में हर वर्ष लाखों रुपये का धुआँ होता है। उसका फल तो कुछ दिखता नहीं, तो फिर उपधान कराने में क्या लाभ ?" इसका जवाब भी देना ही चाहिए। आज से चालीस पचास

वर्ष पहले बहुत कम उपधान होते थे, कारण कि उस समय साधुओं की संख्या कम थी, इसलिए उनका प्रचार कम था। हाल में साधुओं की संख्या बढी है और उनके द्वारा उपधान का माहात्म्य बहुत से लोग समझने लगे हैं। इसलिए हर वर्ष विभिन्न शहरों में उपधान तप कराया जाता है। इससे अनेक प्रकार के लाभ होते हैं। पहला यह कि, उससे जिनेश्वर देव की आज्ञा का पालन होता है। दूसरा यह कि, आड़े दिन उपवास, आयबिल, एकासन आदि की तपश्चर्या एकधारी नहीं हो सकती, परन्तु उपधान किया जाये तो २१ उपवास, ८ आयबिल और १८ एकासन की तपश्चर्या एकधारी हो सकती है, जोकि कर्म की महानिर्जरा करनेवाली है। तीसरा लाभ यह है कि, उपधान में रोज पोसह होने के कारण मुनि-जीवन की तुलना होती है। चौथा लाभ यह है कि, उससे काया की माया घटती है और उससे भविष्य की अनेक प्रकार की पाप-प्रवृत्ति रुक जाती है। पाँचवाँ लाभ यह है कि, उससे इन्द्रियों का रोध करने की शिक्षा मिलती है। छठाँ लाभ यह है कि, धर्माराधन की अभिलाषा से एकत्र हुए व्यक्तियों का सत्संग होता है और उससे धर्मभावना की वृद्धि होती है। दूसरे भी बहुत से लाभ होते हैं। इसलिए, उनके अंतर्गत जो खर्च किया जाता है, वह द्रव्य का सदुपयोग है न कि धुआँ। जो धर्म-क्रिया से दूर रहते हैं और उसके विविध लाभों से अनजान हैं, वे ही इस तरह का प्रश्न करते हैं और कुछ लोगों की धर्मश्रद्धा को हिला देते हैं। अगर वे वस्तुस्थिति की गहराई में उतरें और स्वयं उसका निरीक्षण करें तो उन्हें मालूम हो जायेगा कि, उपधान-तप धर्मभावना की वृद्धि करनेवाला एक सुन्दर अनुष्ठान है। उपधान-तप करने के बाद अनेक प्रकार के व्रत-नियम लिये जाते हैं और उनसे भी जीवन पर बड़ा अच्छा असर होता है।

जिनकी बुद्धि मन्द है अथवा जिनका चित्त शास्त्रके पठन पाठन में जल्दी एकाग्र नहीं हो सकता, वे उपधान करें तो उनकी बुद्धि की जड़ता

दूर होगी और उनका चित्त जल्दी एकाग्र होने लगेगा। इसी कारण प्राचीनकाल से उपधान पर खूब जोर दिया जाता रहा है और आज उसका इतना प्रचार है। उपधान के पीछे जो खर्च होता है वह साधर्मिक की सेवा म और उत्सव का खर्च परमात्मा की भक्ति में और शासन की प्रभावना में होता है। उस खर्च को खोटा खर्च नहीं कह सकते। वह तो धर्म का और पुण्यानुबंधी पुण्य का कारण है। दिवाली पर रोशनी और सजावट करने मे लोग कितना खर्च करते हैं! दुकान सजाने से लक्ष्मी आ ही जाये ऐसा नियम नहीं है। पुण्य कार्य म किया गया खर्च खोटा खर्च नहीं है। पापकार्य में किया गया खर्च खोटा खर्च है।

ज्ञान देनेवाले गुरु का या ज्ञान का निह्नव (अपलाप) नहीं करना अनिह्नवता नामक ज्ञानाचार का पाँचवाँ प्रकार है। ज्ञान देनेवाला गुरु अप्रसिद्ध हो या जाति-रहित हो, तो भी उसे गुरु ही कहना, अपना गौरव बढ़ाने के लिए दूसरे किसी युगप्रधान पुरुष का नाम नहीं देना। दूसरे, जितना श्रुत पढ़े हों उतना ही कहना, उससे कमोबेश नहीं कहना।

गुरु का निह्नव करने म लौकिक शास्त्रों में भी बहुत बड़ा पाप माना गया है। वे कहते हैं —

एकाक्षर प्रदातारं, यो गुरुं नैव मन्यते।
श्वानयोनिं शत गत्वा, चाण्डालेष्वपि जायते॥

—जो आदमी एक अक्षर भी देनेवाले को गुरु नहीं मानता, वह सौ बार कुत्ते की योनि म उत्पन्न होकर चांडाल के कुल में जन्मता है।

व्यंजनशुद्धि यह ज्ञानाचार का छठा प्रकार है। यहाँ व्यंजनशुद्धि से शास्त्रपाठ के अक्षरों की शुद्धि समझनी चाहिए। पाठ के अशुद्ध होने से, अर्थात् उसमें किसी अक्षर की हानि वृद्धि हो या मात्रा, बिन्दी आदि में कमी-बेशी हो जाये तो पाठ बदल जाता है और उसके अर्थ में भी बड़ा अन्तर पड़ जाता है, इससे ज्ञान की महा आशातना होती है और सर्वज्ञ

को आज्ञा के भग करने का दोष लगता है। इसलिए, श्रुताध्ययन करनेवाले को सूत्रपाठ करते समय व्यजनशुद्धि पर पूरा लक्ष्य देना चाहिए।

अर्थशुद्धि ज्ञानाचार का सातवाँ प्रकार है। ज्ञान प्राप्ति के लिए अर्थशुद्धि भी व्यंजन-शुद्धि की तरह ही आवश्यक है। अर्थ की शुद्धि न रहने से अनर्थ होता है और उससे स्व-पर को भारी नुकसान होता है। 'अज से यज्ञ करना' इस वाक्य में अज का अर्थ 'तीन वर्ष बाद की डांगर' लेने के बदले 'बकरा' लिया जाये, तो डागर होने के बदले बकरे का बलिदान देने का प्रसग आयेगा और उस घोर हिंसा के फलस्वरूप अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ेंगे।

सूत्र का उच्चार शुद्ध करना और साथ ही उसका अर्थ भी शुद्ध विचारना, यह तदुभयशुद्धि-नामक ज्ञानाचार का आठवाँ प्रकार है।

जो इस रीति से ज्ञानाचार का पालन करते हैं, उनके सम्यक्त्व की वृद्धि होती है और परिणामत वे सम्यक्चारित्रधारी बनकर अपना कल्याण कर सकते हैं।

विशेष अवसर पर कहा जायेगा।

पैंतालीसवाँ व्याख्यान

सम्यक्-चारित्र

[१]

महानुभावो !

धर्म का व्याख्यान-प्रवाह आगे बढ़ता-बढ़ता रत्नत्रयी तक आ पहुँचा है और वह सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान पर तो विचार चुका है। आज वह सम्यक्चारित्र विचार होनेवाला है। इसे एक मंगल अवसर समझकर तन्मयतापूर्वक उसे सुनें।

चारित्र की महिमा

कुछ लोग यह मानते हैं कि विद्वान और शास्त्रज्ञ होने से महानता आ जाती है। परन्तु, मनुष्य को सचमुच महान बनानेवाला चारित्र है। यहाँ चारित्र से सम्यक्-चारित्र समझना चाहिए। आज तक जगत् में जो महापुरुष हुए हैं, वे सम्यक्-चारित्र की बदौलत ही महान् हुए हैं। सम्यक्-चारित्र के विषय में जैन-शास्त्रकारों ने जो वचन कहे हैं, वे बारबार मनन करने योग्य हैं। सुनिये उन्हें—

'बहुश्रुत हो परन्तु चारित्र रहित हो, तो उसे अज्ञानी ही जानना, कारण कि, उसके ज्ञान का फल शून्य है। अंधे के सामने लाखों दीपक जलाने से भी क्या लाभ ? नेत्रवाले के लिए एक ही दीपक काफी है, उसी प्रकार चारित्रवान् के लिए स्वल्प ज्ञान भी प्रकाशक होता है।'

"जैसे चन्दन का भार वहन करनेवाला गधा उसके भार का ही भागी होता है, न कि उसकी सुगंध का, उसी प्रकार चारित्ररहित ज्ञानी पठन

गुणन परावर्तन चिंतन आदि ज्ञान का भागी होता है, परन्तु उससे प्राप्त होनेवाली सद्गति का भागी नहीं होता।'

'जैसे जहाज का निर्यामक जानकार होने पर भी अनुकूल पवन बिना इच्छित बन्दरगाह पर नहीं पहुँच सकता, उसी प्रकार जीव भी ज्ञानी होने पर भी चारित्र रूपी पवन बिना सिद्धिस्थान को नहीं पा सकता।'

भवभ्रमण का महारोग

औषधि से रोग मिटता है, ऐसी श्रद्धा हो, औषधि का प्रकार और सेवन विधि ज्ञात हो, पर औषधि सेवन न की जाये तो फिर रोग कैसे दूर होगा?

मनुष्य को भव-भ्रमण का रोग अनन्तकाल से लागू है और इस कारण जन्म जरा-रोग मृत्यु का अकथ दुःख सहन करना पड़ रहा है। यदि यह रोग मिटे तो फिर जन्म न लेना पड़े, और जन्म के अभाव में जरा रोग और दुःख सहन न करना पड़े। तो, इस स्थिति में आपको अनन्त सुख का उपयोग करने का अवसर मिलेगा। इस भव-भ्रमण के रोग को नष्ट करने की अक्सीर दवा चारित्र है—यह भूलना नहीं चाहिए!

कोई यह समझता हो कि, चारित्र हमारे पास नहीं है, तो कहाँ से लावें, तो यह समझना भूल है। चारित्र बाहर की चीज नहीं है, आपकी ही चीज है। वह आपके पास ही अन्तर में ही छिपी है।

यदि यह प्रश्न करें कि, 'चारित्र अन्तर में है, तो प्रकट क्यों नहीं होती,' तो इसका उत्तर यह है कि, चारित्र आपके अन्तर में छिपा अवश्य है, पर मोह के आवरण के कारण वह प्रकट नहीं होता। सूर्य अत्यन्त प्रकाशमान है, पर बादल आ जाने से वह छिप जाता है।

मोह आपका कट्टर शत्रु है

मोह आपका कट्टर शत्रु है और अनेक विधियों से आपको क्षति पहुँचा

रहा है। पर, मोह आपको छोड़ता नहीं, यही आश्चर्य की बात है। शास्त्रकार मोह की उपमा अधकार से देते हैं—यह बिल्कुल यथार्थ है। मनुष्य चाहे ज्ञानी हो, पर मोह का आवरण आ जाये तो वह सारा ज्ञान दब जाता है। ऐसी स्थिति मे यदि वह अकृत्य कर दे तो इसमें आश्चर्य क्या है ?

मोह कट्टर शत्रु है

मोह जीव का कट्टर शत्रु है। वह उसकी बड़ी दुर्दशा करता है। शास्त्रकारों ने मोह को अधकार की उपमा दी है। आदमी कितना ही ज्ञानी हो, मगर मोह का उदय आने पर उसकी सारी चतुराई दफन हो जाती है। उस हालत में वह कुचाली हो जाये इसमें आश्चर्य क्या ?

माता पुत्र की पालक होती है। मगर, चूलनी रानी ने अपने पुत्र ब्रह्मदत्त को जिन्दा जला देने का षड्यन्त्र रचा ! क्यों ? क्योंकि, वह मोह के आवेश में दीर्घ राजा पर आसक्त होकर अपना मान भूल गयी थी।

पिता पुत्र का रक्षक होता है। फिर भी कृष्णराज ने अपने तमाम पुत्रों का अगभग करा दिया, कारण कि राज्य का मोह उस पर सवार था।

सूरिकता ने अपने पति प्रदेशी राजा को विष दे दिया। कोणिक ने अपने पिता श्रेणिक राजा को लोहे के पिंजड़े में ठूँस दिया ! यह सब मोह की ही विडम्बना है !

मोह के कारण आत्मा परपदार्थ को अपना मानता है और मेरी माता, मेरा पिता, मेरी पत्नी, मेरे पुत्र, मेरी पुत्री, मेरा कुटुम्ब, मेरे स्वजन, मेरी मिल्कियत, मेरा पैसा, सर्वत्र 'मेरा मेरा' करता है। परन्तु, वास्तव में इनमें से कुछ भी उसका नहीं है। अगर उसका हो तो उसके साथ रहे, परन्तु यह सब तो यहीं पड़ा रहता है और आत्मा अकेला ही परलोक जाता है।

चारित्र के दो प्रकार

चारित्र दो प्रकार का है—(१) देशविरति रूप और (२) सर्वविरति रूप। पहला ग्रहस्थ को होता है, दूसरा साधु को। यहाँ दोनों प्रकार के चारित्रों का परिचय कराया जाता है।

देशविरति-चारित्र कैसे गृहस्थ को होता है ?

पहले यह बतलायेंगे कि, देशविरति-चारित्र कैसे गृहस्थ को होता है। गृहस्थ तीन प्रकार के हैं—(१) असस्कारी, (२) असस्कारी और (३) धर्मपरायण। जिनके जीवन का कोई ध्येय नहीं है, जो मनमाना जीवन व्यतीत करते हैं और दूसरों के प्रति मनमाना वर्तन करते हैं वे असस्कारी हैं। ऐसे गृहस्थ कनिष्ठ कोटि के हैं। वे अपने अमूल्य नर तन को अवश्य गॅवा देनेवाले हैं।

ऐसे असंस्कारी गृहस्थों को सस्कारी बनाने के लिए महापुरुषों ने एक मार्ग बताया है। उस पर चलकर वे मार्गानुसारी या सस्कारी बन सकते हैं। उसके पैंतीस नियम इस प्रकार हैं —

मार्गानुसारी के पैंतीस नियम

(१) न्याय से वैभव प्राप्त करना।

(२) समान कुल-आचारवाले से मगर अन्यगोत्री से विवाह करना।

(३) शिष्टाचार की प्रशसा करना।

(४) ६ अन्तर-शत्रुओं का त्याग करना। काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष अन्तर के ये ६ शत्रु हैं।

(५) इन्द्रियों को काबू में रखना।

(६) उपद्रववाले स्थान का त्याग करना। यहाँ उपद्रव से शत्रु की चढ़ाई, बन्वा, सक्रामक रोगों का फैलना, दुष्काल, अतिवृष्टि आदि समझना चाहिए।

(७) अच्छे पड़ोस में रहना और मकान ऐसा हो कि, जिसमें बहुत से अति प्रकट और अति गुप्त दरवाजे न हों।

अच्छे पड़ोस में रहने से जीवन पर अच्छा असर होता है और खराब पड़ोस में रहने से जीवन पर खराब असर होता है। अति प्रकट यानी राजमार्ग पर चोरी आदि का डर विशेष रहता है। और, अति गुप्त यानी गली-कूचे में—वहाँ रहने से घर की शोभा नहीं रहती। इसलिए, ऐसे स्थानों पर रहने का निषेध किया है। बहुत से दरवाजोंवाले घर में रहने से धन और स्त्रियों की रक्षा नहीं हो सकती।

(८) पाप से डरते रहना।

(९) प्रसिद्ध देशाचार के अनुसार वर्तना।

(१०) किसी का अवर्णवाद (निन्दा) न करना। राजा आदि का विशेष रूप से अवर्णवाद न करना, कारण कि उससे सर्वनाश होने का डर रहता है।

(११) खर्च आमदनी के अनुसार रखना।

(१२) वैभव के अनुसार पोशाक रखना।

(१३) माता-पिता की सेवा करना।

(१४) सदाचारी पुरुषों का संग करना।

(१५) कृतज्ञ रहना—किसी ने छोटा-सा भी उपकार किया हो तो उसे नहीं भूलना।

(१६) अजीर्ण हो तो जीमना नहीं।

(१७) समय पर, प्रकृति के अनुकूल, आसक्तिरहित हो भोजन करना।

(१८) सदाचारियों और ज्ञानवृद्धों की सेवा करना।

(१९) निंद्य काम में प्रवृत्त नहीं होना। जो काम समाज में अधम, हल्का या निंद्य गिना जाता हो, उसमें प्रवृत्ति करने से प्रतिष्ठा का नाश होता है और प्रतिष्ठा का नाश होने पर सर्वनाश हो जाता है।

(२०) जो भरण-पोषण करने योग्य हों, उनका भरण पोषण करना। माता, पिता, दादा, दादी, पत्नी, पुत्रादि परिवार तथा आश्रित सगे-सम्बन्धी और नौकर-चाकर भरण पोषण किये जाने योग्य हैं। उनमें भी माता, पिता, सती स्त्री और असमर्थ पुत्र पुत्रियों का भरण-पोषण तो हर हालत में करना ही चाहिए—यानी नौकरी-चाकरी या सामान्य धन्धा करके भी करना चाहिए। अगर स्थिति अच्छी हो तो दूसरे सगे-सम्बन्धियों का भी पोषण करना चाहिए और असहाय जाति बन्धुओं की भी यथाशक्य सहायता करनी चाहिए।

(२१) दीर्घदर्शी होना—लाभालाभ का पूरा विचार किये बिना किसी प्रवृत्ति में न पड़ना। अन्यथा बड़ा नुकसान उठाना पड़ता है। दूरदर्शी ऐसी विपत्ति से प्राय बचा रहता है।

(२२) धर्मकथा नित्य सुनना।

(२३) दयालु होना। दया धर्म का मूल है।

(२४) बुद्धि के आठ गुणों का सेवन करना। वे आठ गुण ये हैं :—

(१) शुश्रूषा यानी तत्त्व सुनने की इच्छा। (२) श्रवण अर्थात् तत्त्व-श्रवण। (३) ग्रहण यानी सुना हुआ ग्रहण करना। (४) धारणा यानी ग्रहण किये हुए को भूलना नहीं। (५) ऊहा यानी ग्रहण किये हुए अर्थ की सगति तर्क और उदाहरणपूर्वक विचारना (६) अपोह यानी उसी अर्थ के अभाव में कैसी विरुद्ध परिस्थिति होगी यह युक्ति-दृष्टान्त से देखना। (७) भ्रम आदि दोषरहित अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना। (८) अर्थ का निश्चित बोध करना। इन आठ गुणों का सेवन करनेवाले को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है।

(२५) गुणों का पक्षपात करना। यहाँ गुण शब्द से क्षमा, नम्रता, सरलता, सन्तोष, उदारता, वात्सल्य, धैर्य, पवित्रता, सत्य आदि समझना चाहिए।

(७) अच्छे पड़ोस में रहना और मकान ऐसा हो कि, जिसमें बहुत से अति प्रकट और अति गुप्त दरवाजे न हों।

अच्छे पड़ोस में रहने से जीवन पर अच्छा असर होता है और खराब पड़ोस में रहने से जीवन पर खराब असर होता है। अति प्रकट यानी राजमार्ग पर चोरी आदि का डर विशेष रहता है। और, अति गुप्त यानी गली-कूचे में—वहाँ रहने से घर की शोभा नहीं रहती। इसलिए, ऐसे स्थानों पर रहने का निषेध किया है। बहुत से दरवाजोंवाले घर में रहने से धन और स्त्रियों की रक्षा नहीं हो सकती।

(८) पाप से डरते रहना।

(९) प्रसिद्ध देशाचार के अनुसार वर्तना।

(१०) किसी का अवर्णवाद (निन्दा) न करना। राजा आदि का विशेष रूप से अवर्णवाद न करना, कारण कि उससे सर्वनाश होने का डर रहता है।

(११) खर्च आमदनी के अनुसार रखना।

(१२) वैभव के अनुसार पोशाक रखना।

(१३) माता-पिता की सेवा करना।

(१४) सदाचारी पुरुषों का संग करना।

(१५) कृतज्ञ रहना—किसी ने छोटा-सा भी उपकार किया हो तो उसे नहीं भूलना।

(१६) अजीर्ण हो तो जीमना नहीं।

(१७) समय पर, प्रकृति के अनुकूल, आसक्तिरहित हो भोजन करना।

(१८) सदाचारियों और ज्ञानवृद्धों की सेवा करना।

(१९) निंद्य काम में प्रवृत्त नहीं होना। जो काम समाज में अधम, हल्का या निंद्य गिना जाता हो, उसमें प्रवृत्ति करने से प्रतिष्ठा का नाश होता है और प्रतिष्ठा का नाश होने पर सर्वनाश हो जाता है।

(२०) जो भरण-पोषण करने योग्य हों, उनका भरण पोषण करना। माता, पिता, दादा, दादी, पत्नी, पुत्रादि परिवार तथा आश्रित सगे-सम्बन्धी और नौकर चाकर भरण पोषण किये जाने योग्य हैं। उनमें भी माता, पिता, सती स्त्री और असमर्थ पुत्र-पुत्रियों का भरण-पोषण तो हर हालत में करना ही चाहिए—यानी नौकरी-चाकरी या सामान्य धन्धा करके भी करना चाहिए। अगर स्थिति अच्छी हो तो दूसरे सगे-सम्बन्धियों का भी पोषण करना चाहिए और असहाय जाति बन्धुओं की भी यथा-शक्य सहायता करनी चाहिए।

(२१) दीर्घदर्शी होना—लाभालाभ का पूरा विचार किये बिना किसी प्रवृत्ति में न पड़ना। अन्यथा बड़ा नुकसान उठाना पड़ता है। दूरदर्शी ऐसी विपत्ति से प्राय बचा रहता है।

(२२) धर्मकथा नित्य सुनना।

(२३) दयालु होना। दया धर्म का मूल है।

(२४) बुद्धि के आठ गुणों का सेवन करना। वे आठ गुण ये हैं .—

(१) शुश्रूषा यानी तत्त्व सुनने की इच्छा। (२) श्रवण अर्थात् तत्त्व-श्रवण। (३) ग्रहण यानी सुना हुआ ग्रहण करना। (४) धारणा यानी ग्रहण किये हुए को भूलना नहीं। (५) ऊहा यानी ग्रहण किये हुए अर्थ की सगति तर्क और उदाहरणपूर्वक विचारना (६) अपोह यानी उसी अर्थ के अभाव में कैसी विरुद्ध परिस्थिति होगी यह युक्ति-दृष्टान्त से देखना। (७) भ्रम आदि दोषरहित अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना। (८) अर्थ का निश्चित बोध करना। इन आठ गुणों का सेवन करनेवाले को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है।

(२५) गुण का पक्षपात करना। यहाँ गुण शब्द से क्षमा, नम्रता, सरलता, सन्तोष, उदारता, वात्सल्य, धैर्य, पवित्रता, सत्य आदि समझना चाहिए।

(२६) हमेशा अदुराग्रही बनना—अपनी बात खोटी जानने पर भी न छोड़ना दुराग्रह है।

(२७) विशेषज्ञ होना—अर्थात् हर वस्तु के गुण-दोष बराबर समझना।

(२८) अतिथि, साधु और दीनजनों की योग्यतानुसार सेवा करना।

(२९) परस्पर बाधा न आये, इस रीति से धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गों का सेवन करना।

(३०) देश और काल से विरुद्ध परिचर्या का त्याग करना।

(३१) बलाबल विचार कर काम करना।

(३२) लोकाचार ध्यान म रखकर बर्तना।

(३३) परोपकार करने में कुशल होना। जो आदमी अपनी शक्ति के अनुसार किसी पर छोटा या बड़ा उपकार करता है, उसका जीवन धन्य गिना जाता है। शेष लोग कौओं और कुत्तों की तरह अपना पेट भरा करते है। एक लोक कवि कहता है—

कर माँ पहरे कड़ा, पण कर पर कर मेले नहीं
ओने जाणवा मडा, साचु सोरठियो भणे।

(३४) लज्जावान होना।

(३५) मुखाकृति सौम्य रखना।

मध्यम और उत्तम कोटि के गृहस्थ

सस्कारी गृहस्थ मध्यम कोटि के गिने जाते हैं। वे धर्म अर्थात् देश-विरति-चारित्र सरलता से पा सकते हैं।

जो गृहस्थ सम्यक्त्वयुक्त श्रावक के बारह व्रत धारण करते हैं, उन्हे यहाँ धर्मपरायण यानी देशविरति चारित्रवाला समझना चाहिए। ये गृहस्थ उत्तम कोटि के गिने जाते हैं और वे सर्वविरति अर्थात् साधु-जीवन को सरलता से स्वीकार कर सकते हैं।

सम्यक्त्वयुक्त श्रावक के बारह व्रतों का यहाँ केवल सक्षिप्त परिचय करायेंगे। वे व्रत सम्यक्त्व के आधार पर ही टिक सकते है, इसलिए पहले सम्यक्त्व की धारणा आवश्यक है।

सम्यक्त्व की धारणा

सम्यक्त्व और व्रतों को धारण करने की विशेष विधि है। वह उत्तम क्षेत्र में, उत्तम मुहूर्त में, परीक्षित शिष्य को, प्रभुजी के समक्ष करायी जाती है। उस समय सम्यक्त्व ग्रहण करनेवाले को यह प्रतिज्ञा करनी होती है—

अरिहतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुण।
जिणपन्नत तत्तं, इअ सम्मत मए गहियं॥

—आज से मुझे यावज्जीवन श्री अरिहत ही देव, सुसाधु ही गुरु और केवली भगवन्त का वचन ही तत्त्व अर्थात् धर्म-रूप मान्य है। उसके अतिरिक्त दूसरे किसी देव-गुरु-धर्म का सेवन या आदर नहीं करूँगा। इस प्रकार सम्यक्त्व को मैंने देव, गुरु और सघ की साक्षी से ग्रहण किया है।

बारह व्रतों का नाम

श्रावक के बारह व्रतों के नाम पहले, गुणस्थान के प्रसग में, बता आये हैं, फिर भी यहाँ देशविरति चारित्र का विशेष अधिकार होने से उनकी गणना पुन करायेंगे। मत्रोच्चार में जैसे अमुक शब्दों को दो बार बोलने से उनकी शक्ति बढ़ती है, वैसे ही नित्य उपयोगी व्रतों का नाम दूसरी बार लेने से वे अधिक पक्के होते हैं, अथवा विस्मृति हुई हो तो उनका अनुसधान हो जाता है। बारह व्रतों के नाम इस प्रकार हैं —

(१) स्थूल प्राणतिपात विरमण-व्रत।
(२) स्थूल-मृषावाद विरमण व्रत।
(३) स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत।

(४) स्थूल-मैथुन विरमण-व्रत।
(५) परिग्रह-परिमाण व्रत।
(६) दिक् परिमाण-व्रत।
(७) भोगोपभोग परिमाण व्रत।
(८) अनर्थ-दड विरमण व्रत।
(९) सामायिक व्रत।
(१०) देशावकाशिक व्रत।
(११) पोषध व्रत।
(१२) अतिथिसंविभाग व्रत।

व्रतो के विभाग

इन बारह व्रतों में से पहले पाँच को अणुव्रत कहते हैं, कारण कि, वे महाव्रत की अपेक्षा से अणु अर्थात् बहुत छोटे हैं। बाद के तीन गुणव्रत कहलाते हैं, कारण कि वे चारित्र के गुणों की पुष्टि करने वाले हैं। और, अन्तिम चार को शिक्षाव्रत कहा जाता है, कारण कि वे आत्मा को साधुजीवन की शिक्षा देते हैं। एक अपेक्षा से शिक्षाव्रत भी गुणव्रत ही है, अर्थात् अन्तिम सात को गुणव्रत माना जा सकता है। इसी दृष्टि से शास्त्रों में कई जगह सात गुणव्रतों का उल्लेख आता है।

पहला स्थूल-प्राणातिपात-विरमण-व्रत

जिन व्रतों में कुछ छूट-छाट न हो, वे सूक्ष्म हैं और जिनमें छूटछाट हों, वे स्थूल हैं। इस तरह पाँचों अणुव्रतों को 'स्थूल' कहा जाता है।

प्राणातिपात का अर्थ है—हिंसा, विरमण पाना अर्थात् विरमना, अटकना। जिस व्रत द्वारा हिंसा करने से रुका जाये, वह प्राणातिपात-विरमण-व्रत है। इस व्रत में संकल्प से निरपेक्ष रूप से निरपराधी त्रसजीव की हिंसा का त्याग किया जाता है। इसके कुछ विवेचन से आप समझ जायेंगे।

इस जगत में जीव दो प्रकार के हैं—(१) त्रस और (२) स्थावर। इनमें से गृहस्थ त्रस जीवों की हिंसा छोड़ सकते हैं, पर स्थावर की हिंसा सर्वांशत नहीं छोड़ सकते। उसकी जयणा अलबत्ता कर सकते हैं और करनी चाहिए।

त्रसजीवों में कितने ही अपराधी होते हैं, कितने ही निरपराध। अगर कोई स्त्री, बहिन, बेटी या पुत्र परिवार पर आक्रमण करे, गाँव को भ्रष्ट करे, धर्मस्थानों को लूटे या नष्ट करे या देश पर चढ़ाई करे तो अपराधी गिना जायेगा। गृहस्थ ऐसे अपराधी से लड़े और उसे योग्य दंड दे तो भी व्रत भग नहीं होता। व्रतधारी राजाओं, मन्त्रियों तथा दंडनायक इस तरह शत्रुओं से लड़े हैं और उन्होंने देश, समाज तथा धर्म की रक्षा की है। इस कारण गृहस्थों को निरपराधी त्रसजीवों की हिंसा का त्याग और अपराधी त्रसजीवों की जयणा होती है।

निरपराधी त्रस जीवों की हिंसा दो प्रकार से होती है—(१) सकल्प से और (२) आरभ से यानी जीवन की आवश्यकता के लिए। इस दो प्रकार की हिंसा में से गृहस्थ सकल्पपूर्वक निरपराधी त्रस जीवों की हिंसा का त्याग और आरम्भ की जयणा कर सकते हैं।

निरपराधी त्रस जीवों की सकल्प पूर्वक हिंसा भी दो प्रकार से होती है—(१) निरपेक्ष रूप से और (२) सापेक्ष रूप से। विशेष कारण बिना निर्दयतापूर्वक मार मारना या दूसरी तरह दु ख देना, यह निरपेक्ष रूप से होनेवाली हिंसा है। और, कारणवशात् ताड़न बन्धन आदि करना सापेक्ष हिंसा है। गृहस्थ आजीविका के लिए गाय, भैंस, भेड़, बकरी, आदि पशुओं को पालते हैं। कारण वशात् उनका ताड़न बन्धन करना पड़ता है। उसी प्रकार पुत्र पुत्रियों को शिक्षा देने के लिए भी ताड़न-तर्जन आदि करना पड़ता है। इसलिए गृहस्थों को निरपराधी त्रस जीवों की सकल्पपूर्वक निरपेक्ष रूप से होनेवाली हिंसा का त्याग होता है और

सापेक्ष रूप से होनेवाली हिंसा की जयणा होती है ('यतना' अर्थात् 'जहाँ तक हो सके रक्षण करना' ।)

साधुओं की अहिंसा के सामने गृहस्थ की यह अत्यल्प है, फिर भी इसका पालन बड़ा हितकर है। इससे गृहस्थ के हृदय में सर्व प्राणियों के प्रति दया का झरना अखंड बहता रहता है और अन्त में वह विश्व के सर्व प्राणियों का सच्चा मित्र बन जाता है।

धर्म मे अहिंसा धर्म बड़ा है, इसलिए पहला व्रत हिंसा त्याग का लिया जाता है। अन्य सब व्रत इस अहिंसा-वृक्ष की शाखा-प्रशाखाएँ हैं। अहिंसा जीव के रक्षण और पोषण के लिए है।

दूसरा स्थूल-मृषावाद-विरमण-व्रत

मृषावाद अर्थात् झूठ बोलना, उससे रोकनेवाला स्थूल व्रत है—स्थूल-मृषावाद विरमण व्रत। उसमें नीचेकी प्रतिज्ञा ली जाती है—

(१) कन्या या वर के सम्बन्ध में झूठ नहीं बोलना।

(२) गाय, भैंस आदि जानवरों के बारे में झूठ नहीं बोलना।

(३) जमीन, खेत आदि के विषय में झूठ नहीं बोलना।

(४) किसी की अमानत में खयानत नहीं करना।

(५) कोर्ट-कचहरी या पंच के सामने झूठी गवाही नहीं देना।

तीसरा स्थूल अदत्तादान-विरमण-व्रत

अदत्तादान माने चोरी। उसका त्याग करने का स्थूल-व्रत है—स्थूल-अदत्तादान विरमण-व्रत। यह व्रत निम्न प्रकार लिया जाता है—

(१) किसी के घर दुकान में बाधा नहीं डालना।

(२) गाँठ खोलकर या पेटी-पिटारे को खोलकर किसी की चीज नहीं निकालना।

(३) डाका नहीं डालना।

(४) ताला खोलकर किसी की चीज नहीं निकालना।

(५) पराई चीज को अपनी नहीं बना लेना।

चोरी का माल नहीं रखना। चोरी को उत्तेजन देनेवाला कोई काम नहीं करना। चोरी का माल रखना या चोर को उत्तेजन देना भी चोरी है, इसलिए इस व्रत को लेनेवाले को उससे बचना चाहिए।

चौथा स्थूल-मैथुन-विरमण-व्रत

इस व्रत को स्वदारासन्तोषव्रत भी कहा जाता है। अपनी पत्नी के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्रीपर कुदृष्टि नहीं डालना। इस व्रत में कुँवारी कन्याओं, विधवाओं, रखैलों, आदि के त्याग का स्पष्ट समावेश नहीं होता, इसलिए इसके मुकाबले में स्वदारा-सन्तोष व्रत बहुत बड़ा है। श्री हेमचन्द्राचार्य कहते हैं कि, जो अपनी स्त्री से ही सन्तुष्ट है और विषयों से विरक्त है, वह गृहस्थ होते हुए भी शील से साधु के समान माना जाता है।

पाँचवाँ परिग्रह-परिमाण-व्रत

अपने लिए धन, धान्य, क्षेत्र, मकान, चाँदी, सोना, नौकर-चाकर, ढोर आदि रखना, परिग्रह कहलाता है। उसका परिमाण करना यानी उसकी मर्यादा बाँधना। शास्त्रकार कहते हैं कि—"ज्यादा बोझ से भरा हुआ जहाज डूब जाता है, वैसे ही परिग्रह के ममत्व के भार से प्राणी संसार-सागर में डूब जाते हैं।" इसलिए परिग्रह उतना ही रखना चाहिए, जितना जरूरी हो। मनुष्य तरह-तरह के पाप इस परिग्रह के लिए ही करते हैं, इसलिए यह मर्यादित हो जाये, तो पाप की मात्रा कम हो जाये और सन्तोष विकसित होता रहे।

छठाँ दिक्-परिमाण व्रत

गृहस्थ-जीवन को सन्तोषी बनाने के लिए परिग्रह परिमाण की तरह दिक् अर्थात् दिशाओं का परिमाण भी आवश्यक है। इस व्रत में यह प्रतिज्ञा ली जाती है कि अमुक दिशामें अमुक हद से ज्यादा नहीं जाना।

सातवाँ भोगोपभोग-परिमाण-व्रत

जो वस्तु एक बार भोगी जाती है वह भोग है—जैसे आहार, पान, स्नान, उद्वर्तन, विलेपन, पुष्पधारण आदि। और, जो वस्तु अनेक बार भोगी जाये वह उपभोग है—जैसे वस्त्र, आभूषण, शयन, आसन, वाहन आदि। इस व्रत से भोग और उपभोग की तमाम चीजों की मर्यादा की जाती है। भोग की वस्तुओं में आहार-पानी मुख्य है। उनमें बाईस अभक्ष्य का त्याग करना चाहिए और दूसरी चीजों की मर्यादा करनी चाहिए। बाईस अभक्ष्य के नाम ये हैं:—

१ बड़ का फल, २ पीपल का फल, ३ उबर, ४ अजीर, ५ काकोदुंबर, ६ दारू, ७ मास, ८ मधु, ९ मक्खन, १० हिम यानी बर्फ, ११ करा, १२ विष, जहर, १३ सब तरह की मिट्टी, १४ रात्रि भोजन, १५. बहुबीज, १६ अनन्तकाय, १७ अचार, १८. घोलवड़ा, १९. बैंगन, २० अजाना फल फूल, २१ तुच्छ फल, २२ चलितरस।

इस व्रत के धारण करनेवाले को कर्म यानी धंधे के सम्बन्ध में भी बड़ा विवेक रखना पड़ता है। खास जिस धंधे में ज्यादा हिंसा होती हो ऐसा धंधा करना कल्पता नहीं है। शास्त्रों में ऐसे धंधों के लिए 'कर्मादान' शब्द का प्रयोग किया गया है। कर्मादान पंद्रह हैं— (१) अगार कर्म अर्थात् ऐसा धंधा जिसमें अग्नि का विशेष प्रयोजन पड़ता है। (२) वन कर्म, अर्थात् वनस्पतियों को काटकर बेचने का धंधा (३) शकटकर्म, यानी गाड़ी बनाकर बेचने का धंधा। (४) भाटककर्म, यानी पशुओं, वगैरह को भाड़े पर देने का धंधा, (५) स्फोटककर्म, यानी पृथ्वी तथा पत्थर को फोड़ने का धंधा। (६) दंतवाणिज्य, यानी हाथी दाँत वगैरह का व्यापार। (७) लाक्षावाणिज्य, यानी लाख वगैरह का धंधा। (८) रसवाणिज्य, यानी दूध, दही, घी, तेल, वगैरह का व्यापार। (९) केशवाणिज्य, अर्थात् मनुष्य तथा पशुओं का व्यापार, (१०) विषवाणिज्य,

यानी जहर और जहरी चीजों का व्यापार, (११) यंत्रपीलन कर्म, यानी अनाज, बीज तथा फलफूल पेल कर देने का काम। (१२) लाछन-कर्म, यानी पशुओं के अंगों को छेदने, दाग देने वगैरह का काम। (१३) दवदानकर्म, यानी वन, खेत वगैरह में आग लगाने का काम। (१४) जलशोषण कर्म यानी सरोवर, तालाब वगैरह सुखाने का काम और (१५) असतीपोषण, यानी कुलटा या व्यभिचारिणी स्त्रियों का पोषण करने का या हिंसक प्राणियों को पाल कर उन्हें बेचने का काम।

आठवाँ अनर्थदंड-विरमण-व्रत

जो हिंसा विशिष्ट प्रयोजन या अनिवार्य कारण बिना की जाये, वह अनर्थदंड कहलाती है। उससे बचने का व्रत अनर्थदंड-विरमण व्रत है। इस व्रत में अपध्यान, पापोपदेश, हिंस्रप्रदान और प्रमादाचरण का त्याग करना होता है। अपध्यान यानी आर्त्त और रौद्रध्यान, पापोपदेश अर्थात् ऐसी सूचना-सलाह देना, जिससे दूसरे को पाप करने की प्रेरणा मिले, हिंस्रप्रदान यानी हिंसाकारी शस्त्रसाधन दूसरे को देना और प्रमादाचरण यानी नाटक, तमाशा,पशुओं का युद्ध, गंजीफा सोगठा वगैरह खेल आदि में भाग लेना।

नवाँ सामायिक-व्रत

पाप-व्यापार और दुर्ध्यान से रहित आत्मा का दोघड़ी तक समताभाव सामायिक व्रत है। सामायिक करते समय श्रावक साधु के समान हो जाता है। इसलिए, उसे बहुत बार करने का उपदेश है। सामायिक करते समय मन के दस दोष, वचन के दस दोष और काया के बारह दोष टालने चाहिए, तभी सामायिक शुद्ध हुआ माना जायेगा। शुद्ध सामायिक की कीमत इस जगत के किसी पार्थिव पदार्थ से नहीं हो सकती। इसलिए कहा है—

दिवसे दिवसे लक्खं, देइ सुवणस्स खंडिओ एगो।
इयरो पुण सामाइयं, करेइ न पहुप्पए तस्स॥

सातवाँ भोगोपभोग-परिमाण-व्रत

जो वस्तु एक बार भोगी जाती है वह भोग है—जैसे आहार, पान, स्नान, उद्वर्तन, विलेपन, पुष्पधारण आदि। और, जो वस्तु अनेक बार भोगी जाये वह उपभोग है—जैसे वस्त्र, आभूषण, शयन, आसन, वाहन आदि। इस व्रत से भोग और उपभोग की तमाम चीजों की मर्यादा की जाती है। भोग की वस्तुओं में आहार-पानी मुख्य है। उनमें बाईस अभक्ष्य का त्याग करना चाहिए और दूसरी चीजों की मर्यादा करनी चाहिए। बाईस अभक्ष्य के नाम ये हैं :—

१ बड़ का फल, २ पीपल का फल, ३ उंबर, ४ अंजीर, ५ काकोदुंबर, ६ दारू, ७ मांस, ८ मधु, ९ मक्खन, १० हिम यानी बर्फ, ११ करा, १२. विष, जहर, १३ सब तरह की मिट्टी, १४ रात्रि भोजन, १५. बहुबीज, १६ अनन्तकाय, १७ अचार, १८. घोलवड़ा, १९. बैंगन, २० अजाना फल फूल, २१ तुच्छ फल, २२ चलितरस।

इस व्रत के धारण करनेवाले को कर्म यानी धंधे के सम्बन्ध में भी बड़ा विवेक रखना पड़ता है। खास जिस धंधे में ज्यादा हिंसा होती हो ऐसा धंधा करना कल्पता नहीं है। शास्त्रों में ऐसे धंधों के लिए 'कर्मादान' शब्द का प्रयोग किया गया है। कर्मादान पंद्रह हैं—(१) अंगार कर्म अर्थात् ऐसा धंधा जिसमें अग्नि का विशेष प्रयोजन पड़ता है। (२) वन कर्म, अर्थात् वनस्पतियों को काटकर बेचने का धंधा (३) शकटकर्म, यानी गाड़ी बनाकर बेचने का धंधा। (४) भाटककर्म, यानी पशुओं, वगैरह को भाड़े पर देने का धंधा, (५) स्फोटककर्म, यानी पृथ्वी तथा पत्थर को फोड़ने का धंधा। (६) दंतवाणिज्य, यानी हाथी दाँत वगैरह का व्यापार। (७) लाक्षावाणिज्य, यानी लाख वगैरह का धंधा। (८) रसवाणिज्य, यानी दूध, दही, घी, तेल, वगैरह का व्यापार। (९) केशवाणिज्य, अर्थात् मनुष्य तथा पशुओं का व्यापार, (१०) विषवाणिज्य,

यानी जहर और जहरी चीजों का व्यापार, (११) यंत्रपीलन कर्म, यानी अनाज, बीज तथा फलफूल पेल कर देने का काम। (१२) लाछन-कर्म, यानी पशुओं के अंगों को छेदने, दाग देने वगैरह का काम। (१३) दवदानकर्म, यानी वन, खेत वगैरह में आग लगाने का काम। (१४) जलशोषण कर्म यानी सरोवर, तालाब वगैरह सुखाने का काम और (१५) असतीपोषण, यानी कुलटा या व्याभिचारिणी स्त्रियों का पोषण करने का या हिंसक प्राणियों को पाल कर उन्हें बेचने का काम।

आठवाँ अनर्थदंड-विरमण-व्रत

जो हिंसा विशिष्ट प्रयोजन या अनिवार्य कारण बिना की जाये, वह अनर्थदण्ड कहलाती है। उससे बचने का व्रत अनर्थदण्ड-विरमण व्रत है। इस व्रत में अपध्यान, पापोपदेश, हिंस्रप्रदान और प्रमादाचरण का त्याग करना होता है। अपध्यान यानी आर्त्त और रौद्रध्यान, पापोपदेश अर्थात् ऐसी सूचना-सलाह देना, जिससे दूसरे को पाप करने की प्रेरणा मिले, हिंस्रप्रदान यानी हिंसाकारी शस्त्रसाधन दूसरे को देना और प्रमादाचरण यानी नाटक, तमाशा, पशुओं का युद्ध, गंजीफा सोगठा वगैरह खेल आदि में भाग लेना।

नवाँ सामायिक-व्रत

पाप-व्यापार और दुर्ध्यान से रहित आत्मा का दोघड़ी तक समताभाव सामायिक व्रत है। सामायिक करते समय श्रावक साधु के समान हो जाता है। इसलिए, उसे बहुत बार करने का उपदेश है। सामायिक करते समय मन के दस दोष, वचन के दस दोष और काया के बारह दोष टालने चाहिए, तभी सामायिक शुद्ध हुआ माना जायेगा। शुद्ध सामायिक की कीमत इस जगत के किसी पार्थिव पदार्थ से नहीं हो सकती। इसलिए कहा है—

दिवसे दिवसे लक्खं, देइ सुवणस्स खंडिओ एगो।
इयरो पुण सामाइयं, करेइ न पहुप्पए तस्स॥

—अगर कोई रोज लाख खाडी सोने का दान करे और दूसरा मनुष्य एक सामायिक करे, तो भी दान देनेवाला सामायिक करनेवाले के समान नहीं हो सकता, अर्थात् उसके बराबर लाभ नहीं प्राप्त कर सकता।

दसवाँ देशावकाशिक-व्रत

व्रतों में रखी गयी सामान्य छूटों का दैनिक जीवन भर के लिए संकोच करना देशावकाशिक व्रत कहलाता है। उसमें रोज प्रातःकाल नीचे की चौदह बातों के विषय में नियम धारण करने होते हैं—(१) वस्तु, (२) द्रव्य, (३) विकृति, (४) जूते, (५) ताम्बूल, (६) वस्त्र, (७) कुसुम, (८) वाहन, (९) शयन, पलग, बिस्तर, (१०) विलेपन, (११) ब्रह्मचर्य, (१२) दिशा, (१३) स्नान और (१४) भोजन।

सारे दिन में आठ सामायिक और सुबह-शाम प्रतिक्रमण इस प्रकार कुल दस सामायिक करने का देशावकाशिक करने का व्यवहार आज प्रचलित है।

ग्यारहवाँ पोषध-व्रत

पर्व-तिथि आदि के दिन देशरूप से अथवा सर्वरूप से आहार, शरीर-सत्कार, गृह-व्यापार और अब्रह्मचर्य का त्याग करके आठ प्रहर या चार प्रहर तक सामायिक करना पोषध है।

बारहवाँ अतिथि-संविभाग-व्रत

भक्तिपूर्वक आहार, वस्त्र, पात्र आदि का अतिथि को यानी साधुओं को दान करना अतिथि संविभाग व्रत है। साधुओं को भक्तिपूर्वक दान देने से धन सार्थवाह ने तथा नयसार ने समकित उपार्जित किया और परंपरा से तीर्थंकर नामकर्म बाँधा तथा संगम ने दूसरे भव में शालिभद्र बनकर अपूर्व ऋद्धिसिद्धि भोगी, यह आप जानते होंगे।

श्रावक की दिनचर्या

देशविरति चारित्र को धारण करनेवाले गृहस्थकी दिनचर्या का वर्णन शास्त्रकारों ने **'नवकारेण विबोहो'** पद से शुरू होनेवाली गाथा में किया है, उसे भी यहाँ बतलाये देते हैं।

श्रावक को पचपरमेष्ठी के मगलस्मरणपूर्वक, चार घड़ी रात बाकी रहने पर, निद्रा का त्याग करना चाहिए। तब धर्म जागरिका करनी चाहिए, यानी धर्म सम्बन्धी विचारणा करनी चाहिए। उसके बाद रत्नत्रयी की शुद्धि के लिए षटावश्यक-रूप प्रतिक्रमण करना चाहिए। उसके करने के बाद चैत्य वन्दन करना चाहिए और पच्चक्खाण (प्रत्याख्यान) लेना चाहिए।

तब जिन मदिर में जाकर वहाँ पुष्पमाला, गध आदि द्वारा जिनबिम्बों का सत्कार करना चाहिए और वहाँ से गुरु के पास जाकर उन्हें वन्दन कर विधिपूर्वक पचक्खाण लेना चाहिए। उसके बाद उनसे धर्मश्रवण कर-सुखसाता की पृच्छा करनी चाहिए। और, भात-पानी का लाभ देने की विनती करनी चाहिए। अगर गुरुमहाराज को औषध आदि की जरूरत हो तो उसके लिए उचित व्यवस्था करनी चाहिए। उसके बाद भोजन किया जा सकता है।

फिर लौकिक और लोकोत्तर दोनों दृष्टियों से अनिंदित व्यवहार की साधना की जा सकती है। उसके बाद यानी सायकाल में समय पर भोजन करके दिवसचरिम प्रत्याख्यान द्वारा सवर को भलीभाँति धारण करना चाहिए और जिनबिम्बों की अर्चा, गुरुवन्दन, सामायिक प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ करनी चाहिए।

फिर स्वाध्याय, सयम, वैयावृत्य आदि से परिश्रमित हुए साधुकी पुष्ट आलम्बनरूप विश्रामणा करनी चाहिए और नवकार-चिंतन आदि उचित योगों का अनुष्ठान करना चाहिए। उसके बाद अपने घर वापस आकर

अपने परिवार को बोधदायक कथाओं तथा सुभाषितों द्वारा धर्म का स्वरूप समझाना चाहिए, ताकि वे धर्मभावनावाले बनें। फिर विधिपूर्वक शयन करने के लिये देव-गुरु वगैरह चार का शरण अंगीकार करना चाहिए।

इस समय मोह के प्रति जुगुप्सा के द्वारा प्राय. अब्रह्मचर्य में विरति रखनी चाहिए और स्त्री के अंगोपांग की अशुचिता आदि का विचार करके उसका त्याग करनेवाले महापुरुषों का हृदय से बहुमान करना चाहिए।

फिर 'अपने चारित्रशील धर्माचार्य गुरु के आगे दीक्षा कब लूँगा !' ऐसा मनोरथ करना चाहिए। उसके बाद निद्राधीन होना चाहिए।

जो इस प्रकार की दिनचर्या द्वारा अपना दिन व्यतीत करते हैं, उनका चारित्रगठन उत्तम प्रकार से होता है।

इसमें से आज कितना होता है और कितना नहीं, यह अपने दिलसे पूछ देखिये। शास्त्रकारों ने जो नियम बताये हैं, वे आपके भले के लिए हैं, इसलिए उनका यथाशक्य अधिक आदर कीजिए, यह हमें विशेष रूप से कहना है।

सर्वविरति चारित्र का वर्णन शेष रहा, वह अवसर पर किया जायेगा।

छियालीसवाँ व्याख्यान

सम्यक्-चारित्र

[२]

महानुभावो !

जिनागम में कहा है कि—

'**गारत्थेहिं सव्वेहिं साहवो संजमुत्तरा**—सर्व गृहस्थों से साधुओं का संयम श्रेष्ठ होता है—तात्पर्य यह कि एक गृहस्थ चाहे जितना ऊँचा चारित्रधारी हो, फिर भी वह सामान्य साधु की बराबरी नहीं कर सकता । इससे आप सर्वविरति-चारित्र की उच्चता समझ सकते हैं ।

सर्वविरति-चारित्र का अधिकारी

'सर्वविरति-चारित्र का अधिकारी कौन हो सकता है ?' इस सम्बन्ध में शास्त्रों ने बड़ी गहरी विचारणा की है । उस सबका सार यह है कि, जो आत्मा संसार की असारता को भली-भाँति समझ चुका हो, भवभ्रमण से अत्यन्त खेद-प्राप्त हो और विनयादि गुणों से युक्त हो, उसे ही सर्वविरति चारित्र के योग्य गिनना चाहिए ।

सर्वविरति चारित्र को धारण करनेवाले की साधु, अनगार, भिक्षु, यति, संयति, प्रव्रजित, निर्ग्रंथ, विरत, क्षान्त, दान्त, मुनि, तपस्वी, ऋषि, योगी, श्रमण आदि अनेक संज्ञाएँ हैं ।

सर्वविरतिचारित्र अंगीकार करते समय पाँच प्रकार की शुद्धि का व्यवहार होता है—प्रश्नशुद्धि, कालशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, दिशाशुद्धि और वन्दनाशुद्धि ।

दीक्षा लेने की अभिलाषा से कोई मुमुक्षु गुरु के समीप आये, तब '*हे वत्स ! तू कौन है ? कहाँ से आया है ?* तेरे माता-पिता का नाम क्या है ? तेरा धार्मिक अध्ययन कितना है ? तुझे दीक्षा लेने का भाव कैसे हुआ ? क्या तूने माता-पिता की अनुमति ले ली है ? क्या तू दीक्षा का दायित्व समझता है ?' आदि प्रश्न पूछकर आवश्यक जानकारी प्राप्त कर लेने को प्रश्नशुद्धि कहते हैं। अगर, इन प्रश्नों के उत्तर ठीक न मिलें तो अधिक छानबीन करनी चाहिए। यहाँ निमित्तशास्त्र आदि के द्वारा ये भी शिष्य की परीक्षा करने की विधि है।

जो इस परीक्षा से योग्य मालूम हो, तो उसे दीक्षा देने के लिए शुभ मुहूर्त देखा जाता है, उसे कालशुद्धि समझना चाहिए। उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद, उत्तराफाल्गुनी और रोहिणी ये चार नक्षत्र दीक्षा के लिए बहुत अच्छे गिने जाते हैं। दोनों पक्षों की चतुर्दशी, पूर्णिमा, अष्टमी, नवमी, छठ, चौथ और द्वादशी ये तिथियाँ दीक्षा के लिए वर्ज्य हैं।

दीक्षा अच्छे स्थान में देना क्षेत्रशुद्धि है। यहाँ अच्छे स्थान से ईख की बाढ़, डागर का खेत, सरोवर का तट, पुष्पसहित वन खंड यानी बाग-बगीचा-उद्यान, नदी का किनारा तथा जिन-चैत्य समझना चाहिए।

दीक्षा देते समय शिष्य को पूर्वाभिमुख, उत्तराभिमुख या जिस दिशा में केवली-भगवत विचरते हों या जिन-चैत्य हो उस दिशा की ओर मुख रखकर बिठाना दिशाशुद्धि है। आज समवसरण के सामने दीक्षाविधि कराई जाती है, उसका हेतु दिशाशुद्धि का पालन करना है।

वन्दना-शुद्धि में चैत्यवन्दन-देववन्दन, कायोत्सर्ग तथा वासक्षेप, रजोहरण और वेश समर्पण की क्रिया होती है।

इस रीति से पाँच प्रकार की शुद्धिपूर्वक मुमुक्षु को दीक्षा दी जाती है। उस समय गुरु उसे 'करेमिभन्ते' का पाठ उचराते हैं और उसम सर्व पाप का तीन करण और तीन योग से अर्थात् नौ कोटि से आजीवन

प्रत्याख्यान कराते हैं। उसके बाद अनुक्रम से बड़ी दीक्षा के समय पाँच महाव्रत उच्चरित कराते हैं और रात्रिभोजन विरमण व्रत भी धारण कराते हैं।

पहला महाव्रत

पहला महाव्रत प्राणातिपात-विरमण व्रत है। उससे सूक्ष्म-बादर, स्थावर त्रस सर्व प्राणियों की मन-वचन-काया से हिंसा करना नहीं, कराना नहीं और करनेवाले को अच्छा जानना नहीं, ऐसी प्रतिज्ञा ग्रहण की जाती है। यह महाव्रत सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसलिए उसे पहले ग्रहण कराया जाता है।

स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग करना अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय इनमें से, किसी की विराधना नहीं करना! इस प्रतिज्ञा के कारण कोई भी साधु किसी प्रकारकी जमीन नहीं खोदे, बावड़ी, तालाब, कुँआ, सरोवर आदि का और बरसात का कच्चा पानी नहीं पीये और न बर्फ का उपयोग करे, चकमक या दियासलाई का उपयोग करके या अन्य प्रकार से अग्नि नहीं प्रकटावे, अग्नि को नहीं संकोरे, और यहाँ तक कि, अग्नि का स्पर्श भी नहीं करे। जहाँ अग्नि को स्पर्श ही वर्जित है, वहाँ चूल्हा जलाकर रसोई तो करेगा ही कैसे? रसोई करने में स्थावर जीवों की विराधना होती है, इसलिए कोई साधु रसोई नहीं करे। वह पखे से हवा न खाये।

त्रस जीवों की हिंसा का त्याग होने के कारण वह ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं करे कि जिसमें दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय या पचेन्द्रिय जीवों का वध हो। साधु से चलते, बोलते, खाते, पीते, उठते बैठते, सोते किसी भी सूक्ष्मस्थूल जीव की हिंसा न हो, इसके लिए खूब सावधानी रखनी पड़ती है और इसीलिए वे अपने पास रजोहरण या ओघा

रखते है। कोई जीव जन्तु नजर पड़े या शरीर, वस्त्र, पात्र आदि पर चढा हो, तो वे उस रजोहरण की अति कोमल दशियों द्वारा इस तरह दूर करते हैं कि, उसे किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे।

दूसरा महाव्रत

दूसरा महाव्रत मृषावाद विरमण व्रत है। उसमें क्रोध, लोभ, भय या हास्य से किसी प्रकार का असत्य न बोलने की प्रतिज्ञा ग्रहण की जाती है। इसी प्रतिज्ञा मे दूसरे से झूठ बुलवाना नहीं और बोलनेवाले को अच्छा मानना नहीं की भी प्रतिज्ञा होती है। श्री दशवैकालिकसूत्र में कहा है कि 'ससार के सब साधु पुरुषों ने मृषावाद की असत्य की, निंदा की है। असत्य सब प्राणियों के लिए अविश्वसनीय है, अर्थात् असत्य बोलने से सब प्राणियों का विश्वास हट जाता है। इसलिए, उसका सर्वथा त्याग करना चाहिए।

तीसरा महाव्रत

तीसरा महाव्रत अदत्तादान विरमण-व्रत है। इससे यह प्रतिज्ञा ग्रहण की जाती है कि गाँव, नगर या अरण्य में, थोड़ा या अधिक, छोटा या बड़ा, निर्जीव या सजीव जो कुछ मालिक ने अपनी राजी खुशी से न दिया हो, उसे ग्रहण नहीं करूँगा, दूसरे से ग्रहण नहीं कराऊँगा और न ग्रहण करनेवाले को अच्छा मानूँगा। इस महाव्रत के कारण साधु दाँत कुरेदने का तिनका भी उसके मालिक की अनुमति के बिना नहीं लेते, और चीज की तो बात ही क्या ?

चौथा महाव्रत

चौथा महाव्रत मैथुन विरमण व्रत है। उससे यह प्रतिज्ञा ग्रहण की जाती है कि दैवी, मानुषिक या पाशविक किसी भी प्रकार का मैथुन सेवन नहीं करूँगा, सेवन कराऊँगा नहीं और सेवन करनेवाले को अच्छा नहीं मानूँगा।

यह बड़ा दुस्तर व्रत है, इसीलिए प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है कि 'जैसे, ग्रहगण, नक्षत्रगण और तारागण में चन्द्र प्रधान है, वैसे ही विनय, शील, तप, नियम आदि गुणसमूह में ब्रह्मचर्य प्रधान है ।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए शास्त्रों में नौ रोकें कही गयीं हैं। साधु उनका बराबर पालन करे ।

(१) स्त्री, पुरुष और नपुसक की वस्ती से रहित एकान्त विशुद्ध स्थान में रहना ।

(२) कामकथा नहीं करना ।

(३) जिस पाट, आसन या शयन पर स्त्री बैठी हो वहाँ दो घड़ी तक नहीं बैठना ।

(४) रागवश होकर स्त्रियों के अंगोपाग नहीं देखना ।

(५) जहाँ दीवाल के अन्तर पर स्त्री पुरुष का जोड़ा रहता हो, वहाँ नहीं रहना ।

(६) स्त्री के साथ की हुई पूर्वक्रीड़ा का स्मरण नहीं करना ।

(७) मादक आहार का त्याग करना ।

(८) रूखासूखा आहार भी परिमाण से अधिक नहीं लेना ।

(९) शृंगार-लक्षणा शरीर शोभा का त्याग करना, अर्थात स्नान, लेपन, उद्वर्तन, सुन्दर वस्त्र आदि का उपयोग नहीं करना ।

श्री दशवैकालिकसूत्र में यह आज्ञा की है कि, 'जिसके हाथ पैर छेदे हों, नाक-कान कटे हुए हों, ऐसी सौ वर्ष की बुढ़िया हो तो भी साधु-को उसका स्पर्श नहीं करना चाहिए ।'

जैन श्रमणों की बस्तीवाले स्थान में रात को स्त्रियों को प्रवेश नहीं दिया जाता, यह तो आप जानते ही होंगे ।

पाँचवाँ महाव्रत

पाँचवाँ महाव्रत परिग्रह विरमण व्रत है । उससे यह प्रतिज्ञा की जाती

है ` क, 'थोड़ी या ज्यादा, छोटी या बड़ी, सजीव या निर्जीव, किसी भी चीज का मैं स्वय परिग्रह नहीं करूँगा, दूसरे से नहीं कराऊँगा, करनेवाले को अच्छा नहीं मानूँगा। इस महाव्रत के कारण साधु किसी भी मठ या मदिर की मालिकी नहीं रख सकता, और न धन, माल, खेत, पाघर, बाड़ी, वजीफा, हाट, हवेली या ढोर-ढाखर या रोकड़ रकम या जवाहिरात अपने पास नहीं रख सकता।

साधु लोग अपने जीवन निर्वाह के लिए जो वस्त्र, पात्र आदि रखते हैं, उनकी गणना परिग्रह में नहीं होती, कारण कि वह ममत्वबुद्धि से नहीं बल्कि सयम के निर्वाह के लिए ही रखे जाते हैं।

छठाँ रात्रिभोजन-विरमण-व्रत

सर्वविरति चारित्र ग्रहण करनेवाले को पाँच महाव्रतों के अतिरिक्त छठाँ रात्रिभोजन-विरमण-व्रत भी अवश्य लेना होता है। इस व्रत मे आजीवन सर्व प्रकार के रात्रिभोजन का त्याग किया जाता है। श्री दशवैकालिकसूत्र में कहा है कि, 'धरती पर कितने ही त्रस और स्थावर सूक्ष्म जीव निश्चितरूप से होते हैं। उन जीवों के शरीर रात को दिखलायी नहीं देते, तो ईर्यासमितपूर्वक रात को गोचरी के लिए कैसे जाया जा सकता है? दूसरे, पानी से धरती भींगी रहती है, उस पर बीज, कीड़े कीड़ियाँ भी पड़ी होती है। इन जीवों की हिंसा से दिन में भी बच सकना कठिन होता है, तो रात को तो बचा ही कैसे जा सकता है? इसलिए रात को कैसे चला जा सकता है? इन सब दोषों को देखकर ज्ञातपुत्र अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर ने कहा है कि, निर्ग्रंथ किसी भी प्रकार के आहार का रात्रि मे भोग न करे।'

अष्ट-प्रवचन-माता

चारित्र के पालन तथा रक्षण के लिए साधु-पुरुष को बहुत करना होता है। उनमें पाँच समिति और तीन गुप्ति की मुख्यता है। शास्त्रों

में उन्हें अष्ट प्रवचन-माता कहा गया है, कारण कि, वे महाव्रतस्वरूप प्रवचन का पालन तथा रक्षण करने में माता-जैसा काम करती हैं।

समिति का अर्थ है, सम्यक् क्रिया। गुप्ति का अर्थ है गोपन क्रिया, अर्थात् निग्रह की क्रिया।

पाँच समितियों में पहली ईर्या समिति है। उसका अर्थ यह है कि, साधुपुरुष को खूब सावधानी से चलना चाहिए। उसमें नीचे के ६ नियमों का पालन करना होता है।

(१) दर्शन-ज्ञान-चारित्र के हेतु से चलना, अन्य हेतु से नहीं।

(२) दिन में चलना, रात में नहीं। इसमें मात्रा आदि के कारण से जाने-आनेकी छूट है।

(३) अच्छे आवागमन के रास्ते पर चलना। नये मार्ग पर, कि जिसमें सजीव मिट्टी होने की आशका हो, नहीं चलना।

(४) अच्छी तरह देखकर चलना।

(५) नजर नीची रखकर चार हाथ भूमि का अवलोकन करते हुए चलना। नजर ऊँची रखकर या आड़ा-टेढ़ा देखते हुए नहीं चलना।

(६) उपयोगपूर्वक चलना, बिना उपयोग नहीं चलना। साधु लोग एक स्थल से दूसरे स्थल पर जाने के लिए किसी भी वाहन का उपयोग नहीं करते, कारण कि, उससे ईर्यासमिति के चौथे, पाँचवें और छठे नियम का भग होता है।

दूसरी समिति भाषा समिति है। उसका अर्थ यह है कि, साधु पुरुष खूब सावधानी से बोले। उसमें नीचे के आठ नियमों का पालन करना होता है।

(१) क्रोध से नहीं बोलना।

(२) अभिमानपूर्वक नहीं बोलना।

(३) कपट से नहीं बोलना।

(४) लोभ से नहीं बोलना।

(५) हास्य से नहीं बोलना ।
(६) भय से नहीं बोलना ।
(७) वाक्चातुरी से नहीं बोलना ।
(८) विकथा नहीं करना ।

साधु के लिए यह भी स्पष्ट आज्ञा है कि, वह अति कठोर भाषा का उपयोग न करे । किसी को बुलाना हो तो महानुभाव, महाशय, देवानुप्रिय आदि मधुर शब्दों का प्रयोग करना ।

तीसरी समिति एषणा समिति है । उसका अर्थ यह है कि, साधु को चाहिए कि आहार पानी की गवेषणा करते समय खूब सावधानी रखे । उसके लिए ही ४२ दोष वर्ज्य रखने होते हैं ।

साधु क्षत्रिय, वैश्य, कृषिकार, ग्वाले आदि अतिरस्कृत और अनिंदित कुल में गोचरी करे, पर चक्रवर्ती, राजा, ठाकुर, राजा के पासवान या राजा के सम्बन्धियों के यहाँ गोचरी न करे । और, किसी गृहस्थ का द्वार बन्द हो तो खोलकर अन्दर न जाये, जहाँ बहुत से भिक्षुक इकट्ठे होते हों, वहाँ भी न जाये । वर्षा होती हो, हिम पड़ता हो, महावायु चलती हो या सूक्ष्म जन्तु उड़ रहे हों, तब भी गोचरी न करे, बल्कि अपने स्थान में बैठकर धर्मध्यान तथा तपश्चर्या करे ।

पाँच समितियों में अन्तिम पारिष्ठापनिका समिति है । उसका अर्थ यह है कि, साधु, मल, मूत्र, श्लेष्म, थूक, केश या दूसरी परठने योग्य वस्तु को जीवजन्तुरहित, जहाँ लीलोतरी न हो, ऐसी भूमि में सावधानी से परठे । धर्मरुचि अनगार कड़वी तुबड़ी का शाक परठने गया, वहाँ एक बूँद नीचे गिर जाने से उसकी गंध से खिंचकर बहुत सी कीड़ियाँ आ गयीं और उनको मरता देखकर, अपने उदर को निरवद्य समझ कर सारा शाक उसमें परठ दिया और अपने प्राण का बलिदान दिया !

तीन गुप्तियों में पहली मनोगुप्ति है । उसका अर्थ यह है कि, साधु अपने मन को संरंभ—समारंभ और आरंभ—में प्रवृत्त न होने दे । जिस

क्रिया में षटकाय के जीवों की विराधना होती हो उसका सकल्प करना आरभ है, उसके लिए साधन इकट्ठा करना समारंभ है, और प्रयोग करना आरभ है। इसका सार यह है कि, साधु अपने मन को किसी भी हिंसक प्रवृत्ति की ओर जाने न दे।

दूसरी गुप्ति वचन गुप्ति है। उसका अर्थ यह है कि, साधु ऐसा कोई वचन प्रयोग न करे कि, जिससे सरभ, समारंभ या आरभ को उत्तेजन मिले।

अन्तिम गुप्ति कायगुप्ति है। उसका अर्थ यह है कि, खड़े रहने में, सोने में, गड्ढा पार करने तथा पाँचों इन्द्रियों का व्यापार करते समय काया को सावद्य योग में प्रवर्तित न होने दे।

दस प्रकार का यति धर्म

साधु को सर्वविरति-चारित्र के पालन तथा विकास के लिए दस प्रकार के श्रमणधर्म या यतिधर्म का पालन करना होता है। वह इस प्रकार है।—

(१) क्षांति—क्षमा रखना—क्रोध नहीं करना।

(२) मार्दव—मृदुता रखना—अभिमान नहीं करना।

(३) आर्जव—सरलता रखना—छलकपट नहीं करना।

(४) मुक्ति—सन्तोष रखना—लोभ नहीं करना।

(५) तप—यथाशक्ति तपश्चर्या करना। विशेषत इच्छाओं का निरोध करना।

(६) सयम— इन्द्रियों पर पूरा-पूरा काबू रखना।

(७) सत्य—वस्तु का यथास्थित कथन करना—असत्य नहीं कहना।

(८) शौच—हृदय पवित्र रखना—सब जीवों के साथ अनुकूल व्यवहार करना।

(९) अकिंचनता—अपने लिए कुछ नहीं रखना—फक्कड़ रहना।

(१०) ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य का मन, वचन, काया से अच्छी तरह पालन करना।

षडावश्यक

साधु को सुबह और शाम षडावश्यक की क्रियाएँ या प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, कारण कि, उससे व्रतों में लगे दोषों की शुद्धि होती है और उसके लिए योग्य प्रायश्चित लेकर पुनः निर्मल बना जाता है। षडावश्यक मे सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान ये ६ आवश्यक होते हैं। ये आवश्यक आत्मशुद्धि के लिए बड़े उपकारक हैं और इसलिए उन्हें समस्त क्रिया का सार रूप कहा है।

सर्वविरति-चारित्र को धारण करनेवाले की समझ और क्रिया कैसी होती है, यह मृगापुत्र की कथा द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है—

मृगापुत्र की कथा

सुग्रीव नामक एक रमणीय नगर था। उसमें बलभद्र नामक राजा था। उसे मृगावती रानी से बलश्री नामक एक कुमार उत्पन्न हुआ था। परन्तु, लोगों में वह मृगापुत्र नाम से प्रसिद्ध था।

मृगापुत्र मनोहर रमणियों के साथ अपने नन्दन महल में आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करता था। एक बार उस महल के झरोखे पर बैठकर नगर का निरीक्षण कर रहा था। वहाँ एक क्षात, दान्त साधु दिखलायी पड़े। वह निर्निमेष दृष्टि से उन्हें लगातार देखता रहा। ऐसा करते हुए उसे यह अध्यवसाय हुआ कि, 'ऐसा स्वरूप मैंने पहले कहीं देखा है।' और, उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। उस ज्ञान से उसने अपने पूर्व भव देखे और उसमें समादरित साधुपन याद आया। इससे चारित्र के प्रति प्रेम हुआ और विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुआ।

फिर, उसने माता-पिता के पास आकर कहा कि, "हे माता-पिता! पूर्व काल में मैंने पाँच महाव्रतरूप सयम-धर्म पाला था, उसका स्मरण हुआ

है। अब मैं नरक, तिर्यंच आदि गति के दु:ख-संकुल संसार समुद्र में से निवृत्त होना चाहता हूँ। मुझे आज्ञा दीजिये। मैं सर्वविरति चारित्र की दीक्षा ग्रहण करूँगा।

हे माता पिता! किंपाकफल के समान निरन्तर कड़वा फल देनेवाले और एकान्त दु ख की परम्परा से सने हुए भोग मैंने खूब भोग लिये हैं। यह शरीर भी अशुचि से उत्पन्न हुआ है, इसलिए अपवित्र है, अनेक कष्टों का कारण और क्षणभगुर है, इसलिए इसमें आसक्ति नहीं रही। अहो! सारा ससार दु खमय है और उसमें रहनेवाले प्राणी जन्म-जरा-रोग-मरण के दु खों से पीड़ित हैं!

'हे माता-पिता! घर जल रहा हो, उस समय उसका मालिक असार वस्तुओं को छोड़कर बहुमूल्य वस्तुओं को निकाल लेता है। यह लोक भी जरा और मरण से जल रहा है। आप मुझे आज्ञा दें तो उसके तुच्छ काम भोगों को छोड़कर, केवल अपने आत्मा को उबार लूँ।"

तरुण पुत्र की यह बात सुनकर माता पिता ने कहा—"हे पुत्र! साधुपन बड़ा कठिन है। साधुपुरुष को जीवनपर्यंत प्राणीमात्र पर समभाव रखना पड़ता है, शत्रु और मित्र को समान दृष्टि से देखना होता है। और, फिर चलते, फिरते, खाते, पीते, यानी प्रत्येक क्रिया में होनेवाली सूक्ष्म हिंसा से विरमना पड़ता है। यह स्थिति सचमुच बड़ी दुर्लभ है।

"साधु जीवनपर्यन्त भूले चूके भी असत्य नहीं बोलता। सतत सावधान रहकर हितकारी सत्य बोलना बहुत कठिन है।"

"साधु दाँत कुरेदने का तिनका भी खुशी से दिये गये बिना नहीं ले सकता। उसी प्रकार दोषरहित भिक्षा प्राप्त करना भी अत्यन्त कठिन है।

"कामभोगों के रस को जाननेवाले के लिए मैथुन से नितान्त विरक्त रहना कोई सामान्य बात नहीं है। साधुपुरुष धन, धान्य, दास, आदि किसी वस्तु का परिग्रह नहीं रखता। इस तरह सर्व वस्तुओं का त्याग कर ममता-रहित होना भी अति दुष्कर है।"

"साधु रात में किसी प्रकार का भोजन नहीं कर सकता।"

"हे पुत्र ! तू सुकोमल है और भोग मे डूबा हुआ है, इसलिए साधुपन पालने मे समर्थ नहीं है। बालू का ग्रास जितना नीरस है, उतना ही नीरस सयम है। तलवार की धार पर चलना जितना कठिन है, उतना ही कठिन तपश्चर्या के मार्ग मे प्रयाण करना है। इसलिए, अभी तो भोग भोग, बाद मे चारित्रधर्म को खुशी से धारण करना।"

माता पिता के ऐसे वचन सुनकर मृगापुत्र ने कहा—"हे माता-पिता ! आपका कहना सत्य है, पर नि स्पृही को इस लोक में कुछ भी अशक्य नहीं है। इस ससारचक्र मे दु खजनक और भयोत्पादक शारीरिक और मानसिक वेदनायें मैं अनन्त बार सहन कर चुका हूँ, इसलिए मुझे प्रव्रज्या लेने की अनुमति दीजिये।"

यह सुनकर माता-पिता ने कहा—"हे पुत्र ! तेरी इच्छा हो तो भले दीक्षा ले, परन्तु चारित्र-धर्म में दु ख पड़ने पर उसका प्रतीकार नहीं किया जा सकता।"

मृगापुत्र ने कहा—"आपका कथन सत्य है, परन्तु जगल में पशु पक्षी विचरते रहते हैं, उनके रोग आतक का प्रतीकार कौन करता है ? वहाँ जैसे मृग अकेला सुख से विहार करता है, वैसे ही सयम और तपश्चर्या द्वारा मैं एकाकी चारित्रधर्म में सुखपूर्वक विचरूँगा।"

इस प्रकार दृढ वैराग्य देखकर माता पिता का हृदय पिघल गया और उन्होंने कहा—"हे पुत्र ! तुझे जैसे सुख उपजे वैसा कर।"

माता पिता की अनुज्ञा मिलते ही उसने सर्वममत्व को इस तरह भेद डाला जैसे हाथी वल्कल को तोड़ डालता है। उसने समृद्धि, धन, मित्रों, स्त्री, पुत्रों और स्वजनों का भी त्याग कर दिया।

अब मृगापुत्र मुनि पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त होकर बाह्य और अभ्यतर तपश्चर्या में उद्यमवत हुए और ममता,

अहंकार और आसक्ति को छोड़कर समभाव से रहने लगे। तत्पश्चात् ध्यानबल से कषायों का नाश करके प्रशस्त शासन में स्थिर हुए।

इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और विशुद्ध भावनाओं से अपने आत्मा को भावित कर, बहुत वर्षों तक चारित्र पालकर, अन्त में एक मास का अनशन करके श्रेष्ठ सिद्धगति को प्राप्त हुए।

तात्पर्य यह कि, आत्मा वैराग्य से भरपूर रँगा हुआ हो और महाव्रत धारण करने के बाद उनका यथार्थ पालन करे, एव पाँच समिति, तीन गुप्ति और दसविध यतिधर्म का अनुसरण करे, उसका साधुपन सार्थक है और अन्त में वही इस ससार समुद्र का पार पा सकता है।

उपसंहार

महानुभावो! यहाँ आत्मा, कर्म और धर्म इन तीन विषयों की व्याख्यानमाला पूर्ण होती है। ये तीनों विषय बड़े गभीर हैं, उन्हें हृदयगम करने की अत्यन्त आवश्यकता है। हमने तो इस व्याख्यानमाला में उनका सक्षिप्त ही विवेचन किया है, इसलिए इस सम्बन्ध में अभी कितनी ही सूक्ष्म और विशिष्ट बातें जाननी शेष रह जाती हैं। जैसे कि—

(१) दूसरी अरूपी वस्तु पर रूपी वस्तु का कोई प्रभाव नहीं होता, तो अरूपी आत्मा पर ही क्यों होता है?

(२) सुख का स्वरूप क्या है? सुख किसे कहते हैं?

(३) अत्यन्त अशान्ति और दुःख के समय में भी सुखशाति किस प्रकार मिल सकती है?

(४) कुशल अनुष्ठान प्रवृत्ति से पुण्यानुबन्धी पुण्य का बन्ध होता है और पहले बाँधे हुए कर्मों की निर्जरा भी होती है, तो एक ही प्रवृत्ति जो कर्मबन्धन करती है, निर्जरा भी कैसे कर सकती है?

(५) आत्मा का एक समय में एक ही उपयोग होता है और कर्म का बध समय-समय में, आयुष्य न बाँधे तब तक सातों कर्मों का

होता है नउ सातों कर्मों की स्थिति तथा रस विभिन्न रूप म पड़ते हैं। तो, एक ही समय के एक ही उपयोग से विभिन्न कर्मों का बन्ध कैसे होता है ? और, विभिन्न स्थितियों और विभिन्न रसों का निर्माण कैसे होता है ?

(६) धर्म भवांतर में तो अच्छा फल देता ही है, वर्तमान काल में भी धर्मकार्य करते समय बहुत से लाभ होते हैं। उदाहरण के लिए उतने समय तक पापक्रिया से बचे रहते हैं, पुराने कर्मों की निर्जरा होती है और नये पुण्यानुबन्धी पुण्य का बन्ध होता है तथा बँधते हुए पापकर्मों का बन्ध ढीला पड़ता है। हमारी धर्म करनी देखकर दूसरों को धर्मकरनी करने का दिल हो और कुटुम्ब में धर्म के संस्कार पड़ते हैं, आदि, आदि। वह अवसर पर कहा जायेगा।

जिसने धर्म की शुद्ध मन से आराधना की उसने अनन्त सुख पाया। आप भी धर्म की आराधना द्वारा अनन्त सुख पायें।

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्व कल्याणकारणम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम्॥